॥ श्री ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
४७



कविवरमुरारिविरचितम्

अनर्घराघवम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार —
व्याकरण-न्याय-वेदान्ताचार्य
आचार्यः श्रीरामचन्द्रमिश्र'
मुजफ्फरपुरस्थधर्मसमाजसंस्कृतकालेजाध्यापक



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

मुद्रक—विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

प्रथम संस्करण, संवत् २०१७

मूल्य



The Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Varanasi-1 (India)
1960

समर्पणम्

दरभङ्गा-राजपण्डितानाम् अनर्घराघव-

नाटकस्य विषये परां प्रीतिं दधताम्

श्रीबलदेवमिश्रमहोदयानाम्

आदरणीयकरकमलयो

सबहुमानमुपायनीकरोति

स्वां कृतिमिमाम्

प्रकाशप्रणेता

रामचन्द्रमिश्र

अवतारणा

अथाद्यमुपक्रम्यते प्रकाशयितुं प्रकाशसमन्वितो मुरारिकृतोऽनर्घराघवनामा नाटकग्रन्थः । अस्य रचयितुः परिचयादिकं साहित्यिकं गौरवं चान्ये राष्ट्रभाषया लिखितमस्तीति तत एवावगन्तव्यम् ।

अस्य पुस्तकस्य बह्व्यष्टीका भवन्ति, यथा—१ पूर्णसरस्वतीकृता, २ हरिहरकृता, ३ मानविक्रमकृता, ४ रुचिपतिदत्तकृता, ५ धर्मानन्दकृता, ६ चन्द्रपुनर्हरणकृता, ७ लक्ष्मीधरकृता, ८ विष्णुपण्डितकृता, ९ जीवानन्दकृता च । एतदन्या अपि टीकाः श्रूयन्ते ।

तत्र यथोपलब्धाश्चतस्रष्टीका विलोक्य मया व्याख्यानमिदं प्रस्तुतीकृतम् । अत्र व्याख्याने मया प्रयत्य सारल्यमानीतम्, गद्यभागोऽपि सर्वत्र व्याख्यातः । आवश्यकतया प्रतीयमानश्छन्दोऽलङ्कारादिनिर्देशा अपि नोज्झिताः । परिशिष्टे च ज्ञातव्या अन्येऽपि विषयाः समावेशिताः । आशासेऽनया टीकया छात्रा अध्यापकाश्च यथायोग्यमुपकृता भविष्यन्ति ।

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य निजमनसां सतां नित्यक्षमामयतया दोषैकदृशामसतां तु पुरः क्षमाप्रार्थनाव्यापारस्यापि स्वप्रलपनामात्रसारतया क्षमाप्रार्थनामन्तरेण समापयामि स्वामिमामवतारणाम् ।

मुजफ्फरपुरम् | सं० २०१७ |

विदुषां विधेयः
रामचन्द्रमिश्रः

समालोचना

नाटकसाहित्यकी प्राचीनता

भारतीय नाटकसाहित्य विचारधारा तथा विकासक्रममें मूलतः स्वतन्त्र है इस बातको अब सभी आलोचक मानने लग गये हैं।

वैदिक साहित्यकी समीक्षासे पता चलता है कि वैदिककालमें नाटकके सभी अङ्ग—संवाद, सङ्गीत, नृत्य एवं अभिनय का किसी न किसी रूपमें अस्तित्व था। ऋग्वेदके यम-यमी, उर्वशी-पुरूरवा, सरमापणिके संवादात्मक सूक्तोंमें नाटकीय संवादका तत्त्व विद्यमान है। सामवेद तो सङ्गीत प्राण ही है। आलोचकोंका अनुमान है कि ऐसे संवाद ही कालान्तर में परिमार्जित होकर नाटकोंके रूपमें परिणत हुए होंगे। रामायण-महाभारतकालमें नाटकका कुछ और स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। विराट पर्वमें रङ्गशालाका नाम आया है। नट शब्दका भी वहाँ प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ श्रीधर स्वामीके अनुसार 'नवरसाभिनय चतुर' है। हरिवंशमें रामायणकी कथापर आश्रित एक नाटकके खेले जानेका वर्णन आया है। रामायणमें भी 'नट' 'नर्तक' 'नाटक' 'रङ्गमञ्च' आदिका वर्णन स्थान स्थानपर मिलता है तथा 'कुशीलव' शब्दका प्रयोग भी 'नट' या 'अभिनेता' के अर्थमें हुआ है। महामुनि पाणिनिने 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' इस सूत्रमें नटसूत्र अर्थात् नाट्यशास्त्रका स्मरण किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके समयमें या उनसे पूर्व भी अनेक नाटक रचे जा चुके होंगे, जिनके आधारपर इन नटसूत्रोंकी रचना हुई होगी। लक्ष्यग्रन्थोंको देखकर ही तो लक्षण ग्रन्थोंका निर्माण किया जाता है।

इधर द्वितीय ईस्वी सदी पूर्वकी एक प्राचीन नाट्यशाला भी छोटा नागपुर की पहाड़ियोंमें पाई गई है जो नाट्यशास्त्रमें वर्णित प्रेक्षागृहोंसे मिलती जुलती है। इस तरह संस्कृत नाटकोंकी अपनी परम्परा सिद्ध होती है।

संस्कृत नाटकोंमें रङ्गमञ्चके लिए कहीं कहीं 'यवनिका' शब्दका प्रयोग हुआ है, इसीसे कुछ पाश्चात्य विद्वान् अनुमान लगाते हैं कि संस्कृत नाटकोंकी उत्पत्ति 'यवन' अर्थात् 'ग्रीक' नाटकोंके प्रभावसे हुई है, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है, 'यवनिका' शब्दका रहस्य तो इतना ही भर है कि यह पट यवनदेशसे आये हुए वस्त्रोंसे बनाये जाते थे।

प्राचीन पद्धति क्रमसे विचार करनेपर भी नाटक साहित्यकी प्राचीनता सिद्ध होती है—भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें लिखा है—

महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्त किल पितामह ।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्य श्रव्य च यद् भवेत् ॥
न वेदव्यवहारोऽय सश्राव्य शूद्रजातिषु ।
तस्मात्सृजापर वेद पञ्चम सार्ववर्णिकम् ॥
एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराज विसृज्य च ।
सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित् ॥
धर्म्यमर्थ्यं यशस्य च सोपदेश ससग्रहम् ।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शनम् ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्न सर्वशिल्पप्रदर्शकम् ।
नाट्यसज्ञमिम वेद सेतिहास करोम्यहम् ॥
एव सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेद ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतकानि च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥
वेदोपवेदै सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना ।
एव भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकम् ॥
आज्ञापितो विदित्वाऽह नाट्यवेद पितामहात् ।
पुत्रानध्यापय योग्यान् प्रयोग चास्य तत्त्वत ॥
एव प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने ।
अभवन् क्षुभिता सर्वे दैत्या ये तत्र सङ्गता ॥
देवतानामृषीणाञ्च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
कृतानुकरण लोके नाट्यमित्यभिधीयते ॥

शारदातनयने अपने 'भावप्रकाशन' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमें लिखा है—

'कल्पस्यान्ते कदाचित्तु दग्ध्वा लोकान् महेश्वर ।
स्वे महिम्नि स्थित स्वैर नृत्यज्ञानन्दनिर्भरम् ॥
मनसैवासृजद्विष्णु ब्रह्माण च महेश्वर ।
नियोगाद् देवदेवस्य ब्रह्मा लोकानथासृजत् ॥
सृष्ट्वा स देवदेवस्य पुरावृत्तमथास्मरत् ।
दिव्य चरित्रमीशस्य मे कथमध्यक्षतामियात् ॥
इति चिन्तापरे तस्मिन्नभ्यगान्नन्दिकेश्वर ।

स नाट्यवेदमध्याप्य सप्रयोगं चतुर्मुखम् ॥
उवाच वाक्यं भगवान्नन्दी तच्चिन्तितार्थवित्।
नाट्यवेदोपदिष्टानि रूपकाणि च यानि तु ॥
विधाय तेषामेकं तु रूपकं लक्षणान्वितम्।
भरतेषु प्रयोज्यं तत्त्वया सम्यग्विजानता ॥
तस्मिन् प्रयुक्ते भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ।
प्राप्तलानि च कर्माणि प्रयत्नानि भवन्ति ते ॥
एवं ब्रुवन्नन्तरधान्नन्दी स भगवान् प्रभुः ।
श्रुत्वैतद्वचनं प्रीतो ब्रह्मा देवैः समन्वितः ॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्यं रूपकं समगभ्यधात्।
अध्याप्य भरतांस्तत् प्रयुङ्ग्ध्वमिति चाब्रवीत् ॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्ये कदाचिद् ब्रह्मसंसदि ।
प्रयुज्यमाने भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ॥
तदेतत् प्रेक्षमाणस्य मुखेभ्यो ब्रह्मणः क्रमात्।
वृत्तिभिः सह सञ्चारः शृङ्गाराद्या विनिर्गताः ॥'

उपर्युक्त समीक्षा तथा उद्धरणोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक साहित्यने अपने क्रमबद्ध विकासमें वैदिक वाङ्मय, इतिहास तथा पुराणसे प्रचुर प्रेरणा पाई है। इस प्रकार भारतीय नाटकके विकासमें बहुत समय लगा होगा। उन्हीं नाटकोंमेंसे एक नाटक है —

अनर्घराघवनाटक

अनर्घराघव रामायणकी कथापर आधारित एक सात अङ्कोंका नाटक है, इसी नाटककी योग्यता तथा रोचकताके कारण इसके प्रणेता 'बालवाल्मीकि' नामसे प्रख्यात हो गये हैं। इस नाटककी भाषा, भावसमृद्धि और कथावस्तु सर्वत्र सरल नहीं होनेपर भी विद्वत्ता तथा कवित्वसे पूर्ण मानी जाती है। अधिकांश कल्पनायें मौलिक तथा निजी ढङ्गके रूपमें प्राकृतिक हैं, जिनसे यह नाटक नितान्त गौरवपूर्ण बन गया है। यद्यपि विदेशी आलोचकोंने कहा है कि भारतीय विद्वान् मुरारिको अनुचित तथा अनपेक्षित प्राधान्य देते हैं, परन्तु उनका ऐसा कथन इसलिये असङ्गत है कि वे अनर्घराघवको बिना समझे ऐसा कहते हैं। अनर्घराघव नाटक साहित्यका मेरुदण्ड, व्याकरण-नैपुण्यका परीक्षा निकष माना जाता है। भट्टोजिदीक्षितके ऐसे वैयाकरणने भी अपनी सिद्धान्त कौमुदीमें इसके अनेक उद्धरण दिये हैं जिससे इसकी विद्वत्तापूर्णता असन्दिग्ध रूपमें प्रकाशित होती है।

कविवर मुरारि

अधिकांश भारतीय कवियोंकी तरह मुरारिका परिचय भी अन्धकारपूर्ण है क्योंकि इन्होंने जो अपने विषयमें लिखा है वह बहुत स्वल्प है। इनके लेखसे इतनाही ज्ञात होता है कि यह मौद्गल्यगोत्रोत्पन्न 'वर्धमान'के पुत्र 'तन्तुमती' गर्भज थे।

इनके समयका निरूपण इसी आधारपर किया जाता है कि इनके नाटकमें भवभूतिके नाटकका स्पृहणीय अनुकरण पाया जाता है, अतः इनका समय भवभूतिके बाद होना चाहिये। ८५५—८८४ ए० डी० में वर्तमान 'अनन्तवर्मा'के दरबारमें रहनेवाले तथा 'हरविजय' महाकाव्यके प्रणेता 'रत्नाकर'ने लिखा है 'अङ्कोत्थनाटक इवोत्तमनायकस्य नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम्'। इससे इनका तत्पूर्ववर्तित्व प्रमाणित होता है। मुरारिने लङ्कासे अयोध्या आते हुए रामके मुखसे अन्यान्य स्थानोंके साथ 'माहिष्मती' नगरीका वर्णन करवाया है —

'इयं च करचुलिनरेन्द्रसाधारणाग्रमहिषी माहिष्मती नाम चेदिमण्डलमुण्डमाला नगरी'।

माहिष्मतीके करचुलि राजगण नवम शतकके मध्यमें 'माहिष्मती' छोड़कर 'त्रिपुरी' तथा 'रत्नपुर' नामक राजधानियाँ बसा ली थीं।

बहुत सम्भव है कि मुरारि 'उदात्तराघव' नामक रूपकके प्रणेता 'अनङ्गहर्ष' नामक 'करचुलि' नरेशके समकालिक रहे हों। अनङ्गहर्षका स्मरण 'कुट्टिनीमत' नामक ग्रन्थमें किया गया है।

इन सभी बातोंपर ध्यान देनेसे प्रतीत होता है कि मुरारि अष्टमशतकके चरम तथा नवमशतकके प्रथमभागमें विद्यमान थे।

मुरारिका ग्रन्थ

मुरारिकृत ग्रन्थ एकमात्र 'अनर्घराघव'ही प्राप्त होता है। परम आदरणीय होनेसे वह एक ही ग्रन्थ माघकी तरह अक्षयकीर्तिका कारण बन गया।

शार्ङ्गधरपद्धतिमें लिखा है —

'भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया।
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः॥'

अन्य सूक्तियाँ भी हैं—

'मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माघे मतिं कुरु।
मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माऽघे मतिं कुरु॥'
'मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु॥'

'मुरारेस्तृतीय पन्था'।

मीमांसाके भाट्टरहस्यादि सिद्धान्त ग्रन्थोंमें जिनका नाम तथा मत आया है वह मुरारि मैथिल ब्राह्मण तथा प्रकृत नाटक प्रणेता मुरारिसे भिन्न थे। प्राय 'मुरारेस्तु तृतीय पन्था' यह आभाणक उन्हींके विषयमें चला था क्योंकि उनका मत भट्टमत तथा गुरुमतसे भिन्न था।

मै समझता हूँ मुरारि भी दाक्षिणात्य ब्राह्मणोंमेंसे किसी ब्राह्मणवंशमें उत्पन्न हुए थे क्योंकि उनकी कवितापर भवभूतिका बड़ा प्रभाव दीखता है, उनके समयमें और भवभूतिके समयमें जितना अन्तर है उतने समयमें दूरवर्ती कविपर इतना प्रभाव होना सम्भव नहीं है॥

मुरारिका शास्त्रीय पाण्डित्य

अनर्घराघवका प्रत्येक पृष्ठ ही मुरारिके शास्त्रीय पाण्डित्यका प्रमाण है, खासकर मुरारि व्याकरण, धर्मशास्त्र, वेद, राजनीति और वैशेषिकके मर्मज्ञ प्रतीत होते हैं क्योंकि इन शास्त्रोंके तत्त्व उनके मुखसे अनायास निकला करते थे। उदाहरणार्थ देखिये—

राजनीति —१-'अहिभयोपजायजर्जर सुहृद्गृहमुपश्रुत्य आत्मबलकदर्श वालि प्रतिग्रहाय प्राहिणोत्' (अंक २)

२-'आरण्योऽग्निरिव सुखद् खामर्षन तेजो विक्रमयति, मण्डलस्य चानुग्राह्यो भवति'। (अङ्क ४)

३-'राजपुत्रोऽङ्गदो सौ वाग्मी नवबुद्धिरामपात्रमिव यद्यदधीयते तत्तद् आचयति'। (अङ्क ६)

४-'अरिषड्वर्ग एवायमस्यास्ततपदानि षट् तेषामेकमपि छिन्दन् मत्क्षय भ्रमरीं श्रियम्'। (अङ्क ६)

व्याकरण— १-'प्रकृष्टस्त्रभिप्रायक्रियाफलवतो विधीन्'। (अङ्क २)

२-'तपोभिरस्य ब्राह्मणातिदेशोऽपि चत्रकार्यं न जहाति' (अङ्क ४)

वेद— १-'परिणमयति ज्योतिष्टुत्या यजूंषि'। (अङ्क २)

२-'गायत्री द्रुपदा देवी पाप्मानमपहन्तु ते।
पुनन्तु पावमान्यस्त्वामृध्नोतु ब्रह्म ते परम्॥' (अङ्क ४)

धर्मशास्त्र— १-न दीक्षिष्यमाणा ग्रुध्यन्तीति रक्षितार क्षत्रियमुपाददते (अङ्क २)

२-'आतिपातिक कर्मणि राज्ञा सद्य शुद्धि'। (अङ्क ५)

वैशेषिक— १-'निरव चाक्षुषमसत्तमस्ति हि तम कैवल्यमौपाधिक प्राच्यादिव्यवहारबीजविरहाद्दिङ्मात्रमेव स्थितम्।' (अङ्क २)

२-'वैशेषिक कन्दली पण्डितो जगद्विजयमान पर्यटामि' (अङ्क ५)

मुरारिका कवित्व

केवल शास्त्रीय पाण्डित्यके बलपर कोई प्रसिद्ध नाटककार होने का दावा नहीं कर सकता है अत मुरारिका कवित्व जबतक हमारे सामने न आवे तबतक हम उनके नाटकका आदर कैसे करेंगे।

इस सम्बन्धमें म उनके नाटकसे कुछ उद्धरण देकर उनके कवित्वका उदाहरण उपस्थित करता हूँ। देखिये —

'क्रियाणां रक्षायै दशरथमुपस्थाय विमुखे
मुनौ विश्वामित्रे भगवति गते सम्प्रति गृहान्।
तपोलेशक्लेशादुपशमितविघ्नप्रतिभयं
प्रवृत्ते यष्टुं वा रघुकुलकथैवास्तमयते॥ (१ ४१)

रामको यज्ञरक्षार्थ तपोवन ले जानेके लिये विश्वामित्र दशरथके यहाँ आये थे, दशरथ विचार करते है कि विश्वामित्रके ऐसे तपस्वी यज्ञकी रक्षाके लिये मेरे पास आये अगर वे यों ही लौट जाते ह और अपने तपके अंशको खर्च करके यज्ञ करने लगते है तब रघुवशकी दानवीरताकी कथा ही अस्त हो जाती है। कितनी उदारभावना तथा प्राञ्जल कथन है।

'एकद्वित्रिप्रभृतिक्रमेण गणनामेषामिवास्तं यता
कुर्वाणा समकोचयद्दशशतान्यम्भोजसंवर्तिका।
भूयोऽपि क्रमशः प्रसारयति ता सम्प्रत्ययमूत्थतान्
संख्यातु सहस्रनूनमेव नलिनी भानोः सहस्र करान्॥ (२ ५)

कमलिनी सहस्रपत्रा होती है, जब सूर्य अस्त होने लगते है उनके अस्त होते हुए करोंके एक एक गिनती हुइ यह कमलिनी अपने हजार पत्रोंको सकुचित कर लेता है स्वय मुद जाता ह, फिर जब सूर्य उगने लगते ह तब उनके उदित होने वाले करों की गिनती सी करती हुइ वही नलिनी अपने हजार पत्रोंको विकसित कर लेती ह। कितनी अच्छी उत्प्रेक्षा है यह।

'दातव्यैवमवश्यमेव दुहिता कस्मैचिदेनामसौ
दोर्लीलामसृणीकृतत्रिभुवनो लङ्कापतिर्याचते।
तत्किं मूढवदीक्षसे ननु कथागोष्ठीषु न श्रूयते
त्वद्वृत्तानि परोक्षयासि मुनयः प्राच्या मरीच्यादय॥ (३ ४४)

रावण की ओरसे सीता की मँगनी करनेके लिये आया हुआ पुरोहित शौष्कल जनकसे कह रहा है कि जब आपको कन्यादान करना ही है तब आप क्या देख रहे ह, रावणके समान वीर पात्रका मिलना आपका सौभाग्य है। आप

विचार क्या करते है, आपका विचार करना मूढ़ताका प्रतीक है, आपसे तो ऐसी आशा नहीं की जाती है।

रामने धनुर्भङ्ग कर दिया, पुरोहित शौष्कल्को इसकी खबर मिल गई, वह जारहा है, परन्तु जाते जाते चेतावनी देता है, वह कितना रम्य है —

समन्तादुत्तालैः सुरसहचरीचामरमरु-
त्तरङ्गैरान्दोलद्भुजपरिघसारम्यशुचिना।
स्वयं पौलस्त्येन त्रिभुवनभुजा चेतसि कृता
मरे राम त्वं मा जनकपतिपुत्रीमुपयथाः ॥ (३ ६१)

रावणने जिस सीताको हृदयमें रख लिया है उस सीताके साथ विवाह करना सर्पसे खेलना होगा, अतः हे राम, धनुर्भङ्ग की कीर्तिमात्रसे सन्तुष्ट होकर आप लौट जाँय, विवाहके पचड़ेमें न पड़ें।

प्रसाद गुण कविताकी रीढ़ मानी जाती है। देखिए —

अभेदेनोपास्ते कुमुदमुदरे वा स्थितवतो
विपक्षात्पद्माद्वा समुपगतवतो वा मधुलिहः।
अपयाप्त कोऽपि स्वपरपरिचर्यापरिचयः
प्रकृत्यैव साधूनामयमनभिसन्धानमधुरः ॥ (६ ६)

कुमुद अपने उदरमें रहनेवाले तथा शत्रुभूत कमलोंके पाससे आनेवाले भ्रमरोंका समान आदर करता है, ठीक ही है साधुजन स्व तथा परका विचार किये बिना ही उपकार किया करते हैं।

कितने उदाहरण दिये जाँय, श्लोकोंका अर्थगौरव माघके श्लोकोंकी याद दिलाते है, पदप्रगाढ़ता तथा उपस्थापन शैलीके लिये एक श्लोक देखिये —

'कल्पान्तक्रूरसूरोत्करविकटमुखो भानुपञ्चन्द्रयुद्ध-
क्रीडारम्भद्रुमूलं समरजलसकल्पमुद्राभिर्भूयोविलासः।
सम्भूयोत्तिष्ठमानस्वपरजलमहासम्प्रपातभीमा-
मुद्राभीगाकगोष्ठीगुरुमदनिरयो नेक्यते पिधत्ते ॥ (६ ३१)

रावणके युद्धावतरणका यह वर्णन कितना उदात्त बना है।

इस प्रकार आप देखेंगे कि इस नाटकमें कवित्वका बड़ा सुन्दर विकास है।



कथासार

अङ्क १

महर्षि विश्वामित्रके आश्रममें यज्ञ होनेवाला है, उन्होंने दशरथके पास आकर राम तथा लक्ष्मणको यज्ञरक्षार्थ आश्रम लेजानेकी इच्छा प्रकट की। हृदयमें व्यथित होकर भी दशरथने विश्वामित्रका अनुरोध स्वीकार किया और विश्वामित्र राम तथा लक्ष्मणको आश्रममें ले आये। वसिष्ठने भी वामदेवके द्वारा विश्वामित्रके अनुरोधका समर्थन किया।

अङ्क २

आश्रममें आनेपर रामने यज्ञकी रक्षा की। एक दिन सन्ध्यासमय राक्षसोंने उपद्रव मचाया। विश्वामित्रकी आज्ञासे धनुष्पाणि रामने ताडका का वध किया। विश्वामित्रने रघुकुलकी कीर्तिका गान किया।

अङ्क ३

विश्वामित्र राम तथा लक्ष्मणके साथ मिथिला आये। वहाँ जनकने सीता स्वयंवरकी पूरी तैयारी कर रखी थी। विश्वामित्रके साथ राम लक्ष्मणको देखकर जनकको बड़ी प्रसन्नता हुई। विश्वामित्रने जनककी तथा जनकने विश्वामित्रकी बड़ी प्रशंसा की। वहाँ पर विश्वामित्रने राम लक्ष्मणका परिचय कराया। जनकने अपनी प्रतिज्ञापर खेद प्रकट किया। इस पर विश्वामित्रने कहा कि शिवजीके धनुषको राम उसे भग्न करेंगे। इसी समय रावणका पुरोहित शौष्कल आया, उसने बड़ी भूमिकाके साथ सीताकी मंगनी रावणके लिये की, उसकी बातके समाप्त होनेसे पहले ही रामने धनुर्भङ्ग कर लिया और वह अपनासा मुँह लेकर चला गया।

अङ्क ४

माल्यवान् तथा शूर्पणखाके कथोपकथन रूपमें अनन्तर करणीय स्थिर किया गया। इधर हरधनुभङ्ग सुनकर कुपित परशुराम मिथिलामें आये। उनके कोपका सौम्य उत्तर रामने दिया, पर तु वह बढ़ता ही गया, अन्तमें उन्होंने अपना वैष्णव धनुष रामको चढ़ानेके लिये दिया, रामने जब उसे चढ़ा दिया तब उनका संशय दूर हो गया, और वह आशीर्वाद देकर तपस्या करने चले गये। उनके जानेके बाद सीता विवाहोत्सवके साथ परशुराम विजयो त्सव भी मनाया ही जारहा था कि कैकयीने दासीके द्वारा पत्र भेजकर अपने

वरदानोंमें रामवनवास तथा भरतका राज्याभिषेक मांगा। सभी मर्माहत हो उठे। परम पितृभक्त राम सीता तथा लक्ष्मणके साथ वन चले गये।

अङ्क ५

रामके वनमें जाने पर रावणने भिक्षुका वेष बनाकर रामके आश्रमम प्रवेश किया, उस समय राम आश्रमम नहीं थे। सीताका हरण हुआ, जटायु मारे गये, पीछे सब समाचार जानकर राम बड़े दुःखी हुए, उन्होंने अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये वाल्विधपूर्वक सुग्रीवके साथ मैत्री कर ली।

अङ्क ६

सुग्रीव द्वारा आयोजित भारी वानर सेनाने समुद्र बाधकर लङ्कापर आक्रमण किया। युद्धम इन्द्रजित् कुम्भकर्णके मारे जानेके बाद रावण स्वय लड़ने आया और बड़ा भीषण युद्ध करता रहा। अन्तमें रामके अस्त्रोंसे आहत होकर वह भी धराशायी हो गया।

अङ्क ७

अग्नि परीक्षाके बाद शुद्धा सीताको साथ लेकर पुष्पक विमानपर आरूढ हो राम आदि अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए। मार्गमें नाना नदी, पर्वतों, स्थानोंको देखते हुए वह अयोध्या पहुँचे, जहां वसिष्ठ आदि उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। रामका राज्याभिषेक होता है॥

कथाका आधार

अनर्घराघवकी कथा रामायणकी प्रसिद्ध कथापर आधारित है। जो कुछ परिवर्तन परिवर्धन किया गया है वह नाटककी दृष्टि से ही। इसमें भी महावीर चरितकी तरह रामवनगमनका प्रसङ्ग मिथिलाम ही उठा दिया गया है। माल्यवान् तथा जाम्बवान् की पूरी मन्त्रणाय कविकी सृष्टियां हैं जिनसे कथा तथा रसका परिपोष होता है। परशुरामका विस्तृत भाषण-वर्णन कार्यसौष्ठव लाने तथा वीर रसको परिपुष्ट करनेके लिए किया गया है। सप्तम अङ्कमें कथा भाग नहींके बराबर है, उसमें तो कालिदास कृत रघुवंशके त्रयोदश सर्गकी तरह केवल वर्णन मात्र है।



पात्रालोचन

१—राम

रामका चित्रण इस नाटकमें आदर्श वीरके रूपमें किया गया है। विश्वामित्रके यज्ञमें उनके गुरु विश्वामित्र उन्हें आदेश देते हैं कि 'गृहाण चाप निगृहाण ताडकाम्' उसपर वे कहते हैं कि यह तो स्त्री है। आप इसको मारनेकी आज्ञा क्यों दे रहे हैं। इसपर विश्वामित्र कह उठते हैं कि आश्रमकी बाधा समीप आ रही है उत्तर प्रत्युत्तर मत करो, इसको मारो। इसपर राम उसका वध तो करते हैं परन्तु उन्हें लज्जा होती ही है।

परशुरामसे बातें हो रही हैं, दशरथ, जनक, शतानन्द सभी गुरुजन उन्हें मना रहे हैं परन्तु उनका पारा नहीं उतरता, रामकी वीरता सौजन्यमें आवृत है वह कुछ कठोर बात नहीं निकालते हैं। परशुराम बढ़ते आ रहे हैं, तब रामने देखा कि ऐसे काम नहीं चलेगा तब वे बोल उठे—

'नृपानम्र यस्मात् किमपवदसे नन्वयमहं शिशुक्रीडाभग्नत्रिपुरहरधन्वा तव पुरः।
सहस्रार्जुनभुजवनव्रश्चनकलानिसृष्टार्थौ बाहू कथय कतरस्ते प्रहरतु' ॥

व्यर्थमें बड़े बूढ़ोंका अपमान क्यों करते हैं, बालक्रीडामें ही शिवधनुर्भञ्जक मैं तो आपके सामने ही खड़ा हूँ, सहस्रार्जुनको मारनेवाला आपका कौनसा हाथ मुझपर प्रहार करेगा ? कृपया इसकी आज्ञा दीजिये।

कितना नम्र और दृढ़ यह वचन है, कितनी बहादुरी इस वचनके पीछे छिपी है।

परशुराम परास्त होकर जाने लगते हैं तब भी रामने उनकी बड़ी प्रतिष्ठा की जिससे उनकी वीरतामें चार चाँद लग गये हैं।

२—लक्ष्मण

लक्ष्मण का चित्रण इस ग्रन्थमें बहुत थोड़ा है पर जहाँ है वहाँ उन्हें रामका अनुगामी चित्रित किया गया है। चन्द्रोदयादि वर्णनमें वह रामके साथ हैं। ताडकाके वधके समय जब राम स्त्रीवधके लिये कुछ विचारमें पड़ जाते हैं तब लक्ष्मण उन्हें कहते हैं कि जब विश्वामित्र कह रहे हैं तब कोई क्षति नहीं है।

परशुरामके आनेपर इनका कोप भड़कता है, परन्तु रामके आदेशसे इन्होंने अपनेको संयत कर लिया। इस प्रकार यह बराबर रामके अनुगामी रहे।

३—सीता

सीताका चरित बहुत स्वल्प है, विवाहके पहले, वन जानेके समय, कहीं भी सीताका कुछ ऐसा उल्लेख नहीं है जिससे चारित्रिक विशेषतापर प्रकाश पड़े।

४—रावण

इस नाटकमें रावण प्रतिनायक है। प्रतिनायकका उत्कर्ष वर्णन फलत नायकोत्कर्षमें पर्यवसित होता है, इस दृष्टिसे रावणका चित्रण बहुत साधारण हुआ है। रावण वीर अवश्य है परन्तु इस नाटकमें उसका चित्र विलासीका चित्र है। उसकी बहादुरीका अवसर उपस्थित होता है लङ्काके घेरे जानेपर। उसे हम चरित्र नहीं कहकर काग़ि कहते है।

५—माल्यवान्

यह रावणका मातामह आता तथा मन्त्री है। इसका राजनीति ज्ञान इसके भाषणोंमें स्पष्ट झलकता है। इसके चार गण सर्वत्र सतर्क तथा बुद्धिमान् है। माल्यवान् भविष्यकी चिन्ता इतनी सावधानीसे करता है कि इसके लिये उसको धन्यवाद देना चाहिये। राम रावणयुद्ध अभी दूर है परन्तु उसे उस समयकी परिस्थितिका चित्र अङ्कित करके अपने सहधर्मियोंको समझाना तथा तदनुसार आचरण करना है। वाली उसके मित्रोंमें है, उसके द्वारा की गई स्वपक्षपरपक्ष विवेचना तथा राजनीतिक घात प्रतिघातकी एक राजनीतिक विवेचना होगी।

६—परशुराम

स्वाभाविक वीरता, तपस्या तथा गुरुभक्तिसे पूर्ण वे रङ्गमञ्चपर आते हैं, उनका क्षत्रियविरोध तथा वीरभाव इतना प्रकट है कि वह रामकी बातोंपर ध्यान तक नहीं देना चाहते, वे अपनी ही बात कहे जाते हैं।

परशुरामको ब्राह्मणत्वकी एव तपस्या तथा क्षत्रियोचित वीरताका भी समान अभिमान है। शतानन्दकी बातोंमें उनको चिढ़सी होती है।

वीर होनेके कारण परशुराम रामकी प्रशसा भी किये बिना नहीं रह सकते हैं, वह कह उठते हैं—'नापराद्धमस्मासु वत्सेन।'

७—विश्वामित्र

विश्वामित्रका चरित्र इस नाटकमें मूलस्रोत माना जाता है, वे रामको उसी प्रकार सचालित है जैसे मुद्राराक्षसका चाणक्य चन्द्रगुप्तको। धनुष उठानेकी आज्ञा देते हैं तब धनुष उठता है, ताडकावधकी प्रेरणा होती है तब ताडकावध होता है। रामके सभी कर्तव्योंकी चिन्ता विश्वामित्रको ही है।

इस नाटकमें पात्रके चरित्रपर कम ध्यान दिया गया है, वर्णन पर अधिक अत चरित्रचित्रणका प्रकरण कुछ छोटा हो गया है।



पात्र-परिचय

पुरुष पात्र

१ दशरथ	अयोध्याधीश	१३ शौष्कल	रावण पुरोहित
२ वामदेव	दशरथके पण्डित	१४ माल्यवान्	रावणके मन्त्री
३ विश्वामित्र	प्रसिद्ध ऋषि	१५ जाम्बवान	सुग्रीवके मन्त्री
४ राम	दशरथपुत्र	१६ जटायु	दशरथमित्र, गृध्र
५ लक्ष्मण	,,	१७ गुह	नाविक
६ दौवारिक	एक सिपाही	१८ वाली	किष्किन्धाधीश
७ शुनःशेप	विश्वामित्रशिष्य	१९ शुक	रावणके चर
८ पशुमेढ़्र		२० सारण	,,
९ शतानन्द	गौतमपुत्र जनक पुरोहित	२१ रत्नचूड	व्योमचारी सिद्ध
		२२ हेमाङ्गद	,,
१० जनक	मिथिलाधीश	२३ विभीषण	रावणानुज
११ परशुराम	प्रसिद्ध क्षत्रियद्वेषी	२४ सुग्रीव	वानरराज
१२ कञ्चुकी	जनकके दरबारका भृत्य	२५ भरत	राम के अनुज
		२६ शत्रुघ्न	,,

स्त्री-पात्र

१ सीता	जनकपुत्री	३ शूर्पणखा	रावणकी बहन
२ कलहंसिका	सीताकी दासी	४ श्रमणा	तापसी



॥ श्री ॥

अनर्घराघवम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

निष्प्रत्यूहमुपास्महे भगवतः कौमोदकीलक्ष्मणः
कोकप्रीतिचकोरपारणपटुज्योतिष्मती लोचने ।

भूतेशे नियमाय मौनिनि गते दूरं क्वचिन्नन्दिनि
म्लाने बालविधौ तथामृतभुजा सिन्धो भजन्त्या सुधाम् ।
यस्मिन्हैमवती चचार विविधा मात्रानुबन्धोद्धुरा
घतोवृत्तिमसौ कृपीटकुशल वशो द्विपेन्द्रानन ॥ १ ॥

श्रद्धानतेन शिरसा पितरं मधुसूदनम् ।
प्रभुं जयमणिं चाहं प्रणमामि पुनः पुनः ॥ २ ॥

धीमन्मुरारिकविता भावानवबोधजद्रवेमुरस्यान् ।
मन्ये कतिचन बालान् प्रोत्साहयिता प्रकाशोऽयम् ॥ ३ ॥

सन्तो गुणेन तुष्यन्ति न नैकान्तेन दुर्लभः ।
दोषाविलेऽपि तेनात्र दृक्पातः क्रियतां बुधैः ॥ ४ ॥

नाटकप्रणयनयशस्वी महाकविर्मुरारिः शिष्टाचारानुमितकर्त्तव्यताकं नान्दीरूपया प्रथमानं मङ्गलमारचयति—निष्प्रत्यूहमिति । प्रत्यूहस्य विघ्नस्याभावो निष्प्रत्यूहम् तस्मै निष्प्रत्यूहम् विघ्नाभावाय चिकीर्षितग्रन्थसमाप्तिप्रचारयोर्निर्विघ्नसम्पत्तये भगवतः सर्वसामर्थ्यशालिनः कौमोदकीलक्ष्मणः कौमोदकी नाम विष्णुगदा लक्ष्म चिह्नं यस्य तस्य तथोक्तस्य गदाधरस्य विष्णोः कोकस्य चक्रवाकस्य प्रीतिः आनन्दः चकोरस्य तदाख्यया प्रसिद्धस्य पक्षिभेदस्य पारणमुपवासान्तभोजनञ्च तयोः कोकप्रीतिचकोरपारणयोः पटुनी ज्योतिषी ययोस्तादृशी लोचने

विघ्नशान्तिके लिये कौमोदकी नामक गदासे भूषित भगवान् विष्णुके उन नयनोंकी उपासना करते हैं जिनमें कोककी प्रीति तथा चकोरके व्रतान्त भोजनमें उपयुक्त सूर्य

याभ्यामर्धविबोधमुग्धमधुरश्रीरर्धनिद्रायितो
नाभीपल्वलपुण्डरीकमुकुल कम्बो सपत्नीकृत ॥ १ ॥

नयने उपास्महे आराधयाम, भगवतो विष्णोर्नयने सूर्यचन्द्रात्मके, तत्र सूर्यज्योतिषा दिवसमयोगिनः कोकस्य प्रीति, चन्द्रज्योत्स्नापिबस्य चकोरस्य दिवसम् नाहारेण यापितस्ततो जायमाने चन्द्रोदये पारणञ्जायत इति नयनयोस्तयो कोकप्रीतिचकोरपारणपटुज्योतिष्मत्त्वमुच्यत । याभ्या सूर्यचन्द्रात्मकाभ्या विष्णुलोचनाभ्याम् अर्धविबोधेन आशिरञ्जिकासेन मुग्धमधुरा अतिमनोहरा श्री शोभा यस्य तथोक्त सूर्यरूपनेत्रसम्पर्कवशादर्धविकसिततया मनोहारीत्यर्थ, अर्धनिद्रायित चन्द्ररूपद्वितीयनेत्रप्रभासम्पर्कवशादर्धमुद्रितश्च नाभी पल्वलमिव अल्प सर इव तस्य यत्पुण्डरीक सिताम्भोज तस्य मुकुल कलिका कम्बो शङ्खस्य सपत्नीकृत सादृश्य प्रापित । अयमाशय —विष्णोस्ते नयने भजामो ये सूर्यचन्द्रात्मकतया कोकप्रीति चकोरपारण च जनयत, किञ्च याभ्या सम्पृक्त कमललोचनस्य नाभीपल्वलपुण्डरीकमुकुलोऽशतो विकसितो मुद्रितश्च भूत्वा शङ्खस्य साम्यमुपागच्छतीति । निष्प्रत्यूहमिति 'अव्यय विभक्ती'त्यादिना समासे 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्या' इति चतुर्थ्या अम्भाव । 'कोमोदकीलक्ष्मण' इति भगवतो विशेषण धृतास्त्रतया तस्य विघ्नोपशमनसमर्थतामाह । इतराण्यङ्गानि विहाय भगवतो नेत्रयोरेव क्रियमाणाऽऽराधना तदीयशुभदृष्टिनिपाताभिलाषिता ध्वनयति ग्रन्थकृत । कोकप्रीतिचकोरपारणपटु चोक्त्या च परमकारुणिकयोर्नयनयोर्निर्नैव कज्जलोपाधिकोकाना प्रियाविरहशोकापहारितया प्रीतिप्रदानेन चकोराणा ज्योत्स्नारूपभक्ष्यप्रदानविधया चोपकारितया निवेद्यमानया उपासनाकर्तुरभिलषितार्थप्रदातृत्व ध्वन्यते । नाभ्या पल्वलस्वरूपणेन गभीरताध्वनि, पुण्डरीकस्य श्वेतगुणप्रोतितयाऽधिकाभितया च शङ्खसादृश्यमत्रगन्तव्यम् । अत्रार्धविबोधमुग्धमधुरश्रीरित्यनेनैवार्धनिद्राणत्वे लब्धेऽवशिष्टार्धसण्डितत्वशङ्कानिराकरणायार्धनिद्रायितत्व शब्देन उक्तम् इति केचित् । केचित्तु 'अर्थत प्राप्तेऽपि निद्राणत्वे स एव विशेष शाब्द्या वृत्त्या परिचीयतामिति तदुपादान शाब्द्या वृत्त्या प्रकाशन न पौनरुक्त्यमावहती'त्याहु, तथा चोक्त सरस्वतीकण्ठाभरणे—'आर्थ्या वृत्त्या लब्धस्य शाब्देतिहासादौ शाब्द्या वृत्त्या भणन न पौनरुक्त्याय' ।

अत्र निष्प्रत्यूहमित्यनेन प्रकृते निर्गत प्रत्यूहो रावणादिर्यस्मात् स निष्प्रत्यूहो

चन्द्रात्मक ज्योति विद्यमान है, जिन सूर्यचन्द्रात्मक नयनोंके सम्पर्कसे आधा विकसित तथा आधा मुकुलित भगवान्का नाभिकमल शङ्खकी समानता प्राप्त करवा दिया जाता है ॥ १ ॥

अपि च—

विरमति महाकल्पे नाभीपथैकनिकेतन-
　　स्त्रिभुवनपुरःशिल्पी यस्य प्रतिक्षणमात्मभूः ।
किमधिकरणा कीदृक्कस्य व्यवस्थितिरित्यसा-
　　वुदरमविशद्द्रष्टुं तस्मै जगन्निधये नमः ॥ २ ॥

रामभद्रमुपास्महे इति नायको रामः सत्कृतरावणवधश्च सूच्यते, कौमोदकीति, कौ पृथिव्यां मोदकी हर्षहेतुरिन्द्रजिद्विनाशः, कोकप्रतीति कोकतुल्यो विभीषणः, चकोरपक्षेन तद्रूपः सुग्रीवः, अर्धविमुग्धाधविकासपद्माभ्यां रावणसेनायाः अविश्रामो रामसेनायाः विश्रामश्च सूच्यन्ते ।

उपमानालङ्कारः, करयोः सादृश्यस्य कमलमुकुलबोधनात् । 'कौमोदकी गदा' 'विघ्नोऽन्तराय प्रत्यूहः' 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' 'पल्लवः चारपत्रः' 'पुण्डरीकं सिताम्भोजम्' 'कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्' 'कोकश्चक्रश्चक्रवाकः' 'शङ्खोऽस्त्री कम्बुरस्त्रियाम्' इति सर्वत्र कोषाः ।

शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्—'सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥ १ ॥

विरमतीति । महाकल्पे महाप्रलये विरमति अतिक्रामति सति पुनः सर्गप्रारम्भकाले नाभी एव पन्था भगवदुदरप्रवेशमार्गः एकम् अद्वितीयं निकेतनं वासस्थानं यस्य तथोक्तः, त्रिभुवनपुरः त्रिलोकीनगर्याः शिल्पी निर्माता असौ आत्मभूः ब्रह्मा कस्य वस्तुनः कीदृक् व्यवस्थितिः व्यवस्था किमधिकरणा च कस्मिन्नधिकरणे कः पदार्थः केन रूपेण व्यवस्थितः इति द्रष्टुं प्रत्यक्षमीक्षितुं यस्य भगवतः उदरमविशत् तस्मै जगन्निधये जगन्निवासाय नारायणाय नमः । महाप्रलयावसाने सृष्टिमारब्धुकामो भगवन्नाभीकमलवास्तव्यो ब्रह्मा सकलसृष्टव्यपदार्थस्थितिपरिचयार्थं यस्य भगवतो विश्वावासभूतमुदरमविशत्तस्मै जगन्निवासाय प्रलये विश्वमात्मनि संहृतवते नमोऽस्तु इत्यर्थः ।

अनेन पद्येन दशग्रीवे विरमत्यात्मभूः रामो लङ्कोदरं तत्सन्निवेशदर्शनाय प्रविष्ट

प्रलयकालके समाप्त होनेपर विष्णुके नाभिकमलमें रहनेवाले तथा त्रिभुवन निर्माणके शिल्पी ब्रह्मा जब संसार बनानेकी इच्छा करते हैं तब बनाये जानेवाले संसारकी क्या स्थिति है ? कितना बड़ा अधिकरण है ? क्या व्यवस्था है ? इत्यादि सभी बातोंको प्रत्यक्ष देखनेके लिये जिस भगवान् विष्णुके उदरमें प्रवेश करते हैं, उस संसारके आश्रय प्रलय कालमें संसारको अपने उदरमें समेट लेनेवाले विष्णुको नमस्कार है ॥ २ ॥

(नान्द्यन्ते ।)

सूत्रधार—अलमतिविस्तरेण । भो भो लवणोदवेलावनालीतमालतरुकन्दलस्य त्रिभुवनमौलिमण्डनमहानीलमणेः कमलाकुचकलशकेलिकस्तूरिकापत्त्राङ्कुरस्य भगवतः पुरुषोत्तमस्य यात्रायामुपस्थानीयाः सभासदः, कुतश्चिद् द्वीपादागतेन कलहकन्दलनाम्ना कुशीलवेन रौद्र-

इत्यर्थः सूच्यते। हरिणी वृत्तम्, 'नसमरसलाग षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति तल्लक्षणात् ॥ २ ॥

नान्द्यन्ते। नन्दयति देवादीनिति नान्दी, रङ्गविघ्नोपशान्तये नटैः क्रियमाणो मङ्गलाचरणविशेषः। उक्तञ्च साहित्यदर्पणे—'यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये। कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥ प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि। तथाप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥ आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ।' अत्राष्टपदा नान्दी, तथा चोक्तं तत्रैव, 'पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत'। अत्र पदशब्दः श्लोकपादपरः सुप्तिङन्तरूपो वेति द्वेधम्, इह तु श्लोकपादपरकतयैव समन्वयः कर्त्तव्यः।

लवणोदः लवणसागरः क्षारजलतया तथा नाम। वेला तीरभूमिः। तत्र या वनाली वनराजिः तस्याः यः तमालतरुः तापिच्छवृक्षः, तस्य कन्दलस्य काण्डभूतस्य, लवणोदधितटवनस्थितस्येत्यर्थः, त्रिभुवनस्य लोकत्रयस्य मौलिर्मस्तकं तस्य मण्डनाय अलङ्काराय यः महान् नीलमणिर्नीलकान्तरत्नं तस्य तथोक्तस्य लोकत्रयवन्दनीयस्येत्यर्थः। कमला लक्ष्मीस्तस्याः कुचावेव कलशौ तयोः केलिः क्रीडा तदर्थं कस्तूरिकया पत्त्रं पत्त्रावलीविरचनम् तदङ्कुरस्येव, हरेः कृष्णत्वादिभिरिह रूपणम्। पुरुषोत्तमस्य पुरुषश्रेष्ठस्य। यात्रायाम् उत्सवे, 'यात्रा स्याद्यापनायां च गतौ देवार्चनोत्सवे' इति धरणिः। उपस्थानीयाः उपस्थिताः, 'भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा' इति कर्त्तर्यनीयर्। सभासदः सामाजिकाः। 'सभासदः सभास्ताराः सभ्याः सामाजिकाश्च ते' इत्यमरः। कुतश्चिद् द्वीपात् द्वीपविशेषात् सिंहलात्। कुशीलवेन नटेन। प्रबन्धम् नाटकम्। अभिनयता प्रयोज्यदर्शयता। उद्वेजिताः खेदिताः।

[नान्दीके अनन्तर]

सूत्रधार—अधिक विस्तारकी आवश्यकता नहीं है। लवण समुद्रके तटपर वर्तमान वनमालाके तमालवृक्षप्ररोहसमान, त्रिभुवनशिरोभूषण महानीलमणितुल्य, लक्ष्मीके कुचकलशपर लिखित मृगमदलेपसदृश श्यामवर्ण भगवान् पुरुषोत्तमकी यात्रामें उपस्थित सभासदो, किसी अन्य द्वीपसे आये हुए कलहकन्दल नामक नटने रौद्र, बीभत्स तथा

बीभत्सभयानकाद्भुतरसभूयिष्ठं कमपि प्रबन्धमभिनयता नित्यं किलायमुद्वेजितो लोकः ।

तत्कस्यचिदभिमतरसभावभाजः प्रेक्षणकस्य प्रयोगानुज्ञया नाट्यवेदोपाध्यायबहुरूपान्तेवासी मध्यदेशीयः सुचरितो नाम भरतपुत्रोऽहमनुगृह्ये । यतः —

प्रीतिर्नाम सदस्यानां प्रिया रङ्गोपजीविनः ।
जित्वा तदपहर्तारमेष प्रत्याहरामि ताम् ॥ ३ ॥

(आकाशे कर्णं दत्त्वा ।) किं ब्रूथ । 'वैदेशिको भवानसमग्रपात्रः कथमीदृशे कर्मणि प्रगल्भते' इति । (विहस्य । सप्रश्रयमञ्जलिं बद्ध्वा ।)

अभिमतरसभावभाजः अभीष्टरसभावशालिनः । प्रेक्षणकस्य दृश्यकाव्यप्रभेदस्य । नाट्यवेदोपाध्यायस्य नाट्यवेदाचार्यस्य बहुरूपनाम्नः अन्तेवासी शिष्यः, भरतपुत्रो नटः । अनुगृह्ये अनुगृहीतः स्याम् । मां नाटकं प्रयोजयितुमनुमन्यन्तां भवन्त इति तदाशयः ।

प्रीतिरिति । यतः यस्मात् सदस्यानां सामाजिकानां या प्रीतिः सन्तोषः सा मम रङ्गोपजीविनो नटस्य प्रिया अपचिता । तस्याः प्रीतेः अपहर्त्तारम् अपहारकम् कलहकन्दलनामानम् (सततं नीरसनाटकप्रयोगेण भवदीयाप्रीतिकरम्) नटं जित्वा स्वप्रयोगनैपुण्येन विनिर्जित्य एषः अहम् तां भवतः प्रीतिं नाम प्रियाम् प्रत्याहरामि पुनरानयामि । अत्र प्रियाहरणतत्कृतपराजयप्रियापुनरानयनादिभिरत्र नाटके वक्ष्यमाणसीताहरणरावणपराभवसीताप्रत्याहरणादिरूपोऽर्थो ध्वनितः ॥ ३ ॥

वैदेशिकः —अन्यदेशागतः पथिकः । असमग्रपात्रः तत्तद्भूमिकाग्राहिजन

भयानक रसमें ओतप्रोत कोई प्रबन्ध नित्यप्रति दिखलाकर यहाँके लोगोंको उद्वेजित कर दिया है ।

अतः आप नाट्यकलाके आचार्य बहुरूपके शिष्य मध्यदेशवासी सुचरित नामक मुझ नटको आज्ञा देकर कृतार्थ करें कि मैं अभिमत रसवाले किसी रूपकका अभिनय दिखलाऊं । क्योंकि—

सदस्योंकी प्रीति नाट्योपजीवी नटोंकी प्रियतमा हुआ करती है उसे छीनकर ले जानेवाले उस दुष्टको जीतकर मैं, उस प्रीतिरूप प्रियतमाको वापस लाना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

(आकाशमें कान लगाकर) क्या कहा ? 'आप वैदेशिक होकर बिना पात्रोंके ऐसे कार्यमें किस प्रकार उद्यत हो रहे हैं' । (हँसकर, नम्रताके साथ हाथ जोड़कर) अहा,

हन्त भो, किमेवमुदीर्यते। भवद्विधानामाराधनी वृत्तिरेव मे पात्राणि समग्रयिष्यति। यत —

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥ ४ ॥

(पुनराकाशे कर्णं दत्त्वा।) किं नूथ। 'तर्हि प्रहितेयमस्माभिः पत्रिका' इति।

(प्रविश्य नटः पत्रिकां ददाति। सूत्रधारो गृहीत्वा वाचयति।)

'यत्र सर्वपुरुषार्थरहस्यनिःस्यन्दिनि—

विस्तर। ईदृशे बहुपात्रमयो नर्तायेऽभिनयात्मके कार्ये। प्रगल्भते प्रवृत्तिमाह स्विषय दर्शयति। भवद्विधानाम् विज्ञसामाजिकानाम्। आराधनी—सेवाविधात्री। वृत्तिः व्यापारो व्यवहारो वा। समग्रयिष्यति—पूर्णतां नेष्यति।

यान्तीति न्यायप्रवृत्तस्य नीत्यनुवर्तिनो जनस्य तिर्यञ्चः तिर्यग्योनिजाता विवेकविकला वानरादयोऽपि सहायताम् उपकारतत्परता यान्ति गच्छन्ति, अपन्थानं कुपथं गच्छन्तं यान्तं तु सोदरः सगर्भ्योऽपि विमुञ्चति परिहरति। इह सन्मार्गानुगतस्य रामस्य वानरादयोऽपि सहाया संवृत्ताः अपथप्रवृत्तस्य तु रावणस्य सोदरोऽपि विभीषणस्तं त्यक्त्वा राममाश्रित इति नाटकीयं वस्तु ध्वनितम् ॥ ४ ॥

'प्रहितेयमस्माभिः पत्रिके'ति सदस्यवचनानुवादः —

यत्र यस्मिन् सर्वपुरुषार्थरहस्यनिःस्यन्दिनि सर्वे पुरुषार्थाः धर्मार्थकाममोक्षाः तेषां रहस्यं गोपनीयं तत्त्वम् तस्य निःस्यन्दः धारणं तद्वति सर्वपुरुषार्थरहस्योद्घाटके सकलपुरुषार्थप्रदानक्षमे सन्दर्भ इति विशेष्यमध्याहृत्य योजनीयम्।

ऐसा क्यों कहते हैं। आप सरीखे महानुभावोंको प्रसन्न करनेकी मेरी प्रवृत्ति ही मुझे पात्रोंको जुटानेमें सहायता देगी। क्योंकि—

न्याय सन्मार्गसे चलनेवालोंको पशु पक्षी भी सहायता प्रदान करते हैं, और अपथ प्रवृत्त जनको उनके सोदरभी छोड देते हैं ॥ ४ ॥

(फिर आकाशमें कान लगाकर) क्या कहा ? 'तो हमने यह आज्ञा पत्रिका दे दी'। (प्रविष्ट होकर नट आज्ञापत्रिका देता है। सूत्रधार लेकर पढता है)

'जिस प्रबन्धमें चतुर्विध पुरुषार्थका रहस्य प्रवाहित होता है—

चेत शुक्तिकया निपीय शतश शास्त्रामृतानि क्रमा
द्वान्तैरक्षरमूर्तिभि सुकविना मुक्ताफलैर्गुम्फिता ।
उन्मीलत्कमनीयनायकगुणग्रामोपसवल्गन
प्रौढाहङ्कृतयो लुठन्ति सुहृदा कण्ठेषु हारस्रज ॥ ५ ॥
तस्मै वीराद्भुतारम्भगम्भीरोदात्तवस्तवे ।
जगदानन्दकन्दाय सन्दर्भाय त्वरामहे' ॥ ६ ॥

चेत शुक्तिकयेति । (यत्र सन्दर्भे) चेत एव शुक्तिका तया क्रमात् यथावसर शतश शास्त्राणि शत शतसुपदेशमयशासनानि एव अमृतानि निपीय सादर पीत्वा समालोच्य वान्तै उद्गीर्णै मुक्ताफलै मौक्तिकै अक्षरमूर्त्तिभि वर्णस्वरूपै सुकविना गुम्फिता सन्दब्धा उन्मीलिता प्रस्फुरता कमनीयाना नायकगुणाना ग्रामस्य समुदायस्य उपसवल्गनेन सम्बन्धेन सद्भावेन प्रौढाहङ्कृतय रचनोत्कर्षजनिताभिमानशालिन्य हारस्रज मनोहारिण्यो वर्णमाला सुहृदा सहृदयसामाजिकाना कण्ठेषु लुठन्ति निवसन्ति । अन्यानि अपि मौक्तिकानि शुक्तिकासु बहुश पीतपानीयासु वान्तानि सुचतुरपुरुषेण गुम्फितानि कमनीयमध्यमणिसयुतानि सूत्रग्रथितानि सत्पुरुषाणा कण्ठेषु लुठन्तीनि प्रसिद्ध तथैव चेत शुक्तिकया शास्त्रामृतानि पीत्वा वान्तैरक्षरस्वरूपैर्मुक्ताफलैर्ग्रथिता कमनीयनायकरूपमध्यमणितद्गुणरूपसूत्रसम्बन्धतयोत्कृष्टताजनितगर्वभाज प्रबन्धरूपमाला सहृदयसामाजिकाना कण्ठेषु स्थान लभन्त इत्यर्थ । अत्र वान्तशब्दप्रयोगेणाश्लीलत्व माशङ्कि, तस्य दोषस्य लाक्षणिकप्रयोगातिरिक्तस्थलविषयतया नियतत्वात्, अत्र प्रकाशितार्थे वान्तपदस्य लाक्षणिकत्वात्, तथा चोक्त दण्डिना—'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षा विगाहते' । श्लिष्टपरम्परितरूपकमलङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५ ॥

तस्मै इति । तस्मै प्रसिद्धाय वीराद्भुतयो रसयोरारम्भेण सम्बन्धेन ताडकावधधनुर्भङ्गादिप्रकरणप्रयोजनेन गम्भीर दुरवगाहम् उदात्त सर्वहृद्य च वस्तु कथावस्तु यत्र तस्मै तथोक्ताय जगदानन्दकन्दाय सकलरसिकानन्ददात्रे सन्दर्भाय

जिस प्रबन्धमें—हृदयरूप शुक्तियाँ शास्त्ररूप अमृत पाकर यथाक्रमसे अक्षररूप मौक्तिक उत्पन्न करती हैं, उन्हें लेकर सुकविगण हार तैयार करते हैं, जिसमें नायक (नेता-सुमेरु) का रमणीय गुण द्योतित होता है, जिससे अहङ्कार झलका करता है, ऐसे यह हार सहृदयोंके गलेमें शोभा पाते हैं—यह बात चरितार्थ होती हो ॥ ५ ॥

उस वीर तथा अद्भुतरसपूर्ण कथावस्तुसे युक्त संसारको आनन्द प्रदान करनेवाले सदर्भको अभिनीत करने की शीघ्रता करें ॥ ६ ॥

(विमृश्य सहर्षस्मितम् ।) मारिष, रामायणमिति श्रृणोषि तत्रभवत कवित्वावतारप्रथमतीर्थस्य वल्मीकजन्मनो मुनेः सरस्वतीनिर्यासो यशःशरीरमिक्ष्वाकूणाम् ।

नट—अथकिम् ।

सूत्रधार—तत्प्रतिबद्धप्रबन्धानुबन्धिनी परिषदाज्ञा ।

नट—(विहस्य ।) अहो, सकलकविसार्थसाधारणी खल्वियं वाल्मीकीया सुभाषितनीवी ।

सूत्रधार—मारिष, किमुच्यते ।

नाटकरूपप्रबन्धाय त्वरामहे त्वरया भवाम । अनुष्टुव्वृत्तम् ॥ ६ ॥

मारिषेति सूत्रधारामन्त्रणम् ।

तत्रभवत पूजनीयस्य, 'पूज्यस्तत्रभवानत्रभवान्' इत्यमर । कवित्वावतारप्रथमतीर्थस्य कवित्वेन कवित्वस्य वा योऽवतार प्रकाशस्तस्य प्रथमतीर्थस्य आद्यिमस्थानस्य, आदिकवेरित्यर्थ । वल्मीकजन्मनो वाल्मीके । सरस्वतीनिर्यास वाक्प्रसर । इक्ष्वाकूणा यश शरीरम् , इक्ष्वाकुकुलकीर्त्तिगाथा ।

अथकिम्—सत्यमुक्तं त्वयेति भाव ।

तत्प्रतिबद्धेति । तेन वाल्मीकिना प्रतिबद्धो विरचितो यो रामायणरूप प्रबन्ध तदनुबन्धिनी तदनुसारिणी परिषदाज्ञा सामाजिकानामादेश । सामाजिका कमपि रामायणानुगत प्रबन्धमभिनेतुमादिशन्ति इति भाव ।

सकलेति । सकलाना कविसार्थाना कविसमुदायाना साधारणी सर्वाधिनी सकलकविभि समानभावेनादृता । सुभाषितनीवी वाल्मीकिकृतसूक्तरूप मूलधनम् । सर्वेऽपि कवयो वाल्मीकिसूक्तमुपजीवन्तीत्यर्थ । 'नीवी स्याद् वसनग्रन्थौ नीवी मूलधनेऽपि च' इति विश्व ।

(विचार करके) (सहर्ष मुस्कुराकर) मारिष, पूजनीय कविताके प्रथमावतारके लिये प्रसिद्ध भगवान्—वाल्मीकि मुनिकी कृति सरस्वतीके सारभाग रामायणको तुमने सुना होगा जो इक्ष्वाकुवंशियोंका यश शरीर है ?

नट—और क्या ?

सूत्रधार—रामायणसे सम्बन्धित प्रबन्धके अभिनयकी आज्ञा परिषद् दे रही है ।

नट—(हँसकर) अहा सभी कविगण वाल्मीकिकी कवितारूप मूलधनका ही तो उपजीवन किया करते हैं ।

सूत्रधार—मारिष, क्या कहना है ?

अपि कथमसौ रक्षोराजस्तताप जगत्त्रयी-
मपि कथमभूदिक्ष्वाकूणां कुले गरुडध्वजः ।
अपि कथमृषौ दैव्यो वाचः स्वतः प्रचकाशिरे
सुचरितपरीपाकः सर्वं प्रबन्धकृतामयम् ॥ ७ ॥

तत्र तावन्निरूपयामि रूपकमभिरूपमीदृशम् । (मुहूर्तमिव स्थित्वा । स्मरणमभिनीय । सोल्लासम् ।) अस्ति मौद्गल्यगोत्रसम्भवस्य महाकवे[१]र्भट्टश्रीवर्धमानतनूजन्मनस्तन्तुमतीनन्दनस्य मुरारेः कृतिरभिनवमनर्घराघवं

अपि कथमिति । अपि असौ रक्षोराजः सकलराक्षसचक्रवर्ती रावणः जगत्त्रयीं त्रिलोकीं कथं तताप सन्तापितवान् ? अपि इक्ष्वाकूणां तदाख्यया प्रथितानां सूर्यवंश्यराजन्यकानाम् कुले वंशे गरुडध्वजः विष्णुः कथमभूत् केन प्रकारेण—रामात्मनाऽवततार, अपि कथम् ऋषौ वाल्मीकौ दैव्यः देवभाषिताः संस्कृता गिरः वाचः प्रचकाशिरे छन्दोबद्धवागात्मना पर्यणमन्, सर्वं अयम् प्रबन्धकृताम् रामाश्रिततत्प्रबन्धप्रणयनयशस्विनाम् कवीनाम् सुकृतपरिपाकः पुण्यपरिणामः, रावणकर्तृकजगत्सन्तापनतदुपशमोद्देश्यकरामावतारतद्यशोवर्णनप्रयोजनकादिकविनिष्ठच्छन्दोबद्धवागवतारादि सर्वं सुकविसुकृतनिदानकमेव, कथमन्यथेदं सम्भवदिति । त्रयोऽप्यपयः प्रश्नार्थाः, 'अपि सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये' इति विश्वः । हरिणीवृत्तम् ॥ ७ ॥

निरूपयामि विचार्य निर्धारयामि । अभिरूपम् योग्यं यथोक्तगुणयोगि । अभिनीय-शिरःकम्पादिना स्मरणं नाटयित्वा ।

वर्धमानतनूजन्मनः वर्धमानाख्यविदुषः पुत्रस्य । तन्तुमतीनन्दनस्य तन्तुमती नाम मुरारिमाता तन्नन्दनस्य तत्पुत्रस्य । 'गोत्रं नाम च वक्तव्यं पूज्यावाक्यं च पार्षदे । नाटकस्य च यन्नाम गर्भनिर्दिष्टलक्षणम्' इति भरतोक्तदिशात्र मुरारिजनकजननीनामनिर्देशः तत्कृतिप्रशंसा च । तत् अनर्घराघवं नाम नाटकम् ।

यह कैसे सम्भव हो गया कि रावणने सारे संसारको सन्तापित कर दिया, यह भी कैसे सम्भव हो गया कि भगवान् विष्णुने इक्ष्वाकुवंशमें जन्म ले लिया, और यह भी कैसे सम्भव हो गया कि वाल्मीकिके हृदयमें वाणीने अपना प्रकाश फैलाया ? निश्चय ही यह सारा काण्ड सुकवियोंके पुण्यप्रतापका फल है ॥ ७ ॥

इसलिये सोचता हूँ कि कौन रूपक उपयुक्त होगा । (क्षणभर रुककर) (याद करके उल्लासके साथ) मौद्गल्यगोत्रोत्पन्न महाकवि वर्धमान भट्टके पुत्र तन्तुमती नामक

१ 'महाकवे' इत्यस्मात्पूर्वम् 'बाल्वाल्मीके' इत्यधिकविशेषणम् ।

नाम नाटकम् । तत्प्रयुञ्जाना सामाजिकानुपास्महे । (विचिन्त्य सहर्षम् ।) अहो रमणीया खल्वियं सामग्री परिषदाराधनस्य । यत —

मद्वर्ग्या रसपाठगीतिगतिषु प्रत्येकमुत्कर्षिणो
मौद्गल्यस्य कवेर्गभीरमधुरोद्गारा गिरा [1]व्यूतय ।
[2]धीरोदात्तगुणोत्तरो रघुपति काव्यार्थबीज मुनि
र्वाल्मीकि फलति स्म यस्य चरितस्तोत्राय दिव्या गिर ॥८॥

अयं तु प्राचेतसीय कथावस्तु बहुभि प्रणीतमपि प्रयुञ्जानो नाप-

प्रयुञ्जाना अभिनयन्त । सामाजिकान् सहृदयसभ्यान् । उपास्महे—आराधयाम । सामग्री—उपकरणम् । परिषदाराधनस्य—सभ्यजनसन्तोषस्य ।

मद्वर्ग्या इति मद्वर्ग्या मम सम्प्रदाये वर्त्तमाना जना प्रत्येकम् एकैकम् रसा नाट्यप्रयोज्याश्शृङ्गारवीरादय , पाठ स्वरस्वादमाधुर्यम् , गीति सङ्गीतञ्च तेषु उत्कर्षिण उत्कर्षवन्त , मौद्गल्यस्य मौद्गल्यगोत्रोत्पन्नस्य कवेर्मुरारिनाम्न गिरा व्यूतय वाग्विस्तरा गभीरा अर्थगौरवपूर्णा मधुरा मनोहराश्च उद्गारा उक्तयो यासु तादृश्य अर्थगौरवपूर्णा मनोहराश्चेत्यर्थ । धीरोदात्तगुणोत्तर धीरोदात्त-श्रेष्ठ रघुपतिश्च काव्यार्थबीजम् काव्ये वर्णनीयतया तदर्थमूलम् , यस्य रघुपते रामस्य चरितस्तोत्राय कीर्त्तिस्तुतय वाल्मीकिनाम मुनि दिव्या अमानुषी गिर वाच फलति स्म आविर्भावयति स्म । एतेन सामग्रीपूर्णता द्योतिता, नटकविकाव्य-वस्तुरूपविभावाणामनुकूलतया प्रबन्धाभिनयसामग्रीपूर्त्तिरस्तीति भाव । 'अवि-कत्थन क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्व । स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रत कथित ॥' इति धीरोदात्तलक्षणम् ॥ ८ ॥

अयम् मुरारि । प्राचेतसीयम् वाल्मीकिकृतम् । कथावस्तु चरितम् । बहुभि-

---

मौनकि गर्भसे उत्पन्न मुरारिकृत अनर्घराघव नाटक है । उसीके अभिनयद्वारा सामाजिकों का अनुरञ्जन किया जाय । क्योंकि—

मेरे सहकर्मी रससृष्टि, पदपाठ, गीतिकला, सभी नाट्याङ्गोंमें एकसे एक बढ़कर सिद्धहस्त हैं, मौद्गल्यकवि मुरारिकी कविता गंभीर मधुर उद्गारशालिनी है, काव्यके नायक धीर तथा उदात्तगुण मण्डित भगवान् रामचन्द्रही हैं, जिनके चरित की प्रशंसामें वाल्मीकिने दिव्यवाणीका प्रयोग सफल किया है ॥ ८ ॥

यह श्रोत्रियपुत्र मुरारि यदि वाल्मीकिद्वारा प्रयुक्त कथावस्तुका उपयोग करता है तो

---

१ 'स्फूतय ' इति पाठान्तरम् । २ 'वीरोदात्त—' इति ।

राध्यति श्रोत्रियपुत्रः । पश्य—

यदि क्षुण्णं पूर्वैरिति जहति रामस्य चरितं
　　गुणैरेतावद्भिर्जगति पुनरन्यो जयति कः ।
स्वमात्मानं तत्तद्गुणगरिमगम्भीरमधुर-
　　स्फुरद्वाग्ब्रह्माणः कथमुपकरिष्यन्ति कवयः ॥ ९ ॥

उपक्रममाणश्च स कविः स्वनिर्भासशब्दब्रह्माणमाचार्यं प्राचेतसं गिरं च देवतामेवमुपश्लोकितवान् ।

कालिदासादिप्राचीनकविभिः, प्रणीतम् प्रकाशितं स्वकाव्ये आदनम्, प्रयुञ्जानः रचनादर्के उपाददानः । नापराध्यति न दोषभाग् भवति । श्रोत्रियपुत्रः वेदज्ञस्य वर्धमानस्य तनयः ।

यदि क्षुण्णमिति । यदि पूर्वैः प्राचीनैः पण्डितैः वाल्मीकिप्रभृतिभिः क्षुण्णम् बहुशो वर्णितमिति कृत्वा रामस्य चरितम् रामायणीयं कथानकं जहति त्यजन्ति, यदि साम्प्रतिकाः कवयो भूतपूर्वकविभिराम्रेडिततया रामचरित्रं न स्वकवितानिषय-चिकीर्षन्ति, तदा तत्तद्गुणानां माधुर्यान्प्रसादादीनां गरिम्णा गौरवेण गम्भीरमर्थ-गुरु मधुरं हृद्यं च यथा स्यात्तथा स्फुरद्वाग्ब्रह्म शब्दरूपं ज्योतिर्येषां ते तथोक्ताः तत्तद्गुणपूर्णकवित्वशालिनः कवयः कथम् स्वम् आत्मानम् कथम् उपकरिष्यन्ति प्रतिपत्तिरूपमुपकारं प्रापयिष्यन्ति यशस्विनं करिष्यन्ति, यत एतावद्भिः अपरिमत्त्वै-र्गुणैर्जगति कोऽन्यो रामातिरिक्तो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते पूर्वकविपरिगृहीततया यदि रामस्य चरितं साम्प्रतिकाः कवयो न स्वकवितायाः विषयीकरिष्यन्ति तदा ते स्फुरद्वाग्ब्रह्माणः सन्तोऽपि कथमात्मानमुपकरिष्यन्ति, तादृशपुण्यकीर्त्तिनायकान्त-रस्य दुर्लभत्वादित्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम्, 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिख-रिणी' इति तल्लक्षणात् ॥ ९ ॥

उपक्रममाणः—काव्यमारभमाणः, स कविः मुरारिः । स्वनिर्भासः स्वस्य प्रकाशः

इसमें उसका कुछ दोष नहीं माना जाना चाहिये ।

यदि प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित होनेके कारण रामचन्द्रके चरितको अपनी काव्यकलाका आधार नहीं बनावें, तो दूसरा रामचन्द्रसमान चरितनायक इस संसारमें कहाँ पाया जायगा, और तब तत्तद् गुणोंकी गरिमा तथा गम्भीरतासे पूर्ण वाणीवाले कविगण अपनेको महाचरित प्रदर्शन द्वारा कैसे उपकृत कर सकेंगे ? ॥ ९ ॥

अपनी कविताके प्रारम्भमें महाकवि मुरारिने स्वप्रकाश शब्दब्रह्म वाले प्राचेतस वाल्मीकि तथा सरस्वती की वन्दना निम्नलिखित रूपमें की है ॥

नमृषिं मनुष्यलोकप्रवेशविश्रामशाखिनं वाचाम् ।
सुरलोकादवतारप्रान्तरखेदच्छिदं वन्दे ॥ १० ॥
धातुश्चतुर्मुखीकण्ठशृङ्गाटकविहारिणीम् ।
नित्यप्रगल्भवाचालामुपतिष्ठे सरस्वतीम् ॥ ११ ॥

नट —(सहर्षम् ।) भाव, तत्प्रस्तूयताम् । अस्य हि मौद्गल्याना'

शब्द एव ब्रह्म यस्य स स्वतोऽवतीर्णवाक्प्रसरम् अनायासप्राप्तकवित्वप्रवाहमित्यर्थः । आचार्यम् सकलकविगुरुम् । प्राचेतसम् वाल्मीकिम् । उपश्लोकितवान् स्तुतवान् ।

तमृषिमिति । वाचाम् कवितारूपवचनविन्यासानाम् य मनुष्यलोके मर्त्ये प्रवेश समागम तत्र [स्वर्गात् (कवितायाः) अवतारे अवतरणे प्रान्तरखेद शून्यवर्त्मनि निरवलम्बनतया गमनक्लेश त छिनत्तीति तथोक्त] विश्रामशाखिन श्रमापह तरु तमृषिं वाल्मीकिं वन्दे । अनालम्बे वर्त्मनि सक्लेशा स्वर्गात् भुवमवतरन्त्या कवितायाः विश्रामवृक्षभावं भजन्तं वाल्मीकिं नामर्षिं वन्दे इत्यर्थः । आर्यावृत्तम् । रूपकमलङ्कार ॥ १० ॥

धातुरिति । धातु ब्रह्मण चतुर्णां मुखाना समाहार चतुर्मुखी मुखचतुष्टयम् तस्या कण्ठा एव शृङ्गाटकानि चतुष्पथम् तत्र विहारिणीं सततविहारशीलाम् प्रगल्भवाचालाम् समुद्भता वाक्पटुकाञ्च सरस्वतीम् वाचम् सतत सर्वदा उपतिष्ठे पूजयामि । ब्रह्ममुखवासरसिका वाच मन्त्रद्वाराऽऽराधयामीत्यर्थः । ननु बहुभाषित्वेन सरस्वत्या का स्तुतिरिति चेन्न, सरस्वत्या चतुर्मुखमुखरूपशृङ्गाटकविहारितया पण्यस्त्रीत्वेन रूपितत्वे वाचालताया एव स्तुत्यत्वात् । 'शृङ्गाटक भवेद्वारिकण्टके च चतुष्पथे' इति मेदिनी । 'स्याज्जल्पकस्तु वाचाल ' इति च । रूपक स्पष्टमलङ्कार ॥

प्रस्तूयताम् आरभ्यताम् । ब्रह्मर्षीणाम् ब्रह्मणश्च ते ऋषयो ब्रह्मर्षयस्तेषाम्

वाणी मनुष्यलोकमें प्रवेश करने चली तब मार्गमें उसने अपने विश्रामके लिये वाल्मीकिरूप वृक्षको चुना, उस वृक्षने अपनी छायामें बैठाकर वाणीको छायारहित मार्गमें सुरलोकसे मर्त्यलोकतक आनेके कष्टको दूर कर शीतलता प्रदानकी, मैं उस विश्रामशाखी वाल्मीकि मुनिको नमस्कार करता [illegible] ॥ १० ॥

ब्रह्माके चारों मुखरूप चतुष्पथमें विहार करनेवाली सदा प्रगल्भ तथा वाचाल सरस्वतीकी वन्दना करता हूँ ॥ ११ ॥

नट—(हर्षके साथ) भाव, तब आरम्भ कर दीजिये । इस मौद्गल्य गोत्रोत्पन्न ब्रह्मर्षि

१ 'मौद्गल्यायनानाम्' इति ।

ब्रह्मर्षीणामन्वयमूर्धन्यस्य मुरारिनामधेयस्य बालवाल्मीकेर्वाङ्मयममृतबिन्दुनिष्यन्दि कन्दलयति कौतुकं मे ।

सूत्रधारः—मारिष, स्थाने भगवतः कुतूहलमीदृशमेवैतत् । तथाहि—

तत्तादृगुज्ज्वलककुत्स्थकुलप्रशस्ति
सौरभ्यनिर्भरगभीरमनोहराणि ।
वाल्मीकिवागमृतकूपनिपानलक्ष्मी
मेतानि बिभ्रति मुरारिकवेर्वचांसि[1] ॥ १२ ॥

ऋषिस्वरूपाणां ब्राह्मणानामित्यर्थः । अन्वयमूर्धन्यस्य वंशे प्रधानस्य । मुरारिनामधेयस्य मुरारिनामकस्य । बालवाल्मीकेः वाल्मीकेरवतारभूतस्य बालपदं वृद्धवाल्मीकेर्भेदकम् । वाङ्मयम् वचनविन्यासो नाटकमित्यर्थः । अमृतनिष्यन्दि सुधावर्षि । कौतुकम् औत्सुक्यम् । कन्दलयति अङ्कुरयति । स्थाने भवतः कुतूहलम् । उचितं तवौत्सुक्यम् । ईदृशमेवैतत्—उत्सुकता जनकमेव वचनं मुरारेरतो युक्तमेव तत्प्रयोगे तवौत्सुक्यमिति भावः ।

तत्तादृगिति । तत् प्रसिद्धम् तादृक् अनन्यसाधारणम् उज्ज्वलम् स्वगुणप्रकाशम् यत् ककुत्स्थकुलम् सूर्यवंश्यराजकुलम् तस्य या प्रशस्तिः चरितकीर्तनरूपा प्रशंसा तस्याः सौरभ्यं ख्यातिस्तया गभीरमनोहराणि महान्ति सुन्दराणि च एतानि मुरारिकवेर्वचांसि वाल्मीकेर्यद् वागेवामृतं तस्य यः कूपस्तस्य निपानलक्ष्मीम् कूपसमीपस्थेष्टकादिरचितस्वल्पजलाशयशोभां बिभ्रति धारयन्ति । यथा कूपान्न्यूनं निपानं तथा वाल्मीकिवचनेभ्यः किञ्चिन्न्यूनानि मुरारिवचनानीति भावः । 'आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये' इति कोषः । अत्रान्यस्य धर्मं कथमन्यो वहतीति मुरारिवचनस्य निपानस्य च बिम्बप्रतिबिम्बभावात् निदर्शनालङ्कारः, 'सम्भवन्वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्वापि कुत्रचित् । यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शने'ति

वंशभूषण बालवाल्मीकि मुरारिकी कविताएँ—जो अमृत बिन्दुकी वर्षा करती हैं—मेरे हृदयमें उत्सुकता पैदा कर रही हैं ।

सूत्रधार—मारिष आपका कौतुक ठीक ही है, यह कविता ऐसी ही है ।

उन अवर्णनीय काकुत्स्थकुलकी प्रशंसासे सुरभित गम्भीर तथा मनोहर मुरारिकी कवितायें वाल्मीकिके वचनरूप अमृतके लिये कूप निपानकी शोभा धारण करती हैं ॥१२॥

१ क्वचित् तत्तादृगुज्ज्वल-' इत्यादि श्लोकाग्रे 'अपि च । देवा वाचमुपासते हि बहवः' इत्यादि श्लोको दृश्यते ।

(नेपथ्ये गीयते ।)

दिणअरकिरणुक्केरो पिआअरो को वि जीअलोअस्स ।
कमलमउलकवालीकिअमहुअरकड्ढणविअड्ढो ॥ १२ ॥

[दिनकरकिरणोत्कर प्रियाकर कोऽपि जीवलोकस्य ।
कमलमुकुलाङ्कपालीकृतमधुकरकर्षणविदग्ध ॥ १३ ॥]

सूत्रधार —(आकर्ण्य ।) कथमुपक्रान्तमेव नर्तकैः, यदियं दशरथोत्सङ्गाद्रामभद्राकर्षिणो विश्वामित्रस्य प्रावेशिकी ध्रुवा । (पुरोऽवलोक्य ससम्भ्रमम् ।) अये, कथमत्रैव तत्रभवत कमलयोनिजन्मनो मुनेराय

लक्षणात् ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम्, 'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ ग' इति च तल्लक्षणम् ॥ १२ ॥

दिनकरेति । दिनकरस्य सूर्यस्य किरणोत्कर तेजोनिवह (तत्स्वरूप) जीवलोकस्य ससारस्य प्रियाकर सुखद कोऽपि अनिर्वचनीयगुणगण पुरुष कमलमुकुलेन पद्मकलिकया अङ्कपालीकृत क्रोडविनिहित य मधुकरो भ्रमरस्तस्य कर्षणे तत् क्रोडात् बहिर्नयने विदग्ध चतुर एष । यथा कमलमुकुलक्रोडीकृतस्य भ्रमरस्य ततो बहिर्नयने सूर्यकिरणोत्कर एव दक्षस्तथा दशरथस्य क्रोडे स्थितस्य रामस्य ततो निष्कृष्य तपोवननयने विश्वामित्र एव समर्थ इति ध्वनि । एतद्गाथासूचितोऽर्थोऽयमग्रे सूत्रधारकथनेन स्पष्टीभविष्यति ॥ १३ ॥

उपक्रान्तम् प्रारब्धम् । प्रावेशिकी प्रवेशसूचिका । ध्रुवा गीतिभेद । तथा चोक्त भरतेन 'ध्रुवा तु गीतिभेदोऽयं वृन्दसामा निगद्यते । सा चैव पञ्चधा 'प्रावेशिकी निष्क्रमणी परिक्रामण्यवस्थितिः । उत्थापनी तु पञ्चम्या ध्रुवा नाट्यार्थसिद्धये । तत्र प्रावेशिकी ज्ञेया प्रवेशे गानयोगत ॥' ससम्भ्रमम् सादरम् । कमलयोनिजन्मन कमलयोनिर्ब्रह्मा ततो जन्म यस्य तस्य मुनेर्वसिष्ठस्य । आयतनात्

(नेपथ्यमें गाथा गाता है)

यह सूर्यका किरण समुदाय लोगोंको अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करता है जो कमलकुड्मलकी गोदरूप कारागारमें वन्दीभूत मधुकरोंको बाहर निकालनेमें पटु है ॥ १३ ॥

सूत्रधार —(सुनकर) क्यों, नर्तकोंने प्रारम्भ भी कर दिया ? जिसमें दशरथकी गोदसे रामको अलग करनेवाले विश्वामित्रकी सूचना देनेवाली यह गीत है। (आगे देखकर घबड़ाहटके साथ) अरे, वसिष्ठमुनिके आश्रमसे वापस आये हुए वामदेवके

तन्नाश्रमप्रतिनिवृत्तेन ऋत्विजा वामदेवेन किमपि तद्वाचिकमभिधीयमानो महाराजो दशरथस्तिष्ठति । तदेहि । न द्वयोस्तृतीयेन[1] भवितव्यमित्यावामप्यनन्तरकरणीयाय सज्जीभवाव । (इति निष्क्रान्तौ)

प्रस्तावना ।

(ततः प्रविशति यथोपदिष्टो दशरथो वामदेवश्च ।)

दशरथः—अहो, बहुधा श्रुतमपि भगवतो वसिष्ठस्यानुशासनं नवं नवमिव प्रमोदयति माम् ।

आश्रमपदात् । प्रतिनिवृत्तेन परावर्त्तमानेन । किमपि मानिशयरहस्यम् । तद्वाचिकम् वसिष्ठसन्देशम् । अभिधीयमानः उच्यमानः । वसिष्ठाश्रमान्निवृत्तो वामदेवो दशरथाय वसिष्ठसन्देशं कथयन्तिष्ठति, तत्तयो रहस्यकथाया नावाभ्यां सन्तव्यमित्याह—न द्वयोरिति, न द्वयोस्तृतीयेन भवितव्यम् न द्वयोः कथायां तृतीयेन सम्मिलितव्यमिति 'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र' इति स्मरणात् । आवाम् नटसूत्रधारौ । सज्जीभवाव उद्यतौ भवाव ।

प्रस्तावना—'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा । सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥ चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैर्वीथ्यङ्गैश्चापि नाटके । प्रस्तावना हि सा ज्ञेया प्रकृतार्थोचित बुधैः ॥' इति तल्लक्षणम् । अयमेव पूर्वरङ्गः, 'पूर्वरङ्गः सभापूजा कवेर्गोत्रादिकीर्त्तनम् । नाटकादिस्तथा संज्ञा सूत्रधारोऽप्यथो मुखम् ॥ गीतिक्रिया च नाशः च वर्णिकाग्रहणं तथा । धृतिर्नवनिकायाश्च पूर्वरङ्गश्चतुर्विध ॥' इति तत्स्वरूपस्य भरतेन निवेदनात् ।

बहुधाश्रुतम् अनेकवारमाकर्णितम् । अनुशासनम् आज्ञावचनम् । नवं नवमिव सततनूतनमिव । प्रमोदयति आनन्दयति ॥

द्वारा कहे गये सन्देशको सुनते हुए महाराज दशरथ यहाँ बैठे हैं । अतः चलो दो आदमियोंकी रहस्य कथामें तृतीय नहीं बनना चाहिये । अब हम अपने अग्रिम कर्त्तव्यके लिये सज्जित हो लें । (दोनोंका प्रस्थान)

[प्रस्तावना समाप्त]

(इसके बाद यथोक्तरूपमें दशरथ तथा वामदेवका प्रवेश)

दशरथ—अहा ! अनेक बार सुना गया भी वसिष्ठका अनुशासन नित्य नूतनकी तरह मुझे आनन्दित करता है ।

---

१ क्वचित् 'न द्वयोस्तृतीयेन भवितव्यमिति निष्क्रान्तौ' इत्येतावदेव पाठः ।

वामदेव —
मधुकैटभदानवेन्द्रमेदःप्लवविस्रा विषमैव मेदिनीयम् ।
अधिवास्य यदि स्वकैर्यशोभिश्चिरमेनामुपभुञ्जते नरेन्द्राः ॥ १४ ॥

दशरथ —(सविमर्शस्मितम् ।) सखे[1] वामदेव,

तस्याज्ञयैव परिपालयतः प्रजा मे
कर्णोपकण्ठपलितङ्करणी जरेयम् ।
यद्गर्भरूपमिव मामनुशास्ति सर्वं
मद्यापि तन्मयि गुरुर्गुरुपक्षपातः ॥ १५ ॥

मधुकैटभेति । मधुकैटभौ दानवेन्द्रौ प्रथितौ तयोर्मेदसो वसायाः प्लवेन प्रवाहात्मना क्षरणेन विस्रा आमगन्धवती इयं मेदिनी पृथ्वी विषमा दुर्भोग्या एव दानवेन्द्रयोस्तयोर्वसापङ्केन पङ्किलेयं धरित्री नोपभोगक्षमा आसीदिति पूर्वार्द्धार्थः नरेन्द्रा राजानः स्वकैर्यशोभिरधिवास्य स्वकीर्त्तिभिः सुरभीकृत्य चिरम् उपभुञ्जते तर्हि उपभुञ्जते, राक्षसैः पूतिगन्धितां प्रापितायाः अस्य भुवो राजकीर्त्तिभिरेव सुरभीकृतत्वेन भोगक्षमता जातेति हृदि कृत्य भवतोऽपि भुवं यशसा सुरभीकर्त्तुं यतन्तामिति वसिष्ठस्य सन्देशो वामदेवेन दशरथाय निवेद्यमानो बोध्यः । 'विस्रं स्यादामगन्धि यत्' इति मेदिनी ॥ १४ ॥

तस्येति । तस्य वसिष्ठस्याज्ञया आदेशानुसारम् एव प्रजाः रक्षतः पालयतो मे मम इयम् कर्णोपकण्ठे कर्णपार्श्वे पलितङ्करणी शौक्ल्यसम्पादिका जरा वृद्धावस्था जातेति शेषः, वसिष्ठाज्ञयैव प्रजाः पालयतः वार्द्धक्यं प्राप्तः इत्यर्थः, अद्यापि इह वृद्धावस्थायामपि गर्भरूपमिव अतिबालकमिव गुरुः वसिष्ठः सर्वं कर्त्तव्यजातम् माम् अनुशास्ति आदिशति, तन्मयितस्य गुरुपक्षपातः, महान्स्नेहातिशयः, वृद्ध

वामदेव—यह पृथ्वी मधुकैटभ आदि दानवोंके मेद प्रवाहसे दुर्गन्धपूर्ण हो रही थी, इसे अपनी कीर्तियोंसे सुवासित करके ही इन नृपतियोंने इसका उपभोग किया ॥ १४ ॥

दशरथ—(विचारकर मुस्कुराते हुए) सखे वामदेव! महाराज वसिष्ठकी आज्ञासे ही मैं इस पृथ्वीका शासन करता आया हूँ, मैं अब बूढ़ा हो चला, फिर भी आज भी वसिष्ठ छोटे बालककी तरह मुझे सभी विषयोंमें राय देते हैं यह उनका महान् अनुग्रह है ॥ १५ ॥

१ ऋषे इति ।

वामदेव—महाराज, किमुच्यते। समानवृत्तेरपि कस्यचिदेव कस्यचित्तारामैत्रकम्। तथाहि स तत्रभवान्—

साधारणो रघूणां गुरुर्भवन्नपि विशेषदृष्टिस्त्वे।
नामोदयति कमिन्दुः कुमुदं पुनरस्य सर्वस्वम्॥ १६॥

दशरथ—वामदेव, मम हि गुरुवचनश्रवणतृष्णामङ्कुशीकरोति श्रोत्रवृत्तिरिन्द्रियान्तरानुसारिणो हृदयमहाराजस्य। तत्र किञ्चिदपरमवशिष्यते।

मपि यन्मां गुरुरनुशास्ति तत्सर्वं स्नेहविजृम्भितमित्यर्थः। 'पलितं जरसा शौक्ल्यम्' इति कोषः। पलितं क्रियते यया सा पलितङ्करणी। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ १५॥

समानवृत्तेः सर्वजनसमवर्तिनः। तारामैत्रकम् चक्षूरागः, समवृत्तेरपि जनस्य कस्यचन स्नेहातिशयो दृश्यत इति भवति वसिष्ठस्यास्ति प्रेमप्रकर्ष इति भावः।

साधारण इति। रघूणां रघुवंश्यानां साधारणो गुरुर्भवन्नपि वसिष्ठस्ते तव विषये विशेषदृष्टिः त्वयि कृतसविशेषप्रेमा तिष्ठतीति शेषः, अत्र दृष्टान्तमाह—नामोदयतीति इन्दुश्चन्द्रः कन्न आमोदयति हर्षयति सर्वमप्यानन्दयतीत्यर्थः, अस्य चन्द्रस्य पुनः कुमुदं सर्वस्वम् निधिभूतम्, यद्यपि चन्द्रः सर्वानानन्दयति, तथाऽप्यसौ कुमुदस्यास्य समानन्दजनक इत्यर्थः। प्रतिवस्तूपमालङ्कारः, 'वस्तु किञ्चिदुपन्यस्य न्यसनात्तत्सधर्मणः। साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा मता' इति तल्लक्षणम्॥ १६॥

मम दशरथस्य, श्रोत्रवृत्तिः श्रवणव्यापारः इन्द्रियान्तरानुसारिणः किञ्चिद् [illegible]

वामदेव—महाराज, क्या कहें, समवर्ती होने पर भी किसीके साथ किसीका लग्न मिल जाता है। महाराज वसिष्ठ—

यद्यपि सभी रघुवंशियोंके तुल्यभावसे गुरु रहे हैं फिर भी उनकी आप पर खास कृपा रहती है, चन्द्रमा किसको नहीं आनन्दित करता है किन्तु कुमुद उसका सर्वस्व कहा जाता है॥ १६॥

दशरथ—इन्द्रियान्तरके साथ सम्बन्ध जोड़नेकी इच्छा रखनेवाले हमारे हृदयको कान गुरुवचन तृष्णा द्वारा अपने वशमें कर रहे हैं, तो क्या कुछ और सन्देश है?

१ 'अङ्कुरयति' इति। २ 'तत्किमपरमवशिष्यते' 'तत्र किंचिदवशिष्यते' इति च।

वामदेव —महाराज, निःशेषमभिहितम्। इमां तु सर्वसंदेशसंग्रहकारिकां कारिकामतिप्रयत्नेन भगवान्भवन्तमनुस्मारयति।

दशरथ —(सादरम्।) अवहितोऽस्मि। किमाज्ञापयति[1]।

वामदेव —

हुतमिष्टं च तप्तं च धर्मश्चायं कुलस्य ते।
गृहात्प्रतिनिवर्तन्ते पूर्णकामा यदर्थिनः ॥ १७ ॥

दशरथ —(सहर्षम्।) सुष्ठु शिरसि कृतमाचार्यवचनम्। किं च—

अस्मद्गोत्रमहत्तरः क्रतुभुजामाद्यो रविः

तद्विषयान्तरान्निवर्त्तयति, अन्योऽपि हस्तिपको मार्गान्तरं प्रपित्समानं करिणं तस्मादङ्कुशेन निवर्त्तयति तद्वदित्यर्थः।

निःशेषमभिहितम्-सर्वं वक्तव्यमुक्तम्। सर्वसन्देशसंग्रहकारिकाम्-सकलसन्देशसङ्कलनरूपाम्। कारिकाम्-श्लोकम्। (कारिका तु कृतौ श्लोके) अतिप्रयत्नेन-महता प्रयासेन। भवन्तमनुस्मारयति-त्वां स्मारयति।

अवहितः—कृतावधानः, श्रोतुमुत्सुकः।

हुतमिति। हुतं होमः देवतोद्देशेन वह्नौ हविस्त्यागः, इष्टमग्निहोत्रादि, तप्तं तपः, धर्मश्च ते कुलस्य, यत् अतिथयो याचकाः पूर्णकामाः प्रार्थितं लब्ध्वा गृहात्प्रतिनिवर्त्तन्ते गच्छन्ति। तव कुलस्य होमो यागस्तपस्या धर्मश्चायमेव यदतिथयो लब्धकामा एव तव गृहात्प्रतिनिवर्त्तन्ते नालब्धकामा इत्यर्थः। एतेन विश्वामित्रकृतरामप्रार्थनाया अनुपदभाविन्याः साफल्यं सूच्यते ॥ १७ ॥

सुष्ठु साधु। शिरसि कृतम् अङ्गीकृतम्। आचार्यवचनम् वसिष्ठाज्ञा।

अस्मद्गोत्रेति। क्रतुभुजां देवानाम् आद्यः प्रथमो रविः अद्य अस्मद्गोत्रमहत्तरः

वामदेव—महाराज निःशेषरूपसे सन्देश कह चुका हूँ, सभी सन्देशोंको समेट लेनेवाले इस सूत्रको भगवान् वसिष्ठने विशेषरूपसे याद कराया है।

दशरथ—(आदरके साथ) सावधान हूँ, क्या आदेश है?

वामदेव—होम, याग, धर्म तथा तप सब कुछ आपके वंशका यही है कि आपके घरसे याचक पूर्णकाम होकर ही लौटा करते हैं ॥ १७ ॥

दशरथ—(सहर्ष) आचार्यके सन्देशको मैंने भली भाँति सिरपर चढ़ाया, आज यज्ञांश भोक्ताओंमें प्रथम सूर्य हमारे वंशके प्रवर्त्तक सिद्ध हुए आज हमारे

---

१ 'किमाज्ञापयन्ति गुरव इति' इति।

यज्वानो वयमद्य ते[1] भगवती भूरद्य राजन्वती ।
अद्य स्वं बहुमन्यते सहचरैरस्माभिराखण्डलो
येनैतावदरुन्धतीपतिरपि स्वेनानुगृह्णाति नः ॥ १८ ॥

वामदेवः—राजर्षे, सहजानुभावगम्भीरमहिमानो यूयमेव तादृशाय यशसे । [2]वयं तु केवलमुपदेष्टारः ।

उन्मुद्रयति हि कुमुदाकरमशरन्निशातनिस्तुषोऽपि तुषारकिरणः ।

मदीयकुलमूलम्, (सूर्यस्य मदीयगोत्रमूलतायाः फलमद्य लभ्यते मया) अद्य ते वयं यज्वानः इष्टवन्तः (यागसाफल्यमस्माभिरद्यैव प्राप्यते) भगवती भूः सर्वसमर्था मही अद्य राजन्वती प्रशस्तराजशालिनी । अद्य अस्माभिः सहचरैः सहायैः सद्भिः आखण्डलः इन्द्रः स्वम् आत्मानं बहुमन्यते धन्यं मन्यते, येन यत् अरुन्धतीपतिः वसिष्ठः अपि स्वेन आत्मना अस्मान् एतावत् इयत् अनुगृह्णाति अनुकम्पते । वसिष्ठस्येयत्या दयायाः पात्रं वा जाताः सूर्यवंशप्रसूताः यज्ञकर्तारः राज्यमित्रस्य च स्वीयं धन्यं मन्य इत्यर्थः । 'सुराज्ञि देशे राजन्वान्' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १८ ॥

सहजेति । सहजः स्वाभाविको योऽनुभावः प्रभावस्तेन गम्भीरः दुरवगाहो महिमा माहात्म्यं येषां तथाविधाः यूयमेव तादृशाय वसिष्ठदयापात्रत्वप्रभवाय तादृशकीर्तिशालित्वरूपाय वा यशसे प्रभवथेत्यर्थः ।

उन्मुद्रयतीति । शरदः ऋतुभेदस्य निशा रात्रिस्तया निशातः तीक्ष्णः समेधितः कर अत एव निस्तुषः मेघाद्यनावृतः—शरन्निशानिशातः निस्तुषः—स न भवति इति पश्चान्नञा समासे अशरन्निशानिशातनिस्तुषोऽपि तुषारकिरणः शीतरश्मिः चन्द्रः कुमुदाकरम् कुमुदसमूहम् उन्मुद्रयति विकासयति स पुनर्वसिष्ठो द्वितीय

यज्ञ सफल हुए, आज ही पृथ्वीने सुराजा प्राप्त किया, आज इन्द्र हमारे समान मित्रको पाकर अपनेको धन्य समझते हैं, क्योंकि स्वयं वसिष्ठ मुझपर इतना अनुग्रह रखते हैं ॥ १८ ॥

वामदेव—राजर्षे, स्वाभाविक प्रताप तथा गम्भीर महिमाके आश्रय आप स्वयं इस कीर्तिके योग्य हैं, हम तो केवल उपदेश देते हैं ।

शरद् निशामें प्रकट प्रकाश तथा मेघाद्यनावृत चन्द्रमा कुमुद कुलको विकसित

---

१ 'नो भगवती' इति ।　　२ 'न केवलमुपदेष्टारो वयम्' इति ।

स पुन किमुच्यते भगवान्द्वितीयपरमेष्ठी वसिष्ठ ॥ १९ ॥

अपि च—

इदं वो याज्यानामुदितमुदितं यत्कुलमभू
यदिष्टं वा कुर्वन्नकृत सगर पूर्तमुदधिम् ।
असौ पूर्वेषा ते सुचरितपताका यदमर
स्रवन्ती कृत्स्नोऽयं त्रिभुवनगुरोस्तस्य विभव ॥२०॥

किं च—

कौशिकस्वीकृतस्यापि यदाज्ञातिक्रमादभूत् ।

परमेष्ठी अपरो ब्रह्मा किमुच्यते ? स हि सर्वाधिक कुमुद प्रकाशयेत्, ब्रह्मवद् मितसामर्थ्यशालित्वादित्यर्थ । इद तु कुमुदाकर नाम वृत्तम्, एकादशभिर्वर्णै रष्टादशभि क्रमादुभौ पादौ । तत्कुमुदाकरवृत्त चरमौ [illegible] दशाक्षरौ यस्य इति तल्लक्षणम् ॥ १९ ॥

इदमिति यत् याज्याना वसिष्ठेन याजनीयानाम् व युष्माक रघुवंश्यानाम् कुल वश उदितमुदितम् उदययुक्त हृष्ट च अभूत्, यत् इष्ट याग कुर्वन् सगरो नाम राजा उदधिं सागर पूर्त खातम् अकृत कृतवान् । यत् अमरस्रवन्ती देवनदी गङ्गा ते तव पूर्वेषा भगीरथाभिधपूर्वजन्मनाम् सुचरितपताका कीर्त्तिवैजयन्ती, अय कृत्स्न सकलोऽपि त्रिभुवनगुरो वसिष्ठस्य विभव प्रभाव अस्तीति शेष, भवता कुलस्योदये प्रमोद, भवत्कुलोत्पन्नस्य सगरस्य समुद्रखननपूर्वकयज्ञ सम्पादनसाफल्ये भवत्कुलनस्य भगीरथस्य गङ्गाप्रवाहानयनरूप सामर्थ्ये च भगवतो वसिष्ठस्यैव प्रभावो विजृम्भते इत्याशय । 'पूर्त त्रिषु पूरिते स्यात् क्लीब खातादिक मखम्' इति मेदिनी । 'पताका वैजयन्ती स्यात्' 'स्रवन्ती निम्नगापगा' इत्युभयत्रामर ॥ २० ॥

कौशिकेति । यस्य वसिष्ठस्य आज्ञातिक्रमात् आदेशोल्लङ्घनात् कौशिकस्वी कृतस्य विश्वामित्रेण याज्यतयानुमतस्यापि त्रिशङ्कोर्नाम प्राचीननृपस्य उपभोगाय वासविहारादिकर्मणे द्यौ स्वर्ग भू पृथ्वीलोकोऽपि नाभूत् । वसिष्ठाज्ञामुल्लङ

करता है, वसिष्ठके सम्बन्धमे क्या कहा जाय ? वे तो अपर ब्रह्मा है ॥ १९ ॥

यह विश्वगुरु वसिष्ठका ही सारा प्रभाव है कि आपका यह याज्ञिक वश नित्य नूतन उदय प्राप्त करता रहा है, यज्ञ करते हुए सगरने सागर खुदवा डाला, आपके पूर्वज भगीरथका ही यह प्रताप है कि गङ्गा प्रवाहित हैं ॥ २० ॥

जिस वसिष्ठकी आज्ञाको नहीं माननेके कारण विश्वामित्र द्वारा अनुगृहीत होनेपर भी

त्रिशङ्कोरुपभोगाय न द्यौरपि न भूरपि ॥ २१ ॥

[1]प्रतीहारी—[2]जयतु जयतु देव । देव, भगवान्कौशिको द्वारमध्यास्ते।

दशरथ —(ससम्भ्रमम् ।) किं[3] कौशिक ।

वामदेव —अहं तमुपेत्य श्रौतेन विधिना पुरस्कृत्य प्रवेशयामि तपोनिधिम् (इति प्रतिहार्या सह निष्क्रान्त ।)

दशरथ —(सहर्षम् ।)

य क्षत्त्रदेहं परिलक्ष्य टङ्कैस्तपोमयैर्ब्राह्मणमुच्चकार ।

विश्वामित्रं पुरोहितं कृत्वेष्टवतोऽपि त्रिशङ्कोर्न स्वर्गोऽसिद्ध्यत्, न वा धरित्री वासक्षमाऽवर्तत, किन्त्वसौ मध्येऽलम्बत तदीदृशप्रभावो वसिष्ठर्षिरिति भाव । पुरा किल त्रिशङ्कुर्नाम राजा सदेहं स्वर्गं गन्तुकामो यागाय वसिष्ठं वृतवांस्तेन निषिद्धस्तत्पुत्रांश्च वृतवांस्तदनन्तरं विश्वामित्रं पुरोहितं कृत्वा यज्ञे प्रवृत्तो वसिष्ठेन चाण्डालतयाभिशप्त, देवाश्च तद्यज्ञे नोपासदन्तदित्थं स्वं पौरोहित्यं हीयमानं विलोक्यापरां सृष्टिं विधातुमुपक्रममाणो विश्वामित्रो ब्रह्मणा प्रसाद्य वारितो भूत्वा स्वतपसा त्रिशङ्कुं स्वर्गं प्रेषितवांस्ततश्चाण्डालस्य स्वर्गानर्हतामालोक्येन्द्रेण हुङ्कृतोऽध पतितो द्यावापृथिव्योरन्तरालेऽवर्ततेति पौराणिकी कथा त्रानुसन्धेया ॥ २१ ॥

द्वारमध्यास्ते—द्वारदेशे तिष्ठतीत्यर्थ ।

ससम्भ्रमम्—सम्भ्रमश्चात्र तत्प्रभावजनितप्रत्युत्थानस्वागतादिचिन्ताजन्य ।

श्रौतेन—शास्त्रोक्तेन । पुरस्कृत्य आदृत्य । प्रवेशयामि राजद्वारमानयामि ।

य क्षत्त्रदेहमिति । य विश्वामित्र तपोमयै तपस्यारूपै टङ्कै पाषाण-

---

त्रिशङ्कुके लिये स्वर्ग तथा पृथ्वी कहीं पर स्थान नहीं रहा, व अधरमें लटकते रहे ॥ २१ ॥

प्रतीहारी—जय हो महाराजकी देव भगवान् कौशिक, दरवाजेपर खड़े हैं ?

दशरथ—(चकित होकर) क्या कौशिक हैं ॥

वामदेव—मैं उनके पास जाकर वैदिक विधानसे सत्कारकरके भुला लाता हूँ। (प्रतीहारीके साथ जाते हैं)

दशरथ—(सहर्ष)

जिस विश्वामित्रने तपस्यारूप छेनीमें काटकर क्षत्रिय शरीरको ब्राह्मण शरीरके रूपमें

---

१ प्रतीहार ' इति । २ 'जयति जयति देव ', 'जयतु देव ' इति च ।

३ 'किं कौशिक ' इत्यस्मादग्र 'प्रतीहार —अथ किम्' इत्यधिक क्वचिद् दृश्यते ।

४ 'प्रतीहारेण सह' इति ।

परोरजोभि स्वगुणैरगाध स गाधिपुत्रोऽपि गृहानुपैति ॥२२॥

(तत प्रविशति वामदेवोपदिश्यमानवर्त्मा विश्वामित्र ।)

विश्वामित्र —सखे 'वामदेव, त्वमधुनैव वसिष्ठाश्रमादागतोऽसि । कच्चित्कुशली तावदरुन्धतीनाम्ना पतिव्रतामयेन ज्योतिषा सहचरित धर्मा तत्रभवान्मैत्रावरुणि ।

वामदेव —विशेषेण पुनरद्य याज्यकुलमुपतिष्ठमाने चिरन्तनप्रण यिनि कौशिके ।

दारणात्मभेदे स्वदेह क्षत्रियशरीर परित्यज्य खण्डयित्वा तनूकृत्य ब्राह्मणम् उच्चकार तदेव क्षत्रियशरीर ब्राह्मणभावमानीतवान्, परोरजोभि रजोगुण सबन्धवर्जिते स्वगुणे सात्त्विकगुणे अगाध अतलस्पर्शगभीर स विश्वामित्र अपि गृहान् अस्मद्गृहान् उपैति, तदहो भाग्य ममेति भाव । 'टङ्क पाषाणदारण' ,अगाधमतलस्पर्शे' इत्युभयत्रामर ॥ २२ ॥

कच्चिदिति जिज्ञासासूचकमव्ययम् , पतिव्रतामयेन पातिव्रत्यपूर्णेन । ज्योतिषा तेजसा । सहचरितधर्मा सव्रतधर्मा, अरुन्धतीसहधर्मिणीक अरुन्धतीपति, मैत्रावरुणि मित्रवरुणयोरपत्य वसिष्ठ ।

याज्यकुलम् यजमानगृहम् , उपतिष्ठमाने समागते । चिरन्तनप्रणयिनि प्राचीनमित्रे । त्वयि प्राक्तनसुहृदि रघुकुलगृहमायाते सातिशयकुशल प्रसन्नो वसिष्ठ इत्यर्थ ।

परिणत कर दिया, रजोगुणसे परे अपने सात्त्विक गुणोंसे अगाध वही गाधिपुत्र विश्वामित्र हमारे घर पधार रहे हैं ॥ २२ ॥

[वामदेवके साथ विश्वामित्रका प्रवेश]

विश्वामित्र—मित्र वामदेव, आप अभी वसिष्ठके आश्रमसे आये हैं । अरुन्धती नामक पतिव्रताज्योतिसे सहचरित धर्मानुष्ठानकर्ता वसिष्ठ कुशल तो हैं ?

वामदेव—खास करके आज चिरप्रणयी कौशिकके यजमानगृहमें पधारनेपर वसिष्ठ सानन्द हैं ।

---

१ 'वामदेव' इत्यस्मादग्रे 'कथय' इति । २ 'विश्वामित्रे' इति ।

विश्वामित्र—सखे वामदेव, चिरेण दशरथो द्रष्टव्य इति सर्वमनोरथानामुपरि वर्तामहे।

वामदेव—(सविनयम्।) भगवन्कुशिकनन्दन, धन्य खल्वयं राजा सावित्रो यमेवमनुरुध्यन्ते [1]भवन्तोऽपि।

विश्वामित्र—सखे, धन्य एवायम्।

नमन्नृपतिमण्डलीमुकुटचन्द्रिकादुर्दिन
स्फुरच्चरणपल्लवप्रतिपदोक्तदोःसम्पदा।
अनेन ससृजेतरां तुरगमेधमुक्तभ्रम
त्तुरङ्गखुरचन्द्रकप्रकरदन्तुरा मेदिनी॥ २३॥

सर्वमनोरथानाम् सर्वाभिलषणीयानाम्। उपरि वर्तामहे सर्वेऽपि नः कामाः सिद्धा इति भावः।

अयं राजा सावित्रः सूर्यवंशोद्भवोऽयं राजा दशरथः। यम् दशरथम्। एवमनुरुध्यन्ते इत्थं बहु मानयन्ति।

नमन्निति। नमन्ती पादयोः प्रणमन्ती या नृपतिमण्डली राजसमुदायः तस्याः मुकुटानाम् किरीटानाम् चन्द्रिकया नानावर्णप्रभया दुर्दिने आच्छन्ने स्फुरन् राजन् यश्चरणपल्लवः पल्लवकोमलः पादः तेन प्रतिपदम् सर्वत्र उक्ता प्रकटीकृता दोःसम्पत् बाहुबलं यस्य तादृशेन पादप्रणतराजन्यकप्रकटीकृतभुजवीर्येणेत्यर्थः, अनेन राज्ञा दशरथेन तुरगमेधेषु अश्वमेधनामकयागभेदेषु मुक्तानाम् अभिमन्त्र्य विसृष्टानाम् भ्रमताम् अनिरुद्धप्रसरं सर्वासु दिक्षु सञ्चरताम् तुरङ्गाणाम् अश्वानाम् खुरचन्द्रकप्रकरः चन्द्रकलाकारखुरसमूहः, तेन दन्तुरा नतोन्नता मेदिनी पृथ्वी ससृजेतराम् क्रियतेस्म। अनेन दशरथेन अश्वमेधत्यक्तेनाश्वेन सकलदिशासु

विश्वामित्र—सखे वामदेव, बहुत दिनोंके बाद राजा दशरथसे मिलना यह समस्त मनोरथों के ऊपर है।

वामदेव—(नम्रता के साथ) महाराज विश्वामित्र, ये सूर्यवंशी राजा दशरथ धन्य हैं आप इतना आदर करते हैं

विश्वामित्र—सखे ये राजा दशरथ धन्य हैं।
अन्यान्य राजगण इनके चरणों पर नत होते हैं इनके मस्तकालङ्कारस्थित ज्योत्स्नासे प्रकाशित होनेवाले चरणोंकी शोभा ही इनके बाहुके प्रतापका प्रतिपादन करता है, यह राजाने अश्वमेधमें छोड़े गये अश्वके खुरचिह्नोंसे सारा पृथ्वीको निम्नोन्नत बना दिया है॥

---

१ 'भगवन्तोऽपि' इति।

(पुरोऽवलोक्य सहर्षम् ।)

चिरादक्ष्णोर्जाड्यं शमयति समस्तासुरवधू-
कचाकृष्टिक्रीडाप्रसभसुभगं भावुकभुजः ।
त्रिलोकीजङ्घालोज्ज्वलसहजतेजा मनुकुल-
प्रसूतिः सुत्राम्णो विजयसहकृत्वा दशरथः ॥२४॥

सखे वामदेव, इयमनेन पीयूषतुषारसीकरासारवर्षिणी सुजनसनाथ

श्यामला सजला अपि दिशो जिना इत्यर्थः । 'मेघाच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्' 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्युभयत्रामरः ॥ पृथ्वीवृत्तम्, 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति हि तल्लक्षणम् ॥ २३ ॥

चिरादिति । समस्तानां सर्वासाम् असुराणां राक्षसानां या वध्वः अङ्गनाः तासां कचाकृष्ट्या केशाकर्षणेन या क्रीडा विलासः तया सततं सुभगभावुकौ प्रसह्यमनोहरौ भुजौ यस्य सः तथोक्तः सर्वासामपि निशाचरवधूनां तत्पतिवधपूर्वककेशाकर्षकतया मनोज्ञौ भुजौ दधान इत्यर्थः । त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तत्र जङ्घालम् अतिशीघ्रगं यत् उज्ज्वलं प्रकाशशालि सहजं स्वाभाविकं च तेजो यस्य सः, सुत्राम्णः इन्द्रस्य विजयेषु तत्र तत्र युद्धेषु जायमानेषु जयेषु सहकृत्वा साहाय्यकेनोपस्कर्ता मनुकुलप्रसूतिः मनुवंशजन्मा अयं राजा दशरथः चिरात् बहुकालानन्तरम् अक्ष्णोः मम नेत्रयोः जाड्यम् विषयग्रहाशक्तिम् शमयति, नेत्रे विकासयति सकलासुरजयिनं त्रिभुवनप्रथितयशसं शक्रसहायकर्मेणं दृष्ट्वा चिरस्य विकासं भजतो ममाक्षिणी इति भावः । 'जङ्घालोऽतिजवस्तुल्यौ' 'सुत्रामा गोत्रभिद् वज्री' इत्युभयत्रामरः, शिखरिणी वृत्तम्, तल्लक्षणमुक्तपूर्वम् ॥ २४ ॥

अनेन लोकनाथेन-राज्ञा दशरथेन, पीयूषमेव यत्तुषारं हिमं तस्य सीकरो अम्बुकणस्तस्यासारो धारासम्पातस्तद्वर्षिणी सुजनानां सवादः परस्परालापे यत्कौतुकम् आनन्दस्तस्य सवल्मिका घनश्रेणी पौरस्त्येनसमन्ता पूर्वदिग्देवेन शक्रेण सहस्रशिखरान्वियते सहस्रशिखरशालिना प्राप्यते, यथा जलसीकरासारवर्षिणी

बहुत दिनोंपर आज राजा दशरथ हमारी आंखोंकी नजराफको दूर करेंगे जिन्होंने समस्त असुर स्त्री समुदायके कचाकर्षणद्वारा अपने बाहुओंकी सुभगता बढाई है, जिनका यश त्रिलोकीमें व्याप्त है, जो मनुकुलमें उत्पन्न हुए हैं, तथा जो युद्धमें इन्द्रको विजय दिलाया करते हैं ॥ २४ ॥

सखे वामदेव जैसे पूरबसे आनेवाली वायु मेघमालाको बढाती है उसी तरह इस

कौतुकमेघलेखा पौरस्त्येनेव मरुता लोकनाथेन सहस्रशिखरीक्रियते।

वामदेव —भगवन्, अत्र खलु दिलीपकुलकुशलकर्मकल्पलतानामङ्कुरग्रन्थिभिः[1] उदीर्यन्ते किसलयानि। यदत्रभवानपि त्रिभुवनसनातनगुरुरस्मै नरेन्द्राय स्पृहयति।

(इति परिक्रामतः।)

दशरथ —(सहर्षं ससम्भ्रममासनादुत्थायोपसृत्य च।) भगवन्कुशिकनन्दन, ऐक्ष्वाकः पङ्क्तिरथोऽभिवादयते।

विश्वामित्र —स्वस्ति भवते सपरिवाराय।

(इति सर्वे यथोचितमुपविशन्ति।)

घनमाला पौरस्त्यवातेन सहस्रशिखरता प्रापय्य विस्तार्यते तथैवेन्द्रेण दशरथेन सह वार्त्तालापकौतुकं सहस्रवर्त्मसु विस्तार्यते, इन्द्रः सर्वदा दशरथेन सह वार्त्तालापं कामयत इत्यर्थः। 'सीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः' 'मरुतौ पवनामरौ' धारासम्पात आसारः' इति सर्वत्रामरः।

दिलीपेति। दिलीपस्य कुलं वंशस्तस्य कुशलकर्माण्येव कल्पलताः सत्कर्मरूपकल्पवल्ली तासाम् अङ्कुरग्रन्थयः पर्वाणि तैः किसलयानि नवपत्राणि उदीर्यन्ते प्रकाश्यन्ते, दिलीपवंश्यनृपतिविहितसत्कर्मरूपवल्ली किसलयानि प्रसूते, नवीभवति फलाभिमुखीभवतीत्यर्थः। अत्रभवान्-पूजनीयो भवान्, त्रिभुवनसनातनगुरुः लोकत्रितयमूर्धन्यः, एवम् पूर्वोक्तप्रकारेण। अस्मै नरेन्द्राय-दशरथाय।

पङ्क्तिरथ —दशरथ।

राजाने सुमन सशादको-जिसमें अमृतकी बूंदें बरसती रहती हैं-बढ़ावा दिया करता है।

वामदेव—महाराज, आज दिलीप वंशके शुभकर्मरूप तरुओंने नय पत्ते पैदा किये हैं, जिससे आपके सदृश त्रिभुवनगुरु मुनि इस राजाकी प्रशंसा करते हैं।

[दोनों चलते हैं]

दशरथ —(सहर्ष आसनसे उठकर समीप जाकर) महाराज विश्वामित्र, इक्ष्वाकु वंशी मैं दशरथ प्रणाम करता हूँ।

विश्वामित्र—आपका परिवारके साथ मङ्गल बढ़े।

[सभी यथोचित स्थान पर बैठते हैं]

---

१ 'उद्गार्यन्ते' इति। २ 'सप्रणयम्' इति।

दशरथ —([१]सप्रश्रयम् ।) भगवन्विश्वामित्र,

कच्चित्कान्तारभाजां भवति परिभवः कोऽपि शौवापदो वा
प्रत्यूहेन क्रतूनां न खलु मखभुजो भुञ्जते वा हवींषि ।
कर्तुं वा कच्चिदन्तर्वसति वसुमतीदक्षिणं सप्ततन्तुं
र्यत्सम्प्राप्तोऽसि किं वा रघुकुलतपसामीदृशोऽयं विवर्तः ॥२५॥

विश्वामित्र —(विहस्य ।)

जनयति त्वयि वीर दिशां पतीनपि गृहाङ्गनमात्रकुटुम्बिनः ।

सप्रश्रयम्—सविनयम् ।

कच्चिदिति कान्तारभाजाम् अरण्यवासिना भवता मुनीनां कोऽपि शौवापदः श्वापदकृतः परिभवः अनादरादिः क्लेशः भवति कच्चित् किम्? मखभुजो यज्ञभागभोक्तारो देवा वा क्रतूनां प्रत्यूहेन राक्षसादिभिर्यज्ञानां विघ्नितत्वेन हवींषि न खलु भुञ्जते अश्नन्ति वा? वसुमतीदक्षिणं पृथ्वीदक्षिणाकं सप्ततन्तुर्यागं वा कच्चित् अन्तर्वसति मनसि वर्तते? यत् यस्मात् सम्प्राप्तः अस्मद्गृहान् समायातः असि, किंवा रघुकुलतपसाम् रघुवंशचरिततपस्यानाम् अयम् ईदृशः एतादृश एव विवर्तः परिणामः । वनवासिनः श्वापदा अभिभवन्ति किम्? राक्षसकृतविघ्नेन देवानां हविर्भोजने बाधा वा जायते किम्? पृथ्वीदक्षिणाकयागं वा कर्तुमन्तरभिलाषो वर्तते? यदस्मद्गृहानागता भवन्तः, अथवाऽयं रघुवंशतपःप्रभावो यद्भवादृशाः समागच्छन्तीति भावः । शुन इव पदमेषामिति श्वापदाः व्याघ्राः, ततोऽपि शौवापदमिति रूपम् । 'द्वारादीनाञ्च' इत्यैजागमः । 'सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' 'विवर्तः परिणामे स्यात्' इति मेदिन्यमरौ । स्रग्धरावृत्तं तल्लक्षणं यथा—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' ॥ २५ ॥

जनयतीति हे वीर, त्वयि दशरथे दिशांपतीन् दिगधीशान् इन्द्रादीनपि गृहाङ्गणमात्रकुटुम्बिनः त्वद्गृहाङ्गणसततस्थायिनः (सर्वदा यज्ञानुष्ठानात्सतत

दशरथ—(नम्रताके साथ) क्या वनवासियोंको किसी प्रकारसे श्वापदोंने कष्ट दिया है? क्या यज्ञमें कुछ बाधा हुई है जिससे देवोंको हवि नहीं प्राप्त हो रही है? क्या आपके हृदयमें सारी पृथिवी दक्षिणा में देकर कोई यज्ञ करनेकी इच्छा हो रही है? जो आप हमारे घर पधारे हैं, या यह रघुवंशियों के तपका ही परिणाम है ॥ २५ ॥

विश्वामित्र—(हसकर) हे वीर, आपने जब सभी असुरों को परास्त करके देवोंको भी घरभरमें नियतवासी बना रक्खा है तब हम लोगों को भय किस प्रकारका? भय तो

रिपुरिति श्रुतिरेव न वास्तवी प्रतिभयोन्नतिरस्तु कुतस्तु न ॥२६॥

अपि च—

दत्तेन्द्राभयविभ्रमाद्भुतभुजासंभारगम्भीरया।
स्वद्वृत्त्या शिथिलीकृतत्रिभुवनत्राणाय नारायण।
अन्तस्तोषतुषारसौरभमयश्वासानिलापूरण
प्राणोत्तुङ्गभुजङ्गतल्पमधुना भद्रेण निद्रायते ॥ २७ ॥

त्वद्गृहोपस्थितिशालिनि) जनयति कुर्वति सति, रिपुरिति अस्माकं यज्ञस्य शत्रुरिति श्रुतिरेव वास्तवी श्रवणमात्रमेव रिपूणाम् न पारमार्थिकं सत्त्वमिति न अस्माकं प्रतिभयस्य शत्रुकृतस्य त्रासस्य उन्नतिः वृद्धिः कुतः नु, शत्रूणां नाममात्र-शिष्टत्वे शत्रुभयसम्भावना नितान्तनिरस्ता वेद्येति भावः । द्रुतविलम्बितं वृत्तं, 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति तल्लक्षणम् ॥ २६ ॥ –

दत्तेन्द्रेति। दत्तम् वितीर्णम् इन्द्राय अभयम् निर्भयत्वं येन तादृशो विभ्रमो विलासो ययोः तयोस्तथोक्तयोः अतएव अद्भुतयोः आश्चर्यकरयोः भुजयोः संभारः सामर्थ्यम् तेन गम्भीरया उद्भटया त्वद्वृत्त्या त्वदीयव्यापारेण इन्द्राय दत्ताभयस्य तव बाहुबलस्य प्रभावेणेत्यर्थः त्रिभुवनत्राणाय लोकरक्षाकर्मणे शिथिलीकृत अनपेक्षित नारायण विष्णु अधुना सम्प्रति अन्तस्तोषेण आन्तरसन्तोषेण तुषारः शीतलः सौरभमयः सुगन्धपूर्णः यः श्वासानिलः तेन आपूरणं परिपुष्टिर्यस्य तथाभूतेन प्राणेन प्राणाख्यवायुना उत्तुङ्गः समुन्नतो यो भुजङ्गः शेषः स एव तल्पः शय्या यत्र तथा भद्रं सुखम् निद्रायते स्वपितीति । इन्द्रायापि निर्भयभावं दत्तवतोरद्भुतयोस्तव भुजयोर्व्यापारेण जगति रक्ष्यमाणे तन्नानपेक्षितो भगवान्विष्णुरन्तस्तोषप्रयुक्तेन स्वेन सुगन्धिना श्वासानिलेन भक्ष्यभूतेन पुष्टतनो शेषनागे स्वतल्पे सुखं स्वपितीत्याशयः । 'तुषारः शीतलः शीतः' 'दोर्दोषा च भुजा भुजः' 'तल्पं तु शयनीये स्यात्' इति सर्वत्र विश्वामरौ । निद्रायते इत्यत्र 'कर्तुः क्यङ्' इति क्यङ् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २७ ॥

केवल सुनने की बात रह गई है वस्तुतः वह कोई वस्तु नहीं है ॥ २६ ॥

इन्द्रको अभय देनेवाले आपके भुजबलगम्भीर व्यापारोंने नारायणके शिरसे भुवन रक्षाका भार उतार दिया है अतः नारायण आन्तरिक सन्तोषको अभिव्यक्त करनेवाला श्वासग्रहण करते हैं जिससे नारायण के तल्पभुजङ्ग पवनाश होने से स्थूल होते जाते हैं, और भगवान् नारायण इस पन्नागशयन पर आनन्द की नींद सोते हैं ॥ २७ ॥

दशरथ —(सवैलक्ष्यस्मितम् ।) भगवन्विश्वामित्र, अभ्यमित्रीणस्य तत्रभवत सुनासीरस्य नासीरपूरकेण पदातिपरमाणुना मयापि कदाचि दुद्धृत धनुर्यन्मूलोऽयमलीकलोकप्रवादो भवन्तमप्याप्याययति ।

विश्वामित्र —(सोत्साहस्मितम् ।) [1]सखे,

त्रैलोक्याभयलग्नकेन भवता वीरेण विस्मारित-
स्तज्जीमूतमुहूर्तमण्डनधनु पाण्डित्यमाखण्डल ।

सवैलक्ष्यम्—सङ्कोचम् ।

अभ्यमित्रीणस्य शत्रोरभिमुख गच्छत । सुनासीरस्य इन्द्रस्य । नासीरपूरकेण सैन्याग्रगामिना । पदातिपरमाणुना क्षुद्रपदातिना । उद्धृतम् उत्थापितम् । यन्मूल यत्कारणक । अलीकप्रवाद मिथ्याप्रचार । आप्याययति तर्पयति । शत्रू- णुधयोः च पिपासोरिन्द्रस्य सैन्यसमुदयऽहमप्येक पदाति स्व धनुरुपात्त कृत वानेतावतैव ममेय कीर्तिर्भवन्तमपि प्रकाशार्थं मुखरयतीत्यर्थ । 'यो गच्छत्यल विद्विषत प्रति । सोऽभ्यमित्र्योऽभ्यमित्रीयोऽभ्यमित्रीण ' इत्यमर । 'सुनासीर पुरुहूत पुरन्दर ' इत्यमर । 'नासीरोऽग्रयान्तरि' 'अलीक त्वप्रियेऽनृते' इति च विश्वामरौ ॥

त्रैलोक्याभयेति । आखण्डल इन्द्र त्रैलोक्यम् लोकत्रयम् तस्य पदभयम् सर्व तोऽप्यकुतोभयत्व तत्र लग्नकेन प्रतिभूस्वरूपेण वीरेण भुजशौर्यशालिना भवता तत् प्रसिद्धम् जीमूते मेघे मुहूर्तं क्षणिक मण्डनमलङ्करण धनु तस्य पाण्डित्य चालनचातुर्यं विस्मारित , त्वया वीरेण त्रिलोक्या निवृत्तभयाया कृताया शक्र कदापि स्व मेघालङ्कारभूत धनुरावश्यकताऽभावेन न स्पृशतीति चिरादभ्यासाभावात्सौ तत्पाण्डित्यमेव विस्मृतवानित्यर्थ । किञ्च अनल्प बहुलम् मखेषु यज्ञेषु अपि तेन दत्तेन हविषा हवनीयद्रव्येण सम्पुष्टेन प्रवृद्धेन मांसेन उल्लसन्ती जायमाना

दशरथ —(लज्जा तथा मुस्कुराहटके साथ) भगवन् विश्वामित्र इन्द्रने जब शत्रुओं पर आक्रमण किया था तब उनकी सेनामें मैं भी पैदल सैनिकके रूपमें धनुष उठाया था, जिसके चलते यह किंवदन्ती फलाइ गई जो आपको प्रसन्न कर रही है ।

विश्वामित्र—(उत्साहके साथ हसकर) सखे,—

त्रैलोक्यको अभयदान देनेवाले आपने मेघरूप धनुषकी पण्डितातासे इन्द्र को सूना कर दिया है अनभ्यास हो जानेके कारण इन्द्रने धनुर्विद्या पाण्डित्यसे सबध छुडा लिया है,

---

१ सोत्प्रासस्मितम्' इति । २ सखे इत्यस्मादग्रे 'दशरथ' इति ।

कि चाजस्रमखार्पितेन हविषा संफुल्लमासोल्लस-
त्सर्वाङ्गीणवलीविलुप्तनयनव्यूढ कथ वर्तते ॥ २८ ॥

[1]वामदेव —महाराज भूकश्यप, [2]यथाह भगवान्कौशिक । स्वयमनेकधा सुधर्मायामध्यक्षीकृतमहमपि ब्रवीमि ।

त्वय्यर्धासनभाजि किंनरगणोद्गीतैर्भवद्विक्रमै
रन्त सभृतमत्सरोऽपि भगवानाकारगुप्तौ कृती ।
उन्मीलद्भवदीयदक्षिणभुजारोमाञ्चपि[3]ञ्छोच्चर-
द्बाष्पैरेव विलोचनैरभिनयत्यानन्दमाखण्डल ॥ २९ ॥

या सर्वाङ्गीणा सर्वाङ्गव्यापिनी वली स्थूलता तया विलुप्त समाच्छन्न नयनव्यूह सहस्र नयनानि यस्य तथाभूत सन् कथ महता कष्टेन वर्त्तते जीवति । सततं यज्ञानुष्ठानेऽनवरतहविर्भोजनावसरप्राप्त्या शरीरस्थौल्ययोगादावृतनयनोऽसाविन्द्र कृच्छ्रं जीवतीति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २८ ॥

भूकश्यपेति दशरथस्य नामान्तरमिति रघिपनि । यथाह भगवान् कौशिक विश्वामित्रोक्त सत्यमित्यर्थं । स्वयम् आत्मना । सुधर्मायाम् देवसभायाम् । अध्यक्षीकृतम् प्रत्यक्षीकृतम् ।

त्वय्यर्धेति । त्वयि दशरथे अर्धासनभाजि इन्द्रस्यासनार्धमलङ्कुर्वति सति किंनरगणोद्गीतै किंनरा देवयोनिभेदास्तेषा गणैरुद्गीतैं उच्चै स्तुते भवद्विक्रमै त्वदीयपराक्रमै अन्तर्मनसि सभृतमत्सर सञ्जनितद्वेषोऽपि (कथ किंनरा मामपहाय मनुष्यमपीमसित्थ स्तुवन्तीति ईर्ष्याकलुषमानस सन्नपि) आकारगुप्तौ मत्सरादिचिह्नगोपने कृती निपुण आखण्डल उन्मीलद्भि भवदीयगुणगीतश्रवणात्

सतत यज्ञमें समर्पित हव्यभागसे इन्द्रका देहमें मास बहुत बढ गया है, उसीमें उनके सारे नयन छिप गये है न जाने वह कैसे रहते हैं ? ॥ २८ ॥

वामदेव—महाराज भूकश्यप, कौशिकने ठीक ही कहा है। मैंने भी जो वस्तु देव सभामें अनेक वार देखी है, वह कहता हू—

आप जब इन्द्रके साथ अर्धासन पर विराजमान रहते हैं, उस समय जब किन्नरगण आपकी कीर्तिका गान करते हैं तब इन्द्रको मात्सर्य होता है परन्तु वह आकार गोपनमें बहुत चतुर होनेके कारण फडकने वाले आपके दक्षिण बाहु में वर्तमान रोमाञ्चसे निकले उनके नयनोंमे निर्गत वाष्पों द्वारा आनन्दका अभिनय करके रह जाते हैं ॥ २९ ॥

१ वामदेव 'इत्यस्मादग्रे विहस्य' इति । २ 'यदाह' इति ।
३ 'ञ्छोच्चरत्' इति ।

दशरथ—(सस्मितम् ।) [1]वामदेव, त्वमपि भगवन्तं गाधिनन्दन मनुप्रविष्टोऽसि ।

एतस्मै समराङ्गणप्रणयिने तिष्ठेत क प्रज्वल-
दम्भोलिद्युतिमण्डलोद्भटभुजस्तम्भाय जम्भारये ।
निर्यद्भिर्बहिरेष रोषदहनज्योति स्फुलिङ्गैरिव
स्वे रज्यद्भिरपीक्षणे समतनोदाग्नेयमस्त्रं द्विषाम् ॥३०॥

विश्वामित्र—(सगौरव दशरथबाहुमामृशन् ।) राजर्षे वसिष्ठशिष्य,
सन्तुष्टोऽस्य यदि तव भुजच्छायया सम्भतीन्द्रो

विस्सन्द्भि भवदीयदक्षिणभुजाया तव दक्षिणबाहो रोमाञ्च रोमकण्टकै विद्धानि अत एव च उद्यान् उद्गच्छन् बाष्प अश्रु येभ्य तथाभूते इव विलोचने स्वनयने आनन्दम् अभिनयति नाटयति । दक्षिणभागस्थितस्य तव बाहो जायमानेन रोमाञ्चेन तद्दृष्टिभेदे जाते प्रवृत्ते च बाष्प आनन्दाश्रुप्रवाहोऽयमित्यभिनयन्निव अमर्षप्रभवमश्रु गोपयतीत्यर्थ । शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ २९ ॥

गाधिनन्दनम्—विश्वामित्रम् । अनुप्रविष्ट अनुसृतवान् । यथाऽसौ मा स्तौति तथैव स्तुवँस्त्वमपि तदनुसारी जात इत्यर्थ ।

एतस्मै इति । प्रज्वलता दीप्यमानेन दम्भोलिद्युतिमण्डलेन उद्भटौ भीषणौ भुजावेव स्तम्भौ यस्य तथाभूताय प्रकाशमानवज्रभीषणभुजशालिने एतस्मै जम्भारये समराङ्गणप्रणयिने सङ्ग्रामभूमानुरागिणे क तिष्ठेत आत्मान प्रकाशयेत् ? न कोऽपि यस्याभिमुख रणे स्थातुमीश इत्यर्थ । एष इन्द्र बहि निर्यद्भि रोषदहनस्फुलिङ्गैरिव कोपाग्निकणैरिव रज्यद्भि रक्तीभवद्भि स्वे निजे ईक्षणे नयने द्विषा शत्रूणाम् आग्नेयम् अस्त्रम् समतनोत् विस्तारितवान् , कोपरक्तानि तदीय नयनान्येव शत्रूणा मनसि दहनाद्भयमादधानास्तान्निवारयन्तीति भाव । 'त्रिषु स्फुलिङ्गोऽग्नि कण' 'दम्भोलिरशनिर्द्वयो' इत्युभयत्रामर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ३० ॥

दशरथ—(हँसकर) वामदेव, तुम भी भगवान् विश्वामित्रसे मिल गये हो ।

इन्द्र जब युद्धक्षेत्रोन्मुख हो जाते हैं तब वज्रप्रभाभासित भुजदण्डशाली इन्द्रके सामने कौन ठहर सकता है ? उनकी रक्त आँखें ऐसी प्रतीत होती हैं मानों रोषवह्निकी स्फुलिङ्ग वलिया हों, उन रक्त आँखोंसे उनके शत्रु आग्नेय अस्त्रकी तरह भीत हो उठते हैं ॥ ३० ॥

विश्वामित्र—(आदरपूर्वक दशरथके हाथको पकडकर) हे वशिष्ठके शिष्य राजर्षे !

---

[1] 'सखे वामदेव' इति ।

निर्विघ्नश्रीरियमभिनवा कीदृशी ते प्रशस्तिः ।
इक्ष्वाकूणां लिखितपठिता स्वर्वधूगण्डपीठ-
क्रीडापत्त्रप्रकरमकरीपांशुपाल्ये हि वृत्तिः ॥ ३१ ॥

दशरथः—भगवन्सर्वाद्भुतनिधे, भगवन्तमनुगन्तुमुक्तिप्रत्युक्तिक्रिया के वयम् । एवं किल त्रिशङ्कुसङ्कीर्त्तनोपाख्यानपारदृश्वानः पौराणिकाः कथयन्ति—

त्रासोत्कम्पत्रिदशपरिषन्मौलिमाणिक्यमाला-
बालादित्यप्रकरकिरणस्मेरपादारविन्दे ।

मद्वृत्तोऽयमिति । यदि अयमिन्द्रस्तव भुजच्छायया बाहुबलाश्रयेण सम्प्रति निर्विघ्नश्री अबाधलक्ष्मीकः सन्वृत्त इव ते कीदृशी अभिनवा नूतना प्रशस्तिः ख्यातिः, नेयं तवाभिनवा प्रशस्तिरपि तु कुलक्रमागतैवेति भावः । हि यतः इक्ष्वाकूणाम् त्वद्वंशभवानाम् नृपाणाम् स्वर्वधूनाम् स्वर्गवासिनीनां रमणीनां गण्डपीठेषु कपोलाभोगेषु च क्रीडापत्त्रप्रकरः । विलासार्थं विरचितः पत्त्रावलीसमूहः तत्र चित्रिता या मकरी मकराख्यजलजन्तुस्त्री तस्याः पांशुपाल्ये रक्षावृत्तिः व्यापारः लिखित पठिता लिखिता पठिता च लोकोक्तिरियं लिखितपठितेति स्वकुलेन प्राचीन-कालादेव दत्ता रक्षाश्वासना अतस्त्वया शक्रो निर्बाधलक्ष्मीकृतः गमित इति तव प्रशंसा न नूतनाऽपि तु कुलक्रमागतैवेति तात्पर्यम् । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ३१ ॥

सर्वाद्भुतनिधे सकलाश्चर्यनिधान । उक्तिप्रत्युक्तिक्रिया कथनोपकथनद्वारा । भगवन्तमनुगन्तुम् त्वां तुलयितुम् । के वयम् न समर्था इत्यर्थः । त्रिशङ्कुसङ्कीर्त्तनोपाख्यानपारदृश्वानः—त्रिशङ्कुकथाज्ञातारः ।

त्रासोत्कम्पेति—त्रासेन भयेन उत्कम्पा वेपथुशालिनी या त्रिदशपरिषत् देवमण्डली तस्य मौलिषु किरीटेषु या माणिक्यमाला माणिक्याख्यरत्नविशेषस्रज एव बालादित्यप्रकरकिरणा नवोदितसूर्यसमूहप्रभा तैः स्मेर विकासशालिपादारविन्द

आपके भुजोंको आश्रय बनाकर सम्प्रति इन्द्र निर्विघ्न हो रहे हैं, इसमें आपकी कौनसी नवीन प्रशंसा होती है ? इक्ष्वाकुवंशियोंको देवाङ्गनाओंके कपोलस्थलोंपर वर्त्तमान क्रीडापत्र मकरीके पालनका भार लिखा पढ़ी करके सौंपा गया है ॥ ३१ ॥

दशरथ—हे सभी आश्चर्योंके निधि विश्वामित्र, कथोपकथनमें आपकी बराबरी हम कहाँ तक कर सकते हैं ? त्रिशङ्कुकी कथाको जानने वालोंका कहना है कि—

भयभीत देवगणके मस्तकोंपर वर्त्तमान माणिक्यमालाकी किरणस्वरूप बालरवियोंसे

प्राचीमेतां भुवनरचनामन्यथा निर्मिमाणे
कार्पण्योक्तीस्त्वयि रचितवानन्तरायं महेन्द्रः ॥ ३२ ॥

(विमृश्य ।)

जवादारादुच्चैस्त्वामुपनमति वर्गे दिविषदां
प्रपन्नस्तो मन्दैरजनि रथहंसैः कमलभूः ।
नियच्छामो जिह्वां न तव चरितेभ्यः किमुत ते
सुधासध्रीचीनामतिपतति वाचामवसरः ॥ ३३ ॥

यस्य तादृशे त्वयि विश्वामित्रे एतां प्राचीं भुवनरचनाम् विश्वसृष्टिम् अन्यथा प्रकारान्तरेण निर्मिमाणे रचयति सति महेन्द्रः शक्रः कार्पण्योक्तीः दीनता सूचकवचनानि अन्तरायं रचितवान् विघ्नतयोपस्थापितवान् । भयभीतदेवगण शिरोरत्नमालालालितसूर्यप्रभासमुदयविकासितचरणकमलस्त्वमिमां प्राचीनां सृष्टि रचनामन्यथाकर्तुं प्रवृत्त एव दीनवचनादि प्रयुञ्जानेनेन्द्रेण न्यवार्यथा इत्याशय । पुरा द्वितीयां सृष्टिं कर्तुमुद्यतं विश्वामित्रं भयोद्विग्ना देवा समुपेत्य पादपतनेन दैन्यवचसा च निवारयामासुरिति पुराणकथात्रानुसन्धेया । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ३२ ॥

जवादिति । दिविषदां देवानां वर्गे समुदाये त्वाम् नूतनसृष्टिप्रवृत्तं विश्वामित्र नामर्षिम् जवात् वेगात् उपनमति प्रवृत्ते सति कमलभूः ब्रह्मा मन्दैर्मन्थरगामिभि रथहंसैः रथनियुक्तैर्हंसैः अपध्वस्त विसंस्थुल अजनि जातः, दिवसु त्वां प्रसाद यितुमहमहमिकायोगेन परापतत्सु स्वरथस्थहंसगतिमान्द्याद् ब्रह्मापश्चात्पदे भूत्वाऽपत्रपित इवाजायतेत्यर्थः । तव चरितेभ्यो जिह्वां न नियच्छाम निवारयाम तव चरितस्तुतेर्जिह्वां न निवारयामो वयम्, किमुत किन्तु सुधासध्रीचीनाम् अमृत सहचरीणां तव वाचामवसरः कालः अतिपतति अतिक्रामति, अतः परमपि यद्यद

जब आपका चरणकमल खिल उठा था, और जब आप इस भुवनकी रचनापद्धतिको पलट देना चाहने लगे थे, तब इन्द्र आपके सामने गिडगिडा रहे थे ॥ ३२ ॥

(विमर्श कर) जब समस्त देवगण तमाम आपकी आराधनाके लिए दौड़कर आने लगे थे तब रथमें जुते हुए हंसोंकी मन्दगतिसे ब्रह्माको पिछड़ जाना पड़ा था, मैं आपके चरित कीर्तनसे अपनी जिह्वाको विरत नहीं करूंगा, किन्तु सुधासदृश आपके वचनोंका अवसर बीता जा रहा है ॥ ३३ ॥

---

१ 'अपध्वस्त' इति । २ 'अतिपतति' इति ।

(अञ्जलिं बद्ध्वा ।) भगवन्, [1]प्रसीद तावत् । उत्तरोत्तरेषां महोत्सवानां कदाचिदपि न तृप्यन्ति पुंसां हृदयानि, यदियं त्वदुपस्थानसुलभसम्भावनातिप्रसङ्गसङ्गीतनर्तकी मे चित्तवृत्तिर्नियो[2]गानुग्रहाय स्पृहयति । अपि च ।

एताभिस्तव कौतुकोक्तिभिरपि त्रैविध्यमूर्तेरिव
त्वष्ट्र्यामरशिल्पिना दिनकृतोऽवच्छेदवेदाक्षरैः ।
पूताः स्मो वयमद्य यद्यपि [3]तदप्याज्ञामपि स्यामहो
वोढुं विष्टिरनर्घता रघुकुले कल्पान्तमुन्मीलतु ॥ ३४ ॥

मेव तव स्तुतिं प्रवृत्ता स्तवेय तदा तवोत्कर्षः कदा श्रूयस्त्विति विचार्येव जिह्वां स्वीयां तव स्तुतेर्निवर्तयामि न तृप्यतेति भावः ॥ शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३३ ॥

उत्तरोत्तरेषाम्—अग्रिमाग्रिमाणाम् । महोत्सवानाम्—भद्राणाम् । तृप्यतियोगे भद्राणामिति करणे षष्ठी । त्वदुपस्थानेन तवोपस्थित्या सुलभः स्वयमुपनतो यः सम्भावनातिप्रसङ्गः त्वद्विषयकादरातिशयस्तस्य सङ्गीते कीर्तने नर्तकी नटी (भवदागमने भवदादरबुद्ध्या स्तुतिपरायणा) मम चित्तवृत्तिः मनोदशा नियोगानुग्रहाय आज्ञाप्रदानरूपाय भवतोऽनुग्रहाय स्पृहयति स्पृहां करोति ।

एताभिस्तवेति । यद्यपि वयम् तव एताभिः पूर्वनिर्दिष्टाभिः कौतुकोक्तिभिः परिहासवचनैः अमरशिल्पिना विश्वकर्मणा त्वष्टस्य यन्त्रोल्लिखितस्य त्रैविध्यमूर्तेः वेदत्रयीमयशरीरस्य दिनकृतः सूर्यस्य अवच्छेदाः खण्डा एव वेदाक्षराणि तैरिव पूताः पवित्रीकृताः स्म, तदपि तथापि आज्ञाम् भवदीयमादेशं वोढुं सम्पादयितुम् विष्टिः कर्मकरः स्याम, इयम् अनर्घता असाधारणता रघुकुले रघुवंशे कल्पान्त

(हाथ जोड़कर) भगवन्, कृपा कीजिये । उत्तरोत्तर महोत्सवसे पुरुषोंके हृदयोंकी तृप्ति नहीं होती है, देखिये आपके आगमनसे गौरवशालिनी हमारी यह चित्तवृत्ति आपके आगमनप्रयोजनको पूछनेकी स्पृहा कर रही है।

और—आपने जो यह वचन परिहासमें कहे हैं—वह वेदत्रयमूर्तिधारी सूर्यके विश्वकर्माद्वारा खण्डित होने पर उनके अंशभूत वेदाक्षरोंके समान हैं, यद्यपि हम आपके शुभागमनमें ही पवित्र हो गये हैं तथापि आपकी आज्ञाके पालनका अवसर मुझे मिले और यह गौरव रघुकुलके लिये प्रलयकाल तक वर्तमान रहे ॥ ३४ ॥

१ 'प्रसीदतामुत्तरोत्तरेषाम्' इति । २ 'नियोगानुयोगाय' इति ।
३ 'तथाप्याज्ञामपि स्यामहम्' इति ।

विश्वामित्र —(विहस्य ।) ऐन्दुमतेय, किमन्यन्नियोज्यम् ।

निर्मुक्तशेषधवलैरचलेन्द्रमन्थ-
सक्षुब्धदुग्धमयसागरगर्भगौरैः ।
राजन्निदं बहुलपक्षदलन्मृगाङ्क-
च्छेदोज्ज्वलैस्तव यशोभिरशोभि विश्वम् ॥ ३५ ॥

पुनरिदानीमपि—
यशःस्तोमानुच्चैरुपचिनु चकोरप्रणयिनी

समुन्मीलन्तु प्रसरन्तु । अयमाशय —परिहासरूपतयोद्गीरिताभिरपि वदनयमूर्त्त विश्वकर्मणा परितक्षय कृशीकृतस्य सूर्यस्य खण्डभूतैर्वेदाक्षरैरिव पूताभिस्तव वाग्भिर्यद्यपि पूतीकृतास्तथापि तावकमादेशं पालयितुमवसरं लभेय, इयमसाधारणता मम कुले जायतामेतदर्थं नवान्देशं श्रोतुं कामये इति । पुरा सौरं तेजोऽसहमानया सञ्ज्ञानाम्न्या सूर्यपत्न्याऽभिहितः पिता विश्वकर्मा सूर्यं यन्त्रमारोप्योल्लिख्य येन क्षीणतेजसमकरोदिति पुराणवार्त्ताऽत्रानुसन्धेया । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३४ ॥

ऐन्दुमतेय–इन्दुमतीतनय । नियोज्यम्–आदेष्टव्यम् ।

निर्मुक्तेति । निर्मुक्तः निर्मोकरहितः यः शेषः शेषनागस्तद्वद्धवलः श्वेतवर्णः, अचलेन्द्रः मन्दरगिरिः तेन यः मन्थः विलोडनम् तेन सङ्क्षुब्धः चालितो यो दुग्धमयसागरः क्षीरसमुद्रस्तस्य गर्भो मध्यभाग इव गौरैः धवलवर्णैः, बहुलपक्षे कृष्णपक्षे दलन् उन्मीलन् यः मृगाङ्कच्छेदश्चन्द्रखण्डम् तद्वदुज्ज्वलैस्तव यशोभिः कीर्त्तिभिः, हे राजन् इदं विश्वम् अशोभि शोभाशालि कृतम् । अत्र यशस उपमानत्रयमुक्तम्, निर्मोकरहितः शेषः एकम्, मन्दरमथनचालितक्षीरसागरमध्यभागो द्वितीयम्, कृष्णपक्षप्रकाशमानम् चन्द्रखण्डं तृतीयम्, तदेवमियं मालोपमा नामालङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३५ ॥

यश स्तोमानिति । चकोरप्रणयिनीना चकोरीणां या रसज्ञा जिह्वा तस्याः पाण्डित्यं चन्द्रिकापानचातुर्यं तस्य छिदुरं भेदकं यत् शशिधाम चन्द्रतेजः तस्य

विश्वामित्र—(हँसकर) हे इन्दुमतानन्दन, और क्या कहना है ?

हे राजन्, केंचुल छूटे हुए शेष नागकी तरह धवल, तथा मन्दराचलद्वारा मथे गये क्षीरसागरके अभ्यन्तर भागकी तरह स्वच्छ तथा कृष्णपक्षके चन्द्रखण्डोंकी तरह स्वच्छ आपके यशसे सारा विश्व शोभित हो रहा है ॥ ३५ ॥

अब भी आप—

चकोरीगणकी रसज्ञाको भ्रममें डालनेवाले स्वच्छ चन्द्रकरोपम यशको आप

रसज्ञापाण्डित्यच्छिदुरशशिधामभ्रमभरान् ।
अपि त्वत्तेजोभिस्तमसि शमिते रक्षतु दिशा-
मसौ यात्रामैत्रीं नभसि नितरामम्बरमणिः ॥ ३६ ॥

किं तु [2]कतिपयरात्रमायुधसध्रीचा रामभद्रेण संनिहितवैतानतानामस्माकमाश्रमपदं सनाथीकरिष्यते । अपि च—

मध्येकृत्य घनं धिनोति जलधिः स्वैरम्बुभिर्मेदिनीं
हन्ति स्वैः किरणैस्तमिस्रमरुणं कृत्वान्तराले रविः ।

भ्रमभरं सन्देहप्राचुर्यं यत्र तादृशान्—चकोर्यो हि चन्द्रकरान् रसयन्ति, तासां रसज्ञाया पाण्डित्यं चन्द्रकरान् पीत्वा तृप्यति, यदपि तादृशानां चन्द्रकराणां भ्रमो जायत इति तादृशान् यशःस्तोमान् उच्चैरपचिनु वृद्धिं नय । तथा तव तेजोभिः प्रतापैः किरणैश्च तमसि अन्धकारे दुःखे च शमिते सति शान्तिं गमितेऽपि सति असौ अम्बरमणिः सूर्यः नभसि आकाशे दिशां यात्रामैत्रीं गमनेन मित्रतां नितरां रक्षतु । तवैव तेजसा सूर्यसाध्ये तमोनाशे साध्यमाने तदुदयस्य निरर्थकतया सूर्यस्य दिक्षु भ्रमणमिदानीं केवलं पूर्वतनमैत्रीरक्षणार्थमिति तात्पर्यम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३६ ॥

कतिपयरात्रम्—कतिपयरात्रिपर्यन्तम्, आयुधसध्रीचा—धनुर्धरेण, रामभद्रेण—रामचन्द्रेण, संनिहितवैतानतानाम्—संनिहितयज्ञानुष्ठानानाम् । आश्रमपदम्—आश्रमं, सनाथीकरिष्यते—पालयिष्यते । कतिपयदिवसपर्यन्तं रामो धनुर्धरः सन् यज्ञपरागामस्माकमाश्रमं परिपालयिष्यतीत्यर्थः ।

मध्येकृत्येति । जलधिः सागरः घनं मेघं मध्येकृत्य द्वारीकृत्य स्वैः अम्बुभिः पानीयैः मेदिनीं पृथ्वीं धिनोति तर्पयति, रविः सूर्यः अरुणं नाम स्वसूतमन्तराले मध्ये कृत्वा स्वैः किरणैः स्वप्रभाभिः तमिस्रं तमः हन्ति नाशयति । त्वं च दशरथ

विस्तारित करें, आपके तेजसे अन्धकारके नष्ट हो जाने पर सूर्य भगवान् आकाशमें यात्राको अनायास सम्पन्न करें ॥ ३६ ॥

किन्तु—कुछ दिनोंके लिये आयुधके साथ राम हमारे आश्रमोंको सनाथ करेंगे, क्योंकि हमारे यज्ञका समय समीप आ गया है । और—

समुद्र मेघको बीचमें करके अपने जलसे पृथ्वीको आप्लावित करता है, सूर्य अरुणको मध्यवर्ती बनाकर अपनी किरणोंसे अन्धकारका उन्मूलन करता है, आप रामको मध्यवर्ती

१ 'भ्रमकरान्' इति । २ 'कतिपयमहोरात्रम्' इति ।

त्व रामान्तरितश्च पालय निजैरेव [1]प्रतापै प्रजा
मीदृक्कोऽपि परोपकारसुहृदामेष स्वभावो हि व ॥ ३७ ॥

किं च—

दृष्ट साक्षादसुरविजयी नाकिना चक्रवर्ती
मात्स्यो न्याय कथयति यथा वारुणी दण्डनीति ।
पातालेन्द्रादहिभयमयाम्त्येव नित्यानुषक्त
तन्न पुण्यैरजनि भवता वीर राजन्वती भू ॥ ३८ ॥

रामान्तरित राम मध्ये कुर्वन् निजै एव प्रतापै प्रजाम् पालय, परोपकारसुहृदाम् परोपकारकर्मणि दत्तचित्तानाम् व युष्माकम् कोऽपि विशिष्य निर्वक्तुमनर्ह ईदृक् स्वभाव प्रकृति । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार । शार्दूल विक्रीडित वृत्तम् ॥ ३७ ॥

दृष्ट इति । नाकिना देवाना चक्रवर्ती सम्राट् इन्द्र असुरविजयी असुराणा विजेता साक्षात् दृष्ट प्रत्यक्षमालोकित, इन्द्रो ह्यसुराणामेव जेता नाधर्मस्येति प्रयत्नमेवचितम् असुरविजयीत्यनेन तस्य भ्रातृभ्रातृपुत्रादिवधमनुप्रयुक्त्या दुष्कृति मत्तस्य राज्ये वासो नोपयुक्त इति व्यञ्जितम् । असुरविजयीत्यस्य असुरकर्तृक जयविषय इत्यर्थस्यापि सम्भवेन तस्यासुरैर्जितत्वमित्यप्यर्थो ध्वनित । वारुणी वरुणप्रवर्तिता दण्डनीति शासनपद्धतिर्यथा यादृशी, तत् मात्स्यो मत्स्येषु प्रसृत न्याय कथयति निवेदयति, जलाधिपस्य वरुणस्य राज्ये प्रजारूपा मत्स्या स्वजातीयदुर्बलभक्षका इति तत्रत्यो मात्स्यो न्याय एव वरुणस्य दण्डनीतौ साधू नामल्पसामर्थ्याना महाधनैर्बलवद्भिर्निग्रह प्रकाशयन् तदीयराज्यस्य वासक्षमता निषेधति । अथ किञ्च पातालेन्द्रात् वासुके अहिभय सर्पाणा भय नित्यानुषक्त

बनाकर अपने प्रतापसे प्रजाका पालन करें, परोपकार-रसिकोंका कुछ ऐसाही स्वभाव हुआ करता है ॥ ३७ ॥

इन्द्र सदा असुरोंसे उलझे रहते हैं, उनके राज्यमें रहना स्वस्थतासे पूर्ण नहीं है, वरुणकी नीति कैसी है ? इस बातको मात्स्य-न्याय ही बता देता है-अर्थात् बडे मत्स्य छोटे मत्स्योंको निगल जाते हैं इसीसे वरुणका शासन दुष्ट सिद्ध होता है, वासुकिनागके राज्यमें रहनेवाले सर्पोंको सदा भय बना रहता है अत उनका भी राज्य अच्छा नहीं समझा जा सकता है, अत हमारे सौभाग्यसे ही यह पृथ्वी आप सदृश राजाको पा सकी है ॥ ३८ ॥

१ 'प्रभावै' इति ।

दशरथ —(सविषादमात्मगतम् ।) कथमिदमस्मात् सकललोक-शोकशङ्कूद्धरणशीलशीतलेभ्य कौशि[1]कप्रसादेभ्यो रामभद्रप्रवासवैम-नस्य[2]मुत्पत्स्यते । दृष्टं वा निःशेषानन्दनिःस्यन्दिनीनामपीन्दुकरकन्द-लीनां [3]कमलवनीमीलनं कल[4]ङ्कस्थानम् । (विहस्य ।) का गति ।

कूर्मराजभुजगाधिपगोत्रग्रावदिक्करिभिरेकधुरीण ।

सततसम्बद्धत्वस्येव, पाताले राजा वासुकिसमप्राश्च सर्पाः त सह वासो मृत्युरेव, सर्पवद्देशे वासस्य 'ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशय' इति निश्चितत्वात् तदित्थं स्वर्गमर्त्यपातालानां वासानर्हतोक्ता । तत् तस्मात् हे वीर न अस्माकं पुण्यं सुकृतैः भू इयं पृथिवी भवता राज्ञा शोभनराजयुक्ता अपि जाता । तत्र राज्ये प्रजानां नास्ति क्लेश इति भाग्यमस्माकमिति भाव ॥३८॥

सकललोकशोकशङ्कूद्धरणशीलशीतलेभ्य । सर्वजनदुःखकण्टकोद्धरणशीलेभ्य कोमलप्रकृतिभ्य । कौशिकप्रसादेभ्यो विश्वामित्रानुग्रहेभ्य । रामभद्रप्रवासवैम नस्यम्—रामभद्रस्य प्रवासरूपदुःखम् । उत्पत्स्यते—भविष्यति । यो विश्वामित्र सकललोकदुःखशल्योद्धर्ता स एव कुतो मम पुत्रप्रवासस्य महा क्लेश प्रदास्यतीति भाव । निःशेषानन्दस्य—सर्वानन्दस्य । निःस्यन्दिनीनाम्—वर्षिणीनाम् । इन्दुकरक न्दलीनाम्—चन्द्रकिरणनिचयानाम् । कमलवनीमीलनम् कमलाकरसङ्कोचनम् । कलङ्कस्थानम् अपकीर्त्तिनिदानम् । सकललोककल्याणकरस्य मुनेर्विश्वामित्रस्य मे पुत्रप्रवासजननद्वारा मद्दुःखप्रदत्वं सकलानन्ददायिनश्चन्द्रस्य कमलकुलसङ्कोचक-त्वमिव कलङ्कपदमिति तात्पर्यम् ।

कूर्मराजेति । कूर्मराज कमठ (शेषस्य धर्त्ता,) भुजगाधिप शेषनाग, गोत्रग्रावाण कुलाचला, दिक्करिणो दिग्गजाश्च तै एकधुरीण समानधुरन्धर रघुवंशो मा दशरथं प्रसूय जनयित्वा कथं केन प्रकारेण परार्थविमुख परकार्यार्थे

दशरथ—(विषादके साथ स्वगत) समस्त लोकके दुःखको दूर करने वाले विश्वामित्रके अनुग्रहसे हा हमको राम-प्रवासरूप कष्ट क्यों होने जारहा है ? अथवा समस्त प्रजाजनको आनन्द देने वाले चन्द्रमाका कमलवन-सङ्कोचन देखा ही हुआ है । (हँसकर) क्या उपाय है ? कूर्मराज, भुजगराज, गोत्राचल तथा दिग्गजोंके साथ समान

[1] 'कौशिकपादेभ्य' इति पाठान्तरम् । [2] 'अप्युत्पत्स्यते' इति पाठान्तरम् ।
[3] 'कमलिनीमीलनम्', 'कमलवनीविनिमीलनम्' इति च ।
[4] 'अङ्कस्थानम्' इति ।

मां प्रसूय कथमस्तु विगीतो हा परार्थविमुखो रघुवंश ॥३९॥

विश्वामित्र—(सस्मितम् ।) राजर्षे, ममकारो हि राजपुत्रेषु राज्ञामुपलालनक्लेशाय केवलम् । उपयोगस्तु प्रजानाम् । यथैतत् ।

> कष्टा वेधव्यथा कष्टो नित्यमुद्वहनक्लमः ।
> श्रवणानामलंकारः कपोलस्य तु कुण्डलम् ॥ ४० ॥

दशरथ—भगवन्, परमनुगृहीता वयमेव तत्रभवता सम्भाव्य

साधनपराङ्मुखः सन् विगीतः निन्दितः अस्तु । कूर्मराजः शेषं धत्ते स कुलाचलान्, ते दिग्गजान्, ते च भुवं धारयन्ति, तदित्थमेते यथा परार्थसाधनलग्नास्तथैव सदा परार्थसाधनधुरीणतां प्राप्तो रघुवंशः सम्प्रति मां प्रसूय मया परार्थे पराङ्मुखीभूयोपेक्ष्यमाणे कथं निन्दितत्वं प्रजतु नैतन्मया कथमपि कर्त्तुमुचितमिति भावः ॥ ३९ ॥

ममकारः—ममत्वबुद्धिः । उपलालनम् पालनपोषणादि । उपयोगः उपकारः । राजानः स्वपुत्रं ममत्वेन केवलं पालयन्ति, नहि तेन स्वार्थमपेक्षन्ते, राजपुत्रस्योपयोगं तु स्वपालनद्वारा प्रजा एव लभन्त इति भावः ॥

कष्टेति । श्रवणानाम् श्रोत्राणाम् वेधव्यथा वेधजनिता पीडा कष्टा क्लेशदा, तथा नित्यं सततम् उद्वहने कुण्डलधारणे श्रोत्राणां क्लमः श्रमः, तु किन्तु कुण्डलम् कपोलस्य गण्डस्थलस्य अलङ्कारः भूषणम् । यथा श्रोत्राणि वेधव्यथामनुभवन्ति कुण्डलानां वहने श्राम्यन्ति च परं तैः कपोलप्रदेशा भूषिता भवन्ति, तद्वद्राजानः स्वपुत्राणां लालनपालनादौ क्लिश्यन्ते, परन्तैरुपक्रियन्ते प्रजा एव न जनकास्तेषामिति भावः ॥ ४० ॥

परम् अनुगृहीता—अत्यर्थमनुकम्पिताः तत्रभवता-पूज्येन त्वया । एव

रूपमें पृथ्वीके भारको वहन करने वाले रघुवंशको मेरे द्वारा परार्थविमुखताजन्य अयश कैसे प्राप्त होगा ? ॥ ३९ ॥

विश्वामित्र—(हँसकर) राजर्षे, राजपुत्रोंपर राजोंका ममत्व केवल लालन पालनके समय क्लेशके लिये होता है, उनसे लाभतो प्रजाओंको ही होता है । जैसे—

कानोंको बिंधना पड़ना है, नित्य ढोनेका कष्ट उठाना पड़ता है, परन्तु इतना होने पर भी कुण्डल कानोंसे अधिक कपोलोंकी शोभा-वृद्धि करते हैं ॥ ४० ॥

दशरथ—भगवन्, आपके इस आदरसे हम अनुगृहीत हो गये हैं, किंतु इस

माना । किं पुनरकृतास्त्रः क्षीर[1]कण्ठो वत्सोऽयमिति [2]मुग्धोऽस्मि ।

विश्वामित्रः—(विहस्य ।) सखे, तत्रभवन्तं मैत्रावरुणिमृषिं पुरोधाय चरितब्रह्मचर्यव्रतस्य धनुर्वेदसंस्कारास्तावदस्य कृशाश्वप्रसादादस्मास्वायतन्ते ।

दशरथः—(सविनयोपरोधम् ।) भगवन्, उच्छ्वसितमपि रघुराजबीजिनां त्वदायत्तमेव, किमु[3]त कार्मुकविद्यासम्प्रदायः । शङ्के सहस्रकिरणकुलैकपक्षपातेनैव सहस्रं [4]वत्सरान्भगवन्तं कृशाश्वमुपासीनो दिव्यास्त्रमन्त्रोपनिषदमध्यगीष्ठाः ।

सम्भाव्यमाना—इत्थमाक्रियमाणा । अकृतास्त्रः—अगृहीतधनुर्वेदविद्यः । क्षीरकण्ठः—दुग्धमुखः । मुग्धः—निष्कर्तव्यताज्ञानशून्यः ।

मैत्रावरुणिम्—वसिष्ठम् । पुरोधाय—पुरोहितं कृत्वा । चरितब्रह्मचर्यव्रतस्य—धृतब्रह्मचर्यस्य । धनुर्वेदसंस्काराः—अस्त्रविद्याशिक्षा । कृशाश्वप्रसादात्—भगवतो मम गुरोः कृशाश्वस्यानुग्रहात् । आयतन्ते—आयत्ताः । ब्रह्मचर्यमनेन साधु निरूढं सम्प्रति कृशाश्वान्मया लब्धा धनुर्वेदविद्या मयैव रामः शिक्षणीय इति तदर्थं चिन्तयाऽपि भवताऽस्मानमायास्येति भावः ।

रघुराजबीजिनाम्—रघुराजः बीजी आदिपुरुषो येषां तेषाम् रघुवंश्यानाम् । उच्छ्वसितम्—जीवनम् । त्वदायत्तम्—त्वदधीनम् । कार्मुकविद्यासम्प्रदायः—धनुर्वेदोपदेशः । शङ्के—सम्भावयामि । सहस्रकिरणकुलैकपक्षपातेन—सूर्यवंशानुग्रहबुद्ध्या । उपासीनः—सेवमानः । दिव्यास्त्रमन्त्रोपनिषदम्—दिव्यास्त्रमन्त्ररहस्यम् । अध्यगीष्ठाः—अधीतवान् ।

दुधमुँह रामने अभी अस्त्रविद्या नहीं सीखी है अतः मूढ हो रहा हूँ ।

विश्वामित्र—(हँसकर) वसिष्ठके तत्त्वावधानमें रामने ब्रह्मचर्य व्रतका पालन कर लिया है, अब इसके धनुर्वेद-संस्कारका भार कृशाश्वके प्रसादसे हमारे ऊपर रहेगा ।

दशरथ—(विनय और अनुरोधके साथ) भगवन्, रघुवंशियोंका उच्छ्वास भी आप पर ही निर्भर है, फिर धनुर्वेदकी क्या बात ? मैं समझता हूँ सूर्यवंश पर पक्षपात होनेके ही कारण आपने सहस्र संवत्सर पर्यन्त कृशाश्व मुनिसे अस्त्रविद्या सीखी थी ।

---

१ 'क्षीरकण्ठश्च' इति । २ 'प्रमुग्धोऽस्मि' इति ।
३ 'किं पुनः' इति । ४ 'परिवत्सरान्' इति ।

विश्वामित्रः—अलं च ते रामभद्रेऽपि बालोऽयमित्यलीकसम्भावनया। दिवस्पृथिव्योस्तिमिरतिरस्कारिणीं तरणिरणुतरोऽपि तेजसा तिरस्करोति।

दशरथः—(सस्मितम्।) भगवन्कुशिककुलकेतो, कस्य तलिनी तादृशी जिह्वा यस्त्वामपि ब्रुवाणमधरोत्तरेणाभिसन्धत्ते। (अपवार्य।) वामदेव, स्वमत्रभवान्कौशिको ब्रवीति।

वामदेवः—राजर्षे, किमत्र प्रष्टव्या वयम्।

> कौशिकोऽर्थी भवान्दाता रक्षणीयो महाक्रतुः।
> रक्षिता रामभद्रश्चेदनुमन्यामहे वयम् ॥ ४१ ॥

अलीकसम्भावनया—मिथ्याकल्पनया। दिवस्पृथिव्योस्तिमिरतिरस्कारिणीम्—द्यावाभूम्योरावरणकारिणीम् (अन्धकारसन्ततिम्)। अणुतरः—स्वल्पाकारः। तरणिः—सूर्यः। तिरस्करोति—विनाशयति।

कुशिककुलकेतो—कुशिककुलप्रदीप। तलिनी—स्वच्छा (तलिनं विरलं स्तोकं स्वच्छेऽपि वाच्यवत्) अधरोत्तरेण—उत्तरोत्तरयुक्तियुक्तिक्रया।

कौशिक इति। कौशिको विश्वामित्रोऽर्थी याचकः, महाक्रतुः यागः रक्षणाय पालनीयः, भवान् दाता, रामभद्रश्च रक्षिता यागपालकः चेत् वयम् तव शुभैकध्यानपराः अनुमन्यामहे, रामस्य विश्वामित्रकर्तृकयागरक्षार्थं गमनमनुमोदामहे इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

विश्वामित्र—आपका यह समझना कि राम बालक हैं सर्वथा व्यर्थ है। पृथ्वी तथा आकाशमें भरेहुए अन्धकारको छोटासा सूर्य क्या अपने करोंसे दूर कर देता है।

दशरथ—(हसकर) हे कुशिक वंशके केतुरूप महाराज विश्वामित्र, जिनकी जिह्वामें इतनी शक्ति है जो आपको उत्तर देसके? (छिपाकर) वामदेव, कौशिकजी यह कहते हैं।

वामदेव—राजर्षे, इसमें मुझसे क्या पूछना है?

कौशिक याचक हैं, आप दाता हैं, यज्ञकी रक्षा करनी है, राम रक्षक हैं, इस हालतमें मैं अपनी सम्मति देता हूं ॥ ४१ ॥

---

१ 'द्यावापृथिव्यो', 'दिवस्पृथिव्योरन्तराले' इति च। २ 'अधरोत्तरे' इति।

अपि च—

जगतीभारखिन्नाना विश्रामो भवतामयम् ।
यद्यथाकामसंपत्तिप्रीतार्थिमुखदर्शनम् ॥ ४२ ॥

किं च विशेषेण ।

पूरयितुमर्थिकामान्मैत्रावरुणेन गोत्रगुरुणा ते ।
सन्दिशता सदिष्ट समाधिद्वष्टोऽयमेवार्थः ॥ ४३ ॥

दशरथ —वामदेव, एवमेतत् ।

'ध्यानमयदृष्टिपातप्रमुषितकालाध्वविप्रकर्षेषु ।

जगतीति । जगत्या पालनीयाया पृथिव्या भारेण पालनवहनादिश्रमेण खिन्नानाम् निरुश्यमानानाम् भवता महाराजानाम् अयम् विश्राम क्रियताशेन निर्वृति यत् यथाकामसम्पत्त्या यथेष्टवस्तुलाभेन प्रीताना सन्तुष्टानामर्थिना याचकाना मुखस्य दर्शनमवलोकनम् पृथ्वीपालनक्लिष्टा भवादृशा महाराजा यथेष्टलाभसन्तुष्टयाचकमुखावलोकनेन—विश्रामसुखमनुभवन्ति, तद् विश्वामित्र याचमान प्रसाद्य भवानपि तत्सुख प्राप्तु प्रयततामिति भाव ॥ ४२ ॥

पूरयितुमिति ते तव दशरथस्य गोत्रगुरुणा कुलगुरुणा वसिष्ठेन अर्थिकामान् पूरयितु याचकमनोरथान् सपादयितु सन्दिशता मन्मुखेन वाचिक प्रेषयता समाधिदृष्ट प्रणिधानसाक्षात्कृत अयमेवार्थ सन्दिष्ट कथित । समाधिद्वारा विश्वामित्रेण करिष्यमाणा रामभद्रस्य याच्ञामेव मनसिकृत्य भवत कुलगुरुवसिष्ठो भवन्त याचकाना मनोरथान् पूरयितु सन्दिष्टवांस्तद्विश्वामित्रानुरोधे पाल्यमाने फलतो गुरोरपि सन्देश पालितो भवतीत्यवश्यपालनीयोऽयमनुरोध इत्याशय ॥ ४३ ॥

ध्यानमयेति । नैष्ठिकानाम् निष्ठाशालिना सिद्धिमताम् सर्वपथीना सर्वमार्ग-

और—

संसारके भारसे थके हुए आप लोगोंके लिये यही विश्राम है कि यथाकाम याचना करने वाले याचकोंकी इच्छा पूरी करके उनके प्रसन्नमुखका दर्शन करें ॥ ४२ ॥

याचकोंके मनोरथको पूर्ण करनेका सन्देश देकर आपके गुरु वसिष्ठने भी समाधिदृष्ट इसी अर्थकी ओर इशारा किया था ॥ ४३ ॥

दशरथ—वामदेव ठीक यही बात है,

ध्यानमय दृष्टिमें देश तथा कालका व्यवधान नहीं रहता है, अतः सिद्ध पुरुषोंकी

१ 'ज्ञानमय' इति ।

विषयेषु नैष्ठिकाना सर्वपथीना मति क्रमते ॥ ४४ ॥

(विमृश्य ।)

क्रियाणा रक्षार्थे दशरथमुपस्थाय विमुखे
मुनौ विश्वामित्रे भगवति गते सप्रति गृहान् ।
तपोलेशक्लेशादुपशमितविघ्नप्रतिभये
प्रवृत्ते यष्टु वा रघुकुलकथैवास्तमयते ॥ ४५ ॥

(मुनिं प्रति ।) जगद्गुरो गाधिनन्दन,

त्व चेद्दीक्षिष्यमाणो मे रामभद्र प्रतीक्षसे ।

सञ्चारिणी मति बुद्धि ध्यानमयन दृष्टिपातेन ज्ञानयोगेन प्रसृमिन अपसारित कालस्य भूतभविष्यद्वर्तमानरूपस्य समयस्य अध्वनो देशस्य च विप्रकर्षो दूरत्व येषु तथोक्तेषु विषयेषु क्रमते प्रवर्त्तते। सिद्धिमन्तो मुनयो ज्ञानदृष्ट्या अतीतानाग तादिक दूरस्थ च विषयजात बुद्धौ प्रत्यक्षीकुर्वन्ति, तत्सम्भवति कुलगुरुर्मम विश्वामित्राभिप्राय मनसि निधायैव तथा सन्दिष्टवान् स्यादिति भाव ॥ ४४ ॥

क्रियाणामिति । क्रियाणा यागानुष्ठानानाम् रक्षार्थे रक्षाविधये दशरथम् उपस्थाय दशरथ प्राप्य तदीय पुत्र रक्षक याचित्वा विमुखे प्रार्थितार्थमलब्ध्वा सम्प्रति मुनौ विश्वामित्रे गृहान् स्वाश्रमान् गतवति सति तपोलेशस्य स्वतपस्यैक देशस्य क्लेशात् व्ययात् उपशमितम् शान्तीकृत विघ्नप्रतिभय प्रतिबन्धभय येन तस्मिन् स्वतपःप्रभावेण विघ्न शमयित्वा यष्टु याग कर्त्तु वा प्रवृत्ते सति रघुकुलकथा रघुवरयानाम् दानजनिता कीर्तिकथा एव अस्तमयते समाप्नोति। यज्ञरक्षार्थं विश्वामित्रो दशरथमुपेत, स हि प्रार्थितार्थमलब्ध्वा यदि परावर्त्तते, गत्वा च स्वतपोलेशस्य व्ययेन यज्ञप्रतिबन्धक शमयित्वा याग कर्तुमुपक्रमते तदा रघुकुलस्य दानशूरता समाप्ति गच्छति, तदल मुनिं विमुखीकृत्येति भाव । शिख रिणीवृत्तम्, तल्लक्षणमन्यत्र दर्शितम् ॥ ४५ ॥

त्व चेदिति । दीक्षिष्यमाण यागदीक्षा ग्रहीतुकाम त्व विश्वामित्र चेत् यदि

दृष्टियाँ अतीत, अनागत विषयोंके भी साक्षात्कारमें समर्थ रहती हैं ॥ ४४ ॥

(विचारकर) यज्ञकी रक्षाके लिये दशरथसे याचना करके विमुख होकर यदि विश्वामित्र अपने आश्रमको लौट जाते हैं और तपस्याके थोड़े अंशको खच करके यज्ञ करना प्रारम्भ कर देते हैं, तबतो रघुकुलकी कीर्ति-कथा ही समाप्त हो जाती है ॥ ४५ ॥

(मुनिसे) जगद्गुरो विश्वामित्र, आप यज्ञ करेंगे इसलिये रामकी याचना करते हैं

तत्र पतिव्रतावृत्तमिव चरतु मेदिनी ॥ ४६ ॥

(नेपथ्याभिमुख ।) क कोऽत्र भो ।

(प्रविश्य ।)

दौवारिक —किमाज्ञापयति देव ।

दशरथ —आहूयतां रामभद्र ।

वामदेव —लक्ष्मणश्च ।

दशरथ —(सस्मितम् ।) ऋषे, पृथक्प्रयत्नापेक्षी नायमर्थ । न खलु प्रकाशमन्तरेण तुहिनभानुरुज्जिहीते ।

(दौवारिको निष्क्रान्त ।)

(तत प्रविशतो रामलक्ष्मणौ ।)

राम प्रतीक्षसे त्वयागरवनतया राम नेतुमिच्छसि, सदा न अस्मान्मिव मेदिनी धरा पतिव्रतावृत्तम् मालिन्यादिप्रोषितभर्तृकवधूचिह्नम् चरतु करोतु । राम पुत्रास्या धराया पति , तस्मिन् त्वया नीयमाने धरेय प्रोषितभर्तृकतया मालिन्य वहतामिति । अतश्च रामस्याचिरप्रयावर्तनीयता द्योतिता ॥ ४६ ॥

पृथक्प्रयत्नापेक्षी—अनिरिक्तप्रयासकर । अयमर्थ —लक्ष्मणाह्वानम् । रामे आहूयमाने लक्ष्मण स्वयमागमिष्यति, तदाह्वान नापेक्ष्यत इत्यर्थ । प्रकाशमन्तरेण प्रभा विना । तुहिनभानु -चन्द्र । उज्जिहीते-उदयते । यथा प्रभामतिरिच्य चन्द्रो न तिष्ठति तथैव लक्ष्मण विना रामोऽस्तो रामाह्वानेनैव लक्ष्मणोऽप्याहूतो भवतीति भाव ॥

तो यह हमारी पृथ्वी कुछ दिनों तक प्रोषितपतिका पतिव्रताकी स्थितिको प्राप्त करे, (नेपथ्यकी ओर) कौन है ? ॥४६॥

[प्रवेश करके]

दौवारिक—महाराजकी क्या आज्ञा है ?

दशरथ—रामभद्रको बुला लाओ ।

वामदेव—लक्ष्मणको भी बुलाते आना ।

दशरथ—(हसकर) मुनिवर, इसके लिये अलग यत्नकी आवश्यकता नहीं है। प्रकाशको छोड़कर चन्द्रमा उदित नहीं होता है ।

[दौवारिक जाता है]

[राम तथा लक्ष्मण का प्रवेश]

राम —(सहर्षम् ।)

सुराधीशक्रोधाज्जगदपरथा कर्तुमपरे
पुराणब्रह्माणो भुवनपितरः सप्त च कृताः ।
धृतास्तुष्टेनामी बहिरपि च वैश्वानरपथा-
त्कथा पौराणी यच्चरितमितिह स्म प्रथयति ॥ ४७ ॥

कथं सोऽपि भगवान्विश्वामित्रः [1]स्वयमस्माभिरुपचरिष्यते ।

सुराधीशेति । सुराणाम् अधीशः इन्द्रस्तस्मिन् क्रोधः त्रिशङ्कोरिन्द्रेण स्वर्गाद् भ्रंशनजन्मा कोपः तस्मात् हेतोः जगत् अपरथा भिन्नप्रकारकं कर्तुम् अपरे अग्नि-ष्वात्ताद्यपेक्षया भिन्नाः सप्त भुवनपितरः मरीच्यत्रिप्रभृतयः सप्तर्षयः कृताः । ततो नानादेवप्रणिपातात्तुष्टेन प्रसीदता अमी स्वरचिता भुवनपितरो ब्रह्माणः वैश्वानरपथात् बहिः पृथग् धृताः आकाशस्थस्थानविशेषे स्थापिताः । यद्वा वैश्वानरपथाद्धविर्दानात् बहिरेव धृताः दानाहुतिभागिनो न कृताः, इति एतादृशी पौराणी पुरातनी कथा यच्चरितं यस्य विश्वामित्रस्य चरित्रं प्रकाशयति स्म । यदा राजत्रिशङ्को स्वर्गप्रवेशं नानुमन्यते स्म तदा स्वापमानकुपितो विश्वा-मित्रोऽपरसृष्टिनिर्मित्सया सप्तापरान् ब्रह्मणः कृतवान्, अथ देवैः पादपतनादिना प्रसादितोऽसौ स्वसृष्टांस्तान् ब्रह्मणोऽन्तरिक्षे सप्तर्षिभावेनास्थापयदिति पौराणी वार्ता यस्य विश्वामित्रस्य चरितं प्रथयति स कथमस्माभिः सेव्य इति वक्ष्यमाणेनान्वये वाक्यार्थविश्रान्तिः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४७ ॥

उपचरिष्यते सेविष्यते । सौभाग्येन तादृशपुण्यप्रकर्षशालिनो मुनेः सेवाया अवसरो लभ्यत इति स च लब्धोऽस्माभिरित्यहो भाग्यमस्माकमिति ध्वनिः ।

राम—(सहर्ष) इन्द्रपर कुपित होकर जिस विश्वामित्र ने सात पुराण ब्रह्मा तथा भुवनपितरोंकी सृष्टि कर डाली थी, और देवोंका प्रार्थनासे प्रसन्न होकर जिस विश्वामित्रने उन स्वरचित ब्रह्मा आदिको वैश्वानरपथसे बाहर रख दिया, इस प्रकारसे जिनकी कीर्ति कथा प्रथित है ॥ ४७ ॥

वही भगवान् विश्वामित्र हमें अपना सेवाका अवसर प्रदान करेंगे ?

---

१ 'स्वयमुपचरिष्यतेऽस्माभिः' इति ।

(इति परिक्रामन्पुरोऽ[1]वलोक्य हर्षातिशय रूपयन् ।) नून त्रिनयनत्रयोस्तातवामदेवयो[2]स्तृतीय प्रशान्तपावनीयाकृति स भगवान्विश्वामित्रो भविष्यति ।

लक्ष्मण —(साश्चर्यस्मितम् ।) आर्य,

अयमयमीदृशप्रशमविश्वसनीयतनु-
भुवनभयकरी कथमधत्त रुषोऽपि मुनि ।
स्थितमिदमेव वा मृदुमनोज्ञतुषारतमा
स्तमसि सति ज्वलन्ति सहसैव महौषधय ॥ ४८ ॥

नूनम् निश्चयेन । त्रिनयनत्रयो भगवतो प्रह्वयोश्च । प्रशान्ता सौम्या पावनीया पवित्रताजननी चाकृतिर्यस्य तथोक्त ।

अयमयमिति । अयमयमिति सभ्रमे द्विरुक्ति, अयम् ईदृशेन दर्शनमात्रप्रत्ययेन प्रशमेन प्रकृष्टया शान्त्या विश्वसनीया अशङ्कनीया तनु शरीर यस्यासौ अपि मुनिर्विश्वामित्र भुवनभयङ्करी विश्वत्रासजननी रुष कोपान् कथम् अधत्त धृतवान् (जगतो ध्वसन नवा सृष्टि च कर्तु प्रवृत्तो भूत्वा कथ विश्वभयमजनयत्) वा अथवा इदमेव स्थित स्थितिमर्यादा यत् मृदुल्य कोमला मनोज्ञा मनोहारिण्य तुषारतमा अतिसौम्या महौषधय तमसि सति जाते अन्धकारे सहसैव एक पद एव ज्वलन्ति प्रकाशन्ते । यथा कोमलाना शीतवीर्याणा चौषधीना सत्यन्धकारे दीपन तथैव शान्तसौम्यस्यापि मुने परेण पराभवे दीपन स्वभाव इति अयमपि शान्तस्वभावो मुनिर्भुवनभयङ्करी क्रिया कृतवान्स्यादिति तात्पर्यम् । कोकिलक वृत्तम्, 'हयऋतुसागरैर्यतियुत यदि कोकिलकम्' इति तल्लक्षणम् ॥ ४८ ॥

(आते हुए सामने विश्वामित्रको देखकर प्रसन्नतासे) पिताजी तथा वामदेव विनयसे नम्र हो रहे है उनके साथ बैठे हुए यह प्रशान्त पावन आकारधारी भगवान् विश्वामित्र होंगे ।

लक्ष्मण—(आश्चर्य तथा हसीके साथ) इस तरहकी शान्तिसे जिनकी देह अति विश्वसनीय लग रहा है वहा यह विश्वामित्र उस तरहके कोपको किस प्रकार धारण कर सके थ ? अथवा यही विश्वमर्यादा है जो लताये अति कोमल सुन्दर तथा शीतल लगती है वेहा अन्धकार होनेपर सहसा जल उठती हैं ॥ ४८ ॥

१ 'विलोक्य' 'अवलोक्य' इति च ।
२ 'तृतीया प्रशान्तपावनायमाकृति ' इति ।

राम—वत्स लक्ष्मण, एवं दुरवगाहगम्भीराश्चित्रीयन्ते महान्तः।

अपि च—

व्रतविहतिकरीभिरप्सरोभिः सह जगदस्य निगृह्णतो गृणन्ति।
नमदमरशिरः किरीटरोचिर्मुकुलितरोषतमांसि चेष्टितानि॥ ४९॥

वामदेव—(सहर्षं दृष्ट्वा।) कथमागतो रामभद्रः। (मुनिं प्रति।) भगवन्,

ब्रह्मज्योतिर्विवर्तस्य चतुर्धा देहयोगिनः।
ऋष्यश्रृङ्गचरोरंशः प्रथमोऽयं महाभुजः॥ ५०॥

दुरवगाहगम्भीराः दुर्धर्षाः गम्भीरमतयश्च। चित्रीयन्ते—आश्चर्यं कर्म कृत्वा विस्मयमुत्पादयन्ति।

व्रतविहतीति। व्रतस्य तपसो विहतिं विघ्नं कुर्वन्ति यास्ताभिः अप्सरोभिः सह जगत् भुवनं निगृह्णतः भस्मीकर्तुमुद्यच्छतः अस्य विश्वामित्रस्य मुनेः चेष्टितानि चरितानि नमतां पादयोः पततां प्रसादनार्थं विनीतानाम् अमराणां शिरःकिरीटानि मौलिमुकुटानि तेषां रोचिर्भिः प्रभाभिः मुकुलितम् उपशमितं रोष एव तमोऽन्धकारो येषु तथाभूतानि गृणन्ति पुराणविदः कथयन्ति। तपस्याविघ्नकरीभिरप्सरोभिः सहैव लोकान्दग्धुं प्रवृत्तोऽयं मुनिः पादप्रणतैर्देवैः प्रसादितः स्वकोपं निवारयामासेति पुराणविदोऽस्य चरितानि कथयन्तीति भावः। पुष्पिताग्रावृत्तं, 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति तल्लक्षणात्॥ ४९॥

ब्रह्मज्योतिरिति। ब्रह्मज्योतिर्विवर्तस्य ब्राह्मतेजःपरिणामस्य चतुर्धा प्रकारचतुष्टयेन देहयोगिनः रामादिरामपुत्रचतुष्टयतया धृतदेहस्य ऋष्यश्रृङ्गचरोः मुनि

राम—वत्स लक्ष्मण, दुरवगाह तथा गभीर आशयवाले महान् जन इसी तरह आश्चर्यजनक कार्य किया करते हैं। और—

तपस्या भङ्ग करनेवाली अप्सराओंके साथ ही जब आपने संसारको समाप्तकर देनेकी तैयारी की थी, तब इनके चरणोंपर देवगण गिरे उनके किरीटस्थमणि-प्रकरकी प्रभासे विश्वामित्रके कोपरूप तमकी शान्ति हुई, यही इनके चेष्टित हैं॥ ४९॥

वामदेव—(देखकर हर्षसे) क्यों रामभद्र आगये? (मुनिसे) भगवन्, चार मार्गों में बंटे ब्रह्मतेज-परिणामस्वरूप ऋष्यश्रृङ्ग—चरुके प्रथम अंश यही महाभुज राम हैं॥५०॥

१ 'गम्भीरचरिता' इति। २ 'रामं दृष्ट्वा सहर्षम्' इति।

विश्वामित्र —(सहर्षमभ्रम[1] वलोक्य ।) वामदेव, किमुच्यत आरण्यकेपु किमपि [2]प्रकृष्टतम ब्राह्मण्यमृष्यश्रृङ्गस्य । न केवलममुना वत्सेन ब्रह्मर्षिर्विभाण्डक पुत्रवता धुरमारोपित , [3]दशरथोऽपि ।

[4]दशरथ —भगवन्, एवमेवैतत् ।

ये मैत्रा[5]वरुणि पुरोहितवतो वशो मनोर्जज्ञिरे
तास्ता वैनयिकी क्रिया विदधिरे येषा च युष्मादृशा ।

विशेषहव्याख्यस्य प्रथमोंऽश आद्यो भाग अय महाबाहु राम , ऋष्यश्रृङ्गो नाम मुनिर्यद्-ब्राह्मतेज परिणामभूत चरनामक यद् हवनीयद्रव्य चतुर्धा व्यभजन ततो ये वहधारिणो नृपात्मजाश्चत्वारोऽजनिषत तेषामाद्योऽय महाभुजो राम इति । 'अथ चरु पुमान् हव्यान्नभाण्डयो ' इति धरणि ॥ ५० ॥

आरण्यकेषु वनवासिमुनिषु । प्रकृष्टतमम् अत्युत्कृष्टम् । अमुना वत्सेन ऋष्यश्रृङ्गेण । पुत्रवता धुरमारोपित —पुत्रवत्सु मूर्धन्य कृत । दशरथोऽपि पुत्रवता धुरमारोपित इति योजना । अयमृष्यश्रृङ्गो निजेन ब्राह्मण्यन न केवल स्वजनक विभाण्डकमेव पुत्रवता धुरमारोपितवानपि तु स्वतपसा दशरथमपि पुत्रवता धुरमारोपितवान् । स्वय तपस्तप्त्वा स्वपितर धन्यतामनयत् स्वतप प्रभावेण दशरथमपि प्रशस्याशालिपुत्रभाजनमकार्षीदिति धन्यत्वमृष्यश्रृङ्गस्येति भाव ॥

ये मैत्रावरुणिमिति । य राजान मैत्रावरुणि वसिष्ठ पुरोहितवत पुरोहितत्वेन वृतवतो मनो वशे जज्ञिरे जनिमलभन्त, येषा राज्ञा मध्ये युष्मादृशा स्वादृशा पुण्यपरिपाकशालिन तास्ता प्रसिद्धा वैनयिकी विनयपूर्णा क्रिया व्यापार-

विश्वामित्र —(सहर्ष, अकचकाकर देखकर) वामदेव, क्या कहा जाय, वनवासियोंमें ऋष्यश्रृङ्गका कुछ अद्भुत ब्राह्मण्य है, उसने केवल विभाण्डकको पुत्रवालोंका मूर्धन्य नहीं बनाया है, दशरथको भी पुत्रवालोंका मूर्धन्य बनाया है ।

दशरथ—हाँ महाराज, ठीक है,

वसिष्ठ जिनके पुरोहित हैं जो मनुवंशमें उत्पन्न हुए, जिन्होंने विनयपूर्ण सारी क्रियायें कीं, जिनको आप सरीखे ऋषियोंने सम्पन्न कराया, उन रघुवंशियोंमें दशरथ

१ 'आलोक्य' इति । २ 'प्रकृष्टतम किमपि' इति ।
३ 'राजर्षिर्दशरथोऽपि' इति । ४ 'वामदेव ' इति ।
५ 'मैत्रावरुणम्' इति ।

तेषाम'ञ्चलमेष ते दशरथ सम्प्रत्यमी ये पुन
जातास्ते भुवमृष्यशृङ्गतपसामैश्वर्यमिक्ष्वाकव ॥ ५१ ॥
(रामलक्ष्मणावुपसर्पत ।)

²दशरथ —वत्सौ, भगवानेष नि शेषभुवनमहनीयो महामुनि कौशिक प्रणम्यताम् ।

रामलक्ष्मणौ—(उपसृत्य ।) भगवन्विश्वामित्र, सावित्रौ रामलक्ष्मणावभिवादयेते ।

विश्वामित्र —वत्सौ, आयुष्मन्तौ भूयास्ताम् । (इति भुजाभ्या गृहीत्वा राम नि³र्वर्ण्य च सबहुमानम् । आत्मगतम् ।)

वसिष्ठोक्तैर्मन्त्रैर्दधति जगतामाभ्युदयिकीं
धुर समर्त्येते दिनकरकुलीना क्षितिभुज ।

कलापान् विदधिरे कृतवन्त , तेषाम् राज्ञाम् एष ते तव दशरथ अञ्चलम् प्रान्तदेश , अन्तिमो राजा, सम्प्रति ये अमी इक्ष्वाकव रामादयो जातास्ते भुवम् ऋष्यशृङ्गतपसाम् ऐश्वर्यम् प्रभाव । वसिष्ठेन पुरोहितयोगिनो मनोवंशे जाताना विनयपूर्णा क्रिया कृतवता राज्ञामहमन्तिमो राजा, अमी रामादयस्तु ऋष्यशृङ्गतपसा प्रभावेण जाता इत्यर्थ ॥ ५१ ॥

नि शेषभुवनमहनीय समस्तलोकपूजनीय ।

सावित्रौ सवितु सूर्यस्य वंशे लब्धजन्मानौ । अभिवादयेते भवन्त प्रणमत ।

वसिष्ठोक्तैरिति । एते दिनकरकुलीना सूर्यवंशोद्भवा क्षितिभुजो राजान वसिष्ठोक्तैर्मन्त्रै वसिष्ठव्याहृताभिर्मन्त्रणाभि जगताम् आभ्युदयिकीम् जगन्मङ्गल

अन्तिम हूँ, अब जो पैदा हुए हैं वह इक्ष्वाकुवंशी ऋष्यशृङ्गके तपके प्रभावसे पैदा हुए हैं ॥ ५१ ॥

(राम-लक्ष्मण समीप आते हैं)

दशरथ—बेटे, यह हैं अशेष भुवनगीतकीर्त्ति महामुनि विश्वामित्र, इन्हें प्रणाम करो,

राम-लक्ष्मण—(समीप जाकर) महाराज विश्वामित्र, सूर्यवंशी राम-लक्ष्मण प्रणाम करते हैं ।

विश्वामित्र—बच्चे, आयुष्मान् हो । (हाथोंसे रामको पकड़कर) (देखकर सादर स्वगत)

इस समय यह सूर्यवंशी राजागण वसिष्ठोक्त मन्त्रों द्वारा समारके अभ्युदयका भार

---

१ अञ्चल ' इति । २ 'वामदेव ' इति । ३ 'च निवर्ण्य' इति ।

गृहे येषां रामादिभिरपि कलाभिश्चतसृभि
स्वयं देवो लक्ष्मीस्तनकलशवारीगजपति ॥ ५२ ॥

अपि च—

त्वं तारता स्मृतवानृचो दशतयीस्त्वत्प्रीतये यत्त्वभि
स्वाहाकारमुपाहित हविरिह त्रेताग्निराचामति ।
त्वां क्षीरोदजलेशय [1]क्रतुलिह पृथ्वीमवातीतर-
श्रुदवृत्ता दशकंधरप्रभृतयो निग्राहितारस्त्वया ॥ ५३ ॥

साधतीम् धुर राज्यभार दधति धारयन्ति । येषां सूर्यवंश्याना राज्ञा गृहे सम्प्रति लक्ष्म्या स्तनकलश एव कुचकुम्भ एव वारी गजबन्धनयन्त्रविशेष (तत्र बद्ध) गजपतिर्गजेन्द्रो भगवान् विष्णुर्देवो नारायण रामादिभिश्चतसृभि कलाभि जात इति शेष । अयमाशय —सूर्यवंश्या अमी राजानो वसिष्ठोक्तमन्त्रणामरसा सन्तो जगन्मङ्गलसाधनी क्रिया कृतवन्त, सम्प्रयेषा गृहेषु लक्ष्मीकुचकलशरूपवारी बद्ध (तत्रासक्त) भगवान् विष्णु रामादिभिश्चतसृभि कलाभिरवतीर्ण इति भाव । 'वारी तु गजबन्धनी' इत्यमर । लक्ष्म्या स्तनावेव कलशौ सावेव वारीति रूपकगर्भं रूपकम् । दण्डीव रूपकरूपकनाम्ना व्याजहार—भूलतानर्तकीतिवदिद रूपकरूपकम् ॥ ५२ ॥

त्व तारता इति । त्व तारता प्रसिद्धा दशतयीनामधेया ऋग्वेदान्तर्वर्त्तिनी ऋच मन्त्रान् स्मृतवान् स्मृत्वा प्रकाशितवान् । त्वत्प्रीतये त्वदीयसन्तोषाय स्वाहाकारम् स्वाहाशब्दोच्चारणपूर्वकम् उपाहितम् दत्त हविर्घृतादिहवनीयद्रव्यम् त्रेताग्नि अग्नित्रयी आचामति आस्वादयति । क्रतुलिहो देवा क्षीरोदजलेशय क्षीरसागरशायिन त्वाम् पृथ्वीम् अवातीतरन् पृथिव्यामवतारयामासु, त्वया च उद्वृत्ता समुद्धता दशकन्धरप्रभृतयो रावणादिका राक्षसा निग्राहितार निगृहीता भविष्यन्ति । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५३ ॥

उठाय हुए हैं, जिनके वशमें स्वय लक्ष्मीके स्तनरूप गजबन्धन स्थानके हाथीरूप भगवान् विष्णु रामादिरूप चारों कलाओंसे प्रकट हुए हैं ॥ ५२ ॥

आप स्वय महारूप होनेके कारण दशतयी नामक ऋचाओंको स्मरण करके प्रकाशित किया, आपको प्रसन्न करनेके लिए ऋत्विग्गण स्वाहाकारपूर्वक हवि आगमें डालते हैं, आप क्षीर समुद्रमें थे, देवोंने आपको पृथ्वीपर अवतारित किया, अब आप दुराचारी रावणादिका निग्रह करेंगे ॥ ५३ ॥

[1] 'क्रतुभुज' इति ।

वामदेव—(¹सस्मितम्।) वत्सौ, अयमत्रभवान्भवन्तौ नेतुमागतः।

रामलक्ष्मणौ—यदभिरुचितं भवते ²तातात च।

(दशरथस्तौ सस्नेहमादाय 'भगवन्कौशिक' इत्यर्धोक्ते मन्यूत्पीडनिगृह्यमाणकण्ठो वामदेवस्य मुखमीक्षते।)

वामदेवः—इमौ तौ रामलक्ष्मणौ। (इत्यर्पयति।)

(विश्वामित्रः सादरं गृह्णाति।)

(नेपथ्ये ³शङ्खध्वनिः।)

(वामदेवो निमित्तमनुमोदमानो दशरथमुल्लासयति।)

(पुनर्नेपथ्ये।)

वैतालिकः—सुखाय माध्यन्दिनी सन्ध्या भवतु देवस्य। सम्प्रति हि—किरति मिहिरे विष्वद्रीचः करानतिवामनी

भवन्तौ युवां रामलक्ष्मणौ।
मन्यूत्पीडनिगृह्यमाणकण्ठः शोकवेगावरुद्धकण्ठः॥
वैतालिकः वन्दी, 'वैतालिका बोधकरा वन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः।
माध्यन्दिनी मध्याह्नकालिकी। देवस्य भवतो दशरथस्य॥

किरतीति। मिहिरे सूर्ये विष्वद्रीचः सर्वतः सञ्चरणशीलान् करान् मयूखान् किरति क्षिपति सति जनस्य लोकस्य अतिवामनी अतिखर्वा देहच्छाया स्थल

वामदेव—(हँसकर) वत्सो, यह तुम लोगोंको लेने आये हैं।

राम-लक्ष्मण—आपका तथा पिताजीका जो विचार हो।

[दशरथ राम-लक्ष्मणको स्नेहपूर्वक पकड़कर—'भगवन् कौशिक' इतना कहते ही शोकावेगसे रुद्धकण्ठ होकर वामदेवका मुख देखते हैं]

वामदेव—यही हैं राम-लक्ष्मण। (सौंपते हैं)

(विश्वामित्र सादर स्वीकार करते हैं)

(नेपथ्यमें शङ्खध्वनि)

(वामदेव निमित्त देखकर दशरथको उल्लासित करते हैं, फिर नेपथ्यमें)

वैतालिक—यह मध्यन्दिनकी सन्ध्या आपके सुखके लिये हो। इस समय—सूर्य चारों तरफ अपनी किरण फैंक रहे हैं, अतिशय छोटी यह जन-जनकी छाया

१ क्वचित् 'सस्मितम्' इति नास्ति। २ 'ताताय भवते च' इति।
३. 'शङ्खध्वनिर्मङ्गलगीतिश्च' इति।

स्थलकमठवद्देहच्छाया जनस्य विचेष्टते ।
गजपतिमुखोद्गीर्णैराप्यैरपि त्रसरेणुभिः
शिशिरमधुरामेणाः कच्छस्थलीमधिशेरते ॥ ५४ ॥

अपि चेदानीं पटीरतरुकोटरकुटीर[1]मध्यासीनाः —

प्रत्यक्षरस्रुतसुधारसनिर्विषाभि-
राशीभिरभ्यधिकभूषितभोगभाजः ।
गायन्ति कञ्चुकविनिह्नुतलोमहर्ष-
स्वेदोर्मयस्तव गुणानुरगेन्द्रकन्याः ॥ ५५ ॥

कमठवत् भूमिस्थितकूर्मवत् विचेष्टते प्रतीयते । मध्याह्ने सूर्यकरेषु सर्वतः प्रसृमरेषु च्छायाऽनिम्नत्वी सती स्थलकमठवत् प्रतिभासत इत्यर्थः । एणा हरिणाः गजपतिमुखोद्गीर्णैः करिशुण्डादण्डाभिर्मुक्तैः आप्यैः जलीयैरपि त्रसरेणुभिः सूक्ष्मकणैः शिशिरां मधुरां मनोहारिणीं च कच्छस्थलीं जलप्रायां भूमिमधिशेरते आश्रित्य स्वपन्ति । हरिणीवृत्तम्—'नसमरसलाग पड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति तल्लक्षणात् ॥५४॥

पटीरतरुः चन्दनवृक्षः, तस्य कोटरं गह्वरमेव कुटीरं स्वल्पगृहं तद् अध्यासीनाः आश्रिताः, चन्दनतरुकोटरगृहे वसन्त्य उरगकन्या इति विशेष्यमध्याहर्त्तव्यं भवति । 'पटीरश्चन्दनतरो' इति मेदिनी ॥

प्रत्यक्षरेति । प्रत्यक्षरं त्वद्गुणगानस्य अक्षरेऽक्षरे स्रुतं क्षरितो यः सुधारसः अमृतद्रवः तेन निर्विषाभिः विषशून्याभिः आशीभिः दंष्ट्राभिः अभ्यधिकम् भूयसा भूषितम् अलङ्कृतम् भोगम् फणादेशं भजन्ति ताः तथोक्ताः प्रत्यक्षरस्रुतामृतनिर्विषीभूतदंष्ट्राभूषितफणादेशशालिन्य इत्याद्यपादद्वयलभ्यं विशेषणम् । किञ्च कञ्चुके निर्मोके विनिह्नुता गोपिता लोमहर्षाः गानरसास्वादजन्यरोमाञ्चाः स्वेदोर्मयः गानश्रमजन्मानः घर्मनिचयाः यासां तास्तथोक्ताश्च उरगेन्द्रकन्याः

स्थल-कमठकी तरह लगती है, गजपतियोंके मुखसे निर्गत जलबिन्दुओंसे शीतल तथा सुखद जलसमीपस्थ देशमें रहे हरिणगण सो रहे हैं ॥ ५४ ॥

और इस समय चन्दन तरुके कोटरमें स्थित—

प्रत्यक्षरमें निकलनेवाले सुधारससे निर्विष स्वदंष्ट्राओंसे अपने भोग-मण्डलको भूषित करनेवाली नागकन्यायें आपके गुणोंको गा रही हैं, उनके रोमाञ्च तथा स्वेद-प्रवृत्ति उनके कञ्चुकमें गुप्त हैं ॥ ५५ ॥

---

१ 'मध्यमध्यासीना' इति ।

विश्वामित्र :—सखे दशरथ, प्रियमपि तथ्यमाह वैतालिकः ।

मन्दोद्धूतैः शिरोभिर्मणिभरगुरुभिः प्रौढरोमाञ्चदण्ड-
स्फायन्निर्मोकसन्धिप्रसरदविगलत्सम्मदस्वेदपूराः ।
जिह्वायुग्माभिपूर्णाननविषमसमुद्गीर्णवर्णाभिराम
वेलाशैलाङ्कभाजो भुजगयुवतयस्त्वद्गुणानुद्गृणन्ति ॥ ५६ ॥

([1]सविनयविलक्षस्मितं च ।) राजर्षे, प्रत्यासीदति दीक्षाप्रवेशसमयः ।

भुजङ्गकुमार्यं तव दशरथस्य गुणान् शौर्यौदार्यादीन् धर्मान् गायन्ति 'आशीरुरग दंष्ट्रायाम्' इत्यमरः । 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इति च । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

मन्दोद्धूतैरिति । वेला समुद्रतीरम्, तत्र यः शैलः पर्वतः तस्य अङ्कभाजः उत्सङ्गवर्तिन्यः भुजगयुवतयः नागललनाः मणिभरेण शिरोरत्नभारेण गुरुभिः दुर्वहैः शिरोभिः (उपलक्षिताः) प्रौढः दीर्घः यो रोमाञ्चः रोमहर्षः स एव दण्डः तेन स्फायन् स्फीततामाप्नुवन् यः निर्मोकः सर्पकञ्चुकः तस्य सन्धौ बन्धनदेशात् प्रसरन् विस्तारं गच्छन् अविगलन् अच्यवमानश्च सम्मदः हर्षः स्वेदपूरः गानश्रमजनितस्वेदभरश्च यासां तथाभूताः, जिह्वायुग्मेन रसनाद्वितयेन अभिपूर्णं भृतं यदाननं मुखं तेन विषमं निपर्यस्तवर्णं यथा स्यात्तथा उद्गीर्णैः उच्चारितैः वर्णैः अभिरामं मनोज्ञं यथा स्यात्तथा तव गुणान् उद्गृणन्ति गायन्ति । समुद्रतटस्थपर्वताङ्कवर्तिन्यो मणिभरनम्रमूर्धानश्च नागयुवतयः प्रकटरोमाञ्चदण्डव्यस्तनिर्मोकसन्धिबन्धनतया पुञ्जीभूतानन्दस्वेदाः सत्यो मुखान्तः जिह्वाद्वयशालितया विषमसमुच्चार्यमाणवर्णं यथा स्यात्तथा तव गुणान्गायन्तीति भावः । 'वेला तत्तीरनीरयोः', 'प्रमोदामोदसम्मदाः' इत्युभयत्रामरः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ५६ ॥

प्रत्यासीदति समीपमुपैति । दीक्षाप्रवेशसमयः यागसङ्कल्पसमयः ।

विश्वामित्र—प्रिय मित्र दशरथ, प्रिय होनेपर भी इस वैतालिककी बातमें सत्य है ।

वेला शैलके अङ्कमें वर्तमान नागललनायें तुम्हारे गुण गाती हैं, उनके सिर मन्द मन्द डोल रहे हैं, जिनपर मणिगणका भार विद्यमान है, अधिक रोमाञ्च होनेसे उनके केंचुलमें छिद्र हो आये हैं और उन्हीं मार्गों से उनके स्वेद प्रवाहित हो रहे हैं, दो जिह्वायें होनेके कारण पूर्ण मुखसे आवाज विषम भावसे निकल रही है जो बड़ी सुन्दर लगती है ॥ ५६ ॥

(नम्रता तथा लज्जाके साथ) यज्ञदीक्षा लेनेका समय निकट आ रहा है, अब इस

---

१ 'दशरथ :—(सविनयविलक्षस्मितम् ।), विश्वामित्र :—'राजर्षे' इति ।

तदेवंविधमधुरगोष्टीभङ्गनिष्ठुराणां प्रथमे [1]तावद्भयमेव भवितुमिच्छामि ।

(दशरथो रामलक्ष्मणाववलोक्य बाष्पभरो[2]त्तरङ्गितलोचनो मुनिं प्रति 'भगवन्' इत्यर्धोक्ते वाचःस्तम्भं नाटयति ।)

वामदेवः—(ससंभ्रमम् ।) भगवन्कौशिक, साधय । शिवाः सन्तु पन्थानो वत्सयो रामलक्ष्मणयोः ।

(इत्युत्थाय सर्वे यथोचितमाचरन्ति ।)

विश्वामित्रः—एवमास्यतां भवद्भिः । (इति राजपुत्राभ्यामनुगम्यमानो निष्क्रान्तः ।)

दशरथः—(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य ।) वामदेव, नूनमिदानीमस्मानिव भगवन्तमपि कौशिकमकारणवत्सलः वत्सो मे रामभद्रः ।

तदेवंविधमधुरगोष्टीभङ्गनिष्ठुराणाम् एतादृशरोचककथागोष्ठीविघटकानाम् । प्रथमे आद्याः । यज्ञकालनिपातभयादिमां सभां प्रथममहमेव हातुमिच्छामीति यूयमन्ता मा भवन्त इति भावः ।

साधय गच्छ, 'साधयेति च गत्यर्थः' इति भरतः । शिवाः कल्याणपूर्णाः ।

अकारणवत्सलः निरुपाधिप्रेमशालिनम् । दुःखाकरिष्यतीत्यादि वक्ष्यमाणक्रियापेक्षं कर्मत्वम् ।

मधुर गोष्ठीको तोड़कर कठोर बनने वालों में ही प्रथम बनना चाहता हूं ।

(राम-लक्ष्मणकी ओर देखकर दशरथकी आँखें सजल हो आती हैं, मुनिके प्रति—'भगवन्' इतना कहते ही उनकी आवाज रुक जाती है)

वामदेव—(घबड़ाकर) भगवन् कौशिक, आप जाइये, राम-लक्ष्मणके मार्ग मङ्गलमय हों,

(उठकर सभी यथोचित आचार करते हैं)

विश्वामित्र—आप विराजें । (राजपुत्रोंके साथ जाते हैं)

दशरथ—(लम्बी तथा उष्ण सांस लेकर) निश्चय हमारी ही तरह सहजस्नेही विश्वामित्रको भी रामभद्र—

---

१ तावद्भवितुम्' इति ।   २ 'उत्तम्भितलोचन' इति ।

क्वचिदस्मद्वियोगार्तिदुःखी दुःखाकरिष्यति ।
अपूर्वविषयालोकसुखी च सुखयिष्यति ॥ ५७ ॥

वामदेव —(विहस्य ।) राजर्षे, वय वा कौशिको वेति क पुनरेष कक्षाविभागो रामभद्रमाधुर्यस्य । पश्य ।

यदिन्दोरन्वेति व्यसनमुदय वा निधिरपा
मुपाधिस्तत्रायं जयति जनिकर्तुः प्रकृतिता ।

क्वचिदिति । अस्मद्वियोगार्तिदुःखी अस्मद्वियोगपीडया खिन्न सन् वत्सो राम विश्वामित्रमपि दुःखाकरिष्यति खेदयिष्यति, अपूर्वस्य अदृष्टपूर्वस्य विषयस्य तपोवनादेर्देशस्य आलोकेन दर्शनेन सुखी प्रसन्नश्च सुखयिष्यति आनन्दयिष्यति । यथा वय रामस्य दुःखेन दुःखिन तदीयसुखेन सुखिनश्च भवामस्तथैव सम्प्रति विश्वामित्रोऽपि भविष्यति तस्यापि रामेऽकारणवत्सलत्वादिति भाव ॥ ५७ ॥

कक्षाविभाग आश्रयविवेक, रामभद्रमाधुर्यस्य रामसौशील्यस्य । रामस्य स्व भावगत माधुर्यं सर्वस्मिन् समानमिति भाव ।

यदिन्दोरिति । अपा निधि समुद्र यत् इन्दो शशिन व्यसनम् विपद कला-क्षयम् उदय कलासमग्रत्व वा अन्वेति अनुगच्छति, तत्र तदनुगमे अयम् उपाधि कारण जनिकर्तुः जनकस्य प्रकृतिता स्वभाव । शशिनि क्षीणे सागर क्षीयते वर्धमाने च वर्धते, तत्र सागरस्य जनकस्य स्वभाव एव पुत्रसुखदुःखानुगमने व्यवस्थापकत्व भजत इति भाव । सम्भवति शक्यमिद यज्जनक सागर स्वभावेन पुत्रस्य चन्द्रस्य व्यसनोदयावनुगच्छतीति, परन्तु अथ क सम्बन्ध अत्र कीदृशो जन्यजनकभावादिरूप सम्बन्धो यत्तस्य चन्द्रस्य (व्यसनोदयौ) कुमुदम् अनुहरते अनुसरति ? समुद्रेण चन्द्रव्यसनोदययोरनुहरणे जन्यजनक-भाव उपाधिरास्ता नाम, परन्तु कुमुदेन चन्द्रव्यसनोदययोरनुहरणे कोऽपि

कभी हमारे वियोगके दुःखसे दुखी होकर दुखी बनावेगा, और कभी नये स्थानों के देखनेसे प्रसन्न होकर सुखी बनावेगा ॥ ५७ ॥

वामदेव—(हँसकर) राजर्षे, हम या विश्वामित्र यह श्रेणी विभाग तो रामभद्रका मधुरतामें है ही नहीं । देखिये—

समुद्र जो चन्द्रमाके उदयमें उदय और व्यसनमें व्यसन प्राप्त करता है इसका तो कारण स्पष्ट है कि वह चन्द्रमाका जनक है और जनकका यही स्वभाव होता है, परन्तु

अयं कः सम्बन्धो यदनुहरते तस्य कुमुदं
विशुद्धाः शुद्धानां ध्रुवमनभिसन्धिप्रणयिनः ॥ ५८ ॥

दशरथः—('विमृश्य ।) एवमेतत् ।

रत्नाकरो जनयिता सहजश्च वर्गः
किं कथ्यताममृतकौस्तुभपारिजाताः ।
किं तैरचिन्त्यमिह तत्पुनरन्यदेव
तत्त्वान्तरं कुमुदबन्धुरसौ यदिन्दुः ॥ ५९ ॥

नास्ति तादृश उपाधिरिति मन्ये—विशुद्धाः निर्मलस्वभावाः शुद्धानां निर्मलप्रकृतीनां जनानाम् अनभिसन्धिप्रणयिनः अकारणस्नेहिनो भवन्तीति शेषः । अतश्च रामस्य विश्वामित्रे स्नेहो नासम्भवीति भावः उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५८ ॥

रत्नाकर इति । जनयिता उत्पादको रत्नाकरः सागरः, सहजश्च सोदरश्च वर्गः समानोदरजातगणाश्च अमृतकौस्तुभपारिजाताः किं कथ्यताम् तद्विषये किमुच्यताम्, पितरि सागरे सोदरेष्वमृतकौस्तुभपारिजातेषु वा चन्द्रस्य तादृशोऽनुरागो नास्ति यादृशः कुमुदेऽस्ति, तदाह–किन्तिरिति । तत् प्रेमबीजमिह जगति अचिन्त्यम् अविभाव्यकारणकमेव भवति तद्धि तत्त्वान्तरं किमप्यन्यदेव जन्यजनकभावसमानगर्भजातत्वादिभ्यः, अतएव इन्दुरसौ कुमुदबन्धुरिति कथ्यते, कुमुदस्य चन्द्रेण कोऽपि सम्बन्धो नास्ति, तथाप्यसौ तत्रानुरक्ततम इति प्रेमबीजमनिर्धार्यस्वरूपमिति भावः वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५९ ॥

चन्द्रमाका अनुसरण कुमुद करता है इसमें कौनसा सम्बन्ध है । अतः स्पष्ट है कि विशुद्ध विशुद्धके साथ बिना किसी कारण ही प्रेम करते हैं ॥ ५८ ॥

दशरथ—(विचारकर) यह ठीक है—

सागर पिता है और अमृत, कौस्तुभ और पारिजात सोदर हैं इनके सम्बन्धमें क्या कहना है । उनके सम्बन्धमें कुछ भी अचिन्त्य है परन्तु चन्द्रमाके लिये कुमुद कुछ अद्भुत तत्त्व है, जिससे वह कुमुद बन्धु ही पुकारा जाता है अमृतबन्धु या कौस्तुभ बन्धु नहीं ॥ ५९ ॥

१ 'विमृश्य' इति क्वचिन्नास्ति ।

([1]पुनरवलोक्य ।) कथं लोचनपथमतिक्रान्तः सरामलक्ष्मणो भगवान्। तद्वयमपि वत्सप्रवासदुर्मनायमाना दक्षिणकोसलेश्वरसुतां देवीमुपेत्य सान्त्वयामः।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति मुनीन्द्रसंवादो नाम प्रथमोऽङ्कः ।



लोचनपथमतिक्रान्तः दृष्टिवर्त्मबहिर्गतः । वत्सप्रवासदुर्मनायमानाम् रामलक्ष्मणयोः प्रवासेन खिद्यमानाम् । दक्षिणकोसलेश्वरसुताम् कौसल्याम् ।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते

अनर्घराघव'प्रकाशे'

प्रथमाङ्क 'प्रकाश' ॥



(फिर देखकर) राम-लक्ष्मणके साथ विश्वामित्र आँखोंसे ओझल हो गये । अतः हम भी बच्चेके प्रवाससे खिद्यमानहृदया कौसल्याके पास आकर उसे सान्त्वना प्रदान करते हैं ।

[सबका प्रस्थान]

प्रथम अङ्क समाप्त ॥



१ 'पुरोऽवलोक्य' इति ।

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति यजमानशिष्यः ।)

शिष्यः—अये, प्रभातप्रायैव रजनी । तथा हि ।

तमोभिः पीयन्ते गतवयसि पीयूषवपुषि
ज्वलिष्यन्मार्तण्डोपलपटलधूमैरिव दिशः ।
सरोजानां कर्षन्नलिमयमयस्कान्तमणिवत्
क्षणादन्तःशल्यं तपति पतिरद्यापि न रुचाम् ॥ १ ॥

यजमानशिष्यः सोमयागदीक्षितस्य गुरोर्विश्वामित्रस्य शिष्यः शुनःशेपः । प्रभातप्राया प्रभातकल्पा, तत्र हेतुमाह—

तमोभिरिति । पीयूषवपुषि अमृतमयपिण्डे चन्द्रे गतवयसि क्षीणायुषि अस्तगते सति ज्वलिष्यतः सूर्यकिरणसम्प्रयोगेन तेजः प्रकटयिष्यतः मार्त्तण्डोपलपटलस्य सूर्यकान्तमणिसमुदयस्य धूमैः इव तमोभिः अन्धकारैः दिशः पीयन्ते आच्छादिता क्रियन्ते, अद्यापि सम्प्रत्यपि रुचांपतिः सूर्यः अयस्कान्तमणिवत् अलिमयं भ्रमररूपम् सरोजानाम् कमलानाम् अन्तःशल्यं हृदयगतं लौहनिर्मितास्त्रविशेषम् कर्षन् बहिर्नयन् न तपति न दीप्यते । अयमाशयः—चन्द्रेऽस्तगते धूमपटली दिशः आवृणोति मन्ये सूर्यकान्तमणीनामनतिचिरकालेन सूर्यतेजसा प्रज्वलिष्यतां धूमस्तोम इव प्रकटति, कस्यापि वह्नेर्ज्वलिष्यतः पूर्वं धूमस्तोम उद्गच्छति किञ्चास्तङ्गतेऽपि विधौ सूर्यो नोदितो, यस्मिन्नुदिते सति विकस्वरेषु कमलेषु तदन्तर्गता बद्धा अलयो धारिजान्तःशल्यानीव रविरूपायस्कान्तेनाकृष्यमाणानि प्रतीयन्ते, अयस्कान्तमणिसन्निधाने सत्यन्तर्गतमप्ययःशल्यं बहिरेति, अत एवेयमुत्प्रेक्षा । अत्र धूमेषु ज्वलिष्यन्मार्तण्डोपलपटलधूमत्वम्, सूर्ये चायस्कान्तमणि-

---

[यजमान विश्वामित्र के शिष्यका प्रवेश]

शिष्य—अरे, रात्रि समाप्त प्राय हो गई । क्योंकि

चन्द्रमाके क्षीण हो जानेके कारण ज्वलित होनेवाले सूर्यकान्त मणिके धूमकी तरह प्रतीत होनेवाले अन्धकारोंसे दिशायें घिरती जा रही हैं, अयस्कान्तमणिवत् कमलोंके अन्दर छिपे भ्रमररूप अन्तःशल्यको बाहर खींचनेवाले प्रभानाथका अभी उदय नहीं हो रहा है ॥ १ ॥

अपि च—

जाता पक्वपलाण्डुपाण्डुमधुरच्छायाकिरस्तारका
प्राचीमङ्कुरयन्ति किंचन रुचो राजीवजीवातव ।
लूतातन्तुवितानवर्तुलमितो विम्ब दधच्चुम्बति
प्रात प्रोषितरोचिरम्बरतलादस्ताचल चन्द्रमा ॥ २ ॥

(सर्वतोऽवलोक्य च ।)

दिङ्मण्डलीमुकुटमण्डनपद्मराग
रत्नाङ्कुरे किरणमालिनि गर्भितेऽपि ।

द्वोत्प्रेक्षया च कमलान्तर्गतभ्रमरराशावयशब्दत्वम् , तद्वहिर्गमे च तत्कृत कर्पणमुत्प्रेक्ष्यमाण बोध्यम् । शिखरिणीवृत्तम्—'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' इति च तल्लक्षणम् ॥ १ ॥

जाता इति । पक्व परिणतो य पलाण्डु 'पेयाज' पदवाच्यातो मूलविशेषस्तद्वन्मधुरा पाण्डुश्च छाया यासा तारतयोक्ता जाता पलाण्डुपाण्डुमधराकृतयो जातास्तारका नक्षत्राणि प्राचीम् पूर्वदिशम् अङ्कुरयन्ति ईषद् प्रकाशयन्ति, किञ्च राजीवजीवातव कमलजीवनौषधिभूता इव अरुणकिरणा प्राचीम् न अङ्कुरयन्ति प्रकाशयन्ति, चन्द्रेऽस्तगते क्षीणप्रभतया पलाण्डुवद् भासमानानि नक्षत्राणि पूर्वस्या दिशि स्वल्प प्रकाश विस्तारयन्ति, सम्प्रति कमलविकासकारणीभूता अरुणरश्मयो न प्राचामुद्द्योतयन्तीति प्रथमपादद्वयस्यार्थ । इतश्च पश्चिमदिग्विभागे लूतातन्तुवितानवर्तुलम् कीटभेदसम्बन्धिसूत्रविस्तारसमानाकारम् विम्ब मण्डल दधत् धारयन् प्रात प्रोषितरोचि प्रात काले गतप्रभश्चन्द्र अम्बरतलात् आकाशमण्डलात् अस्ताचलम् चुम्बति स्पृशति। प्रभाते कलुषीभूतकान्तिरय चन्द्रमा लूतातन्तुवितानवत् प्रतीयमानोऽस्ताचलमुपसर्पतीति भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २ ॥

दिङ्मण्डलीति । दिङ्मण्डली दिक्समुदायस्तस्य मुकुट प्रधानम् प्राची दिशा तस्य मण्डनम् भूषण यत् पद्मरागरत्नम् सूर्यविम्बरूपम् तदङ्कुरे प्राचीदिगलङ्काररूपे

तारे पके हुए प्याजकी तरह पीताभ मधुर कान्तिवाले हो गये और कमलोंको जीवित करनेवाली कान्तियाँ प्राची दिशामें अङ्कुरित हो रही है। मकडेकी जालके समान गोल बिम्बको धारण करनेवाला चन्द्रनिस्तेज होकर प्रात कालमें अस्ताचलको छू रहा है ॥ २ ॥

(चारो ओर देखकर) दिशाओंके मुकुटमें शोभा पानेवाले पद्मरागके सदृश भगवान्

सौखप्रसुप्तिकमधुव्रतचक्रवाल-
वाचालपङ्कजवनीसरसा सरस्य ॥ ३ ॥

अपि च—

प्राचीविभ्रमकर्णिकाकमलिनीसवर्तिका संप्रति
द्वे तिस्रो रमणीयमम्बरमणेर्धामुच्चरन्ते रुच ।
सूक्ष्मोच्छ्वासमपीदमुत्सुकतया सभूय कोषाद्बहि-
र्निष्क्रामद्भ्रमरौघसभ्रमभरादम्भोजमुज्जृम्भते ॥ ४ ॥

किरणमालिनि सूर्ये गर्भिते आकाशगर्भस्थिते अनुदिते अपि सौखप्रसुप्तिका सुखशयनप्रश्नकर्त्तार ये मधुव्रता भ्रमरा तेषा चक्रवालेन मण्डलेन वाचाला सशब्दा या पङ्कजवनी कमलाकरस्तया सरसा रमणीया सरस्य सरांसि जाता इत्यवगन्तव्यम् । प्राचीदिगलङ्काररूपे सूर्येऽनुदितेऽपि कमलाना सुखशयनप्रश्नपरायणै शब्दायमानैर्भ्रमरैर्वाचालाभि पद्मवनीभि सरासि मनोहरता प्रपद्यन्त इत्यर्थ । रूपकमलङ्कार । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ३ ॥

प्राचीति । सम्प्रति प्राच्या पूर्वदिशानायिकाया विभ्रमकर्णिका विलासार्थं कर्णाभरणभूता कमलिनीसवर्त्तिका पद्मिनीनवदलानि (तत्स्वरूपा) अम्बरमणे सूर्यस्य द्वे तिस्रो रुच प्रभा धामुच्चरन्ते आकाशे उद्गच्छन्ति सूर्यस्य द्वित्रा प्रभा वियति प्रकाशन्ते या प्राचीदिङ्नायिकाया कर्णाभरणीभूतकमलिनीपत्राणीव प्रतीयन्त इत्यर्थं । सूक्ष्मोच्छ्वासम् अल्पकिरणसपर्कात् स्वल्पप्रकाशमपि इदम् अम्भोजम् पद्मम् उत्सुकतया उत्कण्ठया सभूय मिलित्वा कोषात् कुड्मलाद् बहिर्निष्क्रामत निर्यत भ्रमरौघस्य सभ्रमभरात् आवेगातिशयात् उज्जृम्भते सातिशय विकसति । सूर्यप्रकाशस्याल्पतया स्वल्पविकाशमपि कमल त्वरया बहिर्गच्छता भ्रमराणा सभ्रमेण सातिशय विकसतीत्यर्थं । 'कर्णिका कर्णभूषणे' इत्यमर । 'सवर्तिका नवदलम्' इति च । 'सभ्रम साध्वसेऽपि स्यात्संवेगादरयोरपि' इति हारावली । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ४ ॥

सूर्यके गर्भित हो जानेपर भी सुखशयनकी जिज्ञासा करनेवाले भ्रमरसे सरोवरके पङ्कजवन वाचाल हो रहे हैं ॥ ३ ॥

प्राची दिशाके विलासार्थ कर्णाभरणके नवदलतुल्य सूर्यकी दो-तीन किरणें आकाशमें विचर रही हैं, थोडा-थोडा खिलनेवाले यह कमल उत्सुकतावश कोषसे बाहर निकलनेवाले भ्रमरोंके सभ्रमसे खिल रहे हैं ॥ ४ ॥

अपि च—

एकद्विप्रभृतिक्रमेण गणनामेषामिवास्तं यतां
　　कुर्वाणा समकोचयद्दशशतान्यम्भोजसंवर्तिका ।
भूयोऽपि क्रमशः प्रसारयति ता संप्रत्यमूनुद्यतः
　　संख्यातुं सकुतूहलेव नलिनी भानोः सहस्रं करान् ॥ ५ ॥

अपि च—

प्रत्यासन्नसुरेन्द्रसिन्धुरशिरःसिन्दूरसान्द्रारुणा
　　यत्तेजःप्रसरेण वो वियदितः प्राचीनमातन्वते ।

एकद्विप्रभृतीति । अस्तयताम् अस्तं गच्छताम् एषां भानुकिरणानाम् एकद्विप्रभृतिक्रमेण एकोऽस्तमस्तगतो द्वितीयोऽस्तमेष तृतीय इति क्रमेण गणनां संख्यानमिव कुर्वाणा इव कमलिनी दशशतानि तावत्संख्यानि अम्भोजसंवर्तिका पद्मनवदलानि समकोचयत् सङ्कोचितवती, भूयः पुनरपि ता दशशतानि संवर्तिका उद्यतः उद्गच्छतः भानोः सहस्रं करान् कौतुकेनेव संख्यातुं गणयितुं क्रमशः प्रसारयति । सायंकाले कमलस्य पत्राणि निमीलन्ति मन्ये—कमलिनी सहस्रं स्वदलानि एकैकशोऽस्तं गच्छतां रविकराणां गणनामिव कुर्वती समकोचयत्, प्रातःकाले च तानि विकसन्ति तन्मन्ये पुनरुद्यतस्तत्संख्यकान् भानुकरान् गणयतीवेति सङ्कोचविकासकाले पद्मस्य यथा रविकरगणनोत्प्रेक्ष्यते । यतामिति इण् गतौ शतरि रूपम् । यद्यपि दशशतशब्दो नपुंसकलिङ्गस्तथापि संवर्तिकाशब्देन स्त्रीलिङ्गेनान्वयो विशेषणतया साधुरेव, 'विशेष्यस्य यल्लिङ्गं विशेषणमपि तत्' इत्युक्तेः, विशेष्यविशेषणभावसम्बन्धयोरिति लिङ्गविशेषोपस्थापनया अनन्वयश्च । सहस्रं करानित्यत्र करगतं बहुत्वं सहस्रगतं चैकत्वं विवक्षितमिति भिन्नवचनत्वेऽपि सामानाधिकरण्यम् । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः स्फुटः ॥ ५ ॥

प्रत्यासन्नेति । प्रत्यासन्नः पूर्वदिगधीशतया समीपस्थितो यः सुरेन्द्रो देवराजस्तस्य सिन्धुरो गजः ऐरावतस्तस्य शिरःसिन्दूरेण मस्तकलिप्तसिन्दूरेण सान्द्रारुणा अतिशयरक्ता यत्तेजःप्रसरेण यस्य तेजसः अरुणपरमाणुविशेषा इव

नलिनीने एक-दो करके अस्त होनेवाली सूर्यकिरणोंको गिनती हुई अपने सहस्र संख्यक पत्रोंको समेट लिया था, अब फिर क्रमशः उदित होनेवाली सूर्यकिरणोंको गिनती हुई वही नलिनी अपने दलोंको प्रसारित करती जा रही है ॥ ५ ॥

समीपस्थ इन्द्रगज ऐरावतके सिर सिन्दूरसे गाढ़ रक्तवर्ण जो तेजःकण प्राची

१ 'प्राचितन्वते' इति ।

शङ्के सम्प्रति यावदभ्युदयते तत्तर्कुटङ्कोन्मृजा
रज्यद्बिम्बरजश्छटावलयितो देवस्त्विषामीश्वरः ॥ ६ ॥

(पुरोऽवलोक्य ।) कथमिदमुदयाचलमौलिमाणिक्यमर्कमण्डलमद्यापि न वि[1]हायस्तलमलङ्करोति । तदस्मद्गुरोर्वितायमानयज्ञस्य कुलपते कौशिकस्यादेशात्समिदाहरणाय प्रस्थितोऽस्मि । [2]तत्त्वरितं गच्छामि । (इति परिक्रामति ।)

(प्रविश्य सम्भ्रान्तो बटुः ।)

बटुः —अज्ज सुणस्सेह, किं वि अच्चरिअं भीसणं च वट्टदि । [आर्य शुनःशेप, किमप्याश्चर्यं भीषणं च वर्तते ।]

शुनःशेपः —(सचमत्कारं परिवृत्य ।) सखे पशुमेढ्र, किमाश्चर्यं भीषणं च वर्तते ।

प्राचीनं नियतं पूर्वाकाशम् आतन्वते व्याप्नुवन्ति, यस्य सूर्यस्य तेन परमाणवो निकटस्थैरावतसिन्दूररक्ता इव भाष्या प्रसरन्तीत्याद्यपादद्वयार्थं, तत् शङ्के सम्भावयामि, तर्कुः विश्वकर्मणो गोलाकारो यन्त्रभेदस्तत्र यष्टङ्कः पाषाणदारणसाधनास्त्रविशेषस्तेन या उन्मृजा शुद्धिः संस्कारः ततो रज्यत् रक्तीभवत् यत् बिम्बं मण्डलं तस्य रजसाम् रेणूनाम् छटाभिः समूहैर्वलयितो वेष्टितः देवस्त्विषामीश्वरः प्रभानाथः सूर्यः सम्प्रति यावदभ्युदयते त्वरितमुदयमवाप्स्यति । आकाशस्य रक्ताभतया सूर्योदयः सन्निहिततयोत्प्रेक्ष्यते । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यति लट् । 'टङ्को नीलकपित्थे च खनित्रे टङ्कणे स्त्रियाम्' इति मेदिनी । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥६॥

उदयाचलमौलिमाणिक्यम् उदयाचलशिरोभूषणम् । अर्कमण्डलम् सूर्य-

दिशाके आकाशमें फैलते जा रहे हैं वह ऐसा लगता है—विश्वकर्माके खरादपर चढाकर खरादे गये—अतएव तेज पुञ्जसे वेष्टित भगवान् सूर्य उदय प्राप्त कर रहे हों ॥ ६ ॥

(आगेकी ओर देखकर) क्यों उदयाचलके मस्तकके अलङ्कारस्वरूप सूर्यमण्डल अभी भी नहीं आकाशमें आ रहा है ? यज्ञमें संलग्न स्वगुरु कौशिकके आदेशानुसार मैं समिधा लाने चला हूं, इसलिये शीघ्र जाता हूं । (जाता है)

(घबडाये हुए बटुका प्रवेश)

बटु—आर्य शुनःशेप, कुछ अद्भुत तथा भीषण बात हुई है ।

शुनःशेप—(अकचकाया हुआ लौटकर) सखे पशुमेढ्र, क्या अद्भुत तथा भीषण हुआ है ?

---

१ नभःस्थलम्' इति । २ 'त्वरितम्' इति ।

पशुमेढ्र—अज्ज रामो त्ति को वि खत्तिअकुमारो आअदो त्ति सुणिअ कोदूहलेन धावन्तस्स ¹तवोवणपेरन्तपरिट्ठिदा पत्थरपुत्तलिआ सच्चमाणुसीभविअ मम ज्जेव्व समुह् परावडिदा। तं पेक्खिअ उत्तरासङ्गवक्कलं पि उज्झिअ पलायिदो म्हि। ['अद्य राम इति कोऽपि क्षत्रियकुमार आगत इति श्रुत्वा कुतूहलेन धावतस्तपोवनपर्यन्तपरिस्थिता प्रस्तरपुत्रिका सत्यमानुषीभूय ममैव सम्मुखं परापतिता। तां प्रेक्ष्य उत्तरासङ्गवल्कलमप्युज्झित्वा पलायितोऽस्मि'।]

शुनःशेपः—(विहस्य।) सखे, साधु कृतम्। दिष्ट्या हि जीवतः पुनरावृत्तिः।

पशुमेढ्र—ता रक्खदु मं अज्जो इमाए दुट्ठरक्खसीए मुहादो। (इति वेपमानः पादयोः पतति।) ['तद्रक्षतु मामार्य एतस्या दुष्टराक्षस्या मुखात्'।]

शुनःशेपः—(सस्मितमुत्थाप्यालिङ्ग्य च।) ²वयस्य, शृणोषि भगवतो गोतमस्य महर्षेरहल्या नाम धर्मदारान्।

(बिम्बम्। विहायस्तलम् आकाशम् वितायमानयज्ञस्य प्रारब्धयागक्रियस्य। कौशिकस्य विश्वामित्रस्य। समिदाहरणाय काष्ठान्याहर्तुम्, त्वरितम् शीघ्रम्।

तपोवनपर्यन्तपरिस्थिता तपोवनोपकण्ठवर्त्तिनी। प्रस्तरपुत्रिका प्रस्तरमयी स्त्रीमूर्त्तिः। सत्यमानुषीभूय-वास्तवमनुष्यरूपं प्रपद्य। उत्तरासङ्गवल्कलम् उत्तरीयरूपं वल्कलम्। उज्झित्वा विहाय।

पशुमेढ्र—आज रामनामक कोई क्षत्रियकुमार आया है—ऐसा सुनकर मैं उत्सुकता वश दौड़ा हुआ उसे देखने गया, जाते ही तपोवनकी सीमापर वर्त्तमान पत्थरकी शिला सचमुच औरत बनकर मेरे सामने आ खड़ी हुई। उसे देखकर मैं उत्तरीय-वल्कल छोड़कर भाग खड़ा हुआ।

शुनःशेप—(हँसकर) अरे मित्र, तुमने बहुत भला किया। भाग्यवश तुम जीते लौट आये।

पशुमेढ्र—अब आप मुझे उस दुष्टराक्षसीके मुखसे बचावें। (डरसे काँपता हुआ चरणोंपर गिरता है)

शुनःशेप—(हँसते हुए उठाकर गले लगाकर) मित्र, गौतमकी स्त्री अहल्याके विषयमें तुमने सुना होगा।

---

१ 'गोदमतवोवण' इति। २ 'वत्स, शृणोषि', वयस्य, न भेतव्यम्। शृणोषि' इति।

पशुमेढ्रः—जा जणअवंसपुरोहिदस्स तत्थभवदो सदाणन्दस्स जणणी। 'तदो तदो।[1] ['या जनकवंशपुरोहितस्य तत्रभवतः शतानन्दस्य जननी। 'ततस्ततः'।]

शुनःशेपः—सेयं पुरा पुरुहूतखण्डितचरित्रा तस्य दीर्घतपसो मुनेर्मन्युना निजमेव तदिन्द्रियदौर्बल्यमेव विवर्तमानमनुभवन्ती सम्प्रत्यस्य रघुराजपुत्रस्य तेजसा तस्मादन्धकारान्निरमुच्यत। तदलमावेगेन।

पशुमेढ्रः—(उन्मील्य चक्षुषी सर्वतोऽवलोक्य।) अहो अच्चरिअं! अज्जस्स पसादेण पुणोवि जीअलोए परिट्ठोम्हि। तह वि सङ्कज्जरो अज्ज वि ण मं परिच्चअदि। ता अज्ज सुणःसेह, मुहुत्तअं विसमीअदु। ['अहो आश्चर्यम्। आर्यस्य प्रसादेन पुनरपि जीवलोके प्रविष्टोऽस्मि। तथापि शङ्काज्वरोऽद्यापि न मां परित्यजति। तदार्य शुनःशेप, मुहूर्तं विश्रम्यताम्'।]

शुनःशेपः—सखे, भयमिति किमेतद् ब्राह्मणस्य। तत्पर्यवस्थापय[2] यात्मानम्।

पुरुहूतखण्डितचरित्रा इन्द्रभ्रंशितसतीत्वा। दीर्घतपसः महातपस्विनः। मन्युना कोपेन। इन्द्रियदौर्बल्यम् मनोविकारम्। विवर्तमानम्—चरित्रदोषरूपतया परिणममानम्। तस्मादन्धकारात् शिलाभावापत्तिरूपात्। अलमावेगेन वृथा तवायं सम्भ्रम इति भावः।

पर्यवस्थापय स्थिरीकुरु।

पशुमेढ्र—जो जनकवंशके पुरोहित पूज्य शतानन्दकी माता थी। तब

शुनःशेप—इन्द्रने उसका पातिव्रत्य खण्डित कर दिया, महातपा मुनिके कोपसे अपने इन्द्रिय-दौर्बल्यका वह फल भोग रही थी, आज रघुराजपुत्रके प्रतापसे उस प्रस्तरभावरूप अन्धकारसे मुक्त हुई है। घबडानेकी जरूरत नहीं है।

पशुमेढ्र—(आँखें खोलकर चारों ओर देखकर) अहो, आश्चर्य! आपके अनुग्रहसे मैं फिर जीवलोकमें लौट आया। फिर भी शङ्काज्वर मुझे नहीं छोड रहा है, अतः आर्य शुनःशेप, थोडी देर विश्राम कर लें।

शुनःशेप—ब्राह्मणको भय किस बातका? अपनेको धीरज बधाओ।

---

१ 'शुनःशेप—अथ किम्। पशुमेढ्र—तदो' इति।

२ 'पर्युपस्थापय', 'पर्यवष्टम्भय' इति।

(इत्युपविशत ।)

पशुमेढ्रः—(चिरं विमृश्य[1] निःश्वस्य च सविस्मयम् ।) कधं विसय मिअतिण्हासलज्झलाए भअवदो हरिणो वि हरिणदा विडम्बीअदि । [कथं विषयमृगतृष्णासलज्जलया भगवतो हरेरपि हरिणता विडम्ब्यते ।]

शुनःशेपः—(विहस्य ।) साधु [2]ब्रवीषि । अल्पीयान्खल्वयं लोकः । [3]कथमैहिक[4]सुखाध्यवसायाद्धि अमूर्भूयस्यो रात्रयः पराहण्यन्ते । किं तु मनोहारिभिराहा[5]र्यैराह्रियमाणलोचनद्वि[6]तयस्यापि न जनो विवेकमङ्कुशयितु[7]मधीष्टे । किं पुनर्नयनसहस्रतयस्य तादृशि विभवे मरुतां पतिः । चक्षुःप्रीतिमुद्धनन्तीमनूद्भवन्ति चापराणि कुसुमचापचापलानि ।

विषयमृगतृष्णासलज्जलया वैषयिकसुखोपभोगरूपतृष्णाया आस्फालनेन । हरिणता पशुभावः । विडम्ब्यते अज्यते, कथमयं देवेन्द्रोऽपि विषयाकृष्टः सन् तादृशं कुकर्म करोतीति भावः । 'स्यादास्फाले सलज्जलः' इति हारावली ।

अल्पीयान् क्षुद्रो मन्दमतिः । ऐहिकसुखाध्यवसायात् ऐहिकसुखप्राप्तिप्रयासात्, अमूः एताः । भूयस्यो रात्रयः पारलौकिकसुखसमयाः, रात्रेः सुखकालत्वेनाथमुक्तम् । पराहण्यन्ते विनाश्यन्ते । क्षुद्रो हि लोको यदैहिकसुखलिप्सापारवश्येन पारलौकिकानि सुखानि विनाशयितुमुपच्छतीति तात्पर्यम् ॥ मनोहारिभिः हृदयावर्जकैः । आहार्यैः साध्यमानतायामपि सुखसाधनत्वेनाभिमन्यमानैः स्त्रीधनादिभिः । आह्रियमाणलोचनद्वितयस्य आकृष्यमाणस्य नयन

[दोनों बैठते हैं]

पशुमेढ्र—(देर तक सोचकर दीर्घश्वास लेकर आश्चर्यसे) क्यों, विषय-मृगतृष्णामें इन्द्र भी हरिणकी तरह वञ्चित हो जाते हैं ?

शुनःशेप—(हसकर) ठीक कहते हो । यह संसार बहुत छोटा है, ऐहिक सुखकी प्रत्याशामें दीर्घकालिक सुखका नाश क्यों किया जाय ? किन्तु हृदयको हरण करनेवाले मिथ्या सुखोंसे लोगोंकी आँखें इस तरह बन्द होती हैं कि लोग विवेकसे काम लेना छोड़ देते हैं । फिर इन्द्रकी क्या बात ? जिनके हजार नयन वैसे हों । आँखके लड़ते ही कामदेवके और हथकण्डे शुरू हो जाते हैं ।

---

१ 'विश्रम्य विमृश्य च' इति । २ 'ब्रवीति भवान्' इति ।
३ 'अन्यथा कथम्' इति । ४ 'सुखाध्यवसायलुब्धै', 'सुखाध्यवसायात्' इति ।
५ 'आह्रियमाणस्य' इति । ६ 'द्वयस्य' इति । ७ 'ईष्टे' इति ।

पशुमेढ्र —(विहस्य ।) मण्णे एदाए एव्व मुणिघरणीए पुण्णपरिणामो एत्थ रामभद्दस्स पवासे कारणम् । ['मन्ये एतस्या एव मुनिगृहिण्या पुण्यपरिणामोऽत्र रामभद्रस्य प्रवासे कारणम्' ।]

शुन शेप —इद तावत्प्रथमम् ।

पशुमेढ्र —(साभ्यर्थनम् ।) अज्ज, दुदीअ त्रि सुणिदु इमिणा दे वअणेण पज्जुस्सुओ म्हि । ['आर्य, द्वितीयमपि श्रोतुमनेन तव वचनेन पर्युत्सुकोऽस्मि' ।]

शुन शेप —सखे, त्वयि किमकथनीय नाम। अस्ति निष्किन्धाया पुरन्दरस्य नन्दनो वालिर्नाम प्लवगराज न च रजनीचरचक्र

द्वयस्य । विवेकम् ज्ञानम् । अङ्कुशयितुम् अङ्कुशीस्तुम् । न अधीष्टे न पारयति । विषयाणामय महिमा यत्तेराद्यैरपि आरूढस्य स्वस्य नयनद्वयस्य निरोधाय जन स्व विवेक प्रयोक्तु न शक्नोति, यदि लोको विषयाकृष्टस्य स्वनयनद्वयस्य विवेक द्वारके निरोधे न क्षमो भवति, तदा तावस्या सम्पदि विद्यमानाया यदिन्द्रो निज नयनसहस्र विषयप्रसक्त न प्रामङ्कुशयितु न तदाश्चर्यमिति भाव ।

मरुतापति देवेन्द्र । चक्षुःप्रीतिम् चक्षुरागम् । उद्भवन्तीम् जायमानाम् । अनूद्भवन्ति पश्चाज्जायन्ते । कुसुमचापचापलानि कन्दर्पविकारा । चक्षुरागे जाते तदनन्तरमपरे कामविकारा समुद्भवन्ति, दुर्निरोधश्च चक्षुर्गणो, नहि लोको नेत्रद्वयमपि निरोद्धु शक्नोति, कथ शक्र शक्यता स्व नेत्राणा सहस्र निरोद्धु 'यौवन धनसम्पत्ति प्रभुत्वमि'ति सर्वस्यानर्थबीजताया प्रसिद्धेरिति भाव ॥

मुनिगृहिण्या गौतमस्त्रियोऽहल्याया । पुण्यपरिणाम सुकृतपरिपाक । अत्र वने । रामप्रवासे रामस्यागमने । अत्र वने यद्राम आगतस्तत्राहल्यासुकृतपरिपाक एव हेतुरिति तत्तर्क ।

प्रथमम् रामप्रवासकारणम् । द्वितीयम् अन्यदपि कारणम् ।

अकथनीयम् गोपनीयम् । पुरन्दरस्य इन्द्रस्य । नन्दन पुत्र । प्लवगराज

पशुमेढ्र—(हसकर) मालूम होता है इस मुनि-पत्नीका पुण्य-परिपाक ही रामके इस प्रवासमें प्रधान कारण बना है ।

शुन शेप—यह पहली बात है ।

पशुमेढ्र—(प्रार्थनाके स्वरमें) आपके इस वचनने दूसरी बात सुननेकी उत्कण्ठा जागृत कर दी है ।

शुन शेप—मित्र, तुझे कौन बात नहीं बताई जा सकती है ? किष्किन्धामें इन्द्रका

वर्तिना दशकन्धरेण सह [1]प्रवृत्तमैत्रीकमवलोक्य तु वानराच्छभल्लगो लाङ्गूलप्रभृतीनामाचार्यः सर्वा[2]मात्यानुमतो जाम्बवानवादीत्।

पशुमेढ्रः—(सकौतुकम्[3]।) तदो तदो। [ततस्ततः]

शुनःशेपः—(विहस्य) ततश्च राजन्मायाविनी खल्वियं राक्षसजातिः। विशेषेण महेन्द्रावस्कन्दकन्दलितविक्रमः पितृवैरी तवायं रावणः। अपि च त्वदीयदोर्मूलसंपीडनगलितपौरुषो न विश्वविजयीति स्वयमाशङ्कनीयः। नापि सामन्तान्तरजिघृक्षायामन्तरावर्तिनि समुद्रे लघु

वानरराजः। रजनीचरचक्रवर्तिना राक्षसराजेन। दशकन्धरेण रावणेन प्रवृत्तमैत्रीकं प्राप्तसौहृदम्। वानरा जातिभेदाः, अच्छभल्ला भल्लूकाः, गोलाङ्गूलाः कृष्णमुखा मर्कटाः। सर्वामात्यानुमतः सर्वैरमात्यैः सम्प्रार्थितः। जाम्बवान् नाम वालिमन्त्री।

मायाविनी छलनापरा। महेन्द्रावस्कन्देन शक्रपराभवेण कन्दलितः नवाभूतो विक्रमो यस्य तथाभूतः, इन्द्रदमनप्रवृद्धोत्साह इत्यर्थः। पितृवैरी पितुर्वालिनः शत्रुः। त्वदीयेन त्वत्सम्बन्धिना दोर्मूलेन बाहुना यत् सम्पीडनम् आस्कन्दनम् तेन गलितपौरुषः खण्डितपराक्रमः। पितुस्तव शत्रुस्त्वया चापि दान्तो रावण इति न त्वया शङ्कनीय इति भावः। सामन्तान्तरजिघृक्षायाम् राजान्तरस्वीकारे करणीये। अन्तरावर्तिनि मध्यस्थिते। समुद्रे सागरे। लघुसमुत्थः शीघ्रमुत्थातुं शक्तः। विराधमर्दनेन सर्ववैरिणा। मन्त्रम् सङ्गमम् अनथानुबन्धि अहितकरम्। अनुपकारिणी

बेटा बालि नामक वानरराज रहता है। राक्षसराज रावणके साथ उसकी मैत्री बढती देख वानर, अच्छभल्ल, गोलांगूल वगैरह पशुओंके गुरु जाम्बवान्ने सभी अमात्योंकी अनुमतिसे कहा।

पशुमेढ्र—(उत्सुकतासे) तब?

शुनःशेप—तब जाम्बवानने कहा कि—महाराज, राक्षसजाति बडी मायाविनी होती है। विशेषतः यह रावण आपका पितृवैरी है क्योंकि इसके विक्रमका उदय इन्द्रके अपमानसे ही अंकुरित हुआ है। फिर यह रावण विश्वविजयी है ऐसी शङ्का मत करना, क्योंकि वह तुम्हारी काँखमें अपनी शक्तिको खो चुका है। समुद्रके बीचमें होनेके कारण वह दूसरे सामन्तपर चढाईके समय शीघ्र सहायताको आ भी नहीं सकता है।

१ 'प्रवृद्ध' इति। २ 'अनुगत' इति। ३ 'विहस्य' इति।

ममुत्थ । तदनेन निरा[1]द्धमण्डलेन सहासु[2]रविजयिना मैत्र[3]मनर्थानु-बन्धि । किं च सर्वथेयमनुपकारिणी पुलस्त्यापत्येपु प्रीतिरिति भगवानि-होदाहरण हरिणाङ्क[4]शेखर ।

तथा हि—

उक्षा रथो भूषणमस्थिमाला भस्माङ्गरागो गजचर्म वास ।
एकालयस्थेऽपि धनाधिनाथे सख्यौ दशेय त्रिपुरान्तकस्य ॥ ७ ॥

पशुमेढ्र —(सहासम् ।) अहो ठेरभल्लुअस्स मन्तोवण्णासो परिहा सकुसलदा अ । तदो तदो । ['अहो स्थविरभल्लूकस्य मन्त्रोपन्यास परिहास कुशलता च । ततस्तत '।]

शुन शेप —ततश्च तद्वचन जराप्रलपितमित्युपहसति हरीश्वर

अहिताधायिना । पुलस्त्यापत्येपु रावणादिपु । उदाहरण निदर्शनम् । हरिणाङ्क शेखर शशिशेखर शिव ।

उक्षा रथ इति । उक्षा वृष रथ यानम् , अस्थिमाला भूपणम् अलङ्कार , भस्म विभूति अङ्गराग अनुलेपनम् , गजचर्म हस्तिकृत्ति वास वसनम् , धनाधिनाथे कुबेरे एकालयस्थे कैलासरूपैकपर्वतवासिनि सख्यौ मित्रे वर्तमानेऽपि त्रिपुरान्त कस्य शिवस्य इयम् पूर्वोक्तरूपा दशा स्थिति अतश्च पुलस्त्यापत्यमैत्री न युक्ता, कुबेरस्यापि पुलस्त्यापत्यतयेत्थमुक्ति ॥ ७ ॥

स्थविरभल्लूकस्य वृद्धभल्लूकस्य । मन्त्रोपन्यास मन्त्रचिन्ता । परिहासकुशलता विनोदप्रियता च ।

जराप्रलपितम् वार्धक्यकृतमनर्थक वचोपयुक्तम् । हरीश्वरे वानरराजे वालिनि ।

अत समस्त भूमण्डलके अपकारी उस रावणके साथ मित्रता करना अनर्थप्रद होगा । और सबसे बड़ी बात तो यह है कि पुलस्त्यापत्योंके साथ प्रीति करनेमें अपकार ही होता है जिसके उदाहरण रूपमें शिव प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

बैलकी सवारी है, अस्थिमाला भूषण है, भस्म चन्दन है, तथा वस्त्र हस्तिचर्म है मित्र कुबेरके साथ कैलासरूप एक घरमें रहनेपर भी शिवकी यह दरिद्र दशा है ॥ ७ ॥

पशुमेढ्र —(हँसकर) अजी, यह बूढ़ा रीछ तो मन्त्रणा तथा परिहास दोनोंमें दक्ष है ।

शुन शेप—जाम्बवानकी बातको बालिने वृद्धप्रलाप कहकर टाल दिया । अनन्तर

---

१ 'निरुद्धभुवनमण्डलेन' इति । २ 'सुरासुरविजयिना' इति । ३ 'अनर्थानुबन्धि मविना' इति । ४ 'शेखरोऽपि' इति ।

उपांशु तदनुमत्या महामात्यस्य केसरिण पुत्रो हनुमान्कुमार [1]सुग्रीव मादाय ऋष्यमूक नाम [3]पर्वतदुर्गमनुप्रविष्ट ।

पशुमेढ्र —(साकूतम् ।) अज्ज, जो सो मारुदी तेदामल्लो त्ति सुणीअदि । ['आर्य योऽसौ मारुतिस्त्रेतामल्ल इति श्रूयते' ।]

शुन शेप —अथ किम् ।

पशुमेढ्र —(सविचिकित्सम् ।) अज्ज, जधा तधा भोदु । सामी सामी जेव्व । त परिच्चइअ तस्सरिसो तारिसस्स महाणुभाअस्स पडिकूलपरिग्गहो । ['आर्य, यथा तथा भवतु । स्वामी स्वाम्येव । त परित्यज्य तत्सदृशस्तादृशस्य महानुभावस्य प्रतिकूलपरिग्रह ' ।]

उपांशु एकान्ते 'उपांशु तूष्णीभेदे स्यादुपांशु विजनेऽव्ययम्' इति निश । तदनुमत्या जाम्बवत्समत्या । केसरिण पुत्र अञ्जनाया वायोर्जायमान केसरिपुत्र । सुग्रीवम् वालिनोऽनुज तन्नामानम् । आदाय सह नीत्वा, मारुति वायुसुत हनूमान् । त्रेतामल्ल द्वितीययुगे प्रख्यातो वीर ।

अथकिम् स्वीकारार्थकमव्ययम् 'अथकिं स्वीकारार्थकम्' इति भरत । सविचिकित्सम् सशयेन सह यथा तथा भवतु यादृशस्तादृशो जायताम् स्वामिभा मन्त्रिकथनोल्लङ्घनेऽपि कृते मन्त्रिणस्तत्परित्यागो नोचित इति कथयति—

स्वामी स्वाम्येवेति । त वालिनम् । तादृशस्य त्रेतामल्लतया ख्यातस्य । प्रतिकूलपरिग्रह वैरिणा सधानम् , वालिन परित्यज्य तद्रिपुणा सुग्रीवेण सह तादृशस्य हनूमत सन्धान किमुचितमिति तदाशय ।

जाम्बवान्की अनुमतिसे महामात्य केसरीके पुत्र हनुमान् कुमार सुग्रीवको लेकर ऋष्यमूक नामक दुर्गमें चले गये ।

पशुमेढ्र —(साभिप्राय) क्या मारुति, जो त्रेतामल्लके रूपमें सुने जाते हैं ।

शुन शेप—और क्या ?

पशुमेढ्र —(सन्देहके साथ) आर्य, जो हो । स्वामी आखिर स्वामी ही है । उसे छोड़कर दूसरेका आश्रयण करना क्या उनके योग्य कार्य हुआ ?

१ 'केसरिनाम्न ' इति । २ 'आदाय सुग्रीवम्' इति । ३ 'पर्वत सदुर्गम्' इति ।

शुन शेप —(विहस्य ।) [१]पुरैव किलायमाञ्जनेयो भगवत सहस्र किरणाद्[२]व्याकरणविद्यामधीयानस्तदात्मजन्मनो वानरयोने सुग्रीवस्य साहायकमभिप्रायज्ञो गुरुदक्षिणीचकार ।

पशुमेढ्र —([३]सानन्दम् ।) हु । ता उचिद जेव्व गुरुपुत्तो सब्बह्म-चारी वा अणुवट्टीअदि । तदो तदो । ['हु । तदुचितमेव गुरुपुत्र सब्रह्मचारी वानुवर्त्यते । ततस्तत' ।]

शुन शेप —ततश्चाहिभयोपजापजर्जर [४]सुहृद्गृहमुपश्रुत्य राक्षसराज

पुरैव वालिनोऽस्मन्मार्गग्रहणात् पूर्वत एव । आञ्जनेय हनूमान् । सहस्र किरणात् सूर्यात् व्याकरणविद्याम् व्याकरणम् शास्त्र तदात्मजन्मन सूर्यपुत्रस्य । वानरयोने वानरजातो गृहीतजन्मन साहायकम् सहायभावम् मन्त्र्य मैत्रीञ्च । अभिप्रायज्ञ सूर्याशयवेदी । गुरुदक्षिणीचकार गुरुदक्षिणारूपेण दातु मनसि निश्चित-वान् । यदाय हनूमान् सूर्याद् व्याकरणमधीतेस्म तदैव गुरोरभिप्रायमवेत्य तत्पुत्रस्य मन्त्रित्व कर्तु गुरो समीपे तदिच्छया प्रतिज्ञातवान्, अतश्च न वालिनोऽस्मन्मार्गं प्रयत्नत्वा परित्याग, किन्तु गुरोरिच्छया सुग्रीवानुवृत्तिरिति भाव ॥

सब्रह्मचारी सहाध्यायी । अनुवर्त्यते सेव्यते ।

अहिभयम् स्वपक्षप्रभव भयम्, उपजाप प्रकृतिप्रकोप , ताभ्या जर्जर जीर्णम् , दुरवस्थमित्यर्थ । 'महीभुजामहिभय स्वपक्षप्रभव भयम्', 'समौ भेदोपजापौ च' इत्युभयत्रामर । सुहृद्गृहम् वालिभवनम् । रावणो वालिमित्रमसौ वालिनो भ्राता विरुद्धस्तत्सहचराश्च कतिपये तथेति मित्रस्य दुरवस्थता विभाव्येत्यर्थ ।

शुन शेप—(हसकर) पूर्वकालमें ही जब मारुति भगवान् सूर्यके पास व्याकरण विद्या पढ रहे थे तभी सूर्यने वानरयोनिमें उत्पन्न अपने पुत्र सुग्रीवकी सहायता हनुमान्ने गुरुदक्षिणामें स्वीकृत कर ली थी ।

पशुमेढ्र—(सानन्द) हाँ, तब तो ठीक ही है कि गुरुपुत्र तथा सहपाठीका आश्रयण किया । फिर क्या हुआ ?

शुन शेप—इसके बाद रावणने देखा कि मेरे मित्र वालिके गृहमें स्वपक्ष-सम्भव

---

१ सखे, पुरैवाञ्जनेयो' इति । २ 'व्याकरणम्' इति ।
३ 'सानन्दम्' इति क्वचिन्नास्ति । ४ 'सुहृत्कुलम्' इति ।

खरदूषणत्रिशिरोभिर्महामात्यैरधिष्ठितमात्मबलैकदेशं सिन्धोरुदीचि कूले वालिप्रतिग्रहाय प्राहिणोत्।

पशुमेढ्रः—कधं अपरिहीणमित्तधम्मो वि सो रक्खसो। ['कथम-परिहीनमित्रधर्मोऽपि स राक्षसः।]

शुनःशेपः—सखे, किमुच्यते। रावणः खल्वसौ।

प्रियाकर्तुं त्वस्मै नवनिजशिरःकर्तनरस-
प्रहृष्यद्रोमा यः स परमिह लङ्कापरिवृढः।
विलक्षव्यापारं किमपि ददृशुर्यस्य दशमं
शिरस्ते मूर्धानः क्षणकृतपुनर्जन्मसुभगाः॥ ८॥

महामात्यैः प्रधानैः स्वसचिवैः। अधिष्ठितम् नियन्त्रितम्, आत्मबलैकदेशम् स्वसैन्यावयवम्, उदीचि कूले उत्तरतटे। वालिप्रतिग्रहाय वालिरक्षायै। प्राहिणोत् प्रहितवान्।

अपरिहीनमित्रधर्मः—अत्यक्तमित्रसहायत।

किमुच्यते राक्षसराजोऽसौ अपरिहीनमित्रधर्म इति किमुच्यते, अथात् रावणो मित्रकार्यं न विस्मरतीति किं वक्तव्यम्, असौ राक्षसः सन्नपि सर्वमपि व्यवहारं मानवोचितं ततोऽपि वा विलक्षणं बिभर्तीति तात्पर्यम्, स्फुटीभविष्यति च तदग्रेतनश्लोकेन।

प्रियाकर्तुमिति। नवनिजशिरःकर्तने नवमस्तकस्वशिरश्छेदने यो रसो रागस्तेन प्रहृष्यद्रोमा रोमाञ्चितसमग्रदेहः स लङ्कापरिवृढः रावणस्तु अस्मै वालिने प्रियाकर्तुं हित सम्पादयितु परम् प्रधानम्, अस्मै वालिने रावण एव सर्वाधिकप्रियकर्तृतयोपकारक्षम इति। यस्यास्य रावणस्य क्षणकृतपुनर्जन्मसुभगाः क्षणेन कर्तनक्षणमात्रेण कृतं पुनर्जन्म तेन सुभगाः कर्तनमात्र एव पुनः तज्जन्मानः इत्यर्थः। ते शिवायोपहृताः मूर्धानः शिरांसि किमपि विलक्षव्यापारं सलज्जव्यापारं दशमं

भयकी स्थिति है तब उसने खरदूषण और त्रिशिरा नामक अपने महामात्योंकी देख रेखमें अपनी सेनाकी एक टुकड़ी समुद्रके उत्तर तटपर बालिकी सहायताके लिये भेजी।

पशुमेढ्र—क्यों, राक्षस होकर उसने धर्मका त्याग नहीं किया।

शुनःशेप—मित्र, क्या कहना है, वह रावण है।

वह रावण ही बालिकी प्रसन्नताके लिये पर्याप्त हो सकता है जिसने अपने नव मस्तकोंको काटकर भक्तिप्रसूत रोमाञ्च धारण किया था तथा जिसके सद्य प्रसूत नव मस्तकोंने उसके दशम सिरको अखण्डित रह जाने के कारण लज्जित होते देखा था॥८॥

पशुमेढ्रः—(सकौतुकम् ।) तदो तदो । [ततस्ततः ।]

शुनःशेपः—ततः सुकेतुसुता नागसहस्रबलधारिणी ताडका नाम राक्षसी तस्मादनीकादागत्य मनुष्यमण्डलविहारकौतुकादिमामस्मदीयां भूमिमधिवसति ।

पशुमेढ्रः—(सकौतुकम् ।) णाअसहस्सबला इत्थी अत्थि त्ति अस्सुदपुव्वं क्खु एदं । तदो तदो । ['नागसहस्रबला स्त्री अस्तीत्यश्रुतपूर्वं खल्वेतत् । ततस्ततः' ।]

शुनःशेपः—ततश्च श्रौतस्य विधेः प्रत्यूहमस्याः शङ्कमानः कुलपतिरिमौ दाशरथी रामलक्ष्मणावानीतवान् ।

पशुमेढ्रः—जाणे रामभद्दो त्ति को वि रक्खसाण उवरि अवइण्णो क्खु एसो । ['जाने रामभद्र इति कोऽपि राक्षसानामुपर्यवतीर्णः खल्वसौ' ।]

शिरो दृष्ट्वा दृष्टवन्तः । नवसु शिरस्सु छिद्यमानेषु पुनः प्ररोहत्सु च दशमं शिरो लग्नितमिव स्थितमिति भावः, एतादृशाद्भुतप्रभावो रावणो वालिनः सर्वाधिकप्रिय इत्याशयः ॥ ८ ॥

नागसहस्रबलधारिणी सहस्रमत्तगजबलसम्मितबला । तस्मात् वालिरक्षार्थं रावणेन प्रहितात् । अनीकात् सैन्यात् । मनुष्यमण्डलविहारकौतुकात् मनुजसमाजमध्यविहारकौतूहलात् । अस्मदीयाम् अस्मदुषिताम् । अधिवसति अधितिष्ठति । अश्रुतपूर्वम् अन्यस्याः कस्याश्चन स्त्रियामनाकर्णितम्, अपूर्वमित्यर्थः ।

श्रौतस्य विधेः यज्ञकर्मणः । प्रत्यूहम् विघ्नम् । कुलपतिः विश्वामित्रः । आनीतवान् तपोवने नीतवान् ।

राक्षसानाम् उपरि अवतीर्णः मकरराक्षसमित्रनियतया भुवमागतः ।

पशुमेढ्र—(कौतुकसे) फिर क्या हुआ ?

शुनःशेप—अनन्तर सुकेतुकी पुत्री हजार हाथियोंके तुल्य बलवाली ताडका राक्षसी उस सैन्यसमूहसे निकलकर मनुष्य मण्डलमें विहारकी उत्कण्ठासे हमारी भूमिमें आ गई ।

पशुमेढ्र—(कौतुकसे) हजार हाथियोंके तुल्य बलवाली स्त्री होती है, यह बात पहले मैंने नहीं सुनी थी । फिर क्या हुआ ?

शुनःशेप—अनन्तर उससे यज्ञका विघ्न समझकर हमारे कुलपतिने रामलक्ष्मणको यहां ला रखा है ।

पशुमेढ्र—मैं समझता हूं रामभद्र मानों राक्षसोंके ऊपर (लिये) अवतीर्ण हुए हैं ।

शुन शेप —सखे, एवमेतत् । रामभद्र इति कोऽप्यय चतुरक्षरो राक्षसरक्षासिद्धमन्त्र । विशेषेण पुनरिदानीं भगवता कौशिकेन ब्रह्मज्योतिपस्तादृश विवर्तमाश्चर्यं दिव्यास्त्रमन्त्रपारायणमध्यापित ।

पशुमेढ्र —मण्णे मन्तमईहिं अत्थदेवदाहिं सम बलादिबलाओ सत्तीओ वि रामे सकमिस्सन्ति। ['मन्ये मन्त्रमयीभिरस्त्रदेवताभि सम बलातिबले शक्ती अपि रामे सक्रमिष्यत ' ।]

शुन शेप —अथ किम् । तदपि [1]वृत्तमेव ।

पशुमेढ्र —अज्ज, ण भणामि जइ णिआओ जेव्व सत्तीओ णिआओ जेव्व अत्थविज्जाओ, ता कि त्ति अत्तणो णिव्वोसमे राहवस्स गोरअमुप्पादेदि तत्थभव कोसिओ। [2]अहवा पाहुणहत्थेण सप्पमारण

राक्षसरक्षासिद्धमन्त्र रामभद्रस्य नाममात्र गृह्यते राक्षसापादानक भय निवर्तत एवेति रामनाम्नो राक्षसरक्षासिद्धमन्त्ररूपत्वमुक्तम् । ब्रह्मज्योतिप वेदरूपस्य तेजस । विवर्तम् स्वरूपभेदम् । वेदस्याशभूतमित्यर्थ । दिव्यास्त्रपारायणम् दिव्यास्त्रोपस्थितिकारणीभूतम् । रामो हि स्वत एव राक्षसेभ्यस्त्राता विशेषत सम्प्रति विश्वामित्रेण दिव्यास्त्रमन्त्रपारायणमध्यापित इति तन्नाममात्र गृह्यमाणे राक्षसभय निवर्तत एवेति भाव ॥

मन्त्रमयीभि मन्त्रोच्चारणमात्रसमुपस्थायिनीभि । बलातिबले शक्ती तदाख्य विद्याभेदौ । सक्रमिष्यत समुपस्थास्यत । बलातिबलाविद्याया लब्धाया पुमान्मासमेक तृषक्षुधौ नानुभवतीति तद्विद्याप्रभाव ।

वृत्तमेव बलातिबलयोर्विद्ययो रामे सक्रमो जात एवेति भाव ।

शुन शेप—सखे, यही बात है । रामभद्र यह चार अक्षरोंका राक्षससे रक्षार्थ सिद्ध मन्त्र है, खास करके अब जबकि हमारे कुलपतिने रामभद्रको ब्रह्मज्योतिके परिणामरूप दिव्यास्त्र मन्त्रकी शिक्षा उन्हें दे दी है ।

पशुमेढ्र—मालूम पडता है मन्त्रमयी देवताओंके साथ बलातिबला नामक शक्तियाँ भी रामभद्रको प्राप्त हो गई हैं ।

शुन शेप —और क्या ? वह भी हो चुका है ।

पशुमेढ्र —मैं कहता हूँ यदि अपनी ही शक्तियाँ हैं और अपनी ही अस्त्रविद्यायें हैं

१ 'सद्वृत्तमेव' इति । २ (विहस्य ।) 'अहवा' इति ।

क्खु एदम् । ['आर्य, ननु भणामि यदि निजा एव शक्तयो निजा एवास्त्रविद्या', तत्किमित्यात्मनो विनोपशमे राघवस्य गौरवमुपादयति तत्रभवान्कौशिक' । अथवा प्राघुणकहस्तेन सर्पमारणं खल्वेतत् ।]

शुन शेप —सखे, अनभिज्ञोऽसि । स्वय प्रयोगादन्तेवासिभिर्विहित प्रयोगो महिमानमाचार्याणामुपचिनोति । पश्य

स्थानेषु शिष्यनिवहैर्विनियुज्यमाना
विद्या गुरु हि गुणवत्तरमातनोति ।
आदाय शुक्तिषु बलाहकविप्रकीर्णै
रत्नाकरो भवति वारिभिरम्बुराशि ॥ ९ ॥

किं च दीक्षिष्यमाणा न कुध्यन्तीति रक्षितार क्षत्रियमुपाददते ।

निजा एव शक्तयो निजा एव-यदि विश्वामित्रस्य हृदि तास्ता शक्तयोऽस्त्रविद्याश्च सन्ति तदा रामानयन किमर्थमिति प्रघट्टकार्थ ।

स्वयप्रयोगात् आत्मना कृतात् अस्त्रप्रयोगात् । यद्याचार्य स्वय प्रयुङ्क्ते ततो याज्ञयश तदपेक्षया विद्यार्थिविहिते प्रयोगे आचार्यस्याधिक यशो जायत इत्यर्थ ।

स्थानेष्विति । स्थानेषु उपयुक्तकालपात्रादिषु शिष्यनिवह छात्रसमुदये विनियुज्यमाना प्रयुज्यमाना विद्या गुरुम् आचार्यम् गुणवत्तरम् सातिशयगुणशालिनम् आतनोति प्रत्याययति । आदाय सागरात् गृहीत्वा बलाहकविप्रकीर्णे मेघगणविक्षिप्तै वारिभि जलै अम्बुराशि सागर शुक्तिषु रत्नाकरो भवति । सागरादेव पानीयमादाय स्वातीनक्षत्रयोगात् मेघै शुक्तिषु क्षिप्तैरम्बुभि मुक्ताभाव गतै सागरो रत्नाकरपद प्राप्नोति, तथैव स्थाने शिष्यैर्विनियुज्यमानया विद्ययाऽऽचार्यो गुणवत्तरताख्यातिं लभत इति । प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कार ॥ ९ ॥

दीक्षिष्यमाणा यज्ञ करिष्यन्त । उपाददते आश्रयन्ति ॥

तब भगवान् विश्वामित्र अपना विद्याका आश्रय रामको क्या गौरव प्रदान कर रहे हैं? अथवा, यह अतिथिके हाथसे सांपका मरवाना ही है।

शुन शेप—मित्र नहीं जानते हो। अपने द्वारा किये प्रयोगकी अपेक्षा विद्यार्थियों द्वारा किया गया प्रयोग आचार्योंकी महिमाको अधिक बढाता है। देखो—स्थानपर शिष्यों द्वारा प्रयुक्त विद्या गुरुका गुणवत्तरताको द्योतित करती है मेघों द्वारा शुक्तियोंमें डाले गये जलोंसे ही सागर रत्नाकर कहलाता है ॥ ९ ॥

और यह भी बात है कि यज्ञमें दीक्षितोंको कोप नहीं करना होता है इसलिये रक्षार्थ क्षत्रियको नियोजित करते हैं।

१ दीक्षमाणा इति ।

पशुमेढ्र—अज्ज, सोहण मन्तोसि। अण्ण वि किं वि पुच्छिदुकामो ह्मि। [अन्यदपि किमपि प्रष्टुकामोऽस्मि।]

शुनःशेप—किं तत्।

पशुमेढ्र—सव्वधा णिगूढं वि वाणराणं छग्गुण्णं कध अज्जेण पडिवण्णम्। [सर्वथा निगूढमपि वानराणां षाड्गुण्यं कथमार्येण प्रतिपन्नम्।]

शुनःशेप—सखे, सर्वमेतदयोध्यायात्रायां समाधिमयेन चक्षुषा साक्षात्कृतत्रिभुवनवृत्तान्तस्य तातविश्वामित्रस्य मुखादश्रौषम्। (सर्वतोऽवलोक्य।) [1]अये, प्राभातिकी [2]भुवनस्य लक्ष्मी। तथा हि।

प्रत्यग्रज्वलितैः पतङ्गमणिभिर्नीराजिता भानव
स्ताविषः कुरुविन्दकन्दलरुचः प्राचीमलङ्कुर्वते।

निगूढम् गुप्तम्। षाड्गुण्यम् सन्ध्यादिषड्गुणप्रयोगचिन्तारूपमन्त्रणा। आर्येण त्वया शुनःशेपेन। प्रतिपन्नम् ज्ञातम्॥

अयोध्यायात्रायाम् यज्ञरक्षार्थं राममानेतुमयोध्यागमनसमये। समाधिमयेन ध्यानरूपेण। चक्षुषा नेत्रेण। साक्षात्कृतत्रिभुवनवृत्तान्तस्य लोकत्रयवृत्तं जानतः, ज्ञानदृष्ट्या सर्वमपि वृत्तं प्रत्यक्षमीक्षमाणस्य। प्राभातिकी प्रातःकालिकी।

प्रत्यग्रेति। प्रत्यग्रज्वलितैः सूर्यकरस्पर्शात् तत्कालप्रदीप्तैः पतङ्गमणिभिः सूर्यकान्तोपलैः नीराजिताः समुत्तेजिताः अतएव कुरुविन्दकन्दलरुचः पद्मरागनवाङ्कुरसमानकान्तयः स्ताविषः सूर्यसम्बन्धिनो भानवः प्राचीम् पूर्वदिशम् अलङ्कुर्वते भूषयन्ति। सपदि जायमाने सूर्यप्रकाशे सद्यः प्रज्वलद्भिः सूर्यकान्तशिरोभिः समुत्तेजिताः सूर्यकराः प्राचीं दिशमलङ्कुर्वतः, ये पद्मरागनवाङ्कुरवत् प्रतीयन्ते। इत्याद्य

पशुमेढ्र—आप ठीक कहते हो, और भी कुछ पूछना है।

शुनःशेप—वह क्या है?

पशुमेढ्र—सर्वथा छिपे इस वानरोंके रहस्यको आपने कैसे समझा?

शुनःशेप—सखे! अयोध्यायात्रामें आचार्य विश्वामित्रके मुखसे ही यह सारी बात मैंने सुनी थी, उन्होंने समाधिदृष्टिसे त्रिभुवनवृत्तान्तका ज्ञान किया था (चारों ओर देखकर) अहा! प्रभातकालकी कैसी शोभा है?

तत्काल प्रज्वलित सूर्यकान्तमणियोंसे नीराजित सूर्यकिरणें विद्रुमदण्डकी तरह

1 'अहो' इति। 2 'भुवनलक्ष्मी' इति।

प्रौढध्वान्तकरालितस्य वपुषश्छायाच्छलेन क्षणा-
दप्रक्षालितनिर्मलं जगदहो निर्मोकमुन्मुञ्चति ॥ १० ॥

अपि च—

पीत्वा भृशं कमलकुड्मलशुक्तिकोषा
दोषातनीं तिमिरवृष्टिमथ स्फुटन्त ।
निर्यन्मधुव्रतकदम्बमिषाद्वमन्ति
बिभ्रन्ति कारणगुणानिव मौक्तिकानि ॥ ११ ॥

अपि च—

विकसितसंकुचितपुनर्विकस्वरेष्वम्बुजेषु दुर्लक्ष्या ।

पादद्वयस्यार्थः । अहो आश्चर्यम् जगत् संसारः छायाच्छलेन अनातपव्याजेन प्रौढध्वान्तेन गाढान्धकारेण करालितस्य आच्छादितस्य वपुषः स्वशरीरस्य अप्रक्षालितनिर्मलम् अक्षालितमपि स्वच्छम् निर्मोकम् कञ्चुकम् उन्मुञ्चति त्यजति । छायारूपतमोवृतमिव जगत् प्रकाशमासादयत् निर्मोकमिव जहातीत्यर्थः । अपह्नुतिरलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १० ॥

पीत्वेति । कमलानां पद्मानां कुड्मलानि कलिका एव शुक्तिकोषाः मुक्तास्फोटाः ते दोषातनीं रात्रिभवसञ्जाताम् तिमिरवृष्टिम् अन्धकारम् भृशम् अत्यर्थम् पीत्वा निगीर्य अथ प्रभाते निर्यन्मधुव्रतकदम्बमिषात् निर्यद्भ्रमरसमूहव्याजात् कारणगुणान् बिभ्रन्ति धारयन्ति इव मौक्तिकानि वमन्ति आविर्भावयन्ति । निशि कमलानि यान् तमन्धकारं पीतवन्ति, तान्येव तत्र कोषे मुक्ताभावमापद्य कारणगुणानुबन्धित्वात्कायाणां श्यामानि मौक्तिकानीव भ्रमराः प्रातर्वमन्तीवेत्युत्प्रेक्षा । अत्र कमलकोषा एव मुक्ताशुक्तयः, निशि पीतोऽन्धकार एव जलभरो यो मुक्ताभावं प्राप्तः, कारणस्य श्यामतया मौक्तिकानामपि श्यामता, भ्रमरा एव मौक्तिकानीति च यथायथमवसेयम् ॥ ११ ॥

विकसितेति । मधुलिहां भ्रमराणाम् अर्घः आदरातिशयः विकसितानि पूर्वदिने

रत्नाम दीर्घता तथा प्राची दिशाको अलङ्कृत करती है, प्रौढ अन्धकारसे आवृत अपने शरीरकी छायाके रूप में यह जगत् अन्धकाररूप अपना निर्मोक त्याग कर रहा है ॥ १० ॥

कमल-कोषरूप शुक्तियोंने रात्रिके अन्धकाररूप जलको पी लिया और निकलते हुए भ्रमर-समुदायरूप मुक्ताको निकाल रहे हैं अन्धकाररूप जलसे बननेवाले भ्रमररूप मुक्तागण कारणगुण-समान काले होते हैं—इसलिये काले हैं ॥ ११ ॥

कमल शीघ्र शीघ्र विकसित संकुचित तथा पुनर्विकसित हो रहे हैं इनमें कौन

कलिका कथयति नूतनविकासिनीर्मधुलिहामर्घं ॥ १२ ॥

(आदित्य[1]मण्डल निर्वर्ण्य ।)

कटुभिरपि कठोरचक्रवाकोत्करविरहज्वरशान्तिशीतवीर्यैः ।
तिमिरहतमयं महोभिरञ्जयति जगन्नयनौघमुष्णभानुः ॥ १३ ॥

प्रफुल्लानि सङ्कुचितानि पुनर्निशि निमीलितानि पुनर्वर्तमानदिने विकस्वराणि विकासशीलानि यानि कमलानि तेषु दुर्लक्ष्या परिचेतुमशक्या नूतनविकासिनी अयेन प्रथमवार प्रस्फुटिता कलिका कथयति बोधयति । विकसितेषु बहुषु कमलेषु कानिचित् कमलानि दिनत्रयाद्विकसन्ति कानिचिद्दिनद्वयात् कानि चिच्चाद्य प्रथममेव विकसितानि, तेषु का कलिका नूतनविकासिनी का च प्राचीनेति विवेकस्यान्यथाकर्तुमशक्यतया भ्रमरादरातिशयदर्शनमेव विवेकहेतु, यत्र भ्रमराणामादराधिक्य सा कलिका प्रथमविकसिता, या च प्राचीनविकासा तस्या मन्दमधुत्वात्, प्रथमविकसितायाश्चाक्षतमधुतया समधिकादरभाजनत्व मिति बोध्यम् । 'पूजाया मकरन्देऽपि भवेदर्घस्तथाऽऽदरे' इति विश्व ॥ आर्यावृत्तम् ॥ १२ ॥

कटुभिरपीति । अयम् उष्णभानुः सूर्यः कटुभिः ईषत्तीक्ष्णैः अपि कठोरो दारुण यः चक्रवाकोत्करः चक्रवाकवृन्दानां विरहः तेन यो ज्वरः सन्तापः तस्य शान्तौ शमने शीतवीर्यैः शीतलस्वभावैः महोभिः स्वकिरणैः तिमिरहतम् अन्धकार-लुपितम् आन्ध्यरूपरोगनष्टञ्च जगताम् नयनौघम् नेत्रचयम् अञ्जन् अञ्जित कुर्वन् जयति । यथा कटुशीतः पिप्पल्यादिद्रव्य तिमिरहतदृष्टीनां जनानाम् अञ्जनकर्मणि उपकारकं भवति तथैव कटवोऽपीमे भानुभानवो विरहपराभूतचक्रवाकतापशमने दृष्टशीतवीर्यतामाप्ता लोकलोचनानि तमःपराहतानि स्वसम्पर्कात् रूपग्रहण-समर्थानि कृत्वाऽञ्जयन्तीव कुर्वत इति भावः । पुष्पिताग्रावृत्तम्—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति तल्लक्षणम् ॥ १३ ॥

कलिकायें हैं और कौन नयी ? इस बातका निर्णय भ्रमरों द्वारा किये गये, आदरसे हो होता है ॥ १२ ॥

(सूर्यमण्डलको देखकर)

कटु होनेपर भी चक्रवाक समुदायके कठोर विरह-ज्वरको शान्त करनेमें शीतवीर्य प्रमाणित होनेवाले अपने तेजसे संसारके आँखोंको अञ्जित करनेवाले भगवान् सूर्यकी जय हो ॥ १३ ॥

१ आदित्य निर्वर्ण्य च' इति ।

तदनुजानीहि मा समिदाहरणाय ।

पशुमेढ्रः—अहं पि खत्तिअकुमाराणं दंसणे उक्कण्ठिदोम्हि । ता कहिं पेक्खामि । [अहमपि क्षत्रियकुमारयोर्दर्शन उत्कण्ठितोऽस्मि । तत्कथय कुत्र प्रेक्षे ।]

शुनःशेपः—(विहस्य ।) नन्वेतावेव यज्ञवाटमुत्तरेण विहारभूमिषु क्रीडतः । तदुपेत्य निःशङ्कमवलोकय ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशतो रामलक्ष्मणौ ।)

रामः—अहो विचित्रमिदमायतनं सिद्धाश्रमपदं नाम भगवतो गाधिनन्दनस्य ।

अनुजानीहि अनुमन्यस्व । समिदाहरणाय काष्ठान्याहर्तुम् ॥

यज्ञवाटम् यज्ञभूमेरुत्तरस्यां दिशि । 'एनपा द्वितीया' इति यज्ञवाटस्य कर्मता । विहारभूमिषु विचरणप्रदेशेषु ।

विष्कम्भकः 'वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः । सङ्क्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः । मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ॥'

स चायं मिश्रविष्कम्भकः, मध्यमोत्तमपात्रप्रयोजितत्वात् ॥

आयतनम् स्थानम् । सिद्धाश्रमपदम् वामनमूर्तेर्भगवतो हरेः स्थानम् । गाधिनन्दनस्य विश्वामित्रस्य ।

अच्छा तो अब मुझे लकड़ी लानेके लिये जानेकी अनुज्ञा दो ।

पशुमेढ्र—मैं भी क्षत्रिय कुमारोंको देखनेके लिये उत्कण्ठित हो रहा हूँ, अतः यह तो बताओ कि वे हैं कहाँ ?

शुनःशेप—(हसकर) यही तो यज्ञस्थलकी उत्तर ओर विहारभूमिमें खेल रहे हैं, जाओ निःशङ्क होकर देखो । (दोनोंका प्रस्थान)

(विष्कम्भक)

(राम और लक्ष्मणका प्रवेश)

राम—अहा ! गाधिनन्दनका यह सिद्धाश्रम नामक आश्रम बड़ा विचित्र है ।

---

१ 'सिद्धाश्रमं नाम' इति ।

तत्तादृक्तृणपूलकोपनयनक्लेशाच्चिरद्वेषिभि-
र्मेध्या वत्सतरी विहस्य वटुभिः सोल्लुण्ठमालभ्यते ।
अप्येष प्रतनूभवत्यतिथिभिः सोच्छ्वासनासापुटै-
रापीतो मधुपर्कपाकसुरभिः प्राग्वंशजन्मानिलः ॥ १४ ॥

लक्ष्मण —आर्य, किलात्रैव

देवः कौस्तुभकिञ्जल्कनीलोत्पलमसौ हरिः ।
स्वयं किमपि तत्तेपे तपः कपटवामनः ॥ १५ ॥

तत्तादृगिति । तत्तादृक् दुःखजनकं यत्तृणपूलकोपनयनम् तृणमुष्ट्युपहरणम्, तत्क्लेशात् चिरद्वेषिभिः बहुदिवसधनशत्रुभावैः (सर्वदा तासां गवां कृते वटुभिः तृणपूलकानामानयनं क्रियते, तत्र कर्मणि क्लेशं यतन्तो वटवो गवां द्वेषिणो भवन्ति) वटुभिः विहस्य प्रसन्नहसितैः मेध्या सर्वलक्षणपवित्रा वत्सतरी द्विवर्षवयस्का गौः सोल्लुण्ठम् सोपहासम् आलभ्यते मार्यते । 'महोक्षं वा वत्सतरीं वाऽऽतिथये गृहीणि' इत्युक्तेरागतस्य शास्त्रोक्ततया वटवो गवां वधं कुर्वन्तीति भावः । अपि एष मधुपर्कपाकसुरभिः हूयमानमधुपर्कस्य पाकेन सुगन्धितः अत एव अतिथिभिः सोच्छ्वासनासापुटैः आपीतः सादरं निकामिनघ्राणेन्द्रियमाघ्रातः प्राग्वंशजन्मानिलः हविर्गेहानात् प्रतनूभवति क्षीयते ॥ आङ्पूर्वो लभिर्मारणार्थः, 'श्वेतं छागमालभेत' इत्यत्र यथा । 'आलम्भपिञ्जविशरघातोन्माथवधा अपि' इत्यमरः । 'प्राग्वंशः प्राग्घविर्गेहात्' इति च ॥ १४ ॥

देव इति । कौस्तुभो नारायणवक्षःस्थितो मणिविशेषः स एव किञ्जल्कः केसरो यस्य तादृशम् नीलोत्पलम् नीलकमलम् असौ देवो हरिः कपटवामनः स्वेच्छागृहीतवामनरूपः स्वयं किमपि अनिर्वचनीयरूपमविभाव्यफलं च तपः (अत्र) तेपे अनुष्ठितवान् । अतोऽस्य स्थानस्य महत्त्वम् । इह भगवतोऽतिश्यामत्वान्नीलोत्पलत्वेन रूपणम्, कौस्तुभस्य च भगवतो हृन्मध्यस्थितत्वाद्दीप्तिमत्त्वाच्च किञ्जल्कत्वेन रूपणं बोध्यम् । हरिणा त्रिविक्रमेण किल बलिच्छलनार्थं वामनरूपं कृत्वा तप

बटुओंको घास भिगाना पडता था इसी द्वेषसे वे उलाहना देकर मेध्यवत्सतरीका वध करते हैं, मधुपर्क पाकमें सुगन्धित प्राग्वंश वेदीका यह आग अतिथियों द्वारा विस्तारित नासापुटमें पीयमान होनेके कारण क्षीण होती जाती है ॥ १४ ॥

लक्ष्मण—आर्य, यहीं पर—

कौस्तुभरूप जिनका किञ्जल्क है ऐसे नीलकमलस्वरूप भगवान् विष्णुने कपट वामन बनकर कुछ अद्भुत तप किया था ॥ १५ ॥

इत्थमेतन्महातीर्थमध्यासीना द्विजातयः ।
अकुतोभयसञ्चाराः षट्कर्माणि प्रयुञ्जते ॥ १६ ॥

([1]अन्यश्च दृष्ट्वा ।) आर्य,

पश्यैते पशुबन्धवेदिवलयैरौदुम्बरीदन्तुरै-
र्नित्यव्यञ्जितगृह्यतन्त्रविधयो रम्या गृहस्थाश्रमाः ।
यत्रामी गृहमेधिनः प्रचलितस्वाराज्यसिंहासना
वैतानेषु कृपीटयोनिषु पुरोडाशं वषट्कुर्वते ॥ १७ ॥

सिद्धाश्रमे तपस्तप्तमिति कथात्रानुसन्धेया । 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्', 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः' इत्युभयत्रामरः ॥ १५ ॥

इत्थमेतदिति । इत्थम् वामनकृततपस्याधिकरणतया पुनत् सिद्धाश्रमनाम महातीर्थम् अतिपावनं स्थानमध्यासीना आश्रिता द्विजातयो ब्राह्मणाः अकुतोभयसञ्चाराः सर्वतो निर्भयसञ्चाराः सन्तः षट्कर्माणि दानादिषट्शास्त्रोक्तकर्माणि प्रयुञ्जते अनुतिष्ठन्ति । 'दानमध्यापनं पितृतर्पणातिथिपूजनम् । होमो बलिश्च विप्राणां षट् कर्माणि दिने दिने' इति । यद्वा यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहाः षट् कर्माणि ॥ १६ ॥

पश्यन्निति । पश्येत्यस्य वाक्यार्थः कर्म । पशुबन्धो यागभेदस्तस्य वेदयः परिष्कृता भूमयस्तासां वलये समूहे औदुम्बरीदन्तुरैः उदुम्बरकाष्ठकृतस्थूणायुक्तैः नित्यव्यञ्जिताः सततमनुष्ठिता गृह्यतन्त्रविधयः गृह्योक्तकर्मजातानि येषु तादृशा रम्या गृहस्थाश्रमाः सन्तीति शेषः । यत्र गृहस्थाश्रमेषु अमी गृहमेधिनः सदाराः गृहिणः प्रचलितस्वाराज्यसिंहासनाः प्रचलितम् 'मामयमधिकरिष्यती'ति हेतोः कम्पितं स्वर्गराज्यासनं येभ्यस्तादृशा वैतानेषु यज्ञसम्बन्धिषु कृपीटयोनिषु अग्निषु वषट्कुर्वते जुह्वति । पशुबन्धयागे हि पशुर्बध्यते औदुम्बरीस्पर्शश्च क्रियते, 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' इति स्मरणात् । यद्वा औदुम्बरी सर्पणाकारः काष्ठभेदो यः खलु

इस प्रकार इस महातीर्थमें रहनेवाले ब्राह्मणगण निर्भय होकर अपने कर्तव्य यजन याजनादि षट्कर्मका प्रयोग किया करते हैं ॥ १६ ॥

आप देखें—यह हैं यहाँके रमणीय गृहस्थाश्रम, जिनमें पशुबन्धन वेदीके वेष्टन स्वरूप औदुम्बरकाष्ठ उच्च नाचना उपन्न कर रहे हैं, और जहाँपर स्वर्ग राज्यके सिंहासनको प्रचलित कर देनेवाले गृहमेधीगण यज्ञिय वह्निमें पुरोडाशका होम किया करते हैं ॥ १७ ॥

---

१ अन्यत्र च' इति ।

राम —(¹सहर्षस्मितम् ।) ²वत्स, इतोऽपि ³तावत्कृतार्थयाक्षश्चक्षुषी । प्रसन्नपावनोऽयमृषीणां समवायः । इदममीषाम्

पूरयित्वेव सर्वाङ्गमतिरिक्ता शिराततिः ।
जटारूपेण बिभ्राणैः शिरोभिर्गहनं सदः ॥ १८ ॥

किं च—

तपःकृशतरैरङ्गैः स्रष्टुमाकारितैरिव ।
सायं प्रातरमी पुण्यमग्निहोत्रं ⁴प्रयुञ्जते ॥ १९ ॥

(इति परिक्रमतः ।)

पशुबन्धार्थं निखात्य ध्रियते । 'वन्धुरस्तून्नते दन्ते तथोन्नतनतेऽपि च' इति मेदिनीकारः । 'कूपीटयोनिर्ज्वलनः' इत्यमरः ॥ १७ ॥

कृतार्थयाव सार्थकीकुर्व । चक्षुषी नयने । प्रसन्नपावनः सुन्दरः पवित्रश्च । समवायः समुदायः ।

पूरयित्वेति । अमीषाम् ऋषीणाम् सदः सभा गोष्ठीत्यर्थः, सर्वाङ्गम् पूरयित्वा व्याप्य इव अतिरिक्ता उर्वरिता शिराततिः शिरासमुदयान् जटारूपेण जटास्वरूपेण बिभ्राणैः शिरोभिः गहनम् व्याप्तम् अस्तीति शेषः । एषां मुनीनां शिरस्सु वर्त्तमाना जटाः सर्वाङ्गव्याप्तासु शिरासु अवशिष्टाभिः शिराभिरिव घटिताः प्रतीयन्त इत्यर्थः ॥ १८ ॥

तपःकृशानि । स्रष्टुम् निर्मातुम् आकारितैः कल्पिताकारैः अपूरितैरिव तपःकृशतरैः तपस्याक्षामैः अङ्गैः करचरणादिभिः उपलक्षिता अमी ऋषयः पुण्यम् पवित्रताकरम् अग्निहोत्रम् यागविशेषम् प्रयुञ्जते कुर्वते । अन्यत्रापि चित्रलिखितादौ प्रथमं रेखा न्यस्यते ततो वर्णः पूर्यते, तथैवैषां तपःकृशानामृषीणामङ्गानि रेखाभिरिव रचितानि प्रतिभान्ति । अस्थिपुञ्जनिभा इमेऽग्निहोत्रमाचरन्तीति भावः ॥ १९ ॥

राम—(हर्षसे हसकर) वत्स, इधर भी अपनी आँखें कृतार्थ करो, प्रसन्न तथा पावन यह है ऋषियों का समुदाय । यह है इनकी गोष्ठी,

सिरा समुदायोंसे ही इनके सर्वाङ्ग बनाये गये हैं और जो सिरायें बचगई हैं उन्हें ये जटा रूपमें शिरोदेशमें रक्खे हुए हैं ॥ १८ ॥

तपस्यासे कृश इनके अङ्ग ऐसे दीखते हैं मानो बनानेके लिये खाके तैयार किये गये हों । ये मुनिगण साय-प्रातः पवित्र अग्निहोत्र किया करते हैं ॥ १९ ॥

---

१ 'सहर्षम्' इति । २ 'वत्स, लक्ष्मण' इति ।
३ 'तावत्कृतार्थय' इति । ४ 'उपासते' इति ।

लक्ष्मण —(सहासम् ।) आर्य, रमणीयमितो वर्तते ।

बालेयतण्डुलविलो[१]पकदर्थिताभि-
　　रेताभिरग्निशरणेषु सधर्मिणीभिः ।
[२]तत्त्रासहेतुमपि दण्डमुदस्यमानं
　　माघ्रातुमिच्छति मृगे मुनयो हसन्ति ॥ २० ॥

राम —(परिक्रामन्सकौतुकानुरागम् ।) वत्स, [३]इतस्तावत् ।

आर्द्रप्रसूतिरियमङ्गनयज्ञवेदि-
　　र्नेदिष्ठमेव हरिणी तृणुते [४]तृणं च ।
वत्सीयतापसकुमारकरोपनीत
　　नीवारनिर्वृतमपत्य[५]मवेक्षते च ॥ २१ ॥

बालेयेति । बलिः पूजोपहारः तस्मै हितं बालेयम् तादृशस्य तण्डुलस्य विलोपन भक्षणद्वाराऽपहरणेन ।कदर्थिताभिः क्लेशिताभिः सधर्मिणीभिः स्त्रीभिः अग्निशरणेषु होमगृहेषु तत्त्रासहेतुम् तण्डुलहरणापहारिमृगभयजनकतयोदस्यमानम् उत्थाप्यमानम् दण्डम् मृगे आघ्रातुमिच्छति सति मुनयो हसन्ति । अग्न्यगारे बलिकर्मणे] तण्डुलन्यासः कृतः, आश्रयमृगास्तान् भक्षयन्ति, तेषामनया चेष्टया मुनिपत्न्यः कदर्थिताः सत्यो मृगास्तान् भीषयितुं दण्डमुदस्यन्ति, मृगाश्च भयापरिचिततया तमपि दण्डमाघ्रातुमिच्छन्ति, तदिदं सर्वमालोकमाना मुनयो हसन्तीति भावः । स्वभावोक्तिरलंकारः ॥ २० ॥

आर्द्रप्रसूतिरिति । आर्द्रप्रसूतिः अभिनवप्रसूता इयम् हरिणी अङ्गनयज्ञवेदिनेदिष्ठम् अजिरस्थितयज्ञवेदिसन्निहितम् एव तृणम् तृणुते कवलयति, वत्सीया वत्सहिता

लक्ष्मण—(हसकर) इधर बड़ा रमणीय है ।

अग्निगृहमें बलिके लिये रखे गये तण्डुलोंको हरिण खाजाते हैं इसपर मुनिस्त्रियाँ नाराज़ होकर उनको डरानेके लिये दण्ड उठाती हैं, परन्तु हरिण इतने हिलेमिले हैं कि वे उस दण्डको सूँघने की इच्छा करने लगते हैं, जिसे देखकर मुनिगण उन मृगोंपर ठिठाकर हँस देते हैं ॥ २० ॥

राम—(चलते हुए कौतुक तथा प्रेमसे) अङ्गनमें वर्तमान यज्ञवेदीके समीपस्थ तृण नई ब्याई हुई हरिणी चर रही है, उसके बच्चे जिसे तपस्वी कुमार अपने हाथोंसे नीवार खिलाते हैं उन्हें वह स्वस्थ भावसे देख भी रही है ॥ २१ ॥

---

१ 'विलेप' इति । 　२ 'उत्त्रास' इति । 　३ 'इद तावत्' इति ।
४ 'तृणानि' इति । 　५ 'अपेक्षते' इति ।

अपि च—

विष्वक्तपोधनकुमारसमर्प्यमाण
श्यामाकतण्डुलहृता च पिपीलिकानाम् ।
श्रेणीभिराश्रमपथा प्रथमानचित्र-
पत्रावलीवलयिनो मुदमुद्वहन्ति ॥ २२ ॥

[1]लक्ष्मण —अहो पशूनाम[2]प्यपत्यवात्सल्यम् । अहो शिशूनामपि सत्कर्मताच्छील्यम् ।

[3]राम —(अन्यतोऽवलोक्य ।)

मुनिविनियोगविलूनप्ररूढमृदुशाद्वलानि बर्हींषि ।

ये तापसकुमाराः तपस्विजनबालाः तेषां करे हस्ते उपनीते समर्पिते नीवारे धान्यविशेषे निर्वृत्तम् तृप्तम् अपत्यम् बालकम् हरिणम् अवेक्षते पश्यति च । सद्य, प्रसूता हरिणी दूरगमनासमर्थतया समीपस्थादुटजवेदिप्ररूढं तृणमभ्यवहरति, तथा कुर्वत्येव च धर्मप्रियतापसकुमाराहृतनीवारलाभतृप्तं स्वमपत्यं प्रेक्षते चेति भावः ॥

विष्वगिति । आश्रमपथा तपोवनमार्गाः तपोधनाः ऋषयस्तेषां कुमारैः बालैः समर्प्यमाणान् दीयमानान् श्यामाकतण्डुलकणान् तदाख्यतण्डुलांशान् हरन्ति तासाम् पिपीलिकानाम् श्रेणीभिः निचयैः समन्तात् प्रथमानाः विस्तारं गच्छन्त्यः पत्रावल्यः रचनाविशेषास्तासामाः वलया सन्त्येषु ते तथोक्ताः मुदम् दर्शकानामानन्दम् उद्वहन्ति प्रादुर्भावयन्ति । आश्रममार्गेषु मुनिकुमारोपहृतश्यामाकतण्डुलकणहारिपिपीलिकाततिः पत्रावलीरिव विरचयन्ती दर्शकानानन्दयति । वसन्ततिलकमेव वृत्तम् । 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः ॥२२॥

अपत्यवात्सल्यम्—सन्ततिस्नेहः । सत्कर्मताच्छील्यम् शुभकर्मप्रवृत्तिः ॥

मुनिविनियोगेति । अथ गोकर्णतर्णकः मृगशावकः उपकण्ठकच्छेषु समीपस्थित-

---

चारो ओर ऋषि कुमार श्यामाकतण्डुल देरहे हैं और चींटियाँ उन्हें ले जारही हैं उनकी पङ्क्तियाँ विस्तीर्ण पत्रावलीका वलयसा दीखती हैं जो आनन्द प्रदान कर रही हैं ॥ २२ ॥

लक्ष्मण—अहा ! पशुओंमें भी बड़ी अपत्यप्रीति हुआ करती है, और शिशुओंमें भी सत्कर्ममें प्रवृत्ति होती है ।

राम—(दूसरी ओर देखकर) मुनिकी आज्ञासे जिनके नये कोमलपत्र खण्डित कर

---

१ 'लक्ष्मण —(दृष्ट्वा)' इति । २ 'प्रसव' इति । ३ 'राम ' इति क्वचिन्नास्ति ।

गोकर्णतर्णकोऽय तर्णोत्युपकण्ठकच्छेपु ॥ २३ ॥

([1]इति परिक्रामत ।)

लक्ष्मण —आर्य,

इयमेभिरालवालै पदे पदे ग्रन्थिलासु कुल्यासु ।
[2]तीव्रतमा जलवेणि प्रवहति विश्रम्य विश्रम्य ॥ २४ ॥

राम —वत्स, साधु [3]दृष्टम् ।

आलवालवलयेपु भूरुहा मासलस्तिमितमन्तरान्तरा ।

नदीनीरेषु मुनीना विनियोगार्थं यज्ञकर्मणि व्यवहारार्थं च विलूनानि उत्पादितानि पुन प्ररूढानि च मृदुशाद्वलानि कोमलहरितानि वर्हीपि कुशान् तर्णोति खादति । 'गोकर्णोऽश्वतरेऽपि स्यान्मृगसर्पविशेषयो ', 'तर्णको वालक समौ' इत्युभय-त्रामर ॥ २३ ॥

इयमेभिरिति । इयम् तीव्रतमा अतिवेगवती जलवेणि वेणीरूप जलम् जल-प्रवाह आलवालै पयोदानाय वृक्षाधोदेश निर्मितै स्थलै पदे पदे स्थाने स्थाने ग्रन्थिलासु स्रोतोविघ्नकरीपु पार्श्वेषु कुल्यासु कृत्रिमसरित्सु विश्रम्य विश्रम्य प्रवहति सञ्चरति । प्रवाहस्य वेगवत्त्वेऽपि स्थितैरालवालै प्रतिरुद्ध सञ्चारतया मन्दसञ्चारिता वर्ण्यते । जलस्य सुषमप्रवाहतया स्रोतोनिनादाधायक कुटिलवेगतया च वेणीरूपत्वम् । 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमर ॥ आर्यावृत्तम् ॥ २४ ॥

आलवालेति । भूरुहाम् वृक्षाणाम् आलवालवलयेषु वृक्षमूलस्थजलाधारेषु अन्तरा अन्तरा मध्ये मध्ये मासलस्तिमितम् प्रचुर निश्चलञ्च, पुन प्रथम्

लिये गये ह ऐसे कुशों को जल्पाय देनाके पास यह हरिण विशेषका बालक सानन्द चर रहा है । २३ ॥

[दोनों चलते है]

लक्ष्मण—आर्य, पग पगपर आलवालोंसे ग्रन्थियुक्त कुल्याओंमें नाववामिनी गौरव या यह जलधारा रुक रुककर प्रवाहित होती है ॥ २४ ॥

राम—वत्स, तुमने ठीक देखा है,

वृक्षोंके आलवालोंमें पानी गम्भीर तथा मन्दप्रवाह दीखता है परन्तु वहा पानी

[1] इत्युभौ' इति । [2] तीव्रतरा जलवेणी' इति । [3] 'दृष्टम् । अहो' इति ।

केरलीचिकुरभङ्गिभङ्गुरं सारणीषु पुनरम्बु दृश्यते ॥ २५ ॥

तदेहि। [1]भगवतीं कौशिकीमालोकयन्तौ मुहूर्तमात्रमात्मानं [2]पुनीवहे। (परिक्रम्यावलोक्य च।) कश्चित्साङ्क्रामिकोऽपि विशेषो [3]नैसर्गिकमतिशेते। [4]तथा हि।

जडस्वच्छस्वादुप्रकृतिरुपहृतेन्द्रियगणो
गुणो यद्यप्यासामयमयुतसिद्धो विजयते।
तथाप्युत्कर्षाय [5]स्फुरति सरितामाश्रमसदा-
मिदानीं वानीरद्रुमकुसुमजन्मा परिमलः ॥ २६ ॥

सारणीषु जलप्रवाहिकासु केरलीचिकुरभङ्गिभङ्गुरम् केरलदेशस्थवनिताकेशपाशकुटिलम् अम्बु दृश्यते। 'आलवालं स्थितो मूले वृक्षस्य जलधारके' इत्यमरः ॥२५॥

भगवतीं कौशिकीम्, तदाख्यां पुण्यां नदीम्। मुहूर्त्तम् क्षणम्। पुनीवहे पवित्रीकुर्वः। साङ्क्रामिकः संसर्गजन्यः। विशेषः गुणोत्कर्षः। नैसर्गिकम् स्वाभाविकम्। अतिशेते अतिक्रामति। स्वाभाविकगुणापेक्षयापि संसर्गजन्यो गुणो मुख्यतां भजत इत्यर्थः।

जडेति। जडा शीता स्वच्छा निर्मला स्वादु सुस्वादा प्रकृतिः स्वभावो यस्य तथाभूतः उपहृतेन्द्रियगणः आकृष्टकरणवर्गः, अयम् अयुतसिद्धः गुणान्तरामिश्रणजन्मा स्वाभाविकः आसाम् सरितां गुणः यद्यपि विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते तथापि इदानीम् आश्रमसदाम् आश्रमवासिनाम् उत्कर्षाय परितोषाय वानीरद्रुमाणां नदीतीरवर्त्तिनां वेतसतरूणां कुसुमेभ्यः पुष्पेभ्यो जन्म यस्य तादृशः परिमलः सुगन्धः स्फुरति प्रसरति। यद्यप्यासां नदीनां स्वाभाविकी स्वच्छशीतलस्वादुजलता प्रसिद्धा, तथापि सम्प्रति तटस्थवानीरकुसुमप्रभवः परि

नालियोंमें पहुँचकर केरल स्त्रियोंके केशपाशकी तरह टेढ़ा मेढ़ा दीख पड़ता है ॥ २५ ॥

चलो थोड़ी देर भगवती कौशिकीके दर्शनोंसे अपनेको पवित्र करलें। (चलकर तथा देखकर) कहीं कहीं संक्रमण करके होनेवाली विशेषतायें स्वाभाविक गुणको जीत लेती हैं।

यद्यपि जलका स्वाभाविक शीत स्वच्छ सुस्वादुगुण इन्द्रियोंको आकृष्ट करनेवाला है तथापि आश्रमवाहिनी सरिताओंका यह वानीरकुसुमजन्मा परिमल उनके उत्कर्षको बढ़ा रहा है ॥ २६ ॥

---

१ 'कौशिकीमवलोकयन्तौ मुहूर्त्तम्' इति। २ 'पुनीमहे' इति।
३ 'नैसर्गिकमधिकम्' इति। ४ 'पदम्' इति। ५ 'श्रयति' इति।

लक्ष्मण —आर्य, पुरस्तादनुकौशिकीतीरमालोकय ।

तैमेंधाजननव्रतप्रणयिभिर्व्यूहैर्वटूनामियं ,
　　सिक्ता नित्यवसन्तविभ्रमवती रम्या पलाशावली ।
एतस्या हरिणारिपाणिजसृणिश्रेणिश्रिय कोरका
　　गोपायन्ति तपोवन वनकरिक्रीडाकराकर्षणात् ॥ २७ ॥

(नेपथ्ये ।)

मरु समीपस्थाश्रमवासिना विशेषतृप्तये जायत इत्याशय । 'शीतवानीरवञ्जुला' इत्यमर । 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धमात्रेऽपि दृश्यते' इति विश्व । शिखरिणी वृत्तम् ॥ २६ ॥

पुरस्तात् अग्रत । अनुकौशिकीतीरम् कौशिकीनद्यास्तीरदेशसमीपे ।

नैमेंधेति । मेधा धारणवती बुद्धिस्तस्या जननाय उत्पादनाय यद् व्रतम् नियम पलाशमूले जलदानरूपस्तत्प्रणयिभिस्तदासक्तै वटूना मुनिबालकाना व्यूहे समुदये मिष्ट्वा जलैरार्द्रीकृता नित्यवसन्तविभ्रमवती सदावासन्तिक विलासधारिणी इय रम्या सुन्दरतमा पलाशावली दृश्यतामिति शेष, एतस्या पलाशावल्या हरिणारे सिंहस्य पाणिजा नखा एव सृणिश्रेणय अङ्कुशावल्य तासा श्रीरिव श्रीर्येषा ते तथोक्ता कोरका कलिका वनकरिभि वनगजै क्रीडया अनायासचेष्टया करै शुण्डादण्डै आकर्षणात् नमनात् छेदनाच्च तपोवन रक्षन्ति । मेधाजननाय छन्दोगब्रह्मचारिण पलाशमूल सिञ्चन्तीति वैदिक प्रसिद्धया तस्य व्रतस्य पूर्त्यै मुनिबालकै सिक्तमूला पलाशवनी सततानुभूयमानवसन्तविलासा नित्यकुसुमिता च दृश्यते, किञ्चास्या पलाशवन्या सिंहनखाङ्कुशाकाराणि फुल्लानि कुसुमानि वनकरिणा हृदयेषु सिंहनखभ्रममुत्पादयन्ति तद्भयजननद्वारा वनकरिकराकर्षणापदस्तपोवन रक्षन्तीति भाव । 'व्यूहस्तु बलविन्यासे निर्माणे वृन्दतर्कयो ', 'अङ्कुशोऽस्त्री सृणि स्त्रियाम्', 'कलिका कोरक पुमान्' इति सर्वत्र विश्वामरौ । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २७ ॥

लक्ष्मण—आर्य, आगेकी ओर कौशिकीके तटमें देखो—

बुद्धिवर्धन निमित्तक व्रतमें संलग्न वटुओंका समुदाय सींच-सींचकर इस पलाशवनको नित्य वसन्त विभ्रमशाली बनाये रहता है, इस पलाशवनमें सिंहके नखकी तरह दीखने वाली पलाशकलिकायें वनगजोंके आकर्षणसे इस वनकी रक्षा किया करती हैं ॥ २७ ॥

(नेपथ्यमें)

रामभद्र, कियच्चिरमवलोकनेन कृतार्थीक्रियन्ते [1]तपोवनविहारभूमय । सम्प्रति हि

परिणमयति ज्योतिर्वृत्त्या यजूंषि रुचा पति
किमपि [2]शमिन सावित्राख्य रहस्यमुपासते ।
गुरुरय[3]मनुष्ठास्यन्माध्यन्दिनीं सवनक्रिया-
मिह मखविधौ नेदीयासं भवन्तमपेक्षते ॥ २८ ॥

राम —([3]अश्रुतमभिनीय सानुरागम् ।)
[4]धारास्त्रीनभिपुण्वते विदधते वन्यै शरीरस्थिती

कियच्चिरम् कियन्त काल यावत् । अवलोकनेन दर्शनेन । कृतार्थीक्रियन्ते सनाथ्यन्ते । तपोवनविहारभूमय तपोवनचत्वराणि ।

परिणमयतीति । रुचापति प्रभाकर ज्योतिर्वृत्त्या तेजोरूपेण यजूंषि यजुर्वेदान् परिणमयति परिणतानि करोति, यजूरूप धारयति, मध्याह्ने सूर्यस्य यजूरूप तयैरथमुक्तम् , तथाच पुराण उक्तम्-'ऋङ्मय प्रातराविस्यो मध्याह्ने च यजुर्मय । साय साममयश्चेति त्रयीमय उदाहृत' । शमिन शमनिष्ठा मुनय किमपि अनिर्वचनीय सावित्राख्य सावित्रनामधेय रहस्य तत्त्वम् उपासते । अय गुर आचार्यो विश्वामित्र माध्यन्दिनी मध्याह्नकालिकीं सवनक्रियाम् स्नान विधिम् अनुष्ठास्यन् करिष्यन् इह मखविधौ यज्ञानुष्ठाने भवन्त नेदीयासम् निकटवर्त्तिनम् अपेक्षते इच्छति । स्नानाय प्रस्थितो गुरुर्मखरक्षायै भवन्त यदि समीपे स्थापयितुमिच्छतीत्यर्थ , अतश्च विहारभूमिविलोकने विलम्ब मा कृथा इत्याशय ॥ 'सवन त्वध्वरे स्नाने' 'रहस्तत्त्वरमे गुह्ये' इत्युभयत्र विश्व ॥ हरिणी-वृत्त, तल्लक्षण यथा 'नसमरसलाग षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति ॥ २८ ॥

धारास्त्रीनिति (धन्या इमे मुनय) त्रीन् धारान् त्रिधा अभिषुण्वते

रामभद्र, तपोवनकी विहारभूमियोंको कितना देर तक आप देखते रहेंगे ? अब सूर्य अपनी किरणोंको यजुर्वृत्तिमें परिणत कर रहे हैं—अर्थात् मध्याह्न हो रहा है, शमीजन सावित्री मन्त्रका जप कर रहे हैं, हमारे गुरुदेव माध्यन्दिन यज्ञको करनेके लिए यज्ञ भूमिमें आपको उपस्थित देखना चाहते हैं ॥ २८ ॥

१ 'यमिन' इति । २ 'अधिष्ठास्यन्' इति ।
३ 'अश्रुतिम्' इति । ४ 'त्री वारान्' इति ।

रैणेय्या त्वचि मविशन्ति वसते चापि [1]त्वचस्तारवी ।
तत्पश्यन्ति च धाम नाभिपततो यच्चार्मणे चक्षुषी
धन्याना विरजस्तमा[2] भगवती चर्येयमाह्लादते ॥ २९ ॥

(नेपथ्ये पुनस्तत्रैव[3] पठ्यते ।)

राम—(श्रुत्वा ससम्भ्रममूर्ध्वमवलोक्य च ।) कथं [4]गगनमध्यमध्यारूढो निदाघदीधितिः । [5]वत्स, तदेहि । यज्ञवाटमधिष्ठाय क्रमेण कृताह्निकस्य भगवतः कौशिकस्य प्रत्यनन्तरीभवाव ।

(इति परिक्रामतः ।)

स्नान्ति, वन्ये वनजाते फलमूलादिभिः शरीरस्थितौ प्राणयात्रां विदधते कुर्वते, ऐणेय्या त्वचि मृगचर्मणि मविशन्ति स्वपन्ति, अपि च तारवी त्वचः तरुवल्कलानि वसते परिदधते । यत् धाम ब्रह्ममयं तेजः चार्मणे चर्मरचिते लौकिके चक्षुषी नाभिपततः नालोकयतः, तत् धाम पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति, अतः धन्यानां पुण्यात्मनामेषामृषीणाम् भगवती सर्वसामर्थ्यशालिनी विरजस्तमा रजस्तमोभ्यामस्पृष्टा सात्त्विकी चर्या अनुष्ठानविधिः आह्लादते दर्शकजनमनांसि सुखयतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

गगनमध्यमध्यारूढः—आकाशमध्यमागतः । निदाघदीधितिः—उष्णकरः । यज्ञवाटम् यागाग्निम् यज्ञमार्गं वा, अधिष्ठाय—आश्रित्य । कृताह्निकस्य—कृतदिनकृत्यस्य । प्रत्यनन्तरीभवाव—सन्निहितौ भवाव ॥

राम—(अनुवाद। अभिनय करके) तीन बार स्नान करते हैं, वनके कन्दमूलसे शरीरयात्रा चलाते हैं, मृगचर्मपर सोते तथा वृक्षकी त्वचा पहनते हैं, चर्मचक्षुओंसे नहीं दीखनेवाले ब्रह्मतेजको प्रत्यक्ष करते हैं, इस तरहकी दिनचर्या किन्हीं रजोगुण-तमोगुणसे हीन धन्य पुरुषोंकी ही हुआ करती है ॥ २९ ॥

(नेपथ्यमें फिर वही बात दुहराई जाती है)

राम—(सुनकर घबड़ाहटके साथ ऊपर देखकर) क्यों, भगवान् सूर्य आकाशके मध्यमें आ गये ? भाई चलो, यज्ञस्थलमें आह्निककृत्य सम्पन्न करके बैठे हुए भगवान् कौशिकके समीप चलें ।

(दोनों जाते हैं)

---

१ 'त्वच तारवीम्' इति । २ 'विरजस्तमा' इति । ३ 'तथैव' इति ।
४ 'गगनमध्यारूढ', 'गगनमध्यमारूढ' इति । ५ 'वत्स' इति क्वचिन्नास्ति ।

लक्ष्मणः—(सर्वतो दृष्ट्वा ।) आर्य,

उद्दामद्युमणिद्युतिव्यतिकरप्रक्रीडदर्कोपल-
ज्वालाजालजटालजाङ्गलतटीनिष्कूजकोयष्टयः ।
भौमोष्मप्लवमान[२]सूर्यकिरणक्रूरप्रकाशा दृशो-
राविष्कर्म समापयन्ति धिगमूर्मध्याह्नशून्या दिशः ॥३०॥

अन्तिकतमा चेयं [३]यज्ञवाटभूमिः । तदेतदेव न्यग्रोधच्छायामण्डप-

उद्दामद्युमणीति । उद्दामा प्रबला या द्युमणिद्युतिः सूर्यप्रभा तस्या व्यतिकरेण सम्बन्धेन प्रक्रीडन् ज्वलन् यः अर्कोपलः सूर्यकान्तमणिस्तस्य ज्वालाजालेन तेजःसमूहेन जटालासु व्याप्तासु जाङ्गलतटीषु निर्जलभूमिषु निष्कूजाः अशब्दाः कोयष्टयः टिट्टिभा यासु तास्तथोक्ताः, उद्दण्डसूर्यकरसम्बन्धप्रज्वलदर्कोपलज्वालाव्याप्तनिर्जलदेशमूकीभूतटिट्टिभा इत्यर्थः । किञ्च भौमे पार्थिवे प्लवमानाः सन्तरन्तो ये सूर्यकिरणास्तैः क्रूरप्रकाशाः पार्थिवोष्मसमेधितसूर्यकरसम्बन्धादतिक्रूरप्रकाशाः अमूः दिशः दृशोः मम नयनयोः आविष्कर्म आविष्कारं समापयन्ति, दृक्शक्तिं प्रतिघ्नन्ति, अमूः मध्याह्नशून्याः दिशो धिक् ! मध्याह्ने क्रूरप्रकाशशालिनीषु दिक्षु स्वातपभयाज्जनसञ्चाराभावेन तासां शून्यतयाऽत्र धिक्कार उक्तः । सर्वास्वपि दिशासु सूर्यकरातिशयप्रकाशसमिद्धार्कोपलप्रभासु सतीषु जाङ्गलभूमिषु टिट्टिभा मूकीभूय समयं यापयन्ति, दृक्सामर्थ्यमपेतं, लोकसञ्चारश्चातपभयादपसितप्राय इत्यमूर्मध्याह्नसूर्यकरातपेन शून्यतां गमिता दिशो धिगिति भावः । 'द्युमणिस्तरणिर्मित्र' इत्यमरः । 'जङ्गलं निर्जलस्थानम्' इति धरणिः ॥ ३० ॥

अन्तिकतमा अतिसमीपस्था । यज्ञवाटभूमिः—यज्ञाग्निवेदिः । न्यग्रोधच्छाया

लक्ष्मण—(चारों ओर देखकर) आर्य,

उद्दाम सूर्यकर सम्पर्कसे चमकनेवाले सूर्यकान्त उपलोंकी ज्वालाजालसे व्याप्त निर्जल प्रदेशोंमें टिट्टिभ पक्षिगण निःशब्द बैठे हुए हैं और पृथ्वीकी गर्मीसे बढ़े हुए सूर्यकरोंसे क्रूर प्रकाशवाली दिशायें मध्याह्नमें शून्यसी प्रतीत होकर दृष्टिशक्तिका लोप सी कर रही हैं ॥ ३० ॥

समीपमें ही तो यज्ञशाला है । अब इसी न्यग्रोधवृक्षकी छायावाले मण्डपमें बैठकर

१ 'निरूप्य' इति । २ 'सूरकिरण' इति ।
३ 'यज्ञभूमि । तदेतन्न्यग्रोध' इति ।

'मध्यासीना ऋत्विजः प्रत्यवेक्षामहे। गलितयौवने पुनरहनि भगवन्तं द्रक्ष्यामः'।

राम—एवमस्तु।

(इति परिक्रम्य नाट्येनोपविशतः।)

लक्ष्मण—(पार्श्वतोऽवलोक्य।) आर्य,

मध्येव्योम क्रीडयित्वा मयूखान्भानोर्बिम्बे लम्बमाने क्रमेण।
स्वैरं स्वैरं मूलतः पादपानां पश्य च्छाया कश्चिदाकर्षतीव ॥ ३१ ॥

राम—(समन्तादवलोक्य।) वत्स, मध्यन्दिनमतिक्रान्तमिति दिनमप्यतिक्रान्तमेव। पश्य।

गगनशिखरमुदयाद्रेरधिरूढा कष्टमर्करथहरयः।

मण्डपम् न्यग्रोधतरुतलम्। अध्यासीनाः-आश्रिताः। ऋत्विजः-यज्ञाधिकृतान्। प्रत्यवेक्षावहे-पश्यावः।

मध्येव्योमेति। मध्येव्योम आकाशमध्ये मयूखान् स्वकरान् क्रीडयित्वा सञ्चार्य भानोः सूर्यस्य बिम्बे मण्डले क्रमेण लम्बमाने पश्चिमाचलगामिनि सति (कश्चित् जनः) पादपानां वृक्षाणां छायां मूलतः मूलदेशात् स्वैरम् स्वैरम् यथेच्छम् मन्दं मन्दं च आकर्षतीव आकृष्य नयतीव। इति पश्य अवलोकय। 'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः' इति लक्षिता शालिनी अत्र वृत्तम् ॥ ३१ ॥

मध्यन्दिनम् मध्याह्नः। अतिक्रान्तम् व्यतीतम्।

गगनेति। उदयाद्रेः उदयाचलात् गगनशिखरम् अन्तरिक्षस्योर्ध्वदेशम् कष्टम् क्लेशपूर्वकम् अधिरूढाः आरूढवन्तोऽर्करथहरयः सूर्यरथाश्वाः अधुना (ततो

ऋत्विजोंकी रखवाली करते हैं, दिनके ढलनेपर कौशिकके दर्शन करेंगे॥

राम—ऐसा ही होवे।

(चलकर दोनों बैठते हैं)

लक्ष्मण—(पार्श्वदेश देखकर) आर्य, आकाशके मध्यमें किरणोंसे खेलकर क्रमशः सूर्य-बिम्बके लम्बित होनेपर वृक्षोंके नीचेसे कोई छायाको धीरे-धीरे खींच सा रहा है ॥३१॥

राम—(चारों ओर देखकर) मध्याह्न बीत गया तो दिन भी बीत ही गया। देखो— जो सूर्य-रथके अश्व उदयाचलसे गगन शिखरपर बड़ी कठिनाईसे चढ़ सके थे, वही

---

१ 'अध्यासीनानृत्विजः' इति।　　२ 'तथाहि' इति।

अस्तमहीधरमधुना झटिति सुखेनावरोहन्ति ॥ ३२ ॥

[1]लक्ष्मण—आर्य, नूनमद्य रक्षांसि परापतिष्यन्ति । यदयमध्वर-वेदिकासंनिधाने ते शुनःशेपमुखेन भगवानुपाध्यायः प्रशास्ति ।

राम—(सरोषाहंकारम् ।) वत्स, यद्येवं स्यात्

कल्पान्तकर्कशकृतान्तभयंकरं मे
निघ्नत् क्रतुविघातकृताममीषाम् ।
नीराक्षसां वसुमतीमपि कर्तुमद्य
पुण्याहमङ्गलमिदं [2]धनुरादधातु ॥ ३३ ॥

व्योमशिखरात्) झटिति सुखेन अक्लेशेन अस्तमहीरहम् अस्ताचलम् अवरोहन्ति । उपर्यारोहणस्य क्लेशसाध्यत्वेऽपि अधोऽवरोहणस्य सुखसाध्यतया ये सूर्याश्वा उदयाचलाद् गगनशिखरारोहणे क्लेशमापुस्त एवाधुना गगनशिखरात्ततोऽस्ताचलावरोहणमनायासेनाचरन्तीति तात्पर्यम् ॥ ३२ ॥

परापतिष्यन्ति यज्ञविघ्नमुत्पादयितुमागमिष्यन्ति । यत् यस्मात् । अध्वरवेदिकासंनिधानम् अध्वरवेदिपार्श्वेऽवस्थानम् । शुनःशेपमुखेन तद्द्वारा । प्रशास्ति आदिशति, यतो यज्ञवेदिपार्श्वे विश्वामित्रस्त्वदीयामुपस्थितिं कामयते तन्मन्ये तेन राक्षसानामागमः सम्भाव्यते, न च तदनुमानममङ्गलं भवति, तदवश्यमद्य ते राक्षसाः समागमिष्यन्तीति मम विश्वास इति भावः ॥

यद्येवं स्यात् यदि राक्षसा आगच्छेयुः ।

तथा सति । कल्पान्ते प्रलयकाले कर्कशोऽतिभीषणो यः कृतान्तो यमस्तद्वद् भयङ्करम् भीषणम् , क्रतुविघातकृताम् यज्ञविध्वंसकानाम् निघ्नत् विनाशयत् मे मम रामस्येदं धनुः अद्य वसुमतीं पृथ्वीं नीराक्षसाम् समाप्तसकलयातुधानां कर्तुं पुण्याहमङ्गले पवित्रे दिने स्वकर्त्तव्यप्रारम्भम् आदधातु करोतु । यदि राक्षसा आगमिष्यन्ति, तदाहमपि राक्षसनाशप्रारम्भं करिष्यामीति भावः ॥ ३३ ॥

सूर्यके अश्व इस समय आकाशसे अस्ताचलपर उतर रहे हैं ॥ ३२ ॥

लक्ष्मण—आर्य, निश्चय आज राक्षस आवेंगे क्योंकि शुनःशेपके द्वारा भगवान् कौशिक आज आपको यज्ञवेदीके पास रहनेका आदेश दिया है ।

राम—(कोप तथा अहङ्कारसे) वत्स, यदि ऐसा हुआ, तब,

कल्पान्तकालमें कुपित यमराजकी तरह भयङ्कर तथा यज्ञ विघ्नकारी राक्षसोंको पीस देनेवाला यह मेरा धनुष इस पृथ्वीको नीराक्षस करनेका पुण्याह मङ्गल प्रारम्भ करे ॥३३॥

१ 'लक्ष्मण—(सहर्षम् ।)' इति । २ आदधाति' इति ।

लक्ष्मणः—(विहस्य ।) कथं रजनीचरचक्र[1]विनाशोत्कण्ठाविसंष्ठुलमार्यहृदयमदीर्घदर्शिनं[2] भगवन्तं कौशिकमपि सभावयति ।

अविद्याबीजविध्वंसादयमार्षेण चक्षुषा ।
कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्तमानमवीविशत् ॥ ३४ ॥

रामः—किमुच्यते[3] तत्रभवान्विश्वामित्रः ।

प्रज्ञातब्रह्मतत्त्वोऽपि स्वर्गीयैरेष खेलति ।
गृहस्थसमयाचारप्रक्रान्तैः ससतन्तुभिः ॥ ३५ ॥

रजनीचराणाम् राक्षसानाम्, चक्रस्य समूहस्य, विनाशाय या उत्कण्ठा व्यग्रता, तया विसंष्ठुलम् विवशम्, आर्यहृदयम् तव चेतः, अदीर्घदर्शिनम् अदूरदर्शिनम् । अयम् भावः—यदि भवान् राक्षसविनाशार्थमुत्कण्ठते तदा मन्ये भवान् विश्वामित्रमदीर्घदर्शिनमाह, यतः स हि राक्षसनाशं भवता कार्यं निश्चयेन मनुते, तत-स्तत्रोत्कण्ठामनाशान तदर्दीर्घदर्शिताम् यायकम्, तद्दीर्घदर्शितानिश्वासे राक्षसवधस्य तद्विश्वासानुसारेणासिद्धरूपतया तद्विषयं उत्कण्ठाया अनौचित्यादिति भावः ॥

अविद्येति । अयं विश्वामित्रः अविद्याबीजविध्वंसात् अविद्यारूपाज्ञानकारणस्य ज्ञानेन विनाशनात् आर्षेण चक्षुषा ध्यानदृष्ट्या भूतभविष्यन्तौ नाम कालौ वर्त्तमानं नाम कालम् अवीविशत् प्रवेशितवान् । तावपि कालभेदौ वर्त्तमानकालमिव प्रत्यक्षमीक्षमाणः प्रत्यक्षविषयत्वाविशेषात्तयोरपि वर्त्तमानकाल एव प्रवेशः कारितवानिति भावः ॥ ३४ ॥

प्रज्ञातेति । प्रज्ञातब्रह्मतत्त्वः आसादितब्रह्मतत्त्वावबोधोऽपि एष विश्वामित्रः स्वर्गीयैः स्वर्गसाधनीभूतैः गृहस्थसमयाचारप्रक्रान्तैः गृहस्थजनोचिताचारभाग्भिः गृहस्थजनसाध्यैः ससतन्तुभिः यज्ञैः खेलति क्रीडति । आसतत्त्वविदा मुक्तया

लक्ष्मण—(हसकर) राक्षसोंको मारनेकी उत्कण्ठासे तरल आपका यह हृदय भगवान् कौशिकको अदूरदर्शी समझ रहा है ।

अविद्या-बीजको विनष्ट करके आर्षचक्षुके सहारे भगवान् कौशिकने भूत भविष्यकालको वर्तमानमें ही समाविष्ट कर दिया है ॥ ३४ ॥

राम—पूज्य विश्वामित्रके विषयमें क्या कहना है ?

ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके भी यह कौशिक स्वर्गसाधक तथा गृहस्थोचिताचार प्राप्त यज्ञोंसे खेला करते हैं ॥ ३५ ॥

---

१ 'चक्र' इति क्वचिन्नास्ति ।　　२ 'भगवन्तम्' इति क्वचिन्नास्ति ।

३ 'वत्स, किमुच्यते तत्रभवान्कौशिकः । तथा हि' इति ।

अपि च—

आर्द्रीकृतो विनयनम्रमहेन्द्रमौलि-
मन्दारदाममकरन्दरसैरिवायम्।
प्रक्रान्तकुण्डलितनूतनभूतसर्ग
स्त्रैशङ्कवं चरितमद्भुतमाततान ॥ ३६ ॥

लक्ष्मण —(पुरोऽवलोक्य । [1]सहर्षम् ।)

[2]आभिरध्वरचर्याभिः श्रौतमर्थं कृतार्थयन्।
अये कुलपतिः सोऽयमित एवाभिवर्तते ॥ ३७ ॥

स्वर्गसाधकयज्ञप्रवृत्तिर्वृथा, तत्र हि अनात्मविदो गृहस्थाः प्रवर्तेरन्, तेषामेव स्वर्गाभिलाषसंभवात्, नहि मुमुक्ष्वधिकारिणः स्वर्गे प्रवृत्तिरुचिता, आत्मज्ञानितया मोक्षाधिकृतस्यापि विश्वामित्रस्यैव यागप्रवृत्तिः क्रीडा एव, तत्साध्यस्वर्गरूपफलनिराकाङ्क्षत्वादिति भावः ॥ ३५ ॥

आर्द्रीकृत इति। विनयेन पादप्रणिपातेन नम्रस्य विनतस्य महेन्द्रस्य मौलेः मन्दारदाम्नः शिरःस्थितमन्दारकुसुममालायाः रसाः मकरन्दाः तैः आर्द्रीकृतः क्लेदं प्रापित इव अयम् विश्वामित्रः प्रक्रान्तकुण्डलितः पूर्वं प्रक्रान्तः प्रारब्धः पश्चात् कुण्डलितः प्रतिबद्धः समाहृतः नूतनभूतसर्गः नवीनसृष्टिर्येन तथाभूतः सन् अद्भुतं विस्मयावहम् त्रैशङ्कवम् त्रिशङ्कुसम्बद्धम् चरितम् आततान कृतवान्। महेन्द्रप्रणिपातेन तच्छिरःस्थितमन्दारमकरन्दैरिवार्द्रीकृतोऽयं विश्वामित्रः प्रशान्तकोपो भूत्वा सद्यः प्रारब्धां निजां भूतसृष्टिं निरुद्धवानित्यमप्यद्भुतमिदमीयं त्रैशङ्कवं चरितमिति बोध्यम्। आर्द्रीकृत इवेति हेतूत्प्रेक्षा। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

आभिरिति। सोऽयं कुलपतिः आचार्यो विश्वामित्रः आभिः प्रत्यक्षीक्रियमाणाभिः अध्वरचर्याभिः यज्ञकर्मभिः श्रौतम् अर्थम् वेदस्य रहस्यं तत्त्वं कृतार्थयन् चरितार्थं

पादप्रणत इन्द्रके शिरोमन्दार पुष्परसमे जिनका चरण भिगाया जा चुका है ऐसे भगवान् विश्वामित्रने त्रिशङ्कुके चरितसम्बन्धमें नवीनविश्वकी सृष्टिका प्रारम्भ तथा परित्यागरूप आश्चर्य कार्य कर दिखाया ॥ ३६ ॥

लक्ष्मण—(आगे देखकर) (सहर्ष) इन यज्ञक्रियाओं द्वारा श्रौत अर्थको कृतार्थ करनेवाले यह विश्वामित्र इधर ही आ रहे हैं ॥ ३७ ॥

---

१ 'सकौतुकम्' इति। २ 'स्वामि' इति।

(ततः प्रविशति दीक्षितवेषो विश्वामित्रः ।)

रामः—(निर्वर्ण्य । सबहुमानम् ।) वत्स लक्ष्मण, पश्य—

कर्मणः श्रूयमाणस्य व्यञ्जनैरधिकोज्ज्वलाम् ।
तपस्तेजोमयीं लक्ष्मीमद्य पुष्णाति मे गुरुः ॥ ३८ ॥

विश्वामित्रः—(परिक्रामन्सहर्षम् ।) हन्त ! [1]कृतकृत्यप्रायमात्मानं पश्यामि । [2]यतः—

निर्वृत्तो यदु तावदध्वरभुजामातर्पणोऽयं विधि-
र्दायादेन समं सुकेतुदुहिता चाद्यैव घानिष्यते ।

यत् इत एवाभिवर्तते इत एवायाति । एतदनुष्ठितयज्ञादिक्रियाभिर्वेदार्थः सत्यापितो भवति शिष्टाचारप्रमाणकत्वाद् वेदस्येति भावः ॥ ३७ ॥

कर्मण इति । अद्य मे मम गुरुः विश्वामित्रः श्रूयमाणस्य वेदप्रतिपाद्यस्य कर्मणः क्रियाकलापस्य व्यञ्जनैः प्रकाशकैः (तत्तद्यज्ञीयपरिच्छदैः) अधिकोज्ज्वलाम् समधिकदीप्तिमतीम् तपस्तेजोमयीं तपस्यातेजःसम्पत्सम्पन्नाम् लक्ष्मीम् श्रियम् पुष्णाति । यज्ञपरिच्छदैरस्य शोभाऽधिकीक्रियत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

कृतकृत्यप्रायम् सफलीभूतम् । स्वकर्तव्ये सिद्धमिव प्रतीम इत्यर्थः ।

निर्वृत्त इति । अध्वरभुजाम् देवानाम् आतर्पणः मम तात् तृप्तिजनकः अयं विधिः यज्ञः तावत् साकल्येन निर्वृत्तः सम्पूर्णः, अद्य सुकेतुतनया ताडकादायादेन पुत्रा विना समं सह घानिष्यते मारयिष्यते । पुनः अग्रे च वृषभध्वजस्य शिवस्य धनुषो भङ्गो भञ्जनमेव एकः पणो निर्वचनं शुल्कं यस्यास्ता तथोक्ता वधूः सीता नाम

(दीक्षित-वेषमें विश्वामित्रका प्रवेश)

राम—(देखकर आदर) वत्स लक्ष्मण देखो—

श्रुत्युक्त उपवासादि कर्मोंके आचरणसे अधिक दीप्तिशाली तपस्या तथा तेजसे पूर्ण शोभाको आज हमारे आचार्य विशेषरूपसे धारण कर रहे हैं ॥ ३८ ॥

विश्वामित्र—(चलते हुए सहर्ष) मैं अब अपनेको कृतकृत्य सा समझता हूँ ।

क्योंकि—यज्ञभागभोक्ता देवोंको सन्तुष्ट करनेवाला यह यज्ञ पूरा हो गया है, दायादों के साथ ताटका आज मारी जायेगी । शिवधनुष भङ्ग ही जिसे पानेका बाना है ऐसी

---

१ 'कृतकृत्यमिवात्मानं पश्यामि' इति । २ 'यतः' इति क्वचिन्नास्ति ।

पाणीकृत्य पुनस्त्र्यम्बकधनुर्भङ्गैकशुल्कां वधू-
मैक्ष्वाके सुरकार्यदिक्षु चलति स्वास्थ्यं विधातास्महे ॥३९॥

(रामलक्ष्मणावुत्थायोपसर्पतः ।)

विश्वामित्रः—([2]राममतिचिरं निर्वर्ण्य सस्नेहकौतुकम् ।)

एष वैहारिकं वेषमादधानो धनुर्धरः ।
तरत्यमान्तरमस्माकममृतैरिव लिम्पति ॥ ४० ॥

उभौ—(उपसृत्य ।) भगवन्, दाशरथी रामलक्ष्मणावभिवादयेते ।

विश्वामित्रः—([3]आलिङ्ग्य ।) वत्सौ, किमन्यदाशास्महे ।

पाणीकृत्य विवाह्य ऐक्ष्वाके रामे सुरकार्यदिक्षु देवकार्यसम्पादिकासु दक्षिणदिशासु चलति प्रतिष्ठमाने सति स्वास्थ्यम् निर्वृतिं विधातास्महे कल्पयिष्यामः । देवरातसुतो जनको याजो ज्ञानरूप , अथ रामेण समुता ताडका हनिष्यत एव, इत पर रामो हरधनुर्भङ्गशुल्का सीता परिणाय यदा दक्षिणाशास्थितानि तत्तद्राक्षसवधात्मकानि देवकार्याणि सम्पादयितुं तदा दिशि प्रचरिष्यति, तदाहं निर्वृतिं कल्पयितास्मीति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३९ ॥

एष इति । एष धनुर्धरो राम वैहारिकं क्रीडाकालोपयुक्तं वेषम् रूपम् आदधानः धारयमाणोऽस्माकं दर्शनतृष्णावताम् आन्तरं तरत्यम् अन्तःकरणम् अमृतैः सुधाभिः सिञ्चतीव । वैहारिकं वेषमाधाय भ्रमतो धनुर्धरस्य रामस्य दर्शनेनास्माकमन्तःकरणानि सुधाया मज्जनमिवाचरन्तीति भावः ॥ ४० ॥

दाशरथी दशरथपुत्रौ । रामलक्ष्मणौ नाम । अभिवादयेते भवन्तं प्रणमतः ।

सीताको ब्याहकर रामचन्द्र जब देवकार्यार्थ प्रस्थान कर देंगे तब मैं स्वस्थ हो जाऊँगा ॥३९॥

(राम लक्ष्मण उठकर समीप आते हैं)

विश्वामित्र—(रामको देरतक देखकर) यह विहारवेषधारी धनुर्धर राम हमारे हृदयको अमृतसे लिप्त कर दे रहा है ॥ ४० ॥

दोनों—(समीप जाकर) महाराज, दशरथके पुत्र राम, लक्ष्मण आपको प्रणाम करते हैं ।

विश्वामित्र—(गले लगाकर) बच्चो, और क्या आशीर्वाद दें ।

---

१ धनुर्भङ्गैक-' इति । २ 'अतिचिराय' इति । ३ 'विहस्य' इति ।

युवाभ्यामभिनिर्वृत्तयोगक्षेमस्य वज्रिणः ।
ऐश्वर्यप्रक्रियामात्रकृतार्थाः सन्तु हेतयः ॥ ४१ ॥

(उभौ तूष्णीमधोमुखौ स्तः ।)

विश्वामित्रः—(विहस्य ।) वत्सौ समन्तादुपशीलितोऽयं सन्निवेशः । [1]कच्चिदस्मदीयास्तपोवनभूमयो रमयन्ति वामुपस्नेहयति वा गार्हस्थ्यमृषीणाम् ।

उभौ—(सप्रश्रयम् ।) भगवन्,
रम्यमेतदरम्यं वा कः परिच्छेत्तुमर्हति ।
किं तु व्यतिग चित्तमद्य नौ पश्यतोरभूत् ॥ ४२ ॥

युवाभ्यामिति । युवाभ्यां भवद्भ्यां रामलक्ष्मणाभ्याम् अभिनिर्वृत्तः सम्पादितो योगक्षेमो यस्य तथोक्तस्य, अलब्धलाभो योगः, लब्धस्य परिपालनं क्षेमम्, तौ सम्पादितसकलाभीष्टस्येति यावत् वज्रिणः इन्द्रस्य हेतयः अस्त्राणि ऐश्वर्यप्रक्रिया सम्पत्प्रतिष्ठा तन्मात्रकृतार्थाः सम्पत्प्रतिष्ठामात्राधायिनः सन्तु जायन्ताम् । भवद्भ्यामेव सर्वेष्वभीष्टार्थेषु साध्यमानेषु शस्त्राः प्रतिष्ठामात्रप्रयोजनकमस्त्रमेव धारयत्वित्यर्थः ॥ ४१ ॥

समन्तात् सर्वतः । उपशीलितः दृष्टः । सन्निवेशः अस्म्याश्रमभूमिः । वाम् रमयन्ति प्रसन्नतां प्रापयन्ति । इमा भुवः दृष्ट्वा वां हृदयं प्रसीदति ? अस्मत्सम्बन्धि गार्हस्थ्यं वा दृष्ट्वा मनः स्निह्यतीत्यर्थः ॥

रम्यमिति । एतत्तपोवनं रम्यम् हृदयावर्जकम् अरम्यम् अतथाभूतं वा इति कः परिच्छेत्तुं ज्ञातुम् अर्हति ? न कोऽपि वनमिदं रम्यतयाऽरम्यतया वा ज्ञातु

तुम दोनों इन्द्रके योगक्षेमकी चिन्ता करते रहो और इन्द्रके अस्त्र उनके ऐश्वर्यके प्रतीक भर बने रहें ॥ ४१ ॥

(दोनों चुप रहते हैं)

विश्वामित्र—(हँसकर) वत्स, तुम दोनोंने तो इस प्रदेशको अच्छी तरह देख लिया है। क्या हमारा यह तपोवन तुम्हें अच्छा लगता है और क्या हमारा यह गार्हस्थ्य तुम्हें अच्छा लगता है ? ।

दोनों—(नम्रतासे) भगवन्, यह रमणीय है या अरमणीय, इसका निर्णय कौन कर सकता है, किन्तु इसे देखकर हमारे हृदय रञ्जनसे रञ्जित हो गये हैं ॥ ४२ ॥

१ 'क्वचित्' इति ।

मदकलकलविङ्कीकाकुनान्दीकरेभ्यः
क्षितिरुहशिखरेभ्यो भानुमानुच्चिनोति ॥ ४५ ॥

अपि च—

मन्त्रसंस्कारसंपन्नास्तन्वदौदन्वतीरपः ।
एतत्त्रयीमयं ज्योतिरादित्याख्यं निमज्जति ॥ ४६ ॥

राम —(सर्वतो [1]निरूप्य ।) वत्स लक्ष्मण,

तापनैरेव तेजोभिः [2]प्लुष्टनिर्वाणमेचकाः ।
दिशो जाताः प्रतीची तु समुदाचरति क्रमात् ॥ ४७ ॥

जर्जरम् अस्तम् उपान्तं यस्य तत् अर्चिः तेन उच्चिनोति आकर्षति । अयमस्त मनभानुः खरयोपिकर्णवर्णम् ईषत्प्रकाशप्रसारात्प्रकारस्फुरयमानश्च निपमच्चि मत्तचटकीकुलकाकुध्वनिरूपस्तुतिवाक्यान्युद्घोषयद्भ्यो वृक्षाग्रभागेभ्य समा कर्षतीत्यर्थः । 'भवन्मदकलो मत्ते', 'चटकः कलविङ्कः स्यात्तस्य स्त्री कलविङ्किका', 'काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकहर्षादिभिर्ध्वनेः', 'ऊर्णा मेषादिलोम स्यात्' इति सर्वं त्रामर । मालिनीवृत्तम् 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इतितल्लक्षणम् ॥४५॥

मन्त्रसंस्कारेति । औदन्वती उदन्वतः सागरस्येमाः औदन्वती अपः जलानि मन्त्रसंस्कारसम्पन्नाः अपः जलानि मन्त्रसंस्कारसम्पन्नाः मन्त्रजनितसंस्कार शुद्धाः तन्वत् कुर्वत् आदित्याख्यम् सूर्यनामकम् एतत्त्रयीमयम् वेदत्रयस्वरूपम् ज्योतिस्तेजो निमज्जति जले मज्जति । सूर्योऽप वेदत्रयमूर्तिरात्मसम्बन्धेन सागर गतानि जलानि पावयन्नम्भसि निमज्जति, सूर्योऽस्तगत इति ॥ ४६ ॥

तापनैरिति । दिशः प्रतीच्यतिरिक्ताः पूर्वोत्तरदक्षिणाः दिशः तापनैः सूर्यसम्ब न्धिभिः तेजोभिः प्लुष्टाः दग्धाः निर्वाणाः शान्ताश्च अत एव मेचकाः श्यामाः जाताः, प्रतीची तु क्रमात् समुदाचरति पूर्वरूपमाप्नोति । प्रतीच्यतिरिक्ता दिशः प्रागेव

ऊर्णासे जर्जर अपने तेजको भगवान् सूर्य मदमत्त चटकाओंको सशब्द करनेवाले वृक्ष शिखरोंसे समेट रहा है ॥ ४५ ॥

समुद्रके जलको मन्त्रसंस्कार सम्पन्न करनेवाला यह वेदत्रयमूर्त्ति आदित्य नामक ज्योति सागरमें डूब रहा है ॥ ४६ ॥

राम—(चारों ओर देखकर) वत्स लक्ष्मण, अन्य दिशायें सूर्य तेजसे जल बुतकर काली पड गई हैं, केवल प्रतीचीमें अभी कुछ तेज विद्यमान है, वह क्रमसे शान्त हो रहा है ॥४७॥

---

१ 'अवलोक्य' इति । २ 'दग्ध—' इति ।

किं च—

काचिद्बिभ्रति भूतिमाश्रमभुवो वैतानवैश्वानर
ज्वालोपप्लवमानधूम[1]वलभीविश्रान्तदिग्भित्तय ।
श्रूयन्ते वटवस्तृतीयसवनस्वाध्यायदीर्घानपि
स्पर्धाबन्धमनोहर प्रति मुहु स्वान्द्राघयन्त स्वरान् ॥४८॥

विश्वामित्र —वत्स [2]राघव,

सौरतेजोहीना इति सूर्यदग्धश्यामलतया सभाव्यन्ते, प्रतीची स्वस्तमनकालेऽपि यत्किञ्चित्तेजोयुक्तया क्रमात्समुदाचरतीत्युच्यते । 'समुदाचरस्तु शोभाया पूर्वं रूपे भयेऽपि च' इति विश्व । 'निर्वाणमस्तगमने', 'कालश्यामलमेचका ' 'प्रुष्टप्लुष्टोपिता दग्धे' इति सर्वत्रामर ॥ ४७ ॥

काचिदिति । वितानो यज्ञस्तत्सम्बन्धी यो वैश्वानरो वह्निस्तस्य ज्वालया उपप्लवमान अधिकता गच्छन् यो धूम स एव वलभी सौधोपरिगृहम् तत्र विश्रान्ता विशेषत भ्रम प्राप्ता दिग्भित्तयो दिक्प्रदेशा यत्र तादृश्य आश्रमभुव काश्चित् अनिर्वचनीयाम् भूतिं शोभा बिभ्रति धारयन्ति स्पर्धा परस्परजिगीषा तस्या बन्धेन अनुबन्धेन मनोहर यथा स्यात्तथा मुहु वारवार तृतीयसवने सायकालिक स्नाने स्वाध्याये जप दीर्घान् अपि स्वान् स्वरान् द्राघयन्त दीर्घता प्रापयन्त वटव श्रूयन्ते । यज्ञवह्नि ज्वालादीर्घीकृतो धूमस्तोमो वलभीवत् प्रतीयमानो दिग्भ्रम जनयति, तेनाश्रमभूमयो नितान्तमनोहरा प्रतीयन्ते, किञ्च वटव सायस्नान समाप्य स्वाध्यायमारभमाणा परस्परस्पर्धया स्वान् स्वरान् प्लुतान् कुर्वत इत्यर्थ । 'वितानो यज्ञविस्तार ' इति विश्व । 'वटव श्रूयन्ते' इत्यत्राधाराधेययोरभेदोपचाराद् ध्वनिश्रवणमेव विवक्षितम् , यथा प्रयुक्त कविभि —'अश्रूयत पाञ्चजन्य ' 'विलपत कपिञ्जलमश्रौषम्' इतिमाघकादम्बर्यो । 'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामत ' इति न्यायाद् विशेषणलाभ ॥ ४८ ॥

आश्रम भूमिकी कुछ अद्भुत शोभा हो रही है, क्योंकि वहाँ पर यज्ञाग्नि धूमरूप वलभियाँ दिशाओंका भ्रम उत्पन्न कर रही हैं, वटुलोक साय सन्ध्या स्नानसे स्वनो दोघस्वरको और भी दीघ इसलिये कर रहे हैं कि उनमें जोरसे पढनेमें होडसा लग गई है ॥ ४८ ॥

विश्वामित्र—वत्स राघव,

१ 'वलमीविश्रान्त-' इति । २ 'रामभद्र' इति ।

उन्मुक्ताभिर्दिवसमधुना सर्वतस्ताभिरेव
स्वच्छायाभिर्निचुलितमिव प्रेक्ष्यते विश्वमेतत् ।
पर्यन्तेषु ज्वलति जलधौ रत्नसानौ च मध्ये
चित्राङ्गीयं रमयति [1]तम स्तोमलीला धरित्री ॥ ४९ ॥

लक्ष्मण —(सनिर्वेदम् ।)

तेजोमयं तमोमयमन्यतरस्या तदेव दिक्चक्रम् ।
किमपि विचित्रा [2]धात्रा सृष्टिरियं भुवनकोषस्य ॥ ५० ॥

उन्मुक्ताभिरिति । एतत् विश्व जगन्मण्डलम् दिवसम् अखिलमपि दिनम् उन्मुक्ताभि परित्यक्ताभि सूर्यतेज सान्निध्यात् तिरोहिताभि ताभि प्राचीनाभि एव स्वच्छायाभि अधुना अस्तमनकाले सर्वत समन्तात् निचुलितम् आवृतम् इव प्रेक्ष्यते दृश्यते । अस्य विश्वस्य या छाया सूर्यतेज सान्निध्यात्तिरोहितेवासी सा अधुना तदस्तमने सति पुनरपि सन्निधाय जगदावृणोतीवेति पूर्वार्द्धार्थ । तमसा स्तोमस्य समुदयस्य लीला विलासो यस्या सेय तम स्तोमसमाकुला धरित्री धरणी पर्यन्तेषु प्रान्तेषु जलधौ समुद्रे रत्नसानौ सुमेरुपर्वते च ज्वलति दीप्यमाने सति चित्राङ्गी विविधवर्णैरञ्चिता सती रमयति त्रिलोककाना मन प्रमोदयति । क्वचित् तम स्तोमनीला, क्वचिदुच्चतमस्थलेषु मध्य सूर्यस्पृष्टयस्तेषु च प्रदेशेषु सावशेष सूर्यकरद्योतिता चेय नानावर्णता भजन्ती पृथिवी प्रमोदयति मानसानि दर्शकाना मित्यर्थ । तम स्तोमसुमेरुरत्नसमुद्रसलिलसम्भ्र धवलश्यामरक्तवततया भुवश्चित्राङ्गीभाव उक्त । 'रत्नसानु सुरालय ' इत्यमर ॥ मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ४९ ॥

तेजोमयमिति । तत्र दिक्चक्रम् दिङ्मण्डलम् पश्चिमाया तेजोमयम् सूर्यकरयुक्तम् , अन्यतरस्या प्राच्यादौ दिगवकाशे तमोमयम् अन्धकारपूर्णञ्च इति विधात्रा ब्रह्मणा स्रष्ट्रा इयं भुवनकोषस्य ब्रह्माण्डस्य विचित्रा सृष्टि, एकत्र प्रकाशपूर्णं

जो छाया दिन भर सूर्यकरोंसे अभिभूत होकर परित्यक्त सी बनी रही, उसी छायाने इस समय विश्वको व्याप्त कर रखा है । प्रान्तदेश, सागर, सुमेरु और मध्यदेशके चमकते रहनेके कारण चित्राङ्गी यह पृथिवी बहुत आनन्द दे रही है ॥ ४९ ॥

लक्ष्मण—(उदास भावसे) यही दिङ्मण्डल एक भागमें तेजोमय तथा अपर भागमें तमोमय है, जिससे स्पष्ट है कि ब्रह्माने इस संसारको विचित्र बनाया है ॥ ५० ॥

१ 'तम स्तोमनीला' इति । २ 'धातु' इति ।

(सर्वतोऽवलोक्य ।)

चूडारत्नैः स्फुरद्भिर्विषधरविवराण्युज्ज्वलान्युज्ज्वलानि
प्रेक्ष्यन्ते चक्रवाकीमनसि निविशते सूर्यकान्तात्कृशानुः ।
किं चामी शल्ययन्तस्तिमिरमुभयतो निर्भराहस्तमिस्रा
सङ्घट्टोत्पिष्टसन्ध्याकणनिकरपरिस्पर्धिनो भान्ति दीपाः ॥५१॥

राम —(विलोक्य ।)

विश्वं चाक्षुषमस्तमस्ति हि तमः कैवल्यमौपाधिकं

मन्यतश्च सान्धकारमिदमद्भुतं विश्वं महाग्रासं कृतमिति भावः । 'घात्रा भुजग कोपस्य सृष्टिः' अत्र 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति सूत्रेण कर्मणि षष्ठी नियम्यतेऽत्र कर्त्तरि तृतीया ॥ ५० ॥

चूडारत्नैरिति । विषधराणां भुजङ्गानां विवराणि बिलानि स्फुरद्भिः तिमिरव्यापनात् प्रकाशं विस्तारयद्भिः चूडारत्नैः शिरोमणिभिः उज्ज्वलानि उज्ज्वलानि प्रेक्ष्यन्ते, प्रतिविवरं सर्पफणामणयः प्रकाशं विस्तारयन्तीति तानि प्रकाशोज्ज्वलानि दृश्यन्त इत्यर्थः । कृशानुः सन्तापरूपो वह्निः सूर्यकान्तात् सूर्यकान्तमणिं विहाय चक्रवाकीमनसि तदाख्यपक्षिणीविभेदहृदये निविशते प्रवेशं करोति, सूर्येऽस्तमिते सूर्यकान्तमण्यः शान्ताः अनलिप्ताः, मन्ये तत्रत्यस्तापो भानुकिरणेष्वस्तं गतेषु रात्रिवियोगिनीनां चक्रवाकीणामन्तर्निविशते, तत्र सन्तापो वर्द्धते इत्याशयः । किञ्च अमी प्रत्यग्रज्वालिता दीपाः तिमिरम् अन्धकारं शल्ययन्तः खण्डयन्तः उभयतः उभयोः पार्श्वयोः निर्भरम् अत्यर्थम् योऽहस्तमिस्रयोर्दिनरात्र्योः सङ्घट्टो मिलनं तेनोत्पिष्टायाः चूर्णितायाः सन्ध्यायाः ये कणसमूहास्तत्परिस्पर्धिनः तुल्या भान्ति शोभन्ते, उभयतो मिलन्त्योर्दिनरात्र्योर्मध्ये चूर्णितायाः सन्ध्यायाः कणा इव प्रतीयमाना ध्वान्तमपघ्नन्तोऽमी दीपाः प्रतिभान्तीति भावः । 'तमिस्रा तामसी रात्रिः', 'आशीविषो विषधरः' इत्युभयत्रामरः ॥ ५१ ॥

विश्वमिति । चाक्षुषं चक्षुर्ग्राह्यं प्रत्यक्षम् विश्वम् जगत् अस्तम् तिरोहितम्,

(चारों ओर देखकर) प्रकाशित होनेवाले मस्तकस्थ रत्नोंकी कान्तिसे सर्पोंके बिल चमक रहे हैं, सूर्यकान्तमणिकी ज्वाला चक्रवाकियोंके हृदयमें प्रवेश कर रहा है, दिन और रात्रिके सङ्घर्षसे पिसी गई सन्ध्याके कणसे समता रखनेवाले यह दीप अन्धकारको उभय भागमें छेद रहे हैं ॥ ५१ ॥

राम—(देखकर)

संसारकी दृक्-शक्ति समाप्त हो गई है, सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार है औपाधिक

प्राच्यादिव्यवहारबीजविरहाद्दिङ्मात्रमेव स्थितम् ।
गृह्यन्ते भयहेतव पटुभिरप्यक्षान्तरैर्भीति च
ध्वान्तेनातिघनेन वस्तु वचसा ज्ञात स्वरेणामुक ॥ ५२ ॥

किं च—

घनतरतिमिरघुणोत्करजग्धानामिव पतन्ति काष्ठानाम् ।
छिद्रैरमीभिरुडुभि किरणव्याजेन चूर्णानि ॥ ५३ ॥

चक्षुरिन्द्रियग्राह्य समस्तमपि वस्तुजातमदृश्यमभावत तमोऽभिभवात्, तम केवलम् केवलोऽन्धकार अस्ति, सर्वत केवल तमो व्याप्तमस्तीति शेष । उपाधिर्विशेषण तत्सम्बन्धी औपाधिक य प्राच्यादिव्यवहार, तस्य बीज सूर्य, तत्सम्बन्धादेव हि प्राच्यादिव्यवहार प्रथते, सूर्योदयसम्बन्धवती प्राचीत्यादिव्यवहारो हि सूर्यजनित इति तेषा व्यवहाराणा बीज सूर्यस्तस्य विरहात् अस्तगमनात् दिङ्मात्रम् निरुपाधिका केवला दिक् एव स्थितम् वर्तमानमस्ति । पटुभि दृश्यग्रहणसमर्थै अपि अक्षान्तरै अक्षिभिन्नैस्त्वगादीन्द्रियै भयहेतव भीतिकारणानि गृह्यन्ते रज्जव स्पृष्टा सत्य सर्पतया ज्ञायन्ते इत्येव प्रकारेणान्येऽपि पदार्था प्रतिभासमासाद यन्तीत्यर्थ । अतिघनेन सान्द्रेण ध्वान्तेन तमसा वस्तु घटपटादिकम् वचसा आप्त वाक्येन भाति प्रकाशते, स्वरेण परिचितशब्दोच्चारणध्वनिना च अमुक अयसमा विति विदितो भवतीत्यर्थ । अतिगाढे तमसि सन्तते चक्षुर्ग्राह्य जगदस्तमेति, तम कैवल्य विजृम्भते, सूर्यरूपोपाधिविगमे प्राच्यादिव्यवहारस्य सदापत्तत्वात् दयादिक्सामान्यमात्र प्रतीयते, वस्तुग्रहणसमर्थान्यपीन्द्रियाणि भीतिकारणानि वस्तूनि गृह्णन्ति, वस्तूना च प्रत्यय केवलमाप्तवाक्यायत्त व्यक्तिपरिचयश्च स्वरा धीन इति सर्वत्र प्रसृत गाढ तम इति भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५२ ॥

घनतरेति । घनतर सातिशयमान्द्र यत् तिमिरम् अन्धकार स एव घुणो त्कर काष्ठकीटसमूहस्तेन जग्धानाम् कवलीकृतानाम् काष्ठानाम् दिशा दारूणाञ्च चूर्णानीव अमीभि उडुभि नक्षत्र छिद्रै नक्षत्ररूपकीटनिष्कासितकाष्ठविवरै इव

प्राच्यादि व्यवहारके बीज सूर्यके नहीं रह जानेसे एक मात्र दिशा सामान्यत रह गई । समर्थ इन्द्रियगण भी तमोमाहात्म्यसे भयजनक वस्तुओंका ज्ञान करा दे रहे हैं किसी वस्तुका ज्ञान शब्दसे होता है प्रत्यक्षसे नहीं एव व्यक्ति का भी ज्ञान उसके स्वरसे हो होता है रूपसे नहीं ॥ ५२ ॥

अति घने अन्धकार रूप घुनों द्वारा भक्षित काष्ठों (दिशाओं) का चूर्ण उडुगण रूप छिद्रोंसे उनकी किरणोंके व्याजसे गिर रहा है ॥ ५३ ॥

(नेपथ्ये कलकलः ।)

(सर्वे ससम्भ्रममाकर्णयन्ति[1] ।)

(पुनस्तत्रैव[2] ।)

निर्मज्जच्चक्षुरन्तर्भ्रमदतिकपिशक्रूरतारा नरास्थि
　　ग्रन्थिं दन्तान्तरालग्रथितमविरतं जिह्वया घट्टयन्ती ।
ध्वान्तेऽपि व्यात्तवक्त्रज्वलदनलशिखाजर्जरे व्यक्तकर्मा
　　निर्मान्ती गृध्ररौद्रीं दिवमुपरि परिक्रीडते ताडकेयम् ॥५४॥

किरणव्याजेन मयूखमिषेण पतन्ति । अन्येषां घुणभक्षितकाष्ठानां चूर्णानि पतन्ति, तथैव दिशामपि काष्ठापदाभिलप्यानां तिमिरैरिव घुणैर्भक्षितानां सतीनां किरणानीव चूर्णानि पतन्तीति भावः । 'काष्ठं दार्विन्धनं समम्', 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा', 'तारकाऽप्युडु वा स्त्रियाम्' इति सर्वत्रामरः ॥ ५३ ॥

निमज्जदिति । निर्मज्जत् निमग्नीभवत् कोटररूपं यच्चक्षुः तस्य अन्तः मध्ये भ्रमन्ती अतिकपिशा पिङ्गलाभा क्रूरा भयजनकतया दुर्दर्शा च तारा कनीनिका यस्याः सा तादृशी तथोक्ता, दन्तान्तराले दशनपङ्क्तिमध्ये ग्रथितं लग्नं नरास्थि ग्रन्थिं मनुष्यास्थ्नो ग्रन्थिम् अविरतम् सततम् जिह्वया घट्टयन्ती चालयन्ती, व्यात्तं विस्तृतं यन्मुखं वक्त्रं तत्र ज्वलन्ती प्रकाशमाना या अनलशिखा वह्निदीधितिः तया जर्जरे ध्वान्तेऽपि व्यक्तकर्मा दृश्यमानव्यापारा दिवम् आकाशम्, गृध्ररौद्रीम् गृध्रस्येव रौद्रं तीव्रक्रूरत्वं यस्यास्तां तथोक्तां निर्मान्ती कुर्वती सती इयं ताडका उपरि ऊर्ध्वदेशे परिक्रीडते । कोटरनिमग्ननयना पिङ्गलतारा नरास्थिमालां दन्तलग्नां चालयन्ती मुखस्थिताग्निज्वालया तमसि भिद्यमाने सति व्यक्तरूपा दिवं भीषणां कुर्वतीव ताडकोपरि भ्रमतीत्यर्थः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ५४ ॥

(नेपथ्यमें कलकल)

(सभी घबड़ाहटसे सुनते हैं)

(फिर वहीं पर)

आँखें भीतर पैठी हैं, जिनके भीतर अतिकपिशवर्णा भयङ्कर कनीनिका घूम रही है, दन्तान्तराल-ग्रथित नरास्थि-ग्रन्थिको बराबर जीभसे चला रही है, फैलाये हुए मुखके भीतर जलने वाली आगसे अन्धकारके जर्जर होनेके कारण उसका कर्त्तव्य स्पष्ट दीख रहा है ऐसी आकाशमें गृध्रकी तरह भयावनेवाली ताड़का क्रीडा कर रही है ॥ ५४ ॥

---

१ आकलयन्ति' इति ।　　२ 'तत्रैव भो ' 'भो भो ' इति च ।

अपि च—

त्रेताग्निकुण्डपूरं च वर्षन्तो रुधिरच्छटाः ।
हिंस्राः सुबाहुमारीचमिश्रा नः परिवृण्वते ॥ ५५ ॥

विश्वामित्रः—([1]साकूतम् ।) कथं ताडका । वत्स रामभद्र,
विधानमानुश्रविकं गृहेषु नः प्रतिक्षिपन्ती किमियं प्रतीक्ष्यते ।
सुबाहुमुख्यैः सममाततायिभिर्गृहाण चापं निगृहाण ताडकाम् ॥५६॥

रामः—(सघृणातिरेकम् ।) भगवन्, [2]स्त्रियमिमाम् ।

(पुनर्नेपथ्ये ।)

त्रेतेति । हिंस्राः क्रूरकर्माणः सुबाहुमारीचमिश्राः सुबाहुमारीचसन्निलाल प्रधाना वा राक्षसाः त्रेताग्नि अग्नित्रयं तस्य कुण्डं पूरयित्वा इति त्रेताग्नि कुण्डपूरं रुधिरच्छटाः वर्षन्तः नः अस्मान् यज्ञव्यापृतान् परिवृण्वते अवरुन्धन्ति । दक्षिणाग्निगार्हपत्यौ तृतीयस्त्वयोऽग्नयः । 'अग्नित्रयमिदं त्रेता' । 'त्रेताग्निकुण्ड पूरम्' इत्यत्र चर्मोदरयोः पूरेः' इत्यनुवर्तमाने 'वर्षप्रमाणे ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इति णमुल् ॥ ५५ ॥

विधानमिति । नः अस्माकम् तपस्विनाम् गृहेषु आनुश्रविकं वैदिकम् विधानम् यज्ञानुष्ठानविधिम् प्रतिक्षिपन्ती नाशयन्ती इयं ताडका किं कुतः प्रतीक्ष्यते ? अस्याः विनाशे समययापनाच्च व्यर्थेति भावः । तत् अस्याः विनाशस्य सद्यः सम्पाद्य तया चापं धनुर्गृहाण धारय, 'आततायी वधोद्यतः' इति लक्षिते आततायिभिः सुबाहुमारीचमुख्यैः समम् ताटकां निगृहाण घातय । 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्र पाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः' ॥ ५६ ॥

स्त्रियमिमाम् स्त्रियं ताडकां हन्तुं कथमाज्ञापयति भवन्त इति भावः ॥

अग्निहोत्रके कुण्डोंको भर देनेवाली रुधिरवृष्टि करते हुए सुबाहु मारीच आदि हिंस्र राक्षस हमें घेर रहे हैं ॥ ५५ ॥

विश्वामित्र—क्यों ताडका है ? वत्स रामभद्र,

हमारे घरोंमें प्रस्तुत वैदिक विधानोंको नष्ट भ्रष्ट करती हुई इस ताडकाकी प्रतीक्षा क्या करते हो ? अब तुम धनुष धारण करो और उपद्रवकारी सुबाहु आदिकोंके साथ इस ताडकाको मारो ॥ ५६ ॥

राम—(दयापूर्वक) महाराज, इस स्त्रीको ?

---

१ 'साशङ्कमिव', 'ससम्भ्रममिव' इति ।

२ 'स्त्रियमिमां कथं हनिष्ये', 'स्त्रियमिमां कथं निगृह्णामि' इति च ।

'अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् । भोस्तात विश्वामित्र, परिभूयामहे । प्रहीयताम् अधिज्यधन्वा दाशरथिः ।

राम —(विहस्य । नेपथ्यावलोकितकेन ।) बालर्षे शुनःशेप, मुहूर्तं धीरो भव ।

अलं क्लिशित्वा गुरुमल्पकोऽयं विधिस्त्वदाज्ञैव गरीयसी नः ।
न कौशिकस्य त्वयि धर्मपुत्रे पुत्रे मधुच्छन्दसि वा विशेषः ॥ ५७ ॥

विश्वामित्र —वत्स, 'कृतमुत्तरोत्तरेण । नन्वयं नेदीयानाश्रमोपघातः ।

लक्ष्मण —(सव्यथमिव । स्वगतम् ।)

अब्रह्मण्यम् 'अब्रह्मण्यमनर्थ्योक्तौ' महद्भयमनुपस्थितमित्यर्थः । परिभूयामहे वयं शुनःशेपाद्वयोऽमीभिर्यातुधानैरनादृता भवाम । प्रहीयताम् प्रेष्यताम् । अधिज्यधन्वा धृतचापः । दाशरथिः रामः ॥

अलमिति । गुरुं विश्वामित्रं क्लिशित्वा अलम् वृथा गुरुर्न क्लेशनीय इत्यर्थः । अयं ताडकावधरूपो विधिः व्यापारोऽल्पकः अल्पतरः, नः अस्माकं त्वदाज्ञा गरीयसी, त्वदाज्ञया मया ताडकावधो विधेय इति भावः । धर्मपुत्रे धर्मतः पुत्रत्वेन पाल्यमाने त्वयि शुनःशेपे पुत्रे औरसे तनये मधुच्छन्दसि वा तन्नामके कौशिकस्य विश्वामित्रस्य वा विशेषः तारतम्यमस्ति ॥ ५७ ॥

कृतमुत्तरोत्तरेण वाक्यो वानय कृत्वाऽलम् । नेदीयान् समीपस्थितः । आश्रमोपघातः आश्रमबाधा ।

(अब्रह्मण्य—अनर्थ हो रहा है, हे तात विश्वामित्र, हम सताये जारहे हैं, धनुर्धारी रामभद्रको भेजिये)

राम—(हँसकर) अजी बाल ऋषि शुनःशेप थोड़ी देर ठहरो ।

इस सत्कर्ममें गुरुको कष्ट देना व्यर्थ है, यह बहुत छोटा काम है, इसके लिये आपकी ही आज्ञा पर्याप्त है, विश्वामित्रके लिये धर्मपुत्र शुनःशेप तथा पुत्र मधुच्छन्दमें कोई अन्तर नहीं है ॥ ५७ ॥

विश्वामित्र—उत्तर प्रत्युत्तर व्यर्थ है, आश्रमका उत्पीडन समीप आता जारहा है ।

लक्ष्मण—(व्यथासे स्वगत) जब कौशिक आज्ञा दे ही रहे हैं तब आर्य रामचन्द्र

---

१ 'अब्रह्मण्य भो' इति । २ 'कृतं कृतमुत्तरेण', 'कृतं कृतमुत्तरोत्तरेण' इति ।

मीमांसते किमार्योऽयं कौशिकेऽप्यनुशासति ।
वाचमेषामृषीणां हि शास्त्रमेवानुवर्तते ॥ ५८ ॥

राम—(स्वगतम् ।)

गुर्वादेशादेव [1]निर्मीयमाणो नाधर्माय स्त्रीवधोऽपि स्थितोऽयम् ।
अद्य स्थित्वा श्वो गमिष्यद्भिरस्मैर्लज्जास्माभिर्मीलिताक्षैर्जितैव ॥५९॥

किं तु—

दीर्घं प्रजाभिरतिकौतुकिनीभिराभि-
रस्मिन्नकीर्तिपटहे मम ताड्यमाने ।

मीमांसत इति । अयम् आर्यः पूजनीयो रामः कौशिके विश्वामित्रेऽपि अनुशासति आज्ञां ददति सति किं मीमांसते विचारयति (कथमहं स्त्रियं हन्तानीति विभावयति ?) हि यतः शास्त्रं कर्तृ एषां मुनीनाम् एव वाचमनुवर्तनं अनुधावति । मुनिवचसामेव शास्त्ररूपत्वं स्त्रीवधविधानस्यापि शास्त्ररूपतया तत्र विचारावसरस्याभाव इति भावः ॥ ५८ ॥

गुर्वादेशादिति । गुरोः विश्वामित्रस्य आदेशात् आज्ञया एव निर्मीयमाणः क्रियमाणः अयम् स्त्रीवधः अधर्माय पापाय न स्थितः समर्थः, गुर्वाज्ञयाऽनुष्ठीयमानोऽयं स्त्रीवधो मम पापमुत्पादयितुं न शक्नोतीत्यर्थः । ननु मास्तु पापं तथापि लज्जा त्ववश्यं भाविनी, तत्राह—अद्येति । अद्य अस्मिन् दिने अत्र स्थित्वा श्वः परदिने इतो गमिष्यद्भिः प्रस्थास्यमानैः अस्मैः तैः अस्माभिः मीलिताक्षैः मुद्रितलोचनैः लज्जा जिता एव, नयननिमीलनेनैतस्याः लज्जायाः किं भेतव्यमित्यर्थः । निमीलितनयनेनास्मादेकावस्थानात् सत्वरप्रस्थाने केनापि दुष्कृतस्याज्ञानात् नास्ति लज्जाप्रसर इत्याशयः ॥ शालिनीवृत्तम् ॥ ५९ ॥

दीर्घमिति । अतिकौतुकिनीभिः कथं रघुवंश्येनापि सन्तानेन स्त्रीवधः कृत इत्याश्चर्यचकिताभिः आभिः प्रजाभिः उच्चैः अस्मिन् मम अकीर्त्तिपटहे स्त्रीवधरूपा-

क्या विचार करते हैं, इन ऋषियोंके वचन शास्त्रका ही अनुसरण करते हैं ॥ ५८ ॥

राम—(स्वगत) गुरुदेवकी आज्ञासे किये गये इस स्त्री-वधसे मुझे अधर्म तो होगा नहीं, रही लज्जाकी बात, आज हम हैं कल चले जायेंगे, तब तक आँखें बन्द करके लज्जाको भी परास्त कर दे सकते हैं ॥ ५९ ॥

किन्तु यहाँकी यह उत्कण्ठित प्रजा मेरी इस स्त्री-वध रूप दुर्यशका जब कीर्तन करेगी

१ 'निर्मीयमाण' इति ।

ज्योतिर्मयेन वपुषा जगदन्तसाक्षी
लज्जिष्यते कुलगुरुर्भगवान्वसिष्ठः ॥ ६० ॥

(नेपथ्ये ।)

अलमिष्ट्वा मखान्मूर्खा खड्गधारैव नास्ति नः ।
अदवीयानयं पन्था स्वर्लोकमुपतिष्ठते ॥ ६१ ॥

राम —(श्रुत्वा 'सरोषं ससम्भ्रमं चोत्थाय सविनयमञ्जलिं बद्ध्वा ।) भगवन्जगत्त्रयगुरो गाधिनन्दन,

यशोडिण्डिमे ताड्यमाने वाद्यमाने सति ज्योतिर्मयेन भास्वरमयेन वपुषा जगदन्तसाक्षी संसारविनाशप्रत्यक्षकर्ता सर्वद्रष्टा कुलगुरुः मदीयवंशगुरुः भगवान् वसिष्ठः दीर्घं चिराय लज्जिष्यते त्रपामनुभविष्यति, मद्गुरुकेऽपि रघुकुले कथमेतादृशः कलङ्की जातो यो वधूमवधीत् इति त्रपामनुभविष्यतीत्यर्थः । साक्षीशब्दे 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्' इतीनिः ॥ ६० ॥

अलमिति । हे मूर्खा अज्ञानवन्तो यागपरायणाः, मखान् तांस्तान्यागानिष्ट्वा सम्पाद्य अलम्, इयमस्माकम्, खड्गधारा अस्ति विद्यते, यागसम्पाद्यस्वर्गस्यानया खड्गधारयैव लभ्यत्वे अनेकविधप्रयाससम्पाद्ययागप्रवृत्तिर्वृथेति भावः । ननु स्वर्गफलस्य यागखड्गधारोभयमार्गसाध्यत्वे किमिति स्वर्गसाधनाय याग एव नोपादीयते तत्राह—अदवीयानिति । अयं खड्गधारारूपः पन्था अदवीयान् सन्निहिततमः, स्वर्गलोकमुपतिष्ठते याति । नानाविधव्रीहिप्रोक्षणावघातफलीकरणपुरोडाशहोमप्रभृतिभिः क्रियाकलापैर्यागः सम्पाद्यते तेनापूर्वं जन्यते, तेन च स्वर्गलाभ इत्येष यागात्मकः पन्था वक्रो विप्रकृष्टश्च, मम तु खड्गधारापातेन युद्धहतस्य सद्यः स्वर्गलाभनियमेन सपदि स्वर्गलाभ इत्ययं नेदीयान्मार्गस्तदलं यागं कृत्वाऽऽयात युद्धे मृत्वा शीघ्रं स्वर्गं लभध्वमिति भावः ॥ ६१ ॥

तब शान्तदृष्टिसे समस्त विश्वकी घटनाओंको देखनेवाले मेरे कुलगुरु भगवान् वसिष्ठ लज्जित हो उठेंगे ॥ ६० ॥

मूर्खो, यज्ञ करना व्यर्थ है हमारी तलवारकी धार तो है ही यह तलवाररूपी सीधा रास्ता स्वर्गको चला गया है ॥ ६१ ॥

राम—(सुनकर तेजीसे उठकर हाथ जोड़कर) हे जगत्त्रय गुरो विश्वामित्र

१ 'ससम्भ्रममुत्थाय', 'सरोषसम्भ्रममुत्थाय' इति च । २ 'भगवन्गुरो' इति ।

दशरथगृहे संभूतं मामवाप्य धनुर्धरं
दिनकरकुलास्कन्दी कोऽयं कलङ्कनवाङ्कुरः ।
इति [१] न वनितामेतां [२] हन्तुं मनो विचिकित्सते
यदधिकरणं [३] धर्मस्थीयं तवैव वचांसि नः ॥ ६२ ॥

(प्रणिपत्य [४] नेपथ्याभिमुखम् ।) [५] भोस्तपोधना, मा भैष्ट ।
रजनिचरचमूरमूरपास्यन्नयमहमागत एव [६] रामचन्द्रः ।

दशरथेति । दशरथगृहे दशरथभवने दशरथस्य धर्मभार्यायां वा सम्भूतं जातं मां रामं धनुर्धरम् चापपाणिम् अवाप्य प्राप्य दिनकरकुलास्कन्दी सूर्यकुलापमानजनकः कलङ्कस्य अयं नवाङ्कुरः नवप्ररोहः कः इति एतां वनितां स्त्रियं ताडकां हन्तुं मारयितुं मम मनो न विचिकित्सते न सन्देग्धि, यद् यस्मात् अस्माकं नवानुशिष्याणां तवैव वचांसि धर्मस्थीयम् धर्मप्रवृत्तिजनकं धर्माधर्मव्यवस्थापकम् अधिकरणम् निर्णयवचनम् । यतस्तवैव वचांसि वयं क्षत्रिया धर्मनिश्चायकतया ऽऽश्रियामहेऽतोऽस्याः स्त्रियो वधं कथं प्रवर्त्स्यामीति मम मनो न सन्दिग्धे, त्वदाज्ञामादाय प्रवृत्तेरित्यर्थः ॥ हरिणीवृत्तम्, 'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति च तल्लक्षणम् ॥ ६२ ॥

रजनिचरेति । अमूः सम्मुखस्थिता रजनिचरचमूः राक्षससेना अपास्यन् अमुत्क्षिपन् नाशयिष्यन् अयमहं रामचन्द्रः आगत एव आयात इव । पुरःस्थाया राक्षससेनाया अवश्यविनाशकोऽहं रामचन्द्रः समायात इति तपोधनैर्भवद्भिर्भयं न करणीयमित्यर्थः, ननु तवागममात्रेण कथं न भयं करणीयमेषा राक्षसानामति क्षुद्रान्तरत्वादिति चेत्तत्राह—

दशरथके कुलमें उत्पन्न तथा धनुषधारी मुझको प्राप्त करके सूर्यके वंशको क्षीणरूपा यह नया कलङ्क लग रहा है, इसलिये मुझे हिचकिचाहट नहीं हो रही है क्योंकि धर्माधिकारमें हमारे लिये आपके ही वचन प्रमाण हैं ॥ ६२ ॥

(प्रणाम करके नेपथ्यकी ओर देखकर) तपस्वियो, डरिये मत,

इन राक्षस सेनाओंको दूर भगानेवाला यह रामचन्द्र आगया है, विश्वामित्र करस्थ

१ 'हि' इति । २ 'इनाम्' इति । ३ 'धर्मस्थानम्' इति ।
४ 'नेपथ्याभिमुखमवलोक्य' इति । ५ 'मा भैष्ट तपोधना, मा भैष्ट', 'मा भैष्ट भोस्तपोधना, मा भैष्ट' इति च । ६ 'रामभद्र' इति ।

कुशिकसुतकुशाग्रतोयबिन्दोरिदमनुकल्पमवेत कार्मुकं मे ॥ ६३ ॥

(इति धनुरारोपणं निष्क्रान्तः ।)

लक्ष्मणः—([1]साशङ्कमात्मगतम् ।) दिष्ट्या क्षात्रेण धर्मेण कौमारमप्यशून्यमार्यस्यासीत् । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य हर्षं नाटयन्प्रकाशम्[2] ।) भगवन्कौशिक, [3]पश्य पुरस्तादार्ये [4]धृतधनुषि

वायव्यास्त्रव्यतिकरनिरालम्बनस्ताडकेय
मारीचो जीवन्मरणमसुभिर्विप्र[5]मुक्तः सुबाहुः ।

कुशिकसुतेति । कुशिकसुतस्य विश्वामित्रस्य यत्कुशाग्रतोयम् तस्य बिन्दोः पृषत अनुकल्प गौण रूप मे कार्मुक धनु अवेत जानीत यथा विश्वामित्रकुशाग्रतोयबिन्दो प्रभावेण तच्छसा सर्वेऽपि रक्षय सद्यो विपद्यन्ते तथैव मम धनुषाऽपि सर्वेऽपि राक्षसा सद्यो विपादनीया, तद्वत् भयेनेति भाव । 'मुख्य स्यात्प्रथमे कल्पेऽनुकल्पस्तु ततोऽधमे' इत्यमर ॥ ६३ ॥

दिष्ट्या आनन्दप्रकाशकम् । क्षात्रेण धर्मेण धीरतया । कौमारम् बाल्यम् । अशून्यम् युक्तम् । यथाऽय रामो यौवने विक्रमधरो भावी तथैव बाल्येऽपि विक्रमधर सवृत्त इत्यानन्दविषय इत्यर्थ । आर्ये रामचन्द्रे । धृतधनुषि सज्जीकृतचापे जाते सति, पश्य तत्फल पश्येत्यर्थ ।

वायव्यास्त्रेति । ताडकाया अपत्य पुमान् ताडकेय सुबाहुनाम वायव्यास्त्रस्य व्यतिकरेण सम्बन्धेन निरालम्बन आश्रयरहित सन् जीवन्मरण प्राप्त सन् असुभि

कुशाग्र जल बिन्दुके तुल्य ही आप मेरे धनुषको समझ लें ॥ ६३ ॥

(धनुष लेकर चलते हैं)

लक्ष्मण—(साशङ्क स्वगत) सौभाग्यवश आर्य रामका बाल्य भी क्षात्रधर्मसे पूर्ण रहा । (नेपथ्यकी ओर देखकर हर्ष प्रकाशित करते हुए, प्रकट) भगवन् कौशिक, देखिये, रामके धनुष धारण करते ही—

वायव्यास्त्रके सम्बन्धसे निराश्रय होकर मारीच जीते ही मरा हुआ है, सुबाहुने प्राण त्याग कर दिया यह ताटका भी खण्डित होकर करुणा, आश्रय, ग्राम तथा क्रोधसे ऋषियों द्वारा देखी जारही है ॥ ६४ ॥

१ 'सोत्साहशङ्कमात्मगतम्' इति । २ 'सप्रकाशम्' इति ।
३ 'पश्य पश्य' इति । ४ 'धनुषि धृते' इति । ५ 'विप्रयुक्त' इति ।

कृत्तोन्मुक्ता भुवि च करुणाश्चर्यबीभत्सहास
त्रासक्रोधोत्तरलमृषिभिर्दृश्यते ताडकेयम् ॥ ६४ ॥

विश्वामित्र—(विलोक्य ।) वत्स लक्ष्मण, विस्मयेन प्रमोदेन च परवन्तो वयं न वाचामधीश्महे। वक्तव्यमेव वा किमस्ति। न खल्वियमद्यतनी व प्रतिष्ठा।

दिक्कूलंकषकीर्तिधौतवियतो निर्व्याजवीर्योद्धता-
स्ते यूयं रघव प्रसिद्धमहसो यैः सोऽपि देवाधिप ।

प्राणैर्विप्रमुक्त परित्यक्त । इयञ्च ताडका कृत्ता छिन्ना भुवि पृथिव्याम् उन्मुक्ता त्यक्ता सती करुणया स्त्रीवधतया दयया आश्चर्येण कथं महाराक्षस्या अस्या बालेन पराजय इति विस्मयेन बीभत्सेन घृणया हासेन प्रमादजन्मना हसितेन त्रासेन कदाचिदियं पुनर्जीविता चेत्सातिशयमुपद्रवेदिति भयेन क्रोधेन तदुपद्रवस्मरणजन्मना कोपेन च उत्तरलं यथा स्यात्तथा ऋषिभिः दृश्यते ॥ ६४ ॥

विस्मयेन आश्चर्येण, कथमयं बालो रामस्तथा भयङ्करीमिमां राक्षसीमहन् इति जायमानेनाश्चर्येण । प्रमोदेन विघ्नापगमजन्मना हर्षेण । परवन्तः पराधीना हृतचित्ता इत्यर्थः । न वाचामधीश्महे न किमपि वक्तुं पारयामः । अद्यतनी नवीना । प्राक्तनी एव युष्माकमियं प्रतिष्ठाऽतो नात्र किमपि विशिष्य वक्तव्यमवशिष्यत इत्यर्थः ॥

दिक्कूलङ्कषेति । दिशां कूलङ्कषा दिगन्तव्यापिनी या कीर्तिस्तया धौतं क्षालितं वियत् आकाशं यैस्तथाभूता यूयं ते प्रसिद्धा रघवः रघुवंश्या निर्व्याजवीर्योद्धता अकपटपराक्रमद्धताः तथा प्रसिद्धमहसः प्रख्याततेजस्काश्च, स्थ इति शेषः । असुरा

विश्वामित्र—(देखकर) वत्स लक्ष्मण, विस्मय तथा आनन्दसे हम पराधीन हो रहे हैं, हममें बोलनेकी शक्ति नहीं रह गई है। अथवा कहना ही क्या है, यह प्रतिष्ठा तुम्हारे कुलके लिये कुछ नई नहीं है।

दिगन्तव्यापी यशसे आकाशको धवल बना देने वाले तथा अकपट पराक्रमशाली तुम रघुवंशियोंका तेज प्रसिद्ध ही है, तुम रघुवंशियोंने तो इन्द्रको जयके निदान अपने धनुष धारणसे इन्द्रको पौलोमीके कुचमण्डल पर पत्रभङ्गरचना निर्माणकी कला सिखला दी है,

---

१ 'असुमि' इति। २ 'न च' इति। ३ 'धौरवना' इति।

विभ्राणैरसुराधिराजविजयक्रीडानिदानं धनुः
पौलोमीकुच[1]पत्रभङ्गरचनाचातुर्यमध्यापितः ॥ ६५ ॥

लक्ष्मणः—भगवन्, पश्य ।

अद्य नैशाचरीं सेनामेनामुन्मूलयन्नयम्[2] ।
[3]आधानं वीरधर्मस्य [4]निर्माय त्वामुपस्थितः ॥ ६६ ॥

(प्रविश्य ।)

रामः—([5]सवैलक्ष्यस्मितम् ।)

पूषा वसिष्ठः कुशिकात्मजोऽयं त्रयस्त एते गुरवो रघूणाम् ।

धिराजविजयक्रीडानिदानम् असुरसुरपराजयसाधनं धनुर्बिभ्राणैर्यैः रघुवंश्यैः स देवाधिपः इन्द्रोऽपि पौलोमीकुचपत्रभङ्गरचनाचातुर्यम् शचीस्तनदेशाधिकरणपत्रावलीविरचनकौशलम् अध्यापितः शिक्षितः । दिगन्तविख्यातकीर्त्तयोऽकपटशौर्यशालिनश्च राघवाः प्रथिता एव, येषां राक्षसैरैः धनुर्धराणां प्रभावेण जितेषु राक्षसेषु विजेतव्याभावेन शक्रः पुलोमात्मजाकुचपत्रभङ्गरचनायामेव समयं गमयतीत्याशयः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६५ ॥

अद्येति । अयं रामः अद्य एनां नैशाचरीं राक्षसीं सेनाम् उन्मूलयन् विनाशयन् वीरधर्मस्य वीरचर्यायाः आधानं स्वस्मिन् संस्थितिं निर्माय कृत्वा त्वामुपस्थितः प्राप्तः । राक्षसबलमुन्मूलयन्नयं रामोऽद्य स्वस्मिन्वीरधर्ममाधाय भवदन्तिकमुपपन्नस्ततस्सत्यं त्वदुक्तमित्यर्थः ॥ ६६ ॥

सवैलक्ष्यस्मितम् सलज्जमन्दहासम् ।

पूषेति । पूषा सूर्यः, वसिष्ठः, अयं कुशिकात्मजश्च एते त्रयः ते प्रसिद्धाः रघूणां

अर्थात् [illegible]हें युद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि उनकी ओरसे तुम रघुवंशी ही लड़ा करते हो और वह अपनी स्त्रीके स्तनोंपर क्रीडापत्रभङ्ग बनानेमें लगे रहते हैं ॥६५॥

लक्ष्मण—भगवन् देखिये, आज यह रामचन्द्र राक्षससेनाका नाश करते हुए वीर धर्मका आरम्भ करके आपके पास उपस्थित हो रहे हैं ॥ ६६ ॥

(प्रवेश करके)

राम—(लज्जाके साथ हंसकर) सूर्य, वसिष्ठ, तथा विश्वामित्र यही तीन रघुवंशके

१ 'पत्रभङ्गि' इति ।　२ 'इव' इति ।　३ 'आधारम्' इति ।
४ 'विधाय' इति ।　५ 'सवैलक्ष्यम्' इति ।

महामुनेरस्य[1] गिरा कृतोऽपि स्त्रैणो वधो मां न सुखाकरोति ॥६७॥

(आश्रममवलोक्य ।)

प्रत्यासन्नतुषारदीधितिकरक्लिश्यत्तमोवल्लरी
[3]वल्याभिर्मखधूमवल्लिभिरमी सम्मीलितव्यञ्जना ।
श्व: सचीवरयिष्यमाणवटुकव्याधूतशुष्यत्त्वचो
निद्राणातिथयस्त[4]पोवनगृहा कुर्वन्ति न कौतुकम् ॥६८॥

([5]पुरतोऽवलोक्य ।)

गुरव: कुलपूज्या, तथापि अस्य महामुनेर्विश्वामित्रस्य गिरा वचसा कृतोऽनुष्ठितोऽपि स्त्रैणो वध: स्त्रीहत्या ताडकाविनिपातरूपा मा न सुखाकरोति प्रीणयति। गुरोरपि विश्वामित्रस्याज्ञामनुरुध्य यदहं प्रिय ताडका हतवानस्तन्मे हृदये दु:ख मुत्पादयतीत्यर्थ: ॥ ६७ ॥

प्रत्यासन्नेति। प्रत्यासन्नस्य उदयोन्मुखस्य तुषारदीधितेश्चन्द्रस्य करै: किरणै: क्लिश्यन्त्य नश्यन्त्यो यास्तमोवल्लर्य: अन्धकारश्रेणयस्तत्कल्पाभि: तत्तुल्याभि: मखधूमवल्लिभि: यज्ञोद्भूतधूमलताभि: सम्मीलितानि तिरोहितानि व्यञ्जनानि द्वारकुड्यादिचिह्नानि येषु तादृशा:, तथा श्व: भाविदिने सचीवरयिष्यमाणा परिधास्यमाना वटुकै: ब्रह्मचारिभि: व्याधूता कम्पिता शुष्यन्त्यश्च त्वचो वल्कलानि येषु तादृशा:, निद्राणा शयिता अतिथय अभ्यागता येषु तथोक्ताश्च तपोवनगृहा न अस्माक कौतुकम् आनन्दातिरेक कुर्वन्ति जनयन्ति। आसन्नोदयस्य चन्द्रस्य प्रकाशेन नश्यन्त्या तमोलेखया समानाकाराभिर्धूममालाभिस्तिरोहितानि

गुरु हैं, आज महामुनि विश्वामित्रके कहनेसे किया गया यह स्त्रीवध मुझे आनन्दित नहीं कर रहा है ॥ ६७ ॥

(आश्रमकी ओर देखकर)

अभी अभी उदित होनेवाले चन्द्रमाकी किरणों से नष्ट होते अन्धकारकी तरह दीखते वाले मखधूमोंसे आच्छादित तथा कल्ह पहने जानेवाले, सूखा को डाले गये वल्कलोंसे घिरे तथा जिनमें अतिथि गण सो रहे हैं ऐसे यह तपोवनोंके घर मेरे कुतूहलकी सृष्टि कर रहे हैं ॥ ६८ ॥

(आगेकी ओर देखकर)

---

१ 'तस्य' इति । २ 'अघम्' इति । ३ 'कल्पाभि' इति ।
४ 'तपोवने' इति । ५ 'पुरोऽवलोक्य' इति ।

स्फुरति पुरतो माद्यन्माद्यच्चकोरविलोचन-
प्रकरकिरणश्रेणीदत्तस्वहस्तघनं महः ।
हृदय लघु मा भूः प्रेयोदर्शनप्रतिभूरयं
कुवलयदृशामिन्दुर्नेत्रे सुधाभिरनक्ति नः ॥ ६९ ॥

अपि च—

उन्मीलन्ति मृणालकोमलरुचो राजीवसर्वंकषा-

वाह्यचिह्नानि तपोवनगृहाणाम्, वटवृक्ष इव परिधेयानि वल्कलानि बालयित्वा शोषयन्ति, यत्र सत्रातिथयः सुखं शेरते, तद्विधाराससपावनगृहा अस्मास्वन्तरान्न्वातिशय सृजन्तीति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६८ ॥

स्फुरतीति । माद्यतां माद्यतां नितरां हृष्यतां चकोराणां ये विलोचनप्रकरास्तेषां किरणश्रेणीभिः मयूखनिचयैः दत्तेन स्वहस्तेन हस्तावलम्बनेन घनं सान्द्रं महः चान्द्रं तेजः स्फुरति राजते । चन्द्रोदये प्रसन्नतां प्रकाशयन्तश्चकोरा यत्र यत्रोपरि दृष्टिपातं कुर्वन्ति तन्नयनमयूखैस्समेधितं चान्द्रं तेजो राजते इत्याशयः । हे कुवलयदृशां हृदय, लघु मा भूः कातरं भा स्म भव, अयमिन्दुश्चन्द्रः प्रेयसोऽत्यन्तप्रियजनस्य दर्शने प्रतिभूर्लग्नकः नः अस्माकं नेत्रे चक्षुषी सुधाभिरमृतैरनक्ति सिञ्चति । चन्द्रोदयस्य विरहिणां कृते कन्दर्पवरदायितया चन्द्रमुदितमवलोक्य स्वयमेव कुसुमबाणवशगः प्रियः समागमिष्यतीति हृदयमाश्वास्यते । कुवलयदृशामनङ्गान्ततयाऽस्मद्वाभिधानमिदमिति मत्वा केचित्—भगवतो हि चेतस्यन्धकारे महद्दुःखमुत्पन्नमत आह हे मदीयहृदय, मा लघु उपगतं भूः, अयं कुवलयदृशां प्रतिभूः प्रियदर्शने इन्दुः सुधाभिर्नेत्रे अनक्ति, अतोऽन्धकारापनोदः सन्निहित इत्यर्थमाहुः । इतरे तु—प्राच्यां दिशि तेन पटलमालोक्य किमयमन्य एव कश्चन मायावी राक्षसः समुपागत इति बुद्धिरुत्पन्ना, ततो निपुणं निरूप्याह—'हे मदीय हृदय, मा लघु भूः मा त्वरिष्ठा नासौ राक्षसः कश्चित्, किन्तु कुवलयदृशां प्रेयोदर्शनप्रतिभूरिन्दुरयमिति वर्णयन्ति । न चातीतानागतज्ञतया रामस्य नेदृशी शङ्कोचितेति वाच्यम्, सर्वदा तस्य तथात्वानभ्युपगमात् । अन्यथा राक्षसमायादर्शने तस्य मोहाप्राप्तिप्रसङ्गेन तथावर्णनस्यासम्बद्धत्वप्रसङ्गात् । 'प्रतिभूर्लग्नकः पुमान्' इत्यमरः । हरिणीवृत्तम्, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ ६९ ॥

उन्मीलन्तीति । मृणालकोमलरुचः मृणालधवलकान्तयः राजीवानां या सर्व-

मतवाले चकोर नयनोंको आनन्दमूल्य आनन्द प्रदान करनेवाला यह तेज आगेकी ओर फैल रहा है, हृदय, घबड़ाओ मत स्त्रियोंके हृदयोंमें प्रियतमोंके आनेका विश्वास दिलानेवाला यह चन्द्रमा अपनी किरणोंसे हमारी आँखोंको शीतलता प्रदान कर रहा है ॥

मृणालकी तरह स्वच्छ एवं कमलदलोंको सङ्कुचित करनेवाले यह चन्द्रमाके किर-

सवर्तव्रतवृत्तय कतिपये पीयूषभानो करा ।
[1]अभ्युत्सैर्धवलीभवत्सु गिरिषु क्षुब्धो यमुन्मज्जता
विश्वेनेव तमोमयो निधिरपामह्नाय फेनायते ॥ ७० ॥

(सनिर्वेदम् ।)

इन्दुर्यद्युदयाद्रिमूर्ध्नि न भवत्यद्यापि तन्मा स्म भू-
न्नासीरेऽपि तम समुच्चयममूरुन्मूलयन्ति त्विष ।

त्तिका नवदलानि तासा मवर्त्ते प्रलये यत् व्रत सङ्कल्प तत्र वृत्तिर्व्यापारो यासा तास्तथोक्ता कमलदलसङ्कोचनप्रवृत्ता इत्यर्थं । पीयूषभानोः चन्द्रमस कतिपये असमस्ता करा उन्मीलन्ति स्फुटीभवन्ति, उच्चै चन्द्रकिरणै गिरिषु पर्वतेषु धवलीभवत्सु श्वेततामञ्चत्सु उन्मज्जता उन्मज्जन कुर्वता (प्रकटस्वरूपभावमाप्नुवता) निरञ्जन जगता क्षुब्धो मथित इवायम् तमोमय अन्धकारस्वरूप अपा निधि समुद्र अह्नाय झटिति फेनायते फेनमुद्वमति । कमलदलसङ्कोचके शशिकरनिकरे किञ्चिदुन्मीलति सति प्रकाशीभवत्सु गिरिषु उन्मज्जता विश्वेन मथित इवाय तमोराशिरूप सागर प्रकाशरूप फेनमुद्वमति, अन्योऽपि सागर गिरिणा मन्दरेण मथ्यमान फेन त्यजतीत्येतेति मनमिकृत्येत्यमुक्तम् । 'उत्प्रेक्षालङ्कार स्पष्ट । 'मवर्त्तिका नवदलम्','द्राग्झटित्यञ्जसाऽह्नाय','विश्व जगति स्यान्नपुंसकम्' इति सर्वत्रामर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ७० ॥

इन्दुरिति अद्यापि सम्प्रत्यपि यदि इन्दु चन्द्र उदयाद्रे उदयाचलस्य मूर्ध्नि शिरोदेशे न भवति नोदयते तत् मा स्म भूत् नोदयताम्, अमू त्विष अमी चन्द्रकरा नासीरे उदयादग्रेऽपि तमसाम् अन्धकाराणाम् समुच्चयम् समुदायम् उन्मूलयन्ति निरवशेषमवसाययन्ति, चन्द्रसम्पाद्यस्य तमोनाशरूपकार्यस्य तदीयत्विड्भिरेव सम्पाद्यतया चन्द्रोदयापेक्षा नास्तीत्यर्थ । न केवल तमोनाशरूपकार्यमेव त्विष सम्पादयन्ति, किन्त्वन्यान्यपि नेत्रानन्दजननकुमुदविकासनादिकार्याणि त्वा

प्रकटित हो रहे हैं, किरणोंसे पर्वत धवल हो रहे हैं, इससे सागर क्षुब्ध हो रहा है, यह संसार मानो सागरमें निकल रहा है और इसीलिये यह सागर फेनायमान हो रहा है ॥ ७० ॥

चन्द्रमा अभी भी उदयाचलकी चोटीपर भले ही न आया हो, परन्तु उसकी किरणें आगे आगे ही अन्धकारराशिका नाश कर रही हैं, आँखोंको आह्लादित तथा

१ 'अभ्युग्रै' इति ।

अप्यक्ष्णोर्मुद[1]मुद्गिरन्ति कुमुदैरामोदयन्ते दिशः
संप्रत्यूर्ध्वमसौ तु लाञ्छनम[2]भिव्यङ्क्तुं प्रकाशिष्यते ॥७१॥

([3]सहर्षम् ।)

काश्मीरेण दिहानमम्बरतलं वामभ्रुवामानन-
द्वैराज्यं विदधानमिन्दुदृषदां भिन्दानमम्भः शिराः ।
प्रत्युद्यत्पुरुहूतपत्तनवधूदत्तार्घद[4]र्भाङ्कुर-
क्षीबोत्सङ्गकुरङ्गमैन्दवमिदं बिम्बं समुज्जृम्भते ॥ ७२ ॥

कुर्वते, तदाह—अप्यक्ष्णोरिति । अक्ष्णोः दृशोः अपि मुदमानन्दमुद्गिरन्ति ददति, कुमुदैः विकासितैः कुमुदकुलैः दिशः आमोदयन्ते सुरभीकुर्वन्ति, असौ इन्दुस्तु सम्प्रति तमोनाशनेत्रानन्दनकुमुदह्लादकदिक्सुरभीकरणरूपकार्याणि विड्भिरेव कृतानि स्वे तु लाञ्छनं स्वं कलङ्कमभिव्यङ्क्तुं स्फुटावभासतां नेतुं प्रकाशिष्यते उदयिष्यते, सम्प्रति चन्द्रोदयस्य तत्कलङ्काभिव्यक्तिमतिरिच्य प्रयोजनान्तरं नास्त्येव इति भावः । स्वकीयैः सन्ति कार्याणि सम्पाद्यन्ते स्वयं तु कलङ्कमात्रं प्रकाशयत इत्यहो शोच्यता शशिन इति ध्वनिः । शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ ७१ ॥

काश्मीरेणेति । काश्मीरेण कुङ्कुमेन अम्बरतलम् आकाशदेशम् दिहानम् लिम्पत्, वामभ्रुवाम् सुन्दरीणां स्त्रीणाम् आननद्वैराज्यम् मुखप्रतिपक्षताम् (सादृश्यम्) विदधानम्, इन्दुदृषदाम् चन्द्रकान्तोपलानाम् अम्भः शिराः जलधारभूतनाडीः भिन्दानम् खण्डयत्, (स्वेदयत्) प्रत्युद्यतीभिः प्रत्युद्गच्छन्तीभिः पुरुहूतपत्तनवधूभिः पुरन्दरपुरीललनाभिः दत्तो योऽर्घस्तस्य दर्भाङ्कुरेण (अतिभक्षितेन) क्षीबः मत्तः उत्सङ्गकुरङ्गः क्रोडस्थहरिणो यस्य तथाभूतम् इदम् ऐन्दवं चन्द्रसम्बन्धि बिम्बं मण्डलं समुज्जृम्भते उदयते । प्रथमोदितकिरणानामतिरक्तता-

दिशाओंको कुमुदोंसे आमोदित कर रही हैं, फिर पीछे चन्द्रमा भी अपने कलङ्कको व्यक्त करनेके लिये उदित होंगे ही ॥ ७१ ॥

आकाशको केसरके रंगमें रँगनेवाला, स्त्रियोंके मुखकी समता करनेवाला, चन्द्रकान्त मणियोंकी जलवाहिनी सिराको प्रवाहित करनेवाला यह चन्द्रमाका बिम्ब उदित हो रहा है, इसके उदय होते ही स्वर्गकी स्त्रियों द्वारा दिये गये अर्घमें वर्तमान कुशाङ्कुरोंको खाकर इसका अङ्कस्थ हरिण अलसा गया है ॥ ७२ ॥

१ 'उद्वहन्ति' इति । २ 'अभिव्यक्तुम्' इति ।
३ 'सहर्षं च' इति । ४ 'दूर्वाङ्कुर–' इति ।

एताश्च—

पौलोमीकुचकुम्भकुङ्कुमरज स्वाजन्यजन्मोद्धता
शीतांशोर्घृतय पुरन्दरपुरीसीम्नामुपस्कुर्वते ।
एताभिर्लिहतीभिरन्धतमसान्युद्ग्रथ्नतीभिर्दिश
क्षोणीमास्तृणतीभिरन्तरतम व्योमेद्धमोजायते ॥ ७३ ॥

अपि च—

नैवाद्य भगवानुदञ्चति शशी गव्यूतिमात्रीमपि
द्यामद्यापि तमस्तु कैरवकुलश्रीचाटुकारा करा ।
मथ्नन्ति स्थलसीम्नि शैलगहनाम्भक्षेपु संदानते

कुङ्कुमसादृश्यम्, 'काश्मीरं कुङ्कुमेऽपि स्यात्', 'नाडी तु धमनि शिरा' इति मेदिन्यमरौ ॥ ७२ ॥

पौलोमीति । पौलोमीकुचकुम्भकुङ्कुमरजसाम् इन्द्राणीस्तनकलशकुङ्कुमरजसा स्वाजन्ये समानकुले जन्मना उत्पत्त्या उद्धता दृप्ता, शीतांशोर्घृतय चन्द्रकरा पुरन्दरपुरीसीम्नाम् स्वर्गसीमाप्रदेशानाम् दिशाम् उपस्कुर्वते गुणान्तराधानं कुर्वते । इन्द्राणीकुचकुम्भकुङ्कुमरजस्याना समगर्वा अमी चन्द्रकरा व्योम्नि स्वर्गभाग् घन इत्यर्थ । अन्धतमसानि गाढान्धकारान् लिहतीभि आस्वादयन्तीभि नाशयन्तीभिरित्यर्थ, दिश प्राच्यादिदिग्विभागानुद्ग्रथ्नतीभि प्रकटयन्तीभि क्षोणी पृथ्वीमास्तृणतीभि आच्छादयन्तीभिरेताभिर्धृतिभि चन्द्रकान्तिभि अन्तरतमम् मध्यगतम् इद व्योम ओजायते उज्ज्वलीभवति । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ७३ ॥

नैवाद्यमिति । अद्य भगवान् शशी अद्यापि सम्प्रयपि गव्यूतिमात्रीम् क्रोशद्वय परिमाणाम् अपि द्याम् आकाशम् नैव उदञ्चति नोत्तिष्ठते, तु पुन कैरवकुलश्रीचाटुकारा कुमुदवृन्दशोभाऽऽलोककर्तार करा चन्द्रकिरणा स्थलसीम्नि स्थलदेशे तम मथ्नन्ति विध्वंसयन्ति, शैलानाम् पर्वतानाम् गहनानाम् वनानाञ्च भक्षेषु

पौलोमी कुचकुम्भ पर वर्तमान कुङ्कुमरजका तुल्यता प्राप्त होनेसे गर्वित यह चन्द्रद्युतियाँ प्राचीदिशाको प्रकाशित कर रही हैं, यह चन्द्रद्युतियाँ अन्धकारको चाटती आ रही हैं, दिशाओंको व्यक्त करता जा रहा है, पृथ्वीको विस्तीर्ण करता जा रही हैं, इनसे आकाश दीपित हो रहा है ॥ ७३ ॥

अभी भगवान् चन्द्रमा दो कोश ऊपर भी नहीं उठ सके हैं, तभी कैरवकुलकी श्रीवृद्धि करनेवाले यह चन्द्र किरणें स्थल-स्थल पर अन्धकारोंको मथित कर रहे हैं, पर्वत

जीवग्राहमिव क्वचित्क्वचिदपि च्छायासु गृह्णन्ति च ॥७४॥

(ज्योत्स्नातिशयं [1]विभाव्य ।)

किं नु ध्वान्तपयोधिरेष कतकक्षोदैरिवेन्दोः करै-

रत्यच्छोऽयमधश्च [2]पङ्कमखिलं छायापदेशादभूत् ।

किं वा तस्करकर्तरीभिरभितो निस्तक्षणादुज्ज्वलं

व्योमैवेदमितस्ततश्च पतिताश्छायाच्छलेन त्वचः ॥७५॥

([3]परिक्रम्य पार्श्वतोऽवलोक्य ।)

अभ्यन्तरेषु सरन्धते अवरुद्धं कुर्वन्ति, तथा क्वचित् क्वचित् छायासु जीवग्राहं गृह्णन्ति च । यथा राजभटाः शत्रून् स्वस्वामिनि दूरस्थेऽपि स्थलेषु विधमयन्ति, पर्वतकाननमध्ये निरुध्य बन्धयन्ति, क्वचिज्जीवग्राहं गृह्णन्ति च, तद्वदमी चन्द्रकरा गव्यूतिमात्रीमपि दिवं समाक्रामति चन्द्रे स्थले तमांसि नाशयन्ति, पर्वतवनगतानि तु तानि निरुन्धन्ति, क्वचिच्छायासु जीवग्राहं गृह्णन्ति चेत्यर्थः । 'नृपादेर्वर्णने चातुरालोकं चातुरिष्यते', 'गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्' इति धरण्यमरौ ॥ ७४ ॥

किन्नु ध्वा न्त । अयं ध्वान्तपयोधिः अन्धकारसागरः कतकक्षोदैः जलस्वच्छताकारकौषधिविशेषचूर्णैरिव इन्दोश्चन्द्रस्य करैः किरणैः अत्यच्छः अतिनिर्मलः किन्तु ? अखिलं पङ्कं छायापदेशात् अधः च अभूत् । किंवा तस्य इन्दोः करा एव कर्त्तर्यः छेदनसाधनानि ताभिरभितः समन्ततस्तक्षणात् खण्डनात् इदं व्योम आकाशम् उज्ज्वलम् भवति, छायाच्छलेन इतस्ततस्तस्य व्योम्न एव त्वचः पतिताः, अन्यस्यापि निकृत्तस्य वृक्षादेस्त्वचः इतस्ततः पतन्ति तद्वदित्यर्थः, उपरि प्रकाशोऽधश्छाया, तन्मन्ये ध्वान्तपयोधिः कतकक्षोदोपमैरेभिश्चन्द्रकरैरत्यच्छो जातोऽधश्च छायाच्छलात्पङ्कमवतिष्ठतेऽथवा चन्द्रकररूपकर्त्तरिकया व्योमवृक्षस्त्वग्विशिष्टस्तस्योज्ज्वलता, छायाच्छलेन च तत्तत्त्वचां पात इति विवक्षितोऽर्थः । अत्र सर्वे ह्यलङ्काराः स्पष्टाः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७५ ॥

तथा वनोंमें घेर रहे हैं, कहीं कहीं छायामें जीवित पकड़ा बना रहे हैं ॥ ७४ ॥

(अधिक ज्योत्स्ना देखकर) क्या यह अन्धकार सागर ही चन्द्रकिरण रूप 'निर्मली' चूर्णके सम्पर्कसे ऊपरमें स्वच्छ तथा छायाके छलसे नीचे मलिन हो रहा है अथवा चन्द्रकिरण रूप ताड़ना असिसे यह आकाश रूप फल छील लिया गया है जिससे स्वच्छ आकाश निकल आया है और छायाके रूपमें उसका छिलका बिखर गया है ॥ ७५ ॥

(चलते हुए आगे देखकर)

---

१ 'विभाव्य च' इति ।　२ पङ्कपटलम् इति

३ 'परिक्रम्यावलोक्य च' 'परिक्रम्य समवलोक्य' इति च ।

दलचिततिभृतां तले तरूणामिह तिलतण्डुलितं मृगाङ्करोचिः ।
मदचपलचकोरचञ्चुकोटीकवलनतुच्छमिवान्तरान्तराऽभूत् ॥७६॥

(विभाव्य च ।)

त्रिभुवनतमोलुण्टाकीनामहो मिहिरत्विषा-
मभिविधिरसौ कोकश्रेणीमनस्यवशिष्यते[1] ।
क्षुधमपि तमः [2]कोपादन्तः प्रविश्य विनिघ्नत[3]
शशधरकरानच्छिन्नाग्राश्चरन्ति चकोरकाः ॥ ७७ ॥

दलेति । दलचिततिभृताम् विस्तृतपत्राणाम् तरूणाम् वृक्षाणाम् इह तले अधःप्रदेशे मृगाङ्करोचिः चन्द्रद्युतिः तिलतण्डुलितम् तिलसङ्कीर्णतण्डुलवदाचरितम् अतएव अन्तराऽन्तरा मदचपलानाम् प्रमोदचटुलानां चकोराणां चञ्चुकोटिभिः कवलनेन आस्वादनेन तुच्छं शून्यमिवाभूत्, विस्तृतपत्रवृक्षाधोभागे सङ्कीर्णतिल-तण्डुलसमानं छायामिलितमिन्दुरोचिः प्रमोदचपलचकोरचञ्चुपुटभक्षितरिक्त-मिवावभासत इत्याशयः । उत्प्रेक्षालङ्कारः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ७६ ॥

त्रिभुवनेति । अहो आश्चर्यम्, त्रिभुवनतमोलुण्टाकीनाम् लोकत्रयव्याप्ततमो-विनाशिकानाम् मिहिरत्विषाम् सूर्यकान्तीनाम् असौ अभिविधिः अभिव्याप्तिः कोक-श्रेणीमनसि चक्रवाकपुञ्जचेतसि अवशिष्यते, यः सूर्यतापो लोकत्रयं व्याप्य सम्प्रति सन्तापरूपेण चक्रवाकचित्तमात्रेऽवशिष्यते, चक्रवाकचयो हि सूर्येऽस्तं गते सति वियोगव्यथया सन्तप्यते । चकोरकाः तत्रासमानं पक्षिणः अन्तःप्रविश्य क्षुधं बुभुक्षां तमश्च विनिघ्नतः निवारयन्तः अच्छिन्नाग्रान् दूरप्रसारिणः शशधरकरान् चन्द्रकिरणान् चरन्ति भक्षयन्ति । चन्द्रोदये चक्रवाकाः सन्तप्यन्ते, चकोराश्च तत्करानाचामन्तीति प्रसिद्धिमनुरुध्येदमुक्तम् ॥ ७७ ॥

पत्र समुदाय पूर्ण इन वृक्षोंके नीचे तिलतण्डुलकी तरह मिलित तम तथा चन्द्रकर (किरण) ऐसा प्रतीत होता है मानो मदचपलचकोरोंने अपनी चञ्चुओं द्वारा बीच बीचमें चन्द्रकरोंको निगल लिया है जिससे उसका स्थान रिक्त पड़ गया है ॥ ७६ ॥

(विचार करके)

त्रिभुवनके तमको नष्ट करनेवाले सूर्यकरोंके द्वारा भी कोकश्रेणीके हृदयमें वर्तमान वियोग-सन्तापरूप तमका लोप नहीं हो पाया था, इसीलिये इस समय यह चकोरगण भूखके साथ-साथ अन्तर्गत तमको भी दूर करनेवाले इन चन्द्रकरोंको समस्त रूपमें चर रहे हैं ॥ ७७ ॥

१ 'अवतिष्ठते' इति । २ 'साक्षादन्त' इति । ३ 'निगृह्णत' इति ।

अपि चेदानीं—

तथा पौरस्त्याया दिशि कुमुदकेदारकलिका
कपाटघ्नीमिन्दुः किरणलहरीमुल्लसयति ।
समन्तादुन्मीलद्बहलजलबिन्दुस्तवकिनो
यथा पुञ्जायन्ते प्रतिगुडकमेणाङ्कमणयः ॥ ७८ ॥

(परिक्रामन्नूर्ध्वमवलोक्य ।)

तरुणतमालकोमलमलीमसमेतदयं
कलयति चन्द्रमाः किल कलङ्कमिति ब्रुवते ।
तदनृतमेव निर्दयविधुन्तुददन्तपद-
व्रणविवरोपदर्शिनमिदं हि विभाति नभः ॥ ७९ ॥

तथेति । इन्दुः चन्द्रः पौरस्त्यायाः प्राच्या दिशि कुमुदानां कैरवाणां केदारः क्षेत्रम् तत्र याः कलिकाः मुकुलानि तासां कपाटघ्नीम् सङ्कोचविनाशिनीं विकासकरीम् किरणलहरीम् स्वकान्तिप्रवाहम् तथा उल्लसयति प्रसारयति, यथा समन्तात् सर्वतः उन्मीलद्भिः प्रसरद्भिः बहलैः प्रभूतैः जलबिन्दुभिः स्तवकिनः सगुच्छाः जलबिन्दुवर्षिणः एणाङ्कमणयः चन्द्रकान्ताः प्रतिगुडकम् सर्वासु गुटिकासु पुञ्जायन्ते राशीभवन्ति । कैरवकुलविकासकारिचन्द्रकान्तिसम्पर्कवशात् प्रबलाः चन्द्रकान्तानाम् प्रतिगुटिकं पुञ्जीभावो जायते इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ७८ ॥

तरुणेति । अयं चन्द्रमाः तरुणः प्रौढो यस्तमालस्तापिच्छस्तद्वत् कोमलं मलीमसं श्यामलं च (किञ्चन) कलयति धारयति, तद् लोकाः कलङ्कमिति अनृतमेव मिथ्यैव ब्रुवते कथयन्ति । इदं हि चन्द्रे दृश्यमानं श्यामलं वस्तु निर्दयस्य क्रूरस्य विधुन्तुदस्य राहोः दन्तपदे यद् व्रणविवरं तत्र दन्तक्षतस्थाने उपदर्शितं दृश्यं नभः विभाति । नेदं दृश्यमानं श्यामलं वस्तु कलङ्कात्मकमपि किंतु राहुदन्तक्षतविवरदृश्यं नभः एवेति तात्पर्यम् । अपह्नुतिरलङ्कारः, प्रकृतं प्रतिषिध्यान्य-

कुमुद वनकी कलिकाओंको विकसित करनेवाली अपनी कान्तियोंको चन्द्रमा प्राची दिशामें इस रूपमें फैला रहा है कि समन्ततः जलबिन्दुपूर्ण होनेके कारण प्रति स्थानमें चन्द्रकान्त मणियोंके पुञ्ज बनते जा रहे हैं ॥ ७८ ॥

(घूमते हुए ऊपरकी ओर देखकर)

यह चन्द्रमा तरुण तमाल पल्लवकी तरह श्याम वर्णका कलङ्क धारण करता है—यह कहना गलत है यह तो अन्धकार है, राहुने जो निर्दयतापूर्वक दाँत गड़ा दिये थे, उसीसे उत्पन्न छिद्रोंमें अन्धकार व्याप्त हो रहा है ॥ ७९ ॥

किं च—

रुचिभिरभितष्टङ्कोत्कीर्णैरिव त्रसरेणुभि-
　　र्यदुडुभिरपि च्छेदे स्थूलैरिव ध्रियते नभः ।
प्रकृतिमलिनो भास्वद्बिम्बोन्मृजाकृतकर्मण-
　　स्तदयमपि हि त्वष्टुः कुन्दे भविष्यति चन्द्रमाः ॥ ८० ॥

लक्ष्मणः—(सर्वतोऽवलोक्य ।)

भूयस्तराणि यदमूनि तमस्विनीषु
　　ज्योत्स्नीषु च प्रविरलानि ततः प्रतीमः ।
सन्ध्यानलेन भृशमम्बरमूषिकायां

स्थापनात् । कोकिलं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'ह्यस्तुमागरैर्यतियुतं यदि कोकिलं वृत्तम्' इति ॥ ७९ ॥

रुचिभिरिति । यत् अभितः समन्तात् टङ्कोत्कीर्णैः पाषाणदारणास्त्रविशेषोल्लिखितैः त्रसरेणुभिरिव अल्पपरिमाणवस्तुविशेषैरिव रुचिभिः मयूखैः तथा उडुभिः नक्षत्रैः छेदे स्थूलैरिव नभः आकाशं ध्रियते पूर्यते, तत् अयं प्रकृतिमलिनः स्वभावकलुषः चन्द्रमाः भास्वद्बिम्बस्य सूर्यबिम्बस्य उन्मृजायाम् तक्षणे कृतकर्मणः कृतव्यापारस्य त्वष्टुः विश्वकर्मणः कुन्दे यन्त्रविशेषे भविष्यति हि अवश्यमेव भविष्यति । नैताश्चन्द्ररुचयः किन्तु विश्वकर्मणष्टङ्कोत्कीर्णास्त्रसरेणव एते, नैतानि नक्षत्राणि किन्तु विश्वकर्मणष्टङ्कोत्कीर्णाः स्थूलविशेषा एते, तस्मादवश्यमेव चन्द्रः प्रकृतिमलिनो विश्वकर्मणः कुन्दे तिष्ठतीत्युत्प्रेक्षा । पूर्वकाले सूर्यतेजोऽसहमानया सूर्यपत्न्या संज्ञया प्रार्थितः पिता विश्वकर्मा सूर्यं यन्त्रारूढं कृत्वा हीनतेजसमकरोदिति पुराणवार्त्तां मनसि कृत्वेयमुत्प्रेक्षा । हरिणीवृत्तम् ॥ ८० ॥

भूयस्तराणीति । यत् यतः अमूनि नक्षत्राणि तमस्विनीषु कृष्णनिशासु भूयस्तराणि अतिप्रचुराणि, ज्योत्स्नीषु चन्द्रधवलासु च रात्रिषु च प्रविरलानि स्वल्पानि दृश्यन्ते, ततः तस्मात् प्रतीमः मन्यामहे यत् सन्ध्यानलेन सायङ्कालरूपेणाग्निना अम्बरमूषिकायाम् आकाशरूपसुवर्णादिद्रवीकरणपात्रभेदे आवर्त्तितैः द्रवीकृतैः

छेनीसे काटकर निकाले गये चकत्तोंके समान दीखनेवाले इन नक्षत्रोंसे प्रतीत होनेवाले तारोंसे आकाश भरा हुआ है, क्या सूर्यको खरादपर चढ़ाकर स्वच्छ बनानेवाले विश्वकर्माकी खरादपर यह चन्द्रमा भी चढ़ना होगा ? ॥ ८० ॥

लक्ष्मण—यह तारे कृष्ण पक्षकी रात्रियोंमें अधिक तथा शुक्ल पक्षकी रात्रियोंमें कम होते हैं इससे समझमें आता है कि सन्ध्यानलके द्वारा आकाश रूप मूषामें गये

मावर्तितैरुडुभिरेव भृतोऽयमिन्दुः ॥ ८१ ॥

([1]विहस्य च ।) हन्त, यथाधर्ममेतत् ।

यत्पीयूषमयूखमालिनि तमःस्तोमावलीढायुषां
नेत्राणामपमृत्युहारिणि पुरः सूर्योढ एवातिथौ ।
अम्भोजानि पराञ्चि तन्निजमघं दत्त्वेव तेभ्यस्ततो
गौराङ्गीवदनोपमासुकृतमादत्ते पतिर्यज्वनाम् ॥ ८२ ॥

उडुभिः नक्षत्रैः एव अयम् इन्दुः भृतः पूरितः । अतएव हि चन्द्रोदये नक्षत्राणां स्वल्पता, तेषां नक्षत्राणामेव द्रवीभावमापन्नानां पिण्डीभावेनायं चन्द्रो जात इति भावः । उत्प्रेक्षालङ्कारः स्फुटः ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ८१ ॥

यथाधर्मम् धर्मानुकूलम् ।

यत्पीयूषेति तमःस्तोमेन अन्धकारनिकरेण अवलीढं समापितमायुर्येषां तेषां समोहतानां नेत्राणाम् लोकनयनानाम् अपमृत्युहारिणि अकालमृत्युनिवारके नेत्राणां दर्शनक्षमतायाः समाधायके पीयूषमयूखमालिनि अमृतदीधितौ एव सूर्योढे अस्तमितसूर्यकालागते अतिथौ अभ्यागते समुपस्थिते सति यत् अम्भोजानि कमलानि पराञ्चि विमुखतामाप्य सङ्कुचितानि जायन्ते, तत् ततः तेभ्योऽम्भोजेभ्यः यज्वनां पतिः द्विजराजः (अतिथिः) निजमघं पापं तेभ्यः कमलेभ्यो दत्त्वा इव तेभ्यः कमलेभ्यः सकाशात् गौराङ्गीवदनोपमासुकृतम् सुन्दरीवदनसादृश्यपुण्यम् आदत्ते गृह्णाति । अयमाशयः—सूर्यास्तकाले समागतोऽतिथिर्यदि स सत्कृतो निवृत्तश्च तदाऽसौ गृहिणे स्वं पापं दत्त्वा तदीयं पुण्यमादाय च गच्छति, अयं चन्द्रमास्तादृश एवातिथिः कमलकुलान्युपागतः सङ्कुचद्भिः कमलैर्मन्ये निराकृत इव तेभ्यो मालिन्यरूपं स्वमघं प्रदाय तेषां पुण्यं रमणीवदनसादृश्यमयोनकमादत्त इति । उक्तं चात्र धर्मशास्त्रे—'अतिथिर्यस्य भग्नाशो

नवाकर तारों द्वारा ही यह चन्द्रमा प्रस्तुत किया जाता है ॥ ८१ ॥

(हमकर) अहा ! यह ठीक ही है ।

अन्धकार द्वारा जिनकी आयु समाप्त कर दी गई थी ऐसी आँखों को पुनरुज्जीवित करनेवाले सुधाकिरणशाली चन्द्रमा जब सूर्यास्तके बाद अतिथिके रूपमें उपस्थित हुए तभी कमलोंने मुँह फेर लिया, अतः चन्द्रमाने अपना पाप कमलोंको दे दिया और कमलोंके पुण्य ले लिये जिससे चन्द्रमाको सुन्दरी स्त्रियोंके मुखकी समता प्राप्त हो रही है ॥ ८२ ॥

१ कृत' इति । २ 'विहस्य यथाधर्ममेतत्' इति ।

विश्वामित्र —(सर्वतोऽवलोक्य । सस्मितम् ।) अहह [1]नामधेयमात्रमाधुर्यादपरमार्थदृश्वानो विप्रलभ्यन्ते । तथा हि ।

स्मेरा दिशः कुमुदमुद्भिदुरं पिबन्ति
ज्योत्स्नाकरम्भमुदरम्भरयश्चकोराः ।
का कीदृगत्रिमुनिलोचनदूषिकायां
पीयूषदीधितिरिति [2]प्रथितोऽनुरागः ॥ ८३ ॥

(रामं च दृष्ट्वा । सहर्षस्मितम् ।) कथमयं [3]कुमाराङ्कविजयप्रत्यागतोऽपि

गृहात् प्रतिनिवर्त्तते । स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति । अतिथौ विमुखे प्रोक्तं मन्त्रं यत् पातकं नृणाम् । तदेवाष्टगुणं प्रोक्तं सूर्याढे विमुखे गते ॥ इति ॥

नामधेयमाधुर्यात् नाममात्रस्य रमणीयत्वात् । अपरमार्थदृश्वानः अतत्त्वदर्शिनः । विप्रलभ्यन्ते प्रतार्यन्ते । नाममनोहरत्वे लोकाः प्रतारिता भवन्तीत्यर्थः ।

स्मेरा इति । दिशः स्मेराः विकासशीलाः, (नात्र चन्द्रापेक्षा, तासां स्वतोविकासशीलत्वात्) कुमुदमुद्भिदुरम् विकसितम् (अत्रापि न चन्द्रापेक्षा, तद्विकासस्य स्वतः सिद्धेः) उदरम्भरयः उदरपूर्त्तिलालसाशालिनः चकोराः ज्योत्स्नाकरम्भम् शशिकरस्य दधिसक्तुकं सक्तुम पिबन्ति लिहन्ति, का, अत्रिमुनिलोचनदूषिकायाम् अत्रिमुनेर्नेत्रविकाररूपे चन्द्रे पीयूषदीधितिः अमृतकर इति प्रथितोऽनुरागः कीदृक् ? कथमयं मुनिनेत्रोत्पन्नतया तन्मलरूपो निशु सुधादीधितिपदेनोच्यते, कोपि मादृशोऽत्र विशेषो नालोक्यत इति भावः ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ८३ ॥

कुमाराङ्कः प्रथमं युद्धं तत्र यो विजयः शत्रुपराजयः ततः प्रत्यागतः सन्नपि

विश्वामित्र—(चारों ओर देखकर सस्मित) अहा ! नाममात्रकी सुन्दरतासे वास्तविक वस्तुको नहीं जाननेवाले वञ्चित होते हैं ।

दिशायें प्रकाशित हो गईं, कुमुद खिल रहे हैं, चकोरगण पेट भरकर चन्द्रकर रूप दधिसत्तु खा रहे हैं, अहो ! अत्रि मुनिकी आँखोंके मलस्वरूप इस चन्द्रमामें लोगोंको पीयूषदीधिति समझकर प्रेम क्यों है ? ॥ ८३ ॥

(रामको देखकर–हर्षसे हँसकर) प्रथम युद्धमें ही विजय प्राप्त करके भी ताडकाके

---

१ 'नामधेयमाधुर्यात्' इति । २ 'प्रथित' इति ।
३ 'कुमारोऽङ्कविजय', 'कुमारो विजय–' इति च ।

ताडकानिग्रहेण [1]ह्रिणीयमानः सहसा नोपतिष्ठते [2]वत्सः। (लक्ष्मणं प्रति।) वत्स सौमित्रे, अस्माकमनेन वृत्तान्तेन प्रदोषलक्ष्मीरियमनूद्यते। पश्य।

निशाचराणां तमसां निहन्ता पुरोऽयमुद्गच्छति [3]रामचन्द्रः।
अथोल्लसद्भिर्नयनैर्मुनीनामयं कुमुद्वानजनि प्रदेशः॥ ८४॥

रामः—([4]विभाव्य।)

मदयति यदुत्पन्नो दुग्धाम्बुधेरयमम्बुधी
नयति नयनादत्रेर्जातो मुदं नयनानि च।

विनाश्य समायातः, ह्रिणीयमानः लज्जमानः (स्त्रीवधस्याकार्यतया तथा) सहसा हठात्। नोपतिष्ठते न समीपमागच्छति। अनेन ताडकावधात्मना। वृत्तान्तेन समाचारेण। प्रदोषलक्ष्मीः रजनीमुखस्य शोभा। अनूद्यते पुनरुच्यते, यादृशी रजनीमुखस्य शोभा तादृश्यस्मद्वृत्तान्तदशेति भावः॥

निशाचराणामिति। निशाचराणाम् तमसाम् रात्रौ प्रसरताम् अन्धकाराणां रक्षसाञ्च निहन्ता मारयिता अयं रामः एव चन्द्रः पुरः उद्गच्छति, प्रदोषस्य पुरतो यथा रात्रिप्रसारिणः तमसः निहन्ता चन्द्रः उदयते तथा निशाचराणां निहन्ताऽयं रामोऽस्माकं पुरः उदयत इत्यर्थः। अथ जाते रामचन्द्रोदये उल्लसद्भिर्विकासं लभमानैः मुनीनां नयनैरयं प्रदेशः कुमुद्वान् अजनि सञ्जातः, चन्द्रोदये कुमुदानि विकसन्ति, रामस्य चास्मिन्नुदये प्रसन्नानि मुनीनां नयनानि कुमुदानीव जायन्ते इत्यर्थः। रूपकमलङ्कारः॥ ८४॥

मदयतीति। अयं सोमो विधुः यत् यस्मात् दुग्धाम्बुधेः क्षीरसागरात् उत्पन्नः सञ्जातः (अतः) अम्बुधीन् सागरान् मदयति हर्षयति, अत्रेः मुनिविशेषस्य नयनात् जातः इति नयनानि विलोकजनलोचनानि मुदं नयति हर्षं प्रापयति, अयमस्य विधोर्जन्यजनकभावसम्बन्धमूलः प्रमोदकस्य व्यवहारः सङ्गुचितः, सम्बन्धा

मारे जानेसे यह राम लज्जित हो रहा है, अतः शीघ्र हमारे पास नहीं आरहा है। (लक्ष्मणके प्रति) वत्स लक्ष्मण, इस लोगोंकी इस घटनाने प्रदोष कार्यको दुहरा दिया है।

निशाचर तमको दूर करनेवाले यह रामचन्द्र उदित हो रहे हैं इन्हें देखकर विकसित होनेवाले मुनिजन-नयनोंसे यह देश कुमुदयुत हो रहा है॥ ८४॥

रामः—(सोचकर) क्षीरसागरसे उत्पन्न यह चन्द्रमा सागरको प्रसन्न करता है और अत्रिनेत्रसे उत्पन्न होनेके कारण लोगोंके नयनोंको आनन्दित करता है समस्त

---

१ 'घृणीयमानः' इति। २ 'वत्सः' इति क्वचिन्नास्ति।
३ 'रामभद्रः' इति। ४ 'विभाव्य च' इति।

तदखिलसुरश्रेणीसाधारणप्रणया शची
सहचरचरुस्थाली सोमं समञ्जसमीहते ॥ ८५ ॥

([1]सलज्जमुपसृत्य ।) भगवन्, अभिवादये ।

विश्वामित्र —([2]सस्नेहबहुमानमालिङ्ग्य ।) वत्स रघुनन्दन, इत्थमेव
प्रकृष्टकर्माभिप्रायक्रियाफलवतो विधीन् ।
प्रयुञ्जानास्त्वया वीर [3]परिपाल्यामहे वयम् ॥ ८६ ॥

राम —([4]स्वगतम् ।) शिरसा गृहीतमाचार्यवचनम् ।

विश्वामित्र —(समरधूलिधूसरं रामस्य [5]कपोलमुन्मार्जयन् ।) [6]वत्सस्त्य-

पेक्षित्वादिति भावः, यद्यपि शचीसहचरस्य इन्द्रस्य चरुस्थाली हवनीयद्रव्यभाण्डभूता सोमलता अखिलसुरश्रेणीसाधारणप्रणया सकलदेवताधृतप्रणया सत् समञ्जसम् युक्तम् ईहते चेष्टते । एतादृशस्य सोमस्य सकलदेवप्रीणनपरायणतया युक्तव्यवहारिता, सम्बन्धनिरपेक्षत्वादिति सम्बन्धापेक्षोपकारितायाः अपेक्षया सम्बन्धनिरपेक्षोपकारिता श्रेष्ठेति चन्द्ररूपसोमापेक्षया वरं लतात्मकः सोम इत्यभिप्रायः । व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ८५ ॥

प्रकृष्टेति । प्रकृष्टं कर्तारमभिप्रैतीति प्रकृष्टकर्माभिप्रायं तादृशं यत् क्रियाफलं तद्वतो विधीन् यागादीन् उत्तमकोटिकफलप्रापकयागादीन् प्रयुञ्जानाः अनुतिष्ठन्तः वयं मुनयः त्वया परिपाल्यामहे रक्ष्येमहि भाविनः यागाननुतिष्ठतोऽस्मानेवमेव रक्षितुं यतेथा इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

—गणके समान प्रणपात्र तथा इन्द्रके चरुस्थाली (भक्ष्यनिर्माणपात्र) रूप इस चन्द्रमाके लिये उचित ही है ॥ ८५ ॥

(लज्जाके साथ समीप आकर) भगवन्, अभिवादन करता हूँ ।

विश्वामित्र —(सादर गले लगाकर) उत्तम कोटिक क्रिया फलोंके देनेवाले यज्ञोंको करनेके समय आप इसी तरह हमारी रक्षा किया करें ॥ ८६ ॥

राम —(स्वगत) आचार्यके वचन सिरपर ।

विश्वामित्र —(समरधूलिधूसर रामके कपोलको पोंछते हुए)

१ 'राम सलज्ज–' इति । २ 'सस्नेहमालिङ्ग्य' इति ।
३ 'प्रतिपाल्यामहे' इति । ४ 'स्वगतम्' इति क्वचिन्नास्ति ।
५ 'चुबुककपोल–' इति । ६ 'वत्स वत्सत्य–', 'सत्य–' इति च ।

ममुना [1]नक्तचरव्यतिकरेण प्रियसुहृदा सीरध्वजेन वितन्यमाने वैताने कर्मणि कम्पितमिव मे हृदयम्।

राम—(सगौरवम्।) भगवन्, क एष सीरध्वजो नाम [2]यमद्य ते त्रिभुवनदुर्लभोऽय प्रियसुहृच्छब्दप्रयोग कमपि महिमानमारोपयति।

विश्वामित्र—वत्स, शृणोषि विदेहेषु मिथिला नाम नगरीम्।

राम—यत्र पवित्रमाश्चर्यद्वय जना कथयन्ति। सकलराज[3]दुरा कर्षमैन्दुशेखर धनु, लाङ्गलमुखोल्लिखित[4]विश्वम्भराप्रसूतिरगर्भसम्भवा [5]मानुषी।

विश्वामित्र—(विहस्य।) अथ किम्।

नक्तञ्चरव्यतिकरेण निशाचरसम्पर्केण। वितन्यमाने क्रियमाणे वैताने कर्मणि यज्ञविधौ। यदि राक्षसा जनकस्य धनुर्यज्ञ दूषयेयुस्तदा क प्रतिकुर्यादिति चिन्तया कम्पितमिव मम हृदयमित्यर्थ।

कमपि महिमानमारोपयति कामपि प्रतिष्ठा प्रापयति।

सकलराजन्दुराधषम् सकलैरपि राजवर्गैर्दुर्नमनीयम्।

लाङ्गलमुखोल्लिखितविश्वम्भराप्रसूति हलक्षुण्णपृथ्वीप्रभवा। अगर्भसम्भवा अनुदरजाता।

इन राक्षसों द्वारा किये गये उपद्रवको देखकर सचमुच मेरा हृदय मेरे प्रियमित्र सीरध्वज द्वारा प्रक्रान्त यज्ञकी चिन्तासे काँप उठा है।

राम—(गौरवसे) महाराज यह सीरध्वज कौन है, जिन्हें आपके द्वारा प्रयुक्त प्रिय सुहृत् शब्द गौरव प्रदान कर रहा है॥

विश्वामित्र—वत्स, तुमने विदेहदेशकी मिथिलाका नाम सुना होगा।

राम—जहाँके विषयमें दो वस्तुएँ पवित्र तथा आश्चर्यजनक प्रसिद्ध हैं एक सभी राजों द्वारा दुर्नमनीय शिवधनु दूसरी हलके अग्रभागसे खुदी पृथ्वीमे उत्पन्ना पृथ्वी समुद्भवा अयोनिजा कन्या।

विश्वामित्र—और क्या?

१ 'नक्तचरचक्र-' इति। २ 'येनाद्य' इति। ३ 'दुराधर्षम्' इति। ४ 'उत्खातविश्वम्भरात्' इति। ५ 'मानुषी च' इति।

राम —(सकौतुकम् ।) वत्स किं तस्याम् ।

विश्वामित्र —

[1]असौ सीरध्वजो राजा यो देवाद्द्युमणेरपि ।
अध्यैष्ट याज्ञवल्क्यस्य मुखेन ब्रह्मसंहिताम् ॥ ८७ ॥

[2]तस्य संन्यस्तशस्त्रस्य पुराणराजर्षेर्जनकवंशजन्मनो दीक्षाविलोपशङ्का पर्याकुलयति माम् । [3]तदेनमायुष्मन्तौ, निधिशेष[4]मस्मदीयं समाप्य सद्यैव मिथिलामुपतिष्ठामहे ।

राम —(सहर्षमपवार्य ।) वत्स लक्ष्मण, [5]ममापि तस्मिन्नतरुणरोहिणीरमणचूडामणिपाणिप्रणयिनि [6]शरासने चिरस्य कौतुकमस्ति ।

असाविति । असौ राजा सीरध्वजः यः याज्ञवल्क्यस्य मुनेर्मुखेन याज्ञवल्क्यपरम्परया देवाद् द्युमणेः सूर्यात् ब्रह्मसंहिताम् वेदम् अध्यैष्ट अधिगतवान्, याज्ञवल्क्यः सूर्याद् वेदमधीत्य जनकमध्यापितवानिति मन्ये जनकः सूर्यादेव याज्ञवल्क्यमुखेन वेदमध्यैष्टेति भावः ॥ ८७ ॥

संन्यस्तशस्त्रस्य त्यक्तचापस्य । जनकवंशजन्मनः जनकगोत्रजस्य सीरध्वजनाम्नः । दीक्षाविलोपशङ्का यज्ञनाशभयम् ।

पर्याकुलयति-चिन्तां जनयति । निधिशेषम् कर्तव्यशिष्टम् । अतरुणरोहिणीरमणचूडामणिपाणिप्रणयिनि अतरुणो बालो यो रोहिणीरमणश्चन्द्रमाः स चूडामणि

राम—(कौतुकसे) वहाँ क्या हुआ है ।

यही सीरध्वज राजा हैं जिन्होंने याज्ञवल्क्यके मुखको माध्यम बनाकर भगवान् सूर्यसे ब्रह्मसंहिताका अध्ययन किया था ॥ ८७ ॥

जनकवंशज उस सीरध्वजने शस्त्रत्याग कर दिया है, अतः उनके यज्ञके लोपकी सम्भावना मुझे आकुल बनाये दे रही है । अतः हे चिरंजीवियो, चलो, यहाँका कर्तव्य सम्पन्न करके मिथिला चलें ।

राम—(हर्षके साथ—लक्ष्मण मात्रसे) वत्स, मैं भी उस बालचन्द्रशेखरके हाथमें रहनेवाले धनुषको देखनेके लिए बहुत दिनोंसे उत्सुक हूँ ।

---

१ 'दव' इति । २ 'तस्य च न्यस्त–', 'तस्य विन्यस्त–' इति च ।
३ 'तदेनस्मादादायायुष्मन्तौ', 'तदेनमायु–' इति च ।
४. 'मस्मदीयं परिसमाप्य' इति । ५ 'ममाप्यतरुण–', 'ममापि तरुण' इति च ।
६ 'बाणासने' इति ।

लक्ष्मणः—(सपरिहासम् ।) आर्यायामयोनि[1]जन्मनि राजकन्यकायामपि ।

रामः—([2]सरोषस्मितम् ।) [3]कथमन्यदेव किमपि प्रहसनं सूत्रयति भवान् । (मुनिं प्रति ।) भगवन् इक्ष्वाकुवंश[4]गुरो, [5]यदभिरुचितं भवते ।

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति कौमारविक्रमो नाम द्वितीयोऽङ्कः ।



शिरोभूषणं यस्य स शिवस्तस्य पाणिप्रणयिनि महादेवकरलालिते शरासने चापे ।

अयोनिजन्मनि अगर्भजातायाम् ।

प्रहसनम् हास्यसाधनं रसान्तरम् । सूत्रयति अवतारयति ।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते अनर्घराघवप्रकाशे द्वितीयाङ्कः समाप्तः ॥



लक्ष्मण—(परिहासके साथ) अयोनिजा राजकन्याके विषयमें भी ?

राम—(रोषसे हँसकर) क्यों तुम कुछ दूसरी ही दिल्लगी प्रारम्भ करते हो । (मुनिके प्रति) महाराज इक्ष्वाकुवंशगुरो आपकी जैसी इच्छा ।

[चलकर सभी जाते हैं]

द्वितीय अङ्क समाप्त ॥



१ 'जन्मनि च राजकन्यायाम्' इति ।　　२ 'सासूयस्मितम्' इति ।

३ 'अन्यदेव प्रहसनं सूत्रयसि', 'सूत्रयति भगवान्' इति च ।

४ 'कुलगुरो' 'गोगुरो' इति च ।

५ 'यदभिरुचितं ते', 'यदभिरुचितं भवते तत्क्रियताम्' इति च ।

अथ तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति कञ्चुकी ।)

कञ्चुकी—(जरावैक्लव्यविसंस्थुलानि कतिचित्पदानि [1]दत्त्वा आत्मानं प्रति सखेदोपालम्भम् ।)

> गात्रैर्गिरा च विकलश्चटुमीश्वराणां
> कुर्वन्नयं प्रहसनस्य नटः कृतोऽस्मि ।
> [2]इत्थं जरा पुनः पलितवर्णकभाजमेनं
> नाट्येन केन नटयिष्यति दीर्घमायुः ॥ १ ॥

जरावैक्लव्यविसंस्थुलानि वार्द्धक्यकृताशक्तिस्खलितानि । कतिचित् पदानि दत्त्वा कियन्ति पदानि गत्वा । सखेदोपालम्भम् खेदेनात्मानं निन्दन् । वृद्धः कञ्चुकी वार्द्धक्यकृतेन दौर्बल्येन स्वं निन्दन् वक्ष्यमाणप्रकारेणाहेत्याशयः ।

गात्रैरिति । गात्रैः शरीरावयवैः गिरा स्पष्टभाषया च विकलः अयुक्तः रहितः ईश्वराणां प्रभूणां चटुम् प्रियभाषितं कुर्वन् अयम् मल्लक्षणो जनोऽहम् प्रहसनस्य हास्यसाधनस्य नटः नर्त्तकः कृतोऽस्मि । विश्लथानि मदङ्गानि स्खलन्तीं मम वाचं च श्रुत्वा मम प्रभवो हसन्तीति मन्ये जरावस्थयाऽहं प्रभूणां प्रहासाय प्रहसननटः कृतोऽस्मीति भावः । एनम् पलितवर्णकभाजम् श्वेतम् जराशोकव्याप्तं त्वाम् पुनः दीर्घम् आयुः जीवितम् पुनः केन नाट्येन नटयिष्यति, चिरञ्जीविनमहं केन केन प्रकारेण प्रभूणां मुदं जनयितुं चेष्टिताहे इति नावगच्छामीत्यर्थः । अन्योऽपि प्रहसनप्रणेता नटः वर्णकेन हरितालादिना चतुरालिप्य धवलीकृतकेशः प्रभूणां प्रमोदाय नृत्यति, तद्वदहमपि दीर्घायुषा प्रवर्त्तितो बहूनि तानि तानि कार्याणि कर्त्तुं बाध्ये यैः प्रभवो मुदमनुभवन्तीति मदायुर्मां प्रहसनपात्रमिव नटयतीति तात्पर्यम् । रूप

(कञ्चुकीका प्रवेश)

कञ्चुकी—(वार्धक्यके कारण लड़खड़ाती चालसे कुछ पग चलकर अपने प्रति उलाहने के स्वरमें)

शरीर तथा वचनके द्वारा मालिकोंका मनोविनोद करता हुआ मैं प्रहसनका नट बन गया हूं । इस पके बालोंवाले मुझ बूढ़ेको यह दीर्घ आयु न जाने कौन नाच और नचायेगा ॥ १ ॥

---

१ 'विसंष्ठुलानि' इति । २ 'गत्वा' इति । ३ 'न त्वाम्', 'कृत्वा' इति ।

(पुरो विलोक्य[1] ।) अये [2]सीतापादमूलोपजीविनी कलहंसिका ।

(प्रविश्य ।)

कलहंसिका—अज्ज, पणमामि । [आर्य प्रणमामि ।]

कञ्चुकी—वत्से, कल्याणिनी भूयाः ।

कलहंसिका—अज्ज, चिरेण कुदो तुम्हे । [आर्य, चिरेण कुतो यूयम् ।]

कञ्चुकी—([3]विमृश्य ।) तत्किं न कथ्यते । वत्से, विदितमेव भवत्या, [4]यथा तत्तादृगद्भुत [5]दारकद्वयमादाय भगवान्कौशिको यजमानं महाराजं सीरध्वजमुपस्थितः ।

कलहंसिका—अध इ । अज्ज, पहवं णामधेअं च ताणं सुणिदुं अत्थि मे कोदूहलम् । [अथ किम् । आर्य, प्रभवं नामधेयं च तयोः श्रोतुमस्ति मे कौतूहलम् ।]

वेषु कञ्चुकी स्यात् जरा निहन्तीति प्रसिद्धम् । कञ्चुकिलक्षणमुक्तं यथा—'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः । सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते । जरा यञ्चलत्वयुक्तेन विशेद् गात्रेण कञ्चुकी' इति ॥ १ ॥

सीतापादमूलोपजीविनी सीतासमीपवर्तिनी ।

कल्याणिनी कुशलिनी ।

तादृगद्भुतम् तादृशमद्भुतप्रभावरूपम् । दारकद्वयम् कुमारयुगलम् । आदाय सहकृत्वा कौशिकः विश्वामित्रः । महाराजं सीरध्वजम् जनकम् । उपस्थितः प्राप्तः । प्रभवम् उत्पत्तिस्थानं वंशमित्यर्थः । नामधेयम् नाम, कौतूहलम् उत्कण्ठा ।

(आगेकी ओर देखकर) अरे, यह तो सीताके पास रहनेवाली कलहंसिका है ।

(प्रवेश करके)

कलहंसिका—आर्य, प्रणाम ।

कञ्चुकी—वत्से तुम्हारा कल्याण हो ।

कलहंसिका—आर्य, बहुत दिनोंके बाद किधरसे भटक पड़े हो ?

कञ्चुकी—(विचारकर) क्यों न कह दूँ ? वत्स, तुम्हें मालूम ही होगा कि अद्भुत रूप गुणवाले दो बालकोंको साथ लेकर भगवान् कौशिक यजमान सीरध्वजके पास आये हैं ।

कलहंसिका—और क्या ? आर्य मैं उन दोनोंका वंश तथा नाम सुनना चाहती हूँ ।

---

१ 'विभाव्य च' इति । २ 'सीतापादोपजीविनी', 'सीतापादोपसेविनी', 'सीतापादपद्मोपजीविनी' च । ३ '(विमृश्य ।) तत्' इति क्वचिन्नास्ति ।

४ 'यत्तादृगद्भुतम्' । ५ 'कुमारद्वयमादाय कौशिकः' ।

कञ्चुकी—वत्से, कथयामि ।

त्रयस्त्रिंशत्कोटित्रिदशमयमूर्तेर्भगवतः
सहस्रांशोर्वंशे जयति [1]जगतीशो दशरथः ।
यदस्त्रैरस्निग्धैरसुरयुवतिश्वासपवन-
प्रकोपे सिद्धे न स्पृशति शतकोटिं शतमखः ॥ २ ॥

इमौ तस्य विशांपत्युरात्मजौ रामलक्ष्मणौ ।
ययोर्भरतशत्रुघ्नावनुजौ द्वन्द्वचारिणौ ॥ ३ ॥

त्रयस्त्रिंशदिति । त्रयस्त्रिंशत्कोटयो ये त्रिदशा देवा तन्मयी मूर्त्तिः शरीरं यस्य तस्य सर्वदेवमयस्य भगवतः सर्वसामर्थ्यशालिनः सहस्रांशोः सूर्यस्य वंशे जगतीशः समग्रभुवनशासकः दशरथो नाम राजा जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । त्रयस्त्रिंशत्कोटिमितदेवगणस्वरूपमूर्त्तेः सूर्यस्य वंशे दशरथो नाम चक्रवर्त्ती राजाऽस्तीति भावः । तमेव स्तौति—यदस्त्रैरिति । अस्निग्धैः कठोरैः यदस्त्रैः यस्य दशरथस्य अस्त्रैः असुरयुवतीनां दैत्याङ्गनानां श्वासपवनस्य प्रकोपे वृद्धौ सिद्धे जाते सति शतमखः इन्द्रः शतकोटिं वज्रं न स्पृशति । देवशत्रुषु राक्षसेषु हन्यमानेषु असुरयुवतयः श्वासं त्यजन्ति, तेनैव स्वसाध्यसुरयुवतिबन्दीभावमोक्षणे शक्रो निजवज्रं न परामृशतीति भावः । दशरथस्य इन्द्रकार्यसम्पादकतया देवोपकारकत्वाऽतिसामर्थ्यशालिता च व्यक्ता देवमयशरीरस्य सूर्यस्य वंशे जायमानतया च महाकुलप्रसूतता व्यञ्जिता । अस्त्राणामस्निग्धत्वविशेषणेन वायुप्रकोपकारणत्वं समर्थितम्, स्निग्धवस्तुभिर्वायुशमनं तद्भिन्नैश्च वायुवृद्धिरिति वैद्यकविद्याप्रसिद्धम् ॥ २ ॥

इमाविति । रामलक्ष्मणयोः प्रभवं नामधेयं च श्रोतुमिच्छन्त्याः कलहंसिकायाः कौतूहलमपनोदयितुं पूर्वश्लोकेन प्रभवं उक्त्वा, सम्प्रति नामनी आह—इमाविति । तस्य विशांपत्युः लोकपालस्य दशरथस्य आत्मजौ पुत्रौ रामलक्ष्मणौ नाम इमौ विद्येते इति सम्बन्धः । ययोः रामलक्ष्मणयोः द्वन्द्वचारिणौ नित्यसहचरौ अनुजौ

कञ्चुकी—वत्से, बताता हूँ । त्रयस्त्रिंशत्(३३)कोटि देवमूर्त्तिधारी भगवान् सूर्यके वंशमें दशरथ नामक एक राजा हैं, जिनके खरे अस्त्रोंसे असुर युवतियोंके दीर्घनिःश्वास पवनके प्रवर्त्तित हो जानेपर इन्द्र अपने वज्रका स्पर्श तक नहीं करते हैं ॥ २ ॥

उन्हीं राजप्रवरके यह दोनों राम लक्ष्मण नामक पुत्र हैं, इनके छोटे भाइयोंका नाम भरत और शत्रुघ्न हैं जो सदा साथ रहते हैं ॥ ३ ॥

[1] 'जगदीशः'।

कलहंसिका—जधा अह्माघरे भट्टदारिआ सीदा उम्मिला अ मण्डवी सुदकित्ती अ। [यथास्मद्गृहे भर्तृदारिका सीता ऊर्मिला च माण्डवी श्रुतकीर्तिश्च।] (विचिन्त्य। [1]हर्षं निरूपयन्ती।) कध महाकुलप्पसूदा एदे वि कुमारआ। [कथं महाकुलप्रसूता एतेऽपि कुमारकाः।] (मुहूर्तमिव स्थित्वा। दीर्घोष्णं च निःश्वस्य।) कुदो अह्माण ईरिसो भाअधेओ। [कुतोऽस्माकमीदृशं भागधेयम्।]

कञ्चुकी—भवति, मा विषीद। सर्वं भविष्यति देवब्राह्मणानुग्रहात्।

कलहंसिका—तदो तदो। [ततस्ततः।]

कञ्चुकी—ततश्च वृद्धान्तःपुराणामभ्यर्थनया तौ[3] निकर्तनकुल

भरतशत्रुघ्नौ नाम। दशरथपुत्रौ रामलक्ष्मणावेतौ, तयोर्भ्रातरौ भरतशत्रुघ्नौ विद्येते इति सम्बन्धः। 'विशौ वैश्यमनुष्ययोः' इति विश्वः ॥ २ ॥

भर्तृदारिका राजपुत्री, 'राजा भट्टारको देवस्तत्सुता भर्तृदारिका' इत्यमरः।

कथमिति। इमे पूर्वं श्रुतनामानो रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाश्चत्वारोऽपीमे राजकुमारा महाकुलप्रसूताः सन्ति, यद्यपि ते सह सीतोर्मिलामाण्डवीश्रुतकीर्तीनां मदीयराजकुमारिकाणां परिणयः सङ्घटेत, तदाऽतीव प्रमोदः स्यादिति तद्धृदयम्। मा विषीद खेदं मा कुरु। देवब्राह्मणानुग्रहात् देवतानां विप्राणां च प्रसादात्। वृद्धान्तःपुराणाम् वयोवृद्धानां महादेवीनाम्। अभ्यर्थनया प्रेरणया। तौ रामलक्ष्मणौ। निकर्तनकुलकुमारौ सूर्यवंशीयौ राजपुत्रौ। निवर्तनाम परावर्तमानः।

कलहंसिका—जैसे हमारे यहाँ राजकुमारी सीता, ऊर्मिला, माण्डवी और श्रुतकीर्ति हैं (विचार करके-हर्षके साथ) यह राजकुमार भी महाकुल प्रसूत हो हैं। (थोड़ा देर सोचकर और लम्बी सी गरम साँस लेकर) हमारे ऐसे भाग्य कहाँ ?।

कञ्चुकी—अरी, विषाद मतकर, देवों और ब्राह्मणोंकी कृपासे सब हो जायगा।

कलहंसिका—उसके बाद क्या हुआ ?

कञ्चुकी—उसके बाद में अन्तःपुरकी बूढ़ी औरतोंके आदेशानुसार उन राजकुमारोंको

---

१ 'सहर्षम्'।　　२ 'अनुशासनात्'।

३ 'समागतौ तौ विकर्तनकुलकुमारौ। तौ किल'।

कुमारकौ दृष्ट्वा निवर्तमानः पुरोधसा गौतमेनाहमाहूय राजपुत्रीणां सौभाग्यदेवताराधनाय [1]संनिहितोऽस्मि।

कलहंसिका—([2]सहर्षम्।) अज्ज, सव्वजणमणीसिदाणुऊलं विअ तत्थभवदो सदाणन्दस्स वअणम्। [आर्य, सर्वजनमनीषितानुकूलमिव तत्रभवतः शतानन्दस्य वचनम्।]

कञ्चुकी—वत्से, एवमेतत्। [3]न खल्वतथ्यमगम्भीरमाङ्गिरसो ब्रवीति।

कलहंसिका—ता किं मण्णेध संकरसरासणारोवणव्ववसाएण राएसिणो जणअस्स पडिण्णासाहसं णिव्वाहिस्सदि राहवो। [तत्किं मन्यध्वे शंकरशरासनारोपणव्यवसायेन राजर्षेर्जनकस्य प्रतिज्ञासाहसं निर्वाहयिष्यति राघवः।]

पुरोधसा पुरोहितेन। गौतमेन शतानन्देन। आहूय आकार्य। सौभाग्यदेवता-राधनाय गौर्यादिसौभाग्यप्रदेवताप्रसादनाय। संनिहितः आश्रितः। सर्वजनमनीषितानुकूल्यं सर्वलोकाभिलषितानुवर्त्ति। यथा सर्वे कामयन्ते तथैव शतानन्दो मन्यत इत्यर्थः।

अतथ्यमगम्भीरम् असत्यमगम्भीरं च। आङ्गिरसः शतानन्दः। अङ्गिरोवंशोद्भवः शतानन्दो नालीकं जल्पते नापि चागम्भीरमिति भावः।

मन्यध्वे विश्वासं कुरुथ। शंकरशरासनारोपणव्यवसायेन हरधनुरारोपणचेष्टया। प्रतिज्ञासाहसम् प्रतिज्ञाप्रवृत्तिम्। निर्वाहयिष्यति सफलयिष्यति। येन साहसेन

देखकर लौटा आ रहा था कि पुरोहित शतानन्दने बुलाकर राजपुत्रियोंकी गौरीपूजाके लिये आज्ञा दी है।

कलहंसिका—(सहर्ष) आर्य, सभी लोगोंके मनोरथके अनुकूल ही शतानन्दके वचन हैं।

कञ्चुकी—वत्से, बात ऐसी ही है कि अङ्गिरा गोत्रोत्पन्न शतानन्दजी झूठी तथा गम्भीरतासे रहित बातें नहीं कहते हैं।

कलहंसिका—तो क्या समझते हो कि राम शिवधनुषको आरोपित करनेकी चेष्टासे राजर्षि जनककी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे।

---

१ 'संप्रहितोऽस्मि' 'संप्रति प्रहितोऽस्मि'। २ हर्षं नाटयति'।
३ 'न खल्वयमतथ्यं वदति', 'नखल्वगम्भीरमाङ्गिरसः'।

कञ्चुकी—वत्से, अस्मानपि तर्कोऽयं तरलीकरोति । तथाहि ।

पूर्णेऽपि कर्मणि हतेष्वपि राक्षसेषु
　　विज्ञाय मैथिलसुतामपि वीर्यशुल्काम् ।
बालं पितुः प्रियममुं रघुराजपुत्र-
　　मेतावतीं भुवमृषिः कथमानिनाय ॥ ४ ॥

कलहंसिका—(स्मरणमभिनीय । सविषादम् ।) अज्ज, पउत्तिविसे-

जनकः शिवशरासनारोपणं पणमयाऽस्थापयत्तत्माद्रामः शिवधनुरारोप्य सपत्नीकरिष्यतीति भवन्तो मन्यन्त इत्याशयः ।

तर्कोऽयं तरलीकरोति चिन्तेयं व्याकुलयति । रामः शिवधनुरारोपयिष्यति न वेति विषये वयमपि सन्दिहाना एव वर्तामहे इत्याशयः ॥

पूर्णेऽपीति । कर्मणि यज्ञे पूर्णे सम्पन्ने अपि, राक्षसेषु यज्ञपरिपन्थिषु दस्युषु हतेषु मारितेषु अपि मैथिलसुताम् सीताम् अपि वीर्यशुल्काम् शिवशरासनारोपणरूपपराक्रमप्राप्याम् विज्ञाय ज्ञात्वा अपि ऋषिः विश्वामित्रः बालम् अल्पवयस्कम् पितुः प्रियम् पित्रा सविशेषं लाल्यमानम् अमुम् रघुराजपुत्रम् दशरथतनयम् रामम् एतावतीम् इयद्दूरवर्त्तिनीम् भुवम् मिथिलाभिधानां भूमिम् कथम् आनिनाय प्रापयामास । यज्ञे सम्पादिते राक्षसेषु हतेषु अपि सीताविवाहस्य पराक्रमसम्पाद्यतया विश्रामं धारयन्नपि मुनिर्विश्वामित्रो दशरथस्य प्राणेभ्योऽपि प्रियं तनयं रामं यदियति दूरे स्थितां जनकराजधानीं प्रापितवानस्ति, तदत्र केनापि गूढेनाभिसन्धिना भवितव्यं, तेनाहं सीतापरिणयविषये रामस्य साफल्यं प्रति जनिताशतया न नितान्तं निराशः कष्टसाध्यतया शिवधनुरारोपणस्य न निश्चितविश्वास इति सन्दिहानमना एवास्मीति भावः ॥ ४ ॥

स्मरणमभिनीय स्मरतीतिसूचकं चेष्टाविशेषं कृत्वा । सविषादम् सखेदम्, खेदश्च स्वस्वामिन्याः खेदस्य स्मरणेन । प्रवृत्तिविशेषलम्भेन कस्यचित्समाचार

कञ्चुकी—वत्से हम लोगोंको भी यह तर्क चञ्चल बना रहा है—क्योंकि यज्ञके पूर्ण हो जानेपर, राक्षसोंके मारे जानेपर, मैथिलीकी प्राप्ति पराक्रमाधीन है इस बातको जानकर भी बालक तथा अपने पिताके परमप्रिय इस राघवको विश्वामित्र इतने दूर तक क्यों ले आये हैं ? ॥ ४ ॥

कलहंसिका—(स्मरणका अभिनय करके-सखेद) कुछ खास समाचारसे सीता

सलम्भेण दुम्मणायमाणमत्ताण पञ्चालिआकेलिवावारेण विणोदअन्ती भट्टिदारिआ पेक्खिअ उव्विण्णाए कारण परिविज्जिदुं आअदाए अज्ज स्स दसणेन मए विसुमरिदं दमिणा उण दे रक्खसणामग्गहणेन सुमराविदह्मि। [आर्य, प्रवृत्तिविशेषलम्भेन दुर्मनायमानमात्मानं पाञ्चालिकाकेलिव्यापारेण विनोदयन्तीं भर्तृदारिकां प्रेक्ष्य उद्विग्नया कारणं प्रतिपत्तुमागतया आर्यस्य दर्शनेन मया विस्मृतमेतेन पुनस्ते राक्षसनामग्रहणेन स्मारितास्मि।]

कञ्चुकी—(सविषादम्।) वत्से, कीदृशी सा प्रवृत्तिः, या तव भर्तृदारिकामपि दुर्मनाययति।

कलहंसिका—सुणादु अज्जो। जधा किल सीदादेवीं पत्थिदुं दसग्गीवपुरोहिदो आअदोत्ति। [यथा किल सीतादेवीं प्रार्थयितुं दशग्रीव पुरोहित आगत इति।]

कञ्चुकी—(तदनाकर्ण्य नाटयन्सहर्षम्।) कथमेतावदपि कार्यं वत्सा

स्यावास्तथा। दुर्मनायमानम् खेदमनुभवन्तम्। पाञ्चालिकाकेलिव्यापारेण पाञ्चालिका पुत्रिकास्तासां केलिः तया क्रीडा तेन व्यापारेण 'पाञ्चालिका पुत्रिका स्याद्वस्त्रदन्तादिभिः कृता' इत्यमरः। विनोदयन्तीम् प्रसन्नतया लम्भयन्तीम्। भर्तृदारिकाम् राजकुमारीम् सीताम् उद्विग्नया खिन्नया। कारणम् भर्तृदारिकादुर्मनायमानताहेतुम्। प्रतिपत्तुम् ज्ञातुम्। आर्यस्य पूज्यस्य तव कञ्चुकिनः। राक्षसनामग्रहणेन 'हतष्वपि राक्षसेषु' इत्युक्तौ राक्षसपदप्रयोगेण।

प्रवृत्तिः वार्त्ता। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त' इत्यमरः। दुर्मनाययति खेदयति। प्रार्थयितुम् दशग्रीवः सीतां वरीतुमिच्छतीति बोधयितुम्।

तत्र दशग्रीवपुरोहितागमनवृत्तान्ते। अवज्ञा नाटयन् तिरस्कारबुद्धिमिव

उदास होकर कठपुतलीके खेल से दिल बहला रही थीं, उसे देखकर मैं कारण जानने चली था आपको देखकर मैं यह बात भूल गई थी, आपने राक्षसका नाम लिया तो फिर याद हो आई है।

कञ्चुकी—(सखेद) वत्से, वह कौन सी खबर है? जिससे तुम्हारी राजकुमारी भी उदास हो गई हैं

कलहंसिका—आर्य सुनिये, सीता देवीको माँगनेके लिए रावणका पुरोहित आया था।

कञ्चुकी—(उधर ध्यान न देकर) इन बातोंको भी सीता जानने लगी है कि इस

जानकी जानाति, यदनेनोदन्तेन [1]दुर्मनीभूयते । नूनमिदानीमस्या कृतावतरणमङ्गलान्य[2]ङ्गकानि यौवनस्य पन्थानमीक्षन्ते ।

कलहंसिका—अज्ज, एवं ण्णेदम् । अज्जओसित्ति सिढिलीकिदलज्जा सप्पदि उजेव्व अणुहूदं किंपि णिवेदेमि । [आर्य, एवमेतत् । आर्यकोऽसीति शिथिलीकृतलज्जा सम्प्रत्येवानुभूतं किमपि निवेदयामि ।] (संस्कृतमाश्रित्य ।)

> अनाकूतैरेव प्रियसहचरीणां शिशुतया
> 　　वचोभिः पाञ्चालीमिथुनमधुना सङ्गमयितुम् ।
> उपादत्ते नो वा विरमति न वा केवलमियं
> 　　कपोलौ कल्याणी पुलकमुकुलैर्दन्तुरयति ॥ ५ ॥

जानातीत्यादि । सहर्षम् हर्षश्चात्र सीताया अतिबालाया अपि तादृशज्ञानावगमकृतो बोध्यः । उदन्तेन वृत्तेन । दुर्मनीभूयते विषद्यते । कृतावतरणमङ्गलानि यौवनागमकालकर्त्तव्यमङ्गलक्रियासनाथानि । यौवनस्य पन्थानमीक्षन्ते यौवनाभिमुखानि जायन्त इत्यर्थः ।

आर्य पितामह (पितामहतुल्य) शिथिलीकृतलज्जा अपगतत्रपा । सम्प्रत्येवानुभूतम् अनतिचिरदृष्टम् । संस्कृतमाश्रित्य विदग्धताबोधनाय संस्कृतभाषाश्रयणम्, तदुक्तम्—'संस्कृतभाषाचारा प्रायो नाट्येषु न स्त्रियः श्लाघ्याः । क्वचिदपि सा प्रभावाद्विदग्धताबोधनाच्च शस्यन्ते' ॥

अनाकूतैरेवेति । इयम् कल्याणी सर्वावयवानवद्या सीता प्रियसहचरीणाम् सखीनाम् शिशुतया असाहसयौवनतया हेतुना अनाकूतैः भावशून्यैः एव वचोभिः अधुना पाञ्चालीमिथुनम् कृत्रिमपुत्रिकायुगलम् सङ्गमयितुम् सह स्थापयितुम् नो वा उपादत्ते गृह्णाति नवा विरमति तद्विषयाद् व्यापारात् निवर्त्तते, केवलम् कपोलौ गण्डदेशौ पुलकमुकुलैः रोमाञ्चकलिकाभिः दन्तुरयति उन्नतानतौ करोति ।

समाचारसे वह उदासीन हो रही है। निश्चय अब इसके अङ्गोंमें यौवनका अवतार हो गया है, वह राह देख रही है यौवनके आनेकी।

कलहंसिका—आर्य यही बात है। तुम पितामहकी तरह हो इसीलिए लज्जाका त्याग करके अभी अभी अनुभूत कुछ बातें बता रहा हूँ ॥ (संस्कृतके माध्यमसे)

विना किसी खास अभिप्रायसे प्रिय सखी द्वारा कहे जानेपर यह सीता कठपुतलीके जोडेको मिलानेके लिये न उठाती है न उस व्यापारसे विरत होती है, केवल उसके कपोलपर रोमाञ्च उग आते हैं ॥ ५ ॥

---

१ 'दुर्मनीभवति'।　　२ 'अङ्गानि'।

कञ्चुकी—(सहर्षम् ।) दिष्ट्या चिरस्य जीवद्भिरस्माभिर्यौवनवती [1]वत्सा जानकी दृष्टा । (सास्मितम् ।) ततस्ततः ।

कलहंसिका—तदो अ पुणो पुणो वि ताहिं कञ्चुइणीहिं णिज्झाइज्जमाणा लज्जिदुं वि लज्जेदि । [ततश्च पुनः पुनरपि ताभिः कञ्चुकिनीभिर्निर्ध्यायमाना लज्जितुमपि लज्जते ।]

कञ्चुकी—(विहस्य ।) वत्से, सङ्कीर्णे [2]वयसि वर्त्तते वर्त्तते । *अत्र हि*

[3]मनोऽपि शङ्कमानाभिर्बालाभिरुपजीव्यते ।

अथमाशय—सीता सम्प्रति नवानर्यौवना विद्यते, सर्वीता सरलेनापुरोधेनापि सा कृत्रिमपुत्रिकायुगलं मण्डयन्ती खञ्जुयोग जनसि विभाव्य कालिन स्व विवाहस्य ध्यायन्ती कपोलयो मध्यानरोमाञ्चिता भवत इति । शिखरिणीवृत्तम्, 'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी तिलक्ष्यम् ॥ ७ ॥

दिष्ट्या भाग्येन । चिरस्य जीवद्भि चिरजीविभि । यौवनवती युवती । यदि मया चिरं न जीवितं स्यात्तदा युवतिं राजपुत्रीं द्रष्टुमवसरो न लब्धः स्यादिति भावः ॥

कञ्चुकीभि सरलाभि, बाल्यभावादनुत्पन्नकौशलाभि, पुनः पुनः निध्यायमाना भूयो भूयः आगृह्यमाणा । लज्जितुमपि लज्जते लज्जामपि प्रकटयितुं लज्जामनुभवति ।

सङ्कीर्णे वय मध्यमे वयसि, बाल्ययौवनयो मध्ये । इय सीता ।

.... । अत्र अस्मिन् वय सन्धिकाले मन शङ्कमाना अपि शङ्कमानाभि मना मन्नीय भाव जानाति चेदनुचितं स्यादिति हृदयविषयेऽपि सशङ्काभि बालाभि

कञ्चुकी—(सहर्ष) भाग्यवश बहुत दिनों तक जीवित रहनेके कारण मैं इस अवस्थामें माताको देख सका । (हँसकर) उसके बाद ?

कलहंसिका—तदनन्तर सरल सखियों द्वारा बार-बार पूछी जानेपर सीता लज्जा करनेमें भी लज्जाका अनुभव करती है ।

कञ्चुकी—(हँसकर) वत्से, वह बाल्य और यौवनकी सन्धिमें है । इस अवस्थामें

---

१ 'वत्सा वैदेही', 'वत्सापि' । २ 'वयसि वयसि वर्त्तते', अयं पाठः' ।
३ 'मनो विशङ्कमानाभि' ।

अपड्क्षीणषाड्गुण्यमन्त्री मकरकेतनः ॥ ६ ॥

कलहंसिका—(सलज्जम् ।) अज्ज, रमणीअं मन्तेसि । सव्वस्स वि अणुहवसंवादिणी दे वाआ । [आर्य, रमणीयं मन्त्रयसे । सर्वस्याप्यनुभवसंवादिनी ते वाक् ।]

कञ्चुकी—किं च[1] वत्से,

तदास्यप्रोन्मीलन्म्रदिमरमणीयात्कठिनतां
निचित्य[2] प्रत्यङ्गादिव तरुणभावेन घटितौ ।
स्तनौ संबिभ्राणा क्षणविनयधैर्यात्यमसृण

नवयौवनाभि—अपड्क्षीणषाड्गुण्यमन्त्री न सन्ति षट् अक्षीणि यत्र तत्तथोक्तम् अषट्क्षीणम्, षड्गुणाः सन्ध्यादय एव षाड्गुण्यम् अपड्क्षीणञ्च तत् षाड्गुण्यञ्चेति कर्मधारयः, अपड्क्षीणषाड्गुण्यम् तदेव मन्त्री सचिवः स्नामं उपन्यस्यते सेव्यते । अयमाशयः—मनसोऽपि भावप्रकाशभयाद् विस्मयो नाम कालमपि गोपायन्ति नवन्नेः, कामविषयेऽपि अपड्क्षीणं षाड्गुण्यं मन्त्रिणं कुर्वन्ति, अपड्क्षीणं तृतीयजनकलाविषयः, 'अपड्क्षीणो यस्तृतीयाद्यगोचरः' इति अमरः । सन्धिविग्रहयानासनद्वैधाश्रयाः सन्ध्याश्रयाः षड्गुणाः । काम मन्त्रणं परं तत्कलापि न लक्ष्यते इति तदर्थः ॥ ६ ॥

सत्यम् रमयसि । अनुभवसंवादिनी अनुभवानुसारिणी । वाक् वचनम् ।

तदास्येति । तदास्ये यौवनोदयसमये प्रोन्मीलन् प्रादुर्भवन् यः म्रदिमा कोमलता तेन रमणीयात् मनोज्ञात् प्रत्यङ्गात् अङ्गात् अङ्गात् कठिनतां कठोरतां निचित्य समाहृत्य तरुणभावेन यौवनेन कर्त्रा घटितौ निर्मितौ स्तनौ कुचौ संबिभ्राणा धारयन्त्यः क्षण अल्पकाल एव विनय शान्तभावं धैर्यं चापल्यञ्च ताभ्यां क्षणे

बालवनितायें मनमें भी शङ्कित रहा करती हैं—तथा इन्द्रियोंके सम्पर्कसे रहित षाड्गुण्य मन्त्री कामदेवकी मदद लिया करता है ॥ ६ ॥

कलहंसिका—(सलज्जभावसे) आर्य, आप ठीक कहते हैं आपकी बात सभीके अनुभवोंसे मिलती है ।

कञ्चुकी—वत्से, यौवनमें उभरनेवाली रमणीयतासे भरे सारे अङ्गोंकी कठोरता एकत्रित करके यौवनद्वारा बनाये गये स्तनोंको धारण करनेवाली युवतियाँ नम्रता तथा

१ 'किं च' इति क्वचिन्नास्ति ।　　२ 'विचित्य' ।

स्मरोन्मेषा केषामुपरि न रसाना युवतय ॥ ७ ॥

कलहंसिका—(विहस्य ।) भोदु । ता ण किं पि तुह्मेहिं सुदम् । [भवतु । तत् किमपि युष्माभिः श्रुतम् ।]

कञ्चुकी—वत्से, न [1]तावदर्थोऽयमद्यापि राजगोचरीभवति । यदि च स्यात्किमेतावता ।

कलहंसिका—तदा हदासो रावणो देवीं परिणेदि । [तदा हताशो रावणो देवीं परिणयते ।]

कञ्चुकी—(विहस्य ।)

हस्ते करिष्यति जगत्त्रयजित्वरोऽपि
[2]कस्तादृशो दुहितरं जनकेश्वरस्य ।

नम्रेत्यादि नमे चापस्येति आवश्यकेष्वेवमर्थः, मसृणः मधुरः स्मरोन्मेषः कामविकारो यासां तादृश्यो युवतयः केषाम् रसानाम् आस्वादविशेषाणाम् उपरि न वर्तन्ते ? सर्वेषामेवास्वादानामुपरि युवतयो वर्तन्ते यासां शरीरावयवगतं काठिन्य मात्रयैव रक्षितौ स्तनौ कठोरतां भजतः, सर्वाणि चेतराण्यङ्गानि काठिन्यापगमेनैव कोमलतां भजन्तीत्यर्थः । प्रयत्नात्कठिनता निक्षिप्तेवेत्युत्प्रेक्षा । 'तत्कालस्तु तदात्वं स्यात्' इत्यमरः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ८ ॥

तत्र किमपि युष्माभिः श्रुतम् ? अत्र 'दशग्रीवपुरोहित आगत' मात्रोक्तेनिवृत्त विषय तदीयागमजिज्ञासा ।

अर्थोऽयम् दशग्रीवपुरोहितागमवृत्तान्तः । राजगोचरीभवति राज्ञा ज्ञायते । किमेतावता ज्ञात्वापि राजा किं करिष्यति इति तदाशयः ।

हताशः निन्दिताभिलाषः । देवीम् सीताम् । परिणयते विवाहयति ।

हस्ते इति । जगत्त्रयजित्वरः लोकत्रयजयशील कः जनकेश्वरस्य विदेहराजस्य दुहितरं कन्यां हस्ते करिष्यति परिणीय स्ववशं नेष्यति ? न कोऽपि लोकत्रिनय

धृष्टतासे मिले कन्दर्पसे युक्त होकर किन किन रसोंकी सृष्टि नहीं करती हैं ॥ ७ ॥

कलहंसिका—(हँसकर) अच्छी बात है । तो क्या आपने कुछ नहीं सुना है ?

कञ्चुकी—वत्से, यह बात अभी राजा तक नहीं पहुँची है, यदि राजा सुन भी लें तो इससे क्या ?

कलहंसिका—तो अभागा रावण सीताको ब्याह लेगा ।

कञ्चुकी—(हँसकर) तीनों लोकको जीतकर वीर बननेवाला ऐसा कौन है जो

---

१ 'तावदयमर्थः' । २ 'कस्तादृशः', 'कस्तादृशोऽन्'।

प्राणाधिकं विपुलबाहुभृतामपीदं
त्रैयम्बकं किमपि कार्मुकमन्तरायः ॥ ८ ॥

नापि दशकन्धरानुरोधेन स्वयं प्रतिज्ञातमन्यथा करिष्यति महाक्षत्रियो विदेहराजः । तन्न किंचिदेतत् ।

कलहंसिका—(विहस्य ।) एव्व होदु । अज्ज, सम्पदि कहिं ते रामलक्खणा । [एवं भवतु । आर्य, सम्प्रति कुत्र तौ रामलक्ष्मणौ ।]

कञ्चुकी—नन्वेतावेव देवतागारवेदिकायां
मुनीन्कौशिकवैदेहगौतमानभिराध्यतः ।

विनयगर्वितोऽपि विदेहनृपपुत्री सीता वशीकर्तुं समर्थ इत्यर्थः । सीतापरिणयस्य साधनं प्रकाशयति—प्राणाधिकमिति० । विपुलबाहुभृताम् महाभुजानाम् अपि प्राणाधिकम् समधिकसारम् इदं त्रयम्बकम् त्रिलोचनस्य धनुः कार्मुकम् किमपि अन पनेयम् अन्तरायः विघ्नः अस्तीति शेषः, महाभुजस्यापि रामस्य बलापेक्षयाऽधिकबल मिदं शाम्भवं धनुर्यावत् । विघ्नभावेनावस्थितं तदा कोऽपि लोकविजयी सीतां परिणेतुं न क्षमते, ततश्च दशग्रीवः सीतां परिणेष्यतीति चिन्तयाऽलमिति भावः । वसन्त तिलकं वृत्तम् ॥ ८ ॥

दशकन्धरानुरोधेन रावणानुरोधं मत्वा । स्वयं प्रतिज्ञातम् आत्मना नियतम् । अन्यथा करिष्यति स्वयं शिथिलीकरिष्यति । स्वप्रतिज्ञाताद्यन्यथाकरणस्या शक्यत्वे कारणमाह—महाक्षत्रिय इति । तन्न किञ्चिन्तत् दशग्रीवपुरोहितागमनं न चिन्ताविषय इत्यर्थः ॥

एतौ रामलक्ष्मणौ देवतागारवेदिकायाम् देवसदनाग्रपरिष्कृतभूमौ ।

मुनानिति । ज्ञानकर्मभ्यां तत्त्वज्ञानयज्ञादिकर्मभ्याम् ढौकितौ प्रापितौ स्वयम्

जनकदुहिताका पाणिग्रहण कर ले क्योंकि बाहुबलशाली वीरोंके द्वारा दुर्नमनीय यह अनिर्वचनीय शिवधनु जो बीचमें विघ्न बनकर खड़ा है ॥ ८ ॥

और यह भी बात है कि महाक्षत्रिय जनक रावणके अनुरोधसे स्वयं की गई प्रतिज्ञाको भी नहीं बदलेंगे । इसलिए यह कोई चिन्ताकी बात नहीं है ।

कलहंसिका—(हसकर) ऐसा ही होवे । आर्य, इस समय वह राम लक्ष्मण कहाँ हैं ?

कञ्चुकी—यहाँ तो देवमण्डपवेदी पर ज्ञान-कर्मसे आकृष्ट मोक्षस्वरूपकी तरह प्रतीत

१ '(निःश्रस्य ।)'

ढौकितौ ज्ञानकर्मभ्यां मोक्षस्वर्गाविव स्वयम् ॥ ९ ॥

तदेहि । महच्चिर[1]मागतानामस्माकम् । कन्याऽन्तः[2]पुरमेव गच्छाम ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति जनको विश्वामित्रशतानन्दौ रामलक्ष्मणौ च ।)

जनकः —(सहर्षम् ।) भगवन्विश्वामित्र,

लुम्पन्नदृष्टजामातृसम्पदां शुचमद्य नः ।
त्वदागमनजन्माऽयमानन्दः सुदिनायते ॥ १० ॥

मूर्तिमन्तौ मोक्षस्वर्गाविव वर्तमानौ इमौ रामलक्ष्मणौ कौशिकजनकगौतमान् विश्वामित्रजनकशतानन्दनामकान् मुनीन् तत्त्वार्थिनकान् ऋषीन् अभिराध्यत निषेवेते । इमौ विश्वामित्रादिमुनिगणसेवासमासक्तचित्तौ रामचन्द्रौ विश्वामित्रादिमुनिगणार्जितज्ञानकर्मोपनतमोक्षस्वर्गाविव प्रतीयेते इत्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ नन्वत्र 'मुनीनभिराध्यत' इत्यनुपपन्नम्, राधोऽकर्मकाद् वृद्धावेवेति नियतस्य श्यनोऽत्राप्रसक्तेः' इति चेदुच्यते 'अभिरभागे' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञकोऽभिरस्ति, तद्योगे एव चात्र द्वितीया, कौशिकादीनभिलक्षीकृत्येति तदर्थः, यद्वा मुनीन् 'ढौकिताविवाराध्यत' ढौकिताविव यस्याभिवादनपराविव इत्यर्थः ॥ ९ ॥

महत् चिरम् अतिविलम्ब ।

विष्कम्भकः वृत्तवर्तिष्यमाणकथांशनिदर्शकः ।

लुम्पन्निति । अद्य अदृष्टा नावलोकिता जामातृसम्पत् जामाता एव धनं यैः तेषाम् अदृष्टजामातृसम्पदाम् अप्राप्तजामातृधनानाम् नः अस्माकम् शुचम् शोकम् लुम्पन् विनाशयन् अयम् अनुभूयमानः त्वदागमनजन्मा त्वदागमनजन्मा आनन्दः

दानवाले यह राम-लक्ष्मण कौशिक, जनक तथा गौतम प्रभृति मुनियोंकी सेवा कर रहे हैं ॥

चलो, हमको आये बहुत देर हो गई, कन्यान्तःपुरकी ओर चलें ।

(जाते हैं)

(विष्कम्भक)

(अनन्तर जनक, विश्वामित्र, शतानन्द तथा राम-लक्ष्मणका प्रवेश)

जनक—(सहर्ष) भगवन् विश्वामित्र, जामाताके नहीं मिलनेसे दुःखी रहनेवाले हमारे दुःखको दूर करता हुआ यह आपके आगमनसे आयमान आनन्द सुदिन बन रहा है ॥ १० ॥

१ 'आगतयोरावयोः'। २ 'पुर एव गच्छाव'।

अपि च—

> अद्य प्रदक्षिणशिखावलयः कृशानु-
> रश्नाति मे जनपदेषु वषट्कृतानि ।
> त्वत्तेजसि स्फुरति शान्तिकपौष्टिकेषु
> स्वा च स्रुच शिथिलमाङ्गिरसो बिभर्ति ॥ ११ ॥

विश्वामित्र—सखे सीरध्वज, चिरस्य शान्तः पुष्टश्च तवायं जनपदः ।

यत्र त्वं ब्रह्ममीमांसातत्त्वज्ञो दण्डधारकः ।

ग्रहः सुदिनायते सुदिनं करोति । त्वदागमनेन अलभ्यपात्रातृकतयाऽन्तर्दुःखशालिनोऽपि वयं सम्प्रति सानन्दा सञ्जाता इत्याशयः । 'सुदिनायते' इत्यत्र 'सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्च' इति क्यङ् ॥ १० ॥

अद्येति । अद्य त्वदागमनशुभदिने प्रदक्षिणशिखावलयः प्रदक्षिणार्चिः कृशानुः अग्निः मे मम जनपदेषु अधिकृतदेशेषु वषट्कृतानि हूयमानद्रव्यजातानि अश्नाति भुङ्क्ते । यत्तद्धि शुभसूचकं दक्षिणावर्तनपरिवर्तनमाचरन् सानन्दं हुतमास्वादयतीत्यर्थः । त्वत्तेजसि त्वदीये तेजसि शान्तिकपौष्टिकेषु शान्तिकर्मसु पुष्टिकर्मसु च स्फुरति सति आङ्गिरसो गौतमः स्वां स्रुचं स्रुवभेदं शिथिलं निवृत्तव्यापारं बिभर्ति धारयति, त्वदीयेन तेजसैव शान्तिकर्मसु पुष्टिकर्मसु च सम्पाद्यमानेषु गौतमः शान्तये पुष्टये च न जुहोतीत्यर्थः । शान्तिः प्रयोजनमस्येति शान्तिकम्, पुष्टिः प्रयोजनमस्येति पौष्टिकम्, तेषु शान्तिकपौष्टिकेषु कर्मस्विति विशेष्यमध्याहार्यम् । 'अग्नौ तु हुतं त्रिषु वषट्कृतम्', 'स्रुवो भेदाः स्रुचः स्त्रियाम्' इत्युभयत्रामरः ॥ ११ ॥

'चिरस्य शान्तः' अहो कालात्तवायं देशः शान्त्या पुष्ट्या चोपपन्नस्तन्न तत्र मदागमनं प्रशंसनीयमित्यर्थः । त्वदीयस्य देशस्य शान्तपुष्टत्वे हेतुं वदति—

यत्र त्वमिति । यत्र यस्मिन्देशे ब्रह्ममीमांसातत्त्वज्ञः वेदान्तविद्यासारवित् त्वं जनकः दण्डधारकः शासकः, यस्य च देशस्य त्वादृशो वीतरागः शासकः स्यात्तस्य

आज अग्निदेव हमारे देशमें प्रदक्षिणक्रमसे लपटें बढ़ाकर हव्य ग्रहण करते हैं, शान्ति पुष्टिकर्ममें आपके प्रतापके व्याप्त रहनेपर शतानन्दका यज्ञ स्रुक् मन्द पड़ रहा है ॥ ११ ॥

विश्वामित्र—आपके इस देशमें शान्ति तथा पुष्टि चिरकालसे विद्यमान है ।

जहाँपर आपके समान वेदान्तशास्त्रतत्त्वज्ञ दण्डधारी हैं, जिनके पुरोहित अङ्गिराके

पुरोधाश्चैव यस्यासावङ्गिर प्रपितामह ॥ १२ ॥

(स्मित कृत्वा ।) जामातुर[1]दर्शनजन्मा शोक पुनरस्माकमुपशमयि तुमनशिष्यते । किं शोकरूपो नाम लोकयात्रेय भवत । तथाहि ।

यजूंषि तैत्तिरीयाणि मूर्तानि वमति स्म य ।
स योगी याज्ञवल्क्यस्त्वा वेदान्तानध्यजीगपत् ॥ १३ ॥

देशस्य शान्तिपुष्टयो का कथेतिभाव , नतावदेव यत्त्व वेदान्तविद् भूत्वा शामक , अपितु विदुषा पुरोहितेन नियतोऽपीत्याह—पुरोधाश्चैवेति । यस्य तव अङ्गिर प्रपितामह अङ्गिरस पौत्र गौतम पुरोधा पुरोहित , एतेन स्वतो विज्ञस्य तादृश-पुरोहितानुज्ञावर्तिनश्च तव शासने स्थितस्य देशस्य शान्तिपुष्टयोश्चिन्तयाऽल-मिति भाव ॥ १२ ॥

जामातुरदर्शनजन्मा जामातृसान्निध्याभावकृत । शोक खेद । उपशमयितुम् दूरी कर्तुम् । शोकरूपो दु खानन्दी । भवत जनस्य । लोकयात्रा व्यवहारप्राप्ती । अर्थात् वस्तुतो ज्ञानिनस्तव शोकाद्यसम्पृक्तत्वेऽपि लोकव्यवहारेण शोकाद्यभिमा निरवमिति भाव ।

यजूंषीति । तित्तिरिणा तदाकारधारिणा शाकल्यमुनिना धृतानि तैत्तिरीयाणि मूर्तानि शरीरधारीणि यजूंषि य याज्ञवल्क्य वमतिस्म उद्गीर्णवान् , स योगी याज्ञवल्क्य त्वा जनक वेदान्तान् उपनिषद अध्यजीगपत् अध्यापितवान् । शाकल्यमुनेर्याज्ञवल्क्य वेदमधीतवान् , अध्ययनान्ते शिष्येण गुरुदक्षिणार्थमनु युक्त , स हि गुरुस्तदीयसेवादिना तुष्यन्नपि पर शिष्येण बहुगृहीत स स्वा विद्यामेव दातुमनुमेने, तदादृशाधानवल्क्येनाधीतो यजुर्वेद एवोद्गीर्य दत्त , गुरु रपि तित्तिरिपक्षिरूपमादाय तमुद्गीर्णं वेद पीतवान् , तदवधि तस्य वेदभागस्य तित्तिरिपक्षिगृहीततया तैत्तिरीयशाखानाम्ना व्यवहार प्रवृत्त । पश्चाच्च याज्ञवल्क्य सूर्यादनुरध्यगीष्टेति कथाऽत्रानुसन्धेया ॥ १३ ॥

पौत्र शतानन्द हो ॥ १२ ॥

(हसकर) जामाताके अदर्शनसे होनेवाले अपका शोक हमें हटाना है । शोक और दुःख तो संसारका धर्म है ।

तैत्तिरीय यजुर्वेदको मूर्त्तरूप देकर जिन्होंने वमन कर दिया था, वही योगी याज्ञ वल्क्य आपके वेदान्त विद्यागुरु रहे हैं ॥ १३ ॥

१ 'अदर्शनशोक'।

लक्ष्मण —(जनान्तिकम् ।) आर्य, अयमय स राजा वैदेह । [1]पवित्रमपरिमेयाश्चर्यं यस्यावदानमु[2]पाध्यायादनुश्रूयते ।

राम —(सप्रमोदानुरागम् ।) [3]वत्स, स एवाय शतपथकथाधिकारी पुरुष प्रणाय्यायान्तेवासिने [4]यस्मै वाजसनेयो याज्ञवल्क्य सूक्तानि यजूंपि प्रोवाच ।

विश्वामित्र —(मुहूर्तं [5]निर्वर्ण्य च ।)

निजाय तस्मै गुरवे यतीना जैत्राय विश्राणितगोसहस्रम् ।
त गोसहस्राधिपते प्रशिष्यमुपास्महे मैथिलमातिथेयम् ॥ १४ ॥

जनान्तिकम् 'अन्योन्यामन्त्रण यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्' इति लक्षिमम् , यस्य जनकस्य । पवित्रम् पावनम् । अपरिमेयाश्चर्यम् अतिविस्मयकरम् अवदानम् पूर्ववृत्त कर्म । उपाध्यायात् गुरो विश्वामित्रात् । अनुश्रूयते आकर्ण्यते ।

सप्रमोदानुरागम् हर्षेण स्नेहेन च सहितम् । शतपथकथाधिकारी शतपथाख्य वेदभागोक्तकथापुरुष , प्रणाय्यायान्तेवासिने वीतरागाय मुमुक्षवे शिष्याय । वाजसनेय यजुर्वेदशाखीय । 'प्रणाय्योऽभिलापशून्य स्यात्' इति हारावली ।

निजायेति । यतीना योगिना जैत्राय विजयिने यतिश्रेष्ठाय तस्मै प्रसिद्धाय निजाय गुरवे स्वाचार्याय याज्ञवल्क्याय विश्राणितगोसहस्रम् दत्तदशशतसङ्ख्यक धेनुकम् गोसहस्राधिपते दशशतकरधारिण सूर्यस्य प्रशिष्यम् शिष्यशिष्यम् तम् स्वतपस्यातम् आतिथेयम् अतिथिसेवाप्रसिद्धम् मैथिलम् मिथिलेशम् जनकम् उपास्महे उपगच्छाम । सोऽय जनकोऽस्माभिरातिथेयतया समासाद्यते यो योगिप्रवराय निजगुरवे याज्ञवल्क्याय गवा सहस्रमदात्, यो हि गुरुयाज्ञवल्क्य

लक्ष्मण—(छिपाकर) आर्य, यही है वह राजा वैदेह, जिनका पवित्र तथा आश्चर्य जनकवृत्त प्रसिद्ध है ।

राम—(आनन्दके साथ) यही है वह शतपथ कथाओंके अधिकारी पुरुष, जिन्हें वाजसनेय याज्ञवल्क्यने यजुर्वेदका उपदेश किया था ।

विश्वामित्र—(थोड़ी देर देखकर) जिन्होंने अपने गुरु यतिराज याज्ञवल्क्यको सहस्र गायें दक्षिणामें दी थीं उसी सहस्रकिरण सूर्यके प्रशिष्य मैथिलराज जनकको मैं आतिथेयके रूपमें प्राप्त कर रहा ॥ १४ ॥

---

१ 'पवित्रमाश्चर्यं च' 'पावित्र्यमपरिमेयमाश्चर्यम्' ।　　२ 'उपाध्यायमुखात्' ।

३ 'स एवाय शतपथाधिकारी' ।　　४ 'यस्मै वाजसनेयाय वाजसनेय' ।

५ 'च निर्वर्ण्य' ।

जनक —(सप्रश्रयम् ।) भगवन्, यदन्यत्किंचिदभिदधाति[1] तत्र प्रभविष्णुर्भवान् । तत्रभवत सहस्रमयूखान्तेवासिनो [2]योगीश्वराद्ध्ययनमिति [3]महीयसीयमस्माकं यश पताका ।

विश्वामित्र —(विहस्य ।) भो महायोगिन्,

किं याज्ञवल्क्यो जनक किमेव न स स्वरूप कवयोऽपि विद्यु ।
प्रवाहनित्यानधिकृत्य युष्मान्सहस्रशाखा श्रुतय प्रथन्ते ॥ १५ ॥

सूयात् शास्त्राण्यध्यैष्टेति भाव । 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्य दृष्ट्या स्त्रिया पुंसि' इत्यमर । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १४ ॥

सप्रश्रयम् सविनयम् ।

यदन्यत् किञ्चित् याज्ञवल्क्यशिष्यत्वातिरिक्तम् मद्विषय प्रशंसावाक्यम् । प्रभविष्णु समर्थ । यथारुचि भवान् मा प्रशंसतु स्वतन्त्र इत्यर्थ । तत्र भवत पूजनीयात् । सहस्रमयूखान्तेवासिन सूर्यशिष्यात् याज्ञवल्क्यात् ।

महीयसी महत्तरा । यश पताका कीर्तिध्वज । सर्वं भवान्यदिष्ट वस्तु सम, तत्तद्भवतोच्यमान प्रशंसावाक्य मयि नापि सत्य स्यात्, अतिशयोक्तिरूपत्वात्, परमेतमिद सत्यान्न हीयते यदह याज्ञवल्क्यात्कृतविद्य इति प्रसङ्गार्थ ।

किं याज्ञवल्क्य इति । याज्ञवल्क्य किं (किमभिधान वस्तु विद्यते) जनक किं किमस्तु एव न युष्माकम् स्वरूपम् तत्त्वम् कवय विद्वांसोऽपि न विदु जानीयु, याज्ञवल्क्यस्य भवतश्च तत्त्व ज्ञातु विद्वांसोऽप्यशक्ता का कथा मादृशामित्याद्यावद्यार्थ, प्रवाहनित्यान् गुरुशिष्यपरम्परयाऽविनाशिन युष्मान् अधिकृत्य अव लम्ब्य सहस्रशाखा दशशतशाखाभेदभिन्ना श्रुतय वेदा प्रथन्ते प्रसिद्ध्यन्ति । गुरुशिष्यपरम्परया यद् गृहयता भवता तस्य वस्तुनो विद्वद्भिरप्यनवधार्यमिति स्तुतिरपि भवता भूतार्थव्याहृतिरेव नातिशयोक्तिरिति भाव ॥ १५ ॥

जनक—(नम्रताके साथ) भगवन् आप और जो कुछ चाहें कह सकते हैं, परन्तु यह तो हमारा बड़ा यश पताका है कि हमने सूर्यशिष्य योगिराज याज्ञवल्क्यसे शिक्षा प्राप्त की है।

विश्वामित्र—(हँसकर) हे महायोगिन्, क्या हैं याज्ञवल्क्य और जनक क्या हैं ? इस वस्तुके स्वरूपको कवि भी नहीं जान पासके हैं, प्रवाह-नित्य आप लोगोंके सम्बन्धसे अनेक शाखाओंमें श्रुतियाँ प्रथित होती रहती हैं ॥ १५ ॥

---

१ 'अभिदधासि'। २ 'योगीश्वराद्भगवतो याज्ञवल्क्यात्'।

३ 'महतीयमस्माकं', 'इयमस्माकं महती'।

शतानन्दः—भगवन्कौशिक, एवमीदृशाः खल्वमी त्रिभुवनमहनीयमहिमानो मनीषिणः ।

जनकः—(सवैलक्ष्यस्मितम्।)

निर्माय कार्मणमृचामघमर्षणीना-
　　मुन्मार्जनीर्जगदघानि तवाद्य वाचः ।
श्रोतुं चिरप्रणयिकौतुकमस्ति चेतो
　　दुःखाकरोति पुनरेष ममार्थवादः ॥ १६ ॥

तद्विरम। (इति शिरस्यञ्जलिं घटयति।)

एवमीदृशाः—भवता यथोक्तास्तादृशाः, अमी याज्ञवल्क्यजनकादयः, त्रिभुवनमहनीयमहिमानः—संसारप्रशंसितप्रभावाः । मनीषिणः विद्वांसः, सन्तीति शेषः ।

सवैलक्ष्यस्मितम् सलज्जम् दहासम् ।

निर्मायेति । अघमर्षिणीनाम् पापनाशिकानाम् ऋचाम् ऋग्वेदीयमन्त्राणाम् कार्मणम् कर्मकलापानुष्ठानजनितं संस्कारविशेषम् निर्माय कृत्वा जगदघानि लोकसंचितपापानि उन्मार्जनीः शोधिकाः समारपापशमनीरित्यर्थः । तव विश्वामित्रस्य वाचः वचनानि श्रोतुम् आकर्णयितुम् अद्य अधुना मम चेतः हृदयम् चिरप्रणयिकौतुकम् बहोः कालादुत्कण्ठितम् अस्ति, पुनः किन्तु मम एष अर्थवादः (माम्) दुःखाकरोति । मदीया त्वया क्रियमाणा स्तुतिर्मम मनो व्यथयति, यद्यपि लोकप्रसृतपापापहारक्षमास्तव वाचः श्रोतुं मम चित्तं चिरकालात् द्वतोत्कण्ठमस्ति, तथापि कथाप्रसङ्गे त्वया क्रियमाणया स्वस्तुत्या कष्टं प्रपद्ये तदलं मम स्तुत्येति भावः । 'जगदघानि उन्मार्जनी' इत्यत्र कृद्योगे कर्मणि षष्ठीप्रयोग उचितः । 'उन्मार्जनी जगदस्ये'ति पाठस्तु निर्दोषः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १६ ॥

तद् विरम मम स्तुत्या विरमेति भावः, मम त्वया कृतायाः स्तुतेरवास्तवतया मम व्यथकत्वेन तथाऽऽचरणं तवानावश्यकमतो विरतो भव तस्मादिति । सस्मि

शतानन्द—भगवन् कौशिक, त्रिभुवनके द्वारा वर्णित महत्त्वशाली ऐसे हैं यह ।

जनक—मैं आज आपकी वह बातें सुनना चाहता हूँ जिन बातोंने जादू सा करके मन्त्रों द्वारा संसारका पाप धो बहाया है, उन बातोंको सुनने के लिये मेरा हृदय चिरकालसे उत्कण्ठित हो रहा है, आप जो हमारी स्तुति कर रहे हैं इससे मुझे दुःख होता है ॥ १६ ॥

इसलिये छोड़िये इसे । (सिरपर हाथ जोड़ते हैं)

---

१ सविलक्ष-'।

विश्वामित्र —(सस्मितमस्याञ्जलिमुद्घाटयन् ।) सखे सीरध्वज, सह्रियतामञ्जलि । अमी तूष्णींभूता स्म । कात्यायनीकामुककार्मुकारोपणप्रणयप्रवीणेन तु दुहितु पत्या सप्रत्यपर्युषितप्रतिज्ञो भूया ।

लक्ष्मण —(अपवार्य ।) आर्य, परस्परेषा पौरुषोत्कर्षप्रशसारमणीय 'पावनोऽयममीषा समवाय ।

राम —वत्स, यदात्थ ।

स्मरन्ति लोकार्थममी किल श्रुतीरिति प्रतिष्ठामधिगन्तुमीश्महे ।

तम् जनकस्य नम्रतादर्शनेन स्मितोदय । अञ्जलिमुद्घाटयन् तथाकरण च तदीयाप्रहस्यानावश्यकताद्योतनाय ॥

सस्मितम् सहासम् , हासश्चात्र तन्नम्रतादर्शनजन्मा बोध्य । उद्घाटयन् मोचयन् सह्रियताम् अपनीयताम् । तूष्णींभूता मौन श्रिता । कात्यायन्या पार्वत्या कामुक पति शिव तस्य यत् कार्मुकम् धनुस्तस्यारोपणम् सज्जीकरणम् एव पण तत्र य प्रणय स्नेह तत्र प्रवीणेन निपुणेन दुहितु पत्या जामात्रा सम्प्रति अचिरेण अपर्युषितप्रतिज्ञ पूर्णप्रतिज्ञ भूया जायेथा । अनतिचिरेण हरकार्मुकमारोपितवता जामात्रा सत्यप्रतिज्ञो भवेति भाव ।

परस्परेषाम्-अन्योन्यम् । पौरुषोत्कर्षप्रशसायाम् पुरुषकारस्तुतौ हृद्य (अन्योन्यप्रशसावाक्यमनोज्ञ) पावन श्रोतॄणाम् पापनाशन अमीषा जनकविश्वामित्रशतानन्दानाम् समवाय समुदाय (अयमत्र सङ्गम) अस्तीति शेष ।

यदात्थ-त्व यद् ब्रवीषि ।

स्मरन्तीति । अमी विश्वामित्रादय लोकार्थम् लोककल्याणहिताय किल श्रुती वेदान् स्मरन्ति अभ्यस्य स्मृतिविषयान् रचयन्ति, अथवा श्रुती स्मरन्ति स्मृतिरूपतया परिणमयन्ति इति प्रतिष्ठाम् एषा प्रसिद्धिम् अधिगन्तुम् ज्ञातुम् ईश्महे

विश्वामित्र—(उनकी अञ्जलिको विघटित करते हुए) सखे सीरध्वज, हाथ खोलें, मै चुप हो गया । अब आपके शिवधनुषको आरोपित करनेकी कलामें प्रवीण जामाता आपकी प्रतिज्ञा पूर्ण करे ।

लक्ष्मण—(छिपाकर) आर्य, एक दूसरेकी पौरुषोत्कर्ष-प्रशसा करते है इससे इनका यह सङ्गम नितान्त रमणीय तथा पावन बन जाता है ।

राम—वत्स, ठीक कहते हो

हम इनकी प्रतिष्ठा यहीं तक जानने में समर्थ हैं कि यह वेदके अर्थको तथा लोकाचारको

---

१ 'रोपणप्रवीणेन'। २ 'पावनोऽयमृषीणाम्'।

परं यदेषां पुनरस्ति वैभवं तदेत एव व्यतिविद्रते यदि ॥ १७ ॥

जनक —(सहर्षम् ।) भगवन्, परमनुगृहीतोऽस्मि । यत ।

समस्या वा साम्ना बहिरबहिरंह परिमृजा
ऋचां वा संवाद किमपि यजुषां वा परिपण ।
त्वदाशीर्वादोऽयं बहुविषयसाक्षात्कृतफलो
वरं मे वत्साया 'प्रथयति पुरोवर्तिनमिव ॥ १८ ॥

शक्नुम, यत हि ऋषिभिरेभि श्रुतयो रचिता याभिर्लोकाना हितानि सिद्ध्यन्ति इति ऋषीणा प्रतिष्ठा केवलं ज्ञातुं शक्नुम इत्यर्थ । परं किन्तु पुन एषाम् ऋषीणाम् यत् वैभवम् ज्ञानकृतसामर्थ्यातिशय अस्ति विद्यते, तत् ज्ञानवैभव यदि एते ऋषय एव व्यतिविद्रते परस्परं जानन्तीत्यर्थ । एतेषां ज्ञानवैभवं ज्ञातुं नान्ये क्षमा एते परस्परं स्वयमेव तज्ज्ञातुं शक्नुवन्तीति भाव । व्यतिपूर्वकात् 'विद् ज्ञाने' इति धातो 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे' इति लट्, वेत्तेर्विभाषा इति रुट् ॥१७॥

अनुगृहीत अनुकम्पित । भवद्दीक्षनाचिरं शिवधनुर्भञ्जकं जामातरं लभस्वेति वचसा कृतार्थीकृतोऽस्मीत्यर्थ ।

समस्येति । बहिरबहिरंह परिमृजाम् बाह्याभ्यन्तरसकलपापापनोदिकानाम् साम्नाम् सामवेदानाम् समस्या वा संक्षेप इव, ऋचाम् ऋग्वेदानाम् संवाद सम्भाषणम् इव, यजुषाम् यजुर्वेदानां परिपण मूलधनम् इव अयं त्वदाशीर्वाद त्वत्कृता मङ्गलाशंसा (य प्राक्) बहुविषयसाक्षात्कृतफल बहुषु विषयेषु पूर्वं दृष्टसार्थक्य (अत एव) मे मम वत्साया जानक्या वरं भर्त्तारं पुरोवर्त्तिनम् अग्रे सन्तमिव प्रथयति स्थापयति । अयमाशय —बाह्याभ्यन्तरपापहारिसामवेदसंक्षेप इव ऋग्वेदसङ्कलितार्थ इव यजुर्वेदमूलभूत इव चायं नानाविषयपरीक्षितसत्यभावस्तवाशीर्वाद स्वसत्यताविश्वासमन्तरेणाऽत्र प्रक्रान्त

जानते हैं इनके जो अन्तर्वैभव है उन्हें यही जानते हैं । १७ ॥

जनक—(सहर्ष) भगवन्, अत्यन्त अनुगृहीत हुआ । क्योंकि—

सामवेदके रहस्यके सदृश, आभ्यन्तर तथा बाह्यमलोंको दूर करनेवाले ऋग्वेदके सम्भाषणके सदृश यजुर्वेदके मूलधनके सदृश आपका यह आशीर्वाद—जिसका फल अन्यत्र अनेकों स्थानोंपर देखा गया है, मेरी कन्याके वरको पुरोवर्त्तीकी तरह प्रदर्शित कर रहा है ॥ १८ ॥

१ 'कथयति' ।

विश्वामित्र —(साकूतस्मितम् ।) सखे सीरध्वज, एवमेतत् ।

दवीयस्यो दूरादपथमिह चामुत्र च शुचा
त्रिवेदीवाक्यानामनतिचिरभग्ना इव खिला ।
श्रुतिग्राह्यं ज्योति किमपि बहिरन्तर्मलमुषो
मृजाया मज्जान क नु विपरियन्ति द्विजगिर ॥ १९ ॥

शतानन्द —(स्वगतम् ।) नूनं [1]रामभद्रमेव जामातरमभिसन्धाय भगवानयं [2]पुन पुनर्वक्रोक्तिभि सीरध्वजं [3]परिमोहयते । भवतु । अहं

प्रसङ्ग मत्कन्यकावरमपि प्राप्तमिव प्रमापयतीति । 'समस्या तु समासार्था', 'नीवी परिपणो मूलधनम्' इत्युभयत्राप्यमर । अत्र सर्वत्र वा शब्द इवार्थे । शिखरिणी वृत्तम्, तल्लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ १८ ॥

साकूतस्मितम् मनोभावप्रकाशकहासयुक्तम् । एवमेतत् खलु एतत् सत्यम् ।

दवीयस्य इति । दवीयस्य महत्तरा, इह अत्र लोके अमुत्र परलोके च शुचाम् शोकानाम् दूरात् अत्यर्थेन अपथम् अविषया, त्रिवेदीवाक्यानाम् वेदत्रितयोक्तार्थानाम् खिला अप्रहतभूमय इव, किमपि श्रुतिग्राह्य ज्योति तेजोमया, बहिरन्तर्मलमुष बाह्याभ्यन्तरमलापहारिण्य, मृजाया शुद्धे मज्जान सारभागा इव द्विजगिर क नु विपरियन्ति विपरीता सत्यारच्युता भवन्ति ? महत्त्वशालिन्योऽत्र लोके परत्र चात्यन्त शोकस्यास्थानभूतास्त्रिवेदीवाक्यानामप्रहतभूमय इवोर्वरतायुपो ज्योतिर्मय्य शुद्धिसारभागाभा बाह्याभ्यन्तरपापापहाश्च द्विजवाच कनु विपरीता भवन्ति, नहि क्वापि विपरीतार्था असत्या जायन्त इति । 'खिलमप्रहतेऽपि स्यात्' इति मेदिनी, 'सारो मज्जा नरि' इति अमर । अपथमिति 'पथ सङ्ख्याऽव्ययादे' इति क्लीवत्वम् । वृत्त पूर्वोक्तम् ॥ १९ ॥

अभिसन्धाय मनसिकृत्य । वक्रोक्तिभि कुटिलभाषितै । परिमोहयते

विश्वामित्र—(साभिप्राय हसकर) सखे सीरध्वज, ऐसी ही बात है—

महान्, इहलोक तथा परलोकमें कल्याण करनेवाले, वेदत्रयोक्त वचनोंके खिलस्वरूप बाह्य तथा आभ्यन्तर मलको दूर करनेवाले, शुद्धिके सारभूत ब्राह्मणोंके वचन कब कहाँ विपरीतार्थक होते हैं ? ॥ १९ ॥

शतानन्द—(स्वगत) निश्चय ही यह कौशिक रामभद्रको ही जामाताके रूपमें मनमें रखकर बार-बार अनेक प्रकारकी उक्तियों द्वारा सीरध्वजको मोहमें डाल रहे हैं ।

१ 'रामचन्द्रमेव' । २ पुनर्वक्रोक्तिभि ' । ३ मोहयते' ।

मस्य प्ररोचनार्थमसंविदान इव पृच्छामि । (प्रकाशम् ।) भगवन्, कस्येदं शकुन्तराजकेतोरिव कौस्तुभश्रीवत्सौ [1]रत्नद्वयम् ।

विश्वामित्रः—(विहस्य[2] स्वगतम् ।) साधु वत्स शतानन्द, साधु । यदेतत्कृतं [3]तीर्थं विवक्षितस्य वस्तुनः सुखावताराय । (प्रकाशम् ।) वत्स [4]गौतम, ककुत्स्थकुलसंभवौ कुमारावेतौ ।

शतानन्दः—(सप्रत्यभिज्ञमिव ।)

पुत्रार्थे जगदेकजाङ्घिकययूहामभ्रमत्कीर्तिना
　　चातुर्होत्रवितीर्णविश्वजसुधाचक्रेण चक्रे मखः ।

वशीकुरुते प्रलोभयति वा । प्ररोचनार्थम् प्रलोभनोद्देश्यम् । असंविदान—अज्ञ इव । शकुन्तराजकेतोः गरुडध्वजस्य । कौस्तुभश्रीवत्सौ तन्नामकौ । गरुडध्वजस्य यथा कौस्तुभश्रीवत्सौ नाम रत्नद्वयमस्ति तथा कस्येमौ पुत्रौ नाम रत्नद्वयमिति प्रश्नार्थः ।

तीर्थम् अवतरणवर्त्म 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु' इति विश्वः, 'तीर्थं सोपानपङ्क्तौ स्यात्' इति च धरणिः ॥

एतेन शतानन्दप्रश्नेन विश्वामित्रो रामलक्ष्मणयोः परिचयप्रदानावसरं प्राप्स्यतीति तदवसरलाभाय विश्वामित्रो धन्यवादमर्पयति शतानन्दायेति ग्रन्थहृदयम् । ककुत्स्थकुलसंभवौ—सूर्यवंश्यः कश्चन राजा ककुत्स्थो रामचन्द्रपूर्वजः, तद्वंशभवौ । रामलक्ष्मणौ कुमारौ ॥

सप्रत्यभिज्ञम् पूर्वानुभूतस्य वस्तुनस्तत्तदेन्ताविशिष्टतया ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा, तया सह, सोऽयमित्याकारकज्ञानमिव लब्ध्वा ।

पुत्रार्थे इति जगति संसारे एकः श्रेष्ठः जाङ्घिकः अतिवेगवान् च यः अश्वमेधीयोऽश्वः स एव उद्दामा उत्कटा भ्रमन्ती च कीर्तिर्यस्य तेन तथोक्तेन,

अस्तु । मैं भी इनके प्ररोचनार्थ अनजानकी तरह पूछता हूं । (प्रकट) भगवन्, भगवान् विष्णुके कौस्तुभ श्रीवत्सके समान यह दोनों लड़के किनके हैं ?

विश्वामित्र—(हंसकर स्वगत) साधु वत्स शतानन्द, साधु, तुमने विवक्षित अर्थको कहनेका अवसर बना दिया । (प्रकट) वत्स, यह दोनों कुमार ककुत्स्थवंशमें उत्पन्न हुए हैं ।

शतानन्द—(स्मरण करके) पुत्रार्थ संसारके लंघनमें समर्थ अद्वितीय कीर्तिशाली तथा चातुर्होत्रयागमें समस्त भूमण्डल दान कर देनेवाले राजा दशरथने यज्ञ किया था,

१ 'कुमाररत्नद्वयम्' ।　२ 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति ।
३ 'तीर्थमिव' ।　४ 'शतानन्द' ।

राज्ञा पङ्क्तिरथेन यत्र सकलस्वर्वासिसर्वातिथौ
स स्वेनैव फलप्रदः फलमपि स्वेनैव नारायणः ॥ २० ॥

तत्किमेतावेव तौ दाशरथी यौ किल रामलक्ष्मणौ ताडकामथनमङ्गलोद्घातवितीर्णदिव्यास्त्रमन्त्रपारायणेन [१]भगवतैव विनीतौ वैतानिकस्य कर्मणश्छिद्रापिधानदक्षिणया [३]भगवन्तमुपासाञ्चक्रतुः ।

चातुर्होत्रं चातुश्चरणयागे वितीर्णं पात्रेभ्यो दत्तं विश्वं सकलं वसुधाचक्रं येन तादृशेन च राज्ञा भूपालेन पङ्क्तिरथेन दशरथेन पुत्रार्थं पुत्रप्राप्तये मख यागः चक्रे कृतः, यत्र सकलाः समस्ताः स्वर्वासिनः देवाः एव सर्वातिथयो सर्वागन्तुका यत्र तादृशे दशरथकृतयागे स विश्वप्रसिद्धवैभवः नारायणः स्वेन स्वयम् एव फलप्रदः यज्ञफलदायी स्वेन आत्मना एव च फलम् अपि अभूत्। राजा दशरथोऽश्वमेधीयमश्वं भ्रमयित्वा स्वां कीर्तिमिव नटयामास, चातुश्चरणनामके यागे समस्तमेव धरावलयं पात्रेभ्यो वितीर्णवान्, तदीये यागे च सर्व एव देवा निमन्त्रिताः सन्तोऽतिथिभावमभजन्त, किञ्च सर्वलोकानुष्ठितयागानां फलदायी भगवान्नारायणः स्वयमेव तदीयपुत्रभावमापद्य तद्यागफलत्वमपि प्रपन्न इत्यर्थः । 'ययुरश्वोऽश्वमेधीयः' इत्यमरः । चत्वारो होतार एव चातुर्होत्रं, स्वार्थे ष्यञ्। वेदभेदेन वेदिभेदात् होतृभेदः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

दाशरथी दशरथतनयौ रामलक्ष्मणौ । ताडकामथनम् ताडकानामराक्षसीमरणम् मङ्गलं शुभकर्म तस्योद्घाते उपक्रमे वितीर्णं दत्तं दिव्यास्त्राणाम् मन्त्रपारायणम् येन तथाभूतेन ताडकावधमारभ्य दत्तदिव्यास्त्रमन्त्रपारायणेन भगवता विश्वामित्रेण । वैतानिकस्य यागसम्बन्धिनः । छिद्रापिधानदक्षिणया अन्तरायशमनरूपदक्षिणाद्रव्येण । भगवन्तम् विश्वामित्रम् । उपासाञ्चक्रतुः आराधयामासतुः । एतावेव तौ नाम रामलक्ष्मणौ दशरथसुतौ याभ्यां भगवान् विश्वामित्रस्ताडकावधमारभ्य दिव्यास्त्रमन्त्रसम्प्रदायमाचख्यौ, तस्य मन्त्रोपदेशस्य च दक्षिणारूपेण रामलक्ष्मणौ यज्ञं ररक्षतुरिति भावः ॥

जिस यज्ञमें स्वर्गके सभी देवगण पधारे थे, और उस यज्ञमें स्वयं सभी यज्ञोंके फलदाता भगवान् विष्णु स्वयं फल बन गये थे ॥ २० ॥

तो क्या यही हैं दशरथके पुत्र राम-लक्ष्मण जिन्हें ताडकावधरूप मङ्गलमय अवसर पर आपने दिव्यास्त्र मन्त्रका पारायण किया है, आपने जिन्हें धनुर्वेदकी शिक्षा दी है और जो यज्ञकर्मकी निर्विघ्न समाप्तिरूप गुरुदक्षिणासे आपकी आराधना कर चुके हैं ॥

१ 'मङ्गलोपोद्घात–' । २ भवतैव' । ३ भवन्तम्' ।

विश्वामित्र —([1]सकौतुकम् ।) अथ किम् ।

(जनकस्तौ [2]सस्नेहबहुमानं पश्यति ।)

शतानन्द —तदनयोः कतरो [3]रामभद्रः कतरश्च लक्ष्मणः ।

विश्वामित्र —(रामं निर्दिश्य[4] ।) वत्स आङ्गिरस,

ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसंतानमल्ली
मालाम्लानस्तबकमधुरा[5] जज्ञिरे राजपुत्राः ।
रामस्तेषामचरमभवस्ताडकाकालरात्रि
प्रत्यूषोऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्दः ॥ २१ ॥

ये चत्वार इति । दिनकरकुले सूर्यवंशे य उत्पन्नास्तानां क्षत्रियसमूहास्ते एव मल्लीमाला मल्लिकापुष्पस्रक् तासाम् अम्लानस्तबका सदाविकासिगुच्छा इव मधुरा मनोज्ञा ये चत्वारः रामादयो राजपुत्रा जज्ञिरे दशरथानुष्ठितपुत्रेष्टियज्ञप्रभावतोऽजायन्त, तेषाम् दशरथसुतानाम् अचरमभवः सर्वतो ज्येष्ठः ताडका एव कालरात्रिः प्रलयनिशा तस्याः प्रत्यूषः प्रभातकाल इव अयम् निर्दिश्यमानः रामः अस्ति, योऽयं रामः सुचरितकथा पुण्यवार्त्ता एव कन्दली वृक्षजातिभेदस्तस्या मूलकन्दः प्रधानमूलमिवास्तीति, अयमेवासौ रामो यमाश्रित्य सुचरितकथा प्रवर्तते, यश्च ताडकारूपाया कालनिशाया विनाशाय कल्पत, यश्च दशरथानुष्ठितपुत्रेष्टियागप्रभावात् प्रथममुत्पन्न, यश्च सूर्यवंश्यराजगणरूपमल्लीमालायामम्लानस्तबकस्तासु दशरथसुतेषु ज्येष्ठोऽस्तीत्यर्थः । उपमारूपकातिशयोक्त्योऽत्रालङ्काराः, मन्दाक्रान्तावृत्तं, तल्लक्षणं यथा 'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति ॥ २१ ॥

विश्वामित्र—(कौतुकसे) और क्या ?

(जनक स्नेह तथा आदरसे उनको और देखते हैं)

शतानन्द—तो इनमें राम कौन हैं और लक्ष्मण कौन हैं ?

विश्वामित्र—(रामकी ओर इशारा करके) वत्स आङ्गिरस

सूर्यवंशी क्षत्रियोंकी वंशपरम्परारूप मल्लिका मालाके अम्लान स्तवकरूप जो चार पुत्र दशरथ राजाके उत्पन्न हुए थे उनमें सबसे ज्येष्ठ तथा ताडकारूप रात्रिके प्रातःकाल समान एवं सच्चरित कथारूप अङ्कुरके मूलकन्द तुल्य रामचन्द्र यही हैं ॥ २१ ॥

१ सकौतुकम्' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'सस्नेहं पश्यति' । ३ 'राम' ।
४ 'निर्दिशन्' 'निर्दशयन्' । ५ 'स्तवक' ।

दशरथसुतावेतौ दृष्ट्वा यथोच्छ्वसितं मनः
शिथिलयति मे ब्रह्मज्योतिः प्रबोधसुखासिकाम् ॥ २३ ॥

शतानन्द—राजर्षे वैदेह, एवमेतत्। ममापि राजपुत्राविमौ साक्षात्कुर्वतो वत्से सीतोर्मिले न हृदयादवरोहतः।

जनक—(विश्वामित्रं प्रति।) भगवन्,

इदं वयो मूर्तिरियं मनोज्ञा वीराद्भुतोऽयं चरितप्ररोहः।
इमौ कुमारौ वत पश्यतो मे कृतार्थमन्तर्नटतीव चेतः ॥ २४ ॥

शिथिलयतीत्यर्थः। यथाऽनयो रामलक्ष्मणयोर्दर्शनेनोच्छ्वसितं सम्मम मनो ब्रह्मज्ञानजानन्दमपि प्रमोदजनानन्दभावेन पश्यति, इमौ वीक्ष्य ब्रह्मास्वादसुखादपि भूयान्प्रमोदो मम यथा जायते तथा न गुरौ याज्ञवल्क्ये गृहस्थिते सति न वा मुनौ विश्वामित्रे गृहस्थिते सति तावति निरास्य मम मनः उच्छ्वसितं भवतीति। हरिणी वृत्तम्, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ २३ ॥

राजपुत्राविमौ—दशरथसुतौ रामलक्ष्मणौ। साक्षात्कुर्वतः—पश्यतः। न हृदयादवरोहतः न विस्मृतिं भजतः। एतौ पश्यन्नहमनवरतं सीतोर्मिले हृदयस्थे इव भावयामि, सदृशवस्तुदर्शनस्य स्मरणोद्दीपकत्वादिति ॥

इदं वय इति। इदं लावण्यादिजनसन्धिरूपं वयः अवस्था, इयं सर्वजनहृद्या मनोज्ञा मूर्त्तिः तनुः, अयं च वीराद्भुतः वीरतयाऽऽश्चर्यजनककर्मभिश्च पूर्णः चरितप्ररोहः चरितप्रारम्भः, सर्वमेवानयोर्हृद्यतरमित्यर्थः, तत् इमौ रामलक्ष्मणौ नाम कुमारौ राजसुतौ पश्यतः वीक्षमाणस्य मे चेतः हृदयम् कृतार्थम् सिद्धमनोरथं सत् अन्तः अभ्यन्तरभागे नटतीव नृत्यतीव अनयोर्दर्शनेन मम हृदयं प्राप्तमनोरथसाफल्यमिव नृत्यतीत्यर्थः। उपजातिर्वृत्तम् ॥ २४ ॥

देखकर मेरा मन उच्छ्वसित हो उठा है, आज मेरा मन ब्रह्मज्ञानकी सुखासीनताको शिथिल कर रहा है ॥ २३ ॥

शतानन्द—राजर्षे वैदेह, यही बात है, मैं भी जब इन राजकुमारोंको देखता हूँ तब हमारे हृदयसे वत्सा सीता तथा ऊर्मिला नहीं उतरती है ॥

जनक—(विश्वामित्रसे) भगवन्,

यह वय, यह सुन्दर मूर्त्ति, यह वीर तथा अद्भुत चरिताङ्कुर, इन दोनों कुमारोंको देखकर कृतार्थ बना यह मेरा हृदय वस्तुतः नाच उठता है ॥ २४ ॥

विश्वामित्र —([1]सोप्रासम् ।) सखे सीरध्वज, हृदयनेत्रामन्त्रयस्व किमर्थं कृतार्थमसीति ।

जनक —(सखेदस्मितम् ।)

यद्गोत्रस्य प्रथमपुरुषस्तेजसामीश्वरोऽयं
 येषां धर्मप्रवचनगुरुर्ब्रह्मवादी वसिष्ठ ।
ये वर्तन्ते तव च हृदये सुष्ठु सम्बन्धयोग्या-
 स्ते राजानो मम पुनरसौ दारुण शुल्कसेतु ॥ २५ ॥

रामलक्ष्मणौ—([2]सविमर्शम् ।) कथमस्मदीया कथा प्रस्तूयन्ते ।

सोप्रासम मन्दस्मितपूर्वकम्, 'उत्प्रास स मनाक् स्मितम्' इत्यमर । हृदय मेवामन्त्रयस्व हृदयमेव पृच्छ, मन्त्रयमर्थमाह—किमर्थमित्यादि ।

यद्गोत्रस्येति । यद्गोत्रस्य येषा मनुवंश्यनृपाणा प्रथमपुरुष कुलमूलपुरुष अयम् सर्वप्रसिद्ध प्रत्यक्षदृश्यश्च तेजसामीश्वर सूर्य अस्तीति शेष, येषा च धर्मप्रवचनगुरु धर्मकर्मोपदेशक ब्रह्मवादी ब्रह्मज्ञानवान् वसिष्ठो नाम मुनि, ये च तव हृदये वर्तन्ते येषा हित त्वमपि कामयसे, ते राजान सर्वथैव सम्बन्धयोग्या वैवाहिकसम्बन्धोपयुक्ता वर्तन्त इति भाव, पुन किन्तु असौ सर्वविदित मम शुल्कसेतु पणबन्ध हरचापारोपणरूपो नियम दारुण कठिन, सूर्यवंश्याना वसिष्ठशिक्षिताना भवताऽनुध्यायमानानाञ्च राज्ञा दशरथादीना सर्वथा वैवाहिक सम्बन्धार्हताया विद्यमानायामपि मम पणबन्ध एवात्र प्रतिबन्धभूत इति भाव ॥२५॥

सविमर्शम् विचारपूर्वकम् । अस्मदीया कथा प्रस्तूयन्ते अस्मद्विषये विचार्यन्ते ।

विश्वामित्र—(विनोदके स्वरमें) सखे सीरध्वज अपने हृदयसे ही पूछिये कि क्यों कृतार्थ हो रहे हो ?

जनक—(खेदका हसी हसकर) जिस वंशके आदिपुरुष यह तेज प्रभु सूर्य हैं जिन्हें ब्रह्मवादी वसिष्ठ धर्मका प्रवचन सुनाया करते हैं, जो आपके हृदयमें हैं जो सर्वथा सम्बन्धके योग्य हैं वह हैं यह दशरथवंशके कुमार, परन्तु हमारा यह पणरूप सेतु बड़ा भयानक है ॥ २५ ॥

राम-लक्ष्मण—(कुछ विचार करके) हमारे ही सम्बन्धमें बातें कर रहे हैं ।

---

१ 'सोप्रासहासम्' । २ (सविस्मयम् ।) कथमस्मदीया' ।

विश्वामित्र —(सस्मितम् ।) राजर्षे, यदि शुल्कस्यैव केवलमन्तरायस्तन्न किंचिदेतत् ।

जनक —(सखेद [1]विमृश्यापवार्य ।) [2]भगवन्नाङ्गिरस,

यद्विदन्नपि विदेहनन्दिनीपाणिपीडनविधेर्महार्घताम् ।
एवमाह मुनिरेष कौशिकस्तेन मुह्यति चिराय मे मन ॥ २६ ॥

तदेव स्याच्छाम्भवीयं वा धनु स्यादिदमीदृशम् ।
एतदारोपण नाम पणो वा मम जर्जर ॥ २७ ॥

शुल्कस्तथा पणबन्ध । अन्तराय -विघ्न । न किंचित्-अगणनीयमेतत् ॥

आङ्गिरस-आङ्गिरसो नाम मुने अत्रे जात शतानन्द ।

यद्विदन्निति । विदेहनन्दिन्या सीताया पाणिपीडनविधे विवाहकर्मण महार्घताम् बहुमूल्यताम् कष्टसम्पाद्यत्व हरचापारोपणरूपकष्टप्रतिज्ञापूर्तिसमनन्तर सम्पाद्यत्वमित्यर्थ , विदन् जानन्नपि एष मुनि कौशिको विश्वामित्र एवम् यदि शुल्कस्यैवान्तरायस्तदा न किंचिदेतदित्येवरूपम् वचनम् आह, तेन मे मम मन चिराय मुह्यति, किमपि निश्चेतु मूढमिव सम्पद्यते, कठोरे पणबन्धे सत्यपि मुनेर्वचसो मिथ्यात्वस्यासम्भाव्यतया किमत्र भावीति निश्चेतु न पारयति मम हृदय मिति भाव । रथोद्धतावृत्तम्, 'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ॥२६॥

तदेवेति । तदेव इद शाम्भवम् धनु ईदृशम् राघवशिशुना आरोपयितु शक्य स्यात्, वा अथवा एतदारोपणम् हरचापारोपण नाम पणो वा जर्जर अनादरणीय स्यात्, विश्वामित्रस्य वचन सत्यमवश्य भावि, तत्र द्वय्येव गति, कदाचिदस्य मुने प्रभावेण बालकोऽपि रामो धनुरिदमारोपयेत्, अथवा विश्वामित्राग्रहो मम पण शिथिलयेत्, इद प्रकारद्वयमध्येऽन्यतरत् परित्यज्य विश्वामित्रवचस सत्यापक प्रकारान्तर नावैमि इति ॥ २७ ॥

विश्वामित्र —(हसकर) राजर्षे, यदि आप पणको ही विघ्न मानते हैं तब यह कोई बात नहीं है ।

जनक—(सखेद विचारते हुए छिपाकर) भगवन् आङ्गिरस,

जब कि सीता की विवाह विधिकी कठिनाई को जानते हुए भी यह मुनिवर विश्वामित्र इस तरह कहते हैं तब मेरा मन मोहमें पड जाता है ॥ २६ ॥

वह महादेवका धनुष ही कुछ ऐसा हो जाय, अथवा उसके आरोपण वाला मेरा पण ही शिथिल हो ॥ २८ ॥

---

१ सखेद विमृश्यापवार्य च' । २ 'शतानन्द' ।

शतानन्द — [1]शान्तं शान्तम्।

दुर्लङ्घ्यमीश्वरशरासनमप्रमोच्य
शुल्कग्रहस्त्वमसि सर्वमिदं तथैव।
किं त्वस्य राघवशिशोः सहजानुभाव
गम्भीरभीषणमतिस्फुटमेव वृत्तम् ॥ २८ ॥

जनक —(मुनिं प्रति।) भगवन्कौशिक, चिरमपि [2]विकल्पयन्न भवद्गिरामभिधेयमद्यापि निश्चिनोमि।

शान्तम् शान्तम्—'पणो वा मम जर्जर' इति मा वादीः, त्वादृशस्य सत्यवादिनस्तथा कथनस्यातिनिन्दनीयत्वादित्यर्थः।

दुर्लङ्घ्यमिति। ईश्वरशरासनम् हरधनुः दुर्लङ्घ्यम् दुरारोपम्, त्वम् अप्रमोच्य शुल्कग्रह अपरिहार्यपण असि, न महादेवधनुषो नमनं सुकरम्, न वा तव पणबन्धो विहातव्यः, उभयमपि यथावस्थितमेव स्थास्यतीति भावः, नन्वेवं विश्वामित्र किमिति तथा कथयतीत्यत्राह—किन्त्वस्येति। किन्तु अस्य राघवशिशोः रामस्य वृत्तम् वृत्तान्त सहजानुभावगम्भीरभीषणम् अतिस्फुटम् एव, सहजेन स्वाभाविकेन अनुभावेन प्रभावातिशयेन गभीरं दुर्ज्ञेयम् भीषणं च ताडकावधादिरूपम् अतिस्फुटम् एव, अयं रामो यत् स्वाभाविकविक्रमेण ताडकादिकान् राक्षसगणानवधीत्तदप्यतिरोहितमेव सर्वेषामतो मुनिकथनमपि शक्यं सत्यतां गन्तुमिति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २८ ॥

चिरमपि विकल्पयन्—बहुकालपर्यन्तं विचारयन्। अभिधेयम्—आशयम् वक्तव्यार्थम्। निश्चिनोमि—निर्णयेनावधारयामि। ऐन्दुशेखरम्—शिवसम्बन्धि। कार्मुकम्—चापम्। व्याकरोतु व्याख्याय बोधयतु, मदीयस्य वचस आशयं प्रतिपाद्य बोधयतु, रामेण हरचापे कृष्टे मदाशयः सुखमवसितो भवितेत्यर्थः।

शतानन्द—नहीं, आप ऐसा न कहें, यह महादेवका धनुष इसी तरह दुर्नमनीय बना रहेगा आपने जो पण प्रकट किया है वह भी ज्यों का त्यों बना रहेगा। जो जैसे है वह वैसे ही रहेगा यह तो अति स्पष्ट बात है कि इस राघवकुमारमें स्वाभाविक प्रताप तथा गाम्भीर्य विद्यमान है ॥ २८ ॥

जनक—(मुनिके प्रति) भगवन् कौशिक, बहुत देर तक विचारनेके बाद भी मैं आपके कथनका अभिप्राय नहीं समझ पा रहा हूँ।

---

१ 'शान्तम्'। २ 'विमृशन् भवद्गिरामद्यापि'।

विश्वामित्र —(विहस्य ।) [1]तदुपदर्शय कार्मुकमैन्दुशेखरं रामभद्र एव व्याकरोतु ।

जनक —([2]सहर्षं स्वगतम् ।) कथमलीकविकल्पैरात्मानं [3]प्रमोहयामि । नन्वयं ममैव [4]कौतुकं पूरयितुमैश्वरं धनुरभ्यर्थयते भगवान् । (जनकं च दृष्ट्वा सविमर्शम् ।) अहह ।

[5]बालेन सम्भाव्यमिदं च[6] कर्म ब्रवीति च प्रत्ययितो महर्षिः ।
इति ध्रुवं मन्त्रयते नृपोऽयं दत्ते किमत्रोत्तरमाकुलोऽस्मि ॥ २९ ॥

जनक —(मुहूर्तमिव स्थित्वा दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य ।) भगवन्, क्व तादृशं भागधेयमस्माकं येन भगवता विश्वामित्रेण नाथवन्तो वयं

अलीकविकल्पैः-मिथ्यासम्भावनाभिः । प्रमोहयामि संशयं नयामि । कौतुकम्-औत्सुक्यम् । पूरयितुम्-अपनेतुम् । अभ्यर्थयते-आज्ञापयति ॥

बालेनेति । प्रत्ययितः विश्वस्तः महर्षिः इदं हरधनुरारोपणात्मकं च कर्म कार्यं बालेन मया सम्भाव्यम् ब्रवीति कथयति ? कथमयं विश्वामित्रो हरधनुर्नमनरूपं कार्यममुना बालेन रामेण सम्भाव्यमिति विश्वासमन्तर्निधायैव वक्तीति अयं नृपः ध्रुवं निश्चितं मन्त्रयते विचारयति, तत्प्रसङ्गे नृपोऽयं किमुत्तरं दत्ते ददातीति तत् श्रोतुम् आकुलोऽस्मि । अस्मिन् प्रसङ्गे जनकस्योत्तरं श्रोतुमहमुत्कण्ठे, किमसौ मुनिवचनमनुरुध्य धनुरानेतुमनुमंस्यतेऽथवाऽसम्भवं तदारोपणं प्रतीत्य किमप्यन्यदुक्त्वा मुनेर्ध्यानमन्यतो नेष्यतीति ज्ञातुमुत्कोऽस्मि संवृत्त इत्याशयः ॥ २९ ॥

भागधेयम्-भाग्यम् । नाथवन्तः-सनाथाः, तदनुगृहीता इत्यर्थः ।

विश्वामित्र—(हँसकर) तब दिखलाइये शिवधनु, रामभद्र ही मेरे कथन की व्याख्या कर देंगे ।

राम—(सहर्ष स्वगत) क्यों मैं व्यर्थके तर्कोंमें अपनेको भुलाता रहूँ । यह भगवान् विश्वामित्र स्वयं मेरे कौतुकको पूर्ण करनेके लिये शिवधनु की अभ्यर्थना कर रहे हैं । (जनकको देखकर विचारपूर्वक)

क्या बालकके द्वारा इस कर्मका किया जाना सम्भावित है ? और यह महर्षि विश्वासपूर्वक कह रहे हैं, निश्चय यह राजा जनक यही बात सोचते हैं, वह इस सम्बन्धमें क्या उत्तर देते हैं यह जाननेको मैं आकुल हो रहा हूँ ॥ २९ ॥

जनक—(थोड़ी देर रुक कर तथा लम्बी साँस लेकर) भगवन्, हमारे ऐसे भाग्य

१ 'तदुपनय कार्मुक-', 'कार्मुकमैन्दुशेखरं दर्शय' । २ 'स्वगतम्' 'स्वगतं सहर्षम्' । ३ 'मोहयामि', 'प्रमोदयामि' । ४ 'कौतूहलम्' । ५ 'वत्सेन' । ६ 'तु' ।

[1]मैथिलीमेतस्मै रघुकुलकुमाराय प्रतिपाद्य चिराय [2]कृतार्थीभवाम ।

(रामो लज्जते ।)

जनक —किं[3] च भगवन्,

येषां चापसमर्पितत्रिभुवनच्छिद्रापिधानं व्रतं
जातं रोहितमेव केवलमपज्याबन्धमैन्द्रं धनुः ।
तेऽपि प्रेक्ष्य पुरा शरासनमिदं मौर्वीकिणश्यामिका-
कस्तूरीसुरभीकृतानबिभरुर्व्यर्थं भुजान्भूभुजः ॥ ३० ॥

रघुकुलकुमाराय-राघवाय रामाय। प्रतिपाद्य-दत्त्वा। कृतार्थीभवाम-सफलाभिलाषाः सम्पद्यामहे ॥

येषामिति। येषां भूभुजां चापेषु धनुष्षु समर्पितं न्यस्तं त्रिभुवनस्य लोकत्रयस्य छिद्रापिधानम् आपत्तिनिराकरणम् एव व्रतं नियमः, (अत एव च) ऐन्द्रं धनुः शक्रशरासनम् अपज्याबन्धम् विगतमौर्वीकम् सत् रोहितम् सदा सरलम् एवम् जातम्, ये राजानः सर्वदा स्वचापैरेव जगत्त्रयं प्ररक्षन्त इन्द्रचापाय निवृत्तिं ददन्त इत्यर्थः, तेऽपि भूभुजः राजानः पुरा इतः पूर्वकाले इदं शाम्भवं शरासनं प्रेक्ष्य मौर्वीकिणानाम् ज्याघातचिह्नानाम् या श्यामिका कालिमा सैव कस्तूरी मृगमदस्तया सुरभीकृतान् सुगन्धिं नीतान् ज्याघातचिह्नप्रख्यातान् अपि भुजान् निजबाहुदण्डान् व्यर्थं निरर्थकम् अबिभरुः, इन्द्रं स्वसहायतया चिन्तामुक्तं कृतवन्तोऽपि राजानोऽत्र शरासने वन्ध्यप्रयासा अजायन्तेति किमत्र भगवानत्र कर्मणि रामं नियोक्तुमिच्छतीति नावगच्छामीति तात्पर्यम् ॥ शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥ ३० ॥

यहाँ जो आपके आश्रित हम इन राजकुमारके हाथोंमें मैथिलीको सौंपकर चिरकालके लिये कृतार्थता प्राप्त करलें।

(राम लज्जित होते हैं)

जनक—और देखिये भगवन्, जिनके चापोंपर त्रिभुवनकी रक्षाका भार सौंपकर इन्द्र अपने धनुषपर प्रत्यञ्चा नहीं चढ़ाते हैं उसे सरल ही रखते हैं वह राजागण भी इस हरधनुषको देखकर प्रत्यञ्चा-घर्षणजनित श्यामिकास्वरूप कस्तूरीसे सुगन्धित अपने भुजोंको व्यर्थ धारण कर चुके हैं ॥ ३० ॥

---

१ 'एतस्मै रघुकुलकुमाराय सीताम्'।   २ 'चरितार्थी-'।
३ 'किं च' इति क्वचिन्नास्ति।

विश्वामित्र —(विहस्य[1]।) सखे, सीरध्वज, कथं महापुण्यराशिमात्मानमवमन्यसे ।

स्वद्भागधेयमपि तादृशमुत्सवाना-
मेतादृशा वयमपि प्रसमीक्षितारः ।
सन्त्येव [2]विश्वभुवनाभयदानशौण्डाः
क्षोणीभुजः परममी तु न रामभद्रः ॥ ३१ ॥

लक्ष्मणः —(स्वगतम् ।) कथमुपाध्यायेनैतदभिहितं यदस्मि वक्तुकामः ।

कथं महापुण्यराशिमपि आत्मानमवमन्यसे-पुण्यप्रकर्षशालिनमात्मानं किमर्थं कुत्र प्रत्येषि, किमिति त्वया रामस्य शम्भुशरासनभङ्गविषये भूयो भूयः सन्देहः प्रकाशयताऽऽत्माऽवमन्यते, पुण्यवानसि यदिह रामः आयातो योऽसंशयं धनुरिदं नमयित्वा सीताकरग्रहं च कृत्वा त्वामुदितगौरवं करिष्यतीति भावः ।

त्वद्भागधेयमिति । त्वद्भागधेयम् तव सौभाग्यम् तादृशम् अस्तीति शेषः वयमपि एतादृशाम् उत्सवानाम् सीताविवाहरूपाणाम् उत्सवानाम् प्रसमीक्षितारो द्रष्टारः समुपस्थिता इति शेषः, (यद्यपि) विश्वभुवनाभयदानशौण्डाः सकललोकभयदूरीकरणसामर्थ्यशालिनः क्षोणीभुजः राजानः सन्त्येव, परं किन्तु अमी भूभुजः तु रामो न, नामीषां भूभुजां पराक्रमो रामपराक्रमसमोऽतो यदि ते राजानो व्यर्थश्रमा अत्र धनुषि समजायन्त तदा रामोऽपि तथा भावीति सन्देह्यालम्, अतस्तव सौभाग्यमिदं यदेतादृशो जामाता त्वया लभ्योऽस्माकं चेदं सौभाग्यं यदीदृशमुत्सवं साक्षात्कृत्य लोचने सफलीकरिष्याम इति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३१ ॥

उपाध्यायेन गुरुणा विश्वामित्रेण । एतद् अभिहितम्-न सर्वे राजानो रामः इत्युक्तम् । अचिन्त्य -तर्कयितुमशक्य । मणिमन्त्रौषधीनाम्-यथा लघुकाये मणौ,

---

विश्वामित्र—(हसकर) सखे सीरध्वज, क्यों महापुण्यशाली अपनी आत्माका अपमान करते हो ?

तुम्हारे भाग्य हैं, और हम ऐसे उत्सवके देखने वाले हैं, संसारमें विश्वको अभयदान देने वाले नृप हैं क्यों नहीं, परन्तु वे रामभद्र नहीं हैं ॥ ३१ ॥

लक्ष्मण—(स्वगत) क्यों, जो मैं कहना चाहता था उसे आचार्यने ही कह दिया ।

---

१ 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'भुवनत्रय—' । ३ 'न तु' ।

जनकः—भगवन्, सत्यमचिन्त्यो मणिमन्त्रौषधीनामिव रघुकुल[1]कुटुम्बकानामनुभावः। परमेतद् ब्रवीमि।

गिरीशेनाराद्धस्त्रिजगदवजैत्रं दिविषदा-
मुपादाय ज्योतिः सरसिरुहजन्मा यदसृजत्।
हृषीकेशो यस्मिन्निषुरजनि मौर्वी फणिपतिः
पुरस्तिस्रो लक्ष्यं धनुरिति किमप्यद्भुतमिदम् ॥ ३२ ॥

शतानन्दः—आः किमनया पुनः पुनः पिनाकप्रशस्तिपञ्जिकया। [2]तदेतत्कौशिकमेव प्रमाणयन्तो बहु मन्यामहे। अपि च किमशक्यं रामभद्रस्य।

स्वल्पाकारे मन्त्रे, स्वल्पपरिणामे चौषधौ महान् अनुभावस्तिष्ठति, तथैव बाले वयसि रघुवंश्येऽपि महान् प्रभावः स्थातुमर्हति, इति भावः।

गिरीशेनेति। गिरीशेन शिवेन आराद्धः प्रार्थितः सरसिरुहजन्मा कमलयोनिः ब्रह्मा दिविषदाम् देवानाम् ज्योतिः तेजः उपादाय समाहृत्य त्रिजगदवजैत्रम् लोकत्रयध्वंसकरम् यत् धनुः असृजत् निर्मितवान्, यस्मिन् धनुषि हृषीकेशो भगवान् विष्णुः इषुः शरः, फणिपतिः अनन्तनागः मौर्वी प्रत्यञ्चा, तथा तिस्रः पुरः असुरनगर्यः लक्ष्यम् अजनि, इदं धनुः तत् किमप्यद्भुतम् आश्चर्यकरं वस्तु विद्यत इति शेषः। तदवेदमाश्चर्यकरं धनुर्यस्य स्रष्टा स्वयंस्रष्टा, उपादानं सकलदेवतेजः, शरो विष्णुः, मौर्वी फणिपतिः, त्रिपुरनगर्यो लक्ष्यं विद्यते, अत एवास्य नमनं कष्टसाध्यमत एव च मम मनःप्रत्ययो न जायत इति भावः, शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३२ ॥

आः इति अनास्थाकृते रागे। पिनाकप्रशस्तिपञ्जिकया हरधनुःप्रशंसापद्धत्या। कौशिकं प्रमाणयन्तः विश्वामित्रवचने श्रद्धाशालिनः। बहु मन्यामहे आदरं कुर्मः।

जनक—भगवन्, मणि मन्त्र तथा ओषधिके प्रभावकी तरह रघुवंशियोंका प्रभाव भी वास्तवमें अचिन्तनीय है, परन्तु मैं यह कहता हूं—

महादेवकी प्रार्थनापर ब्रह्माने त्रिभुवन विजयी देवोंके तेजको एकत्रित करके जिस धनुषको बनाया, जिसके बाण भगवान् विष्णु, मौर्वी शेषनाग, एवं लक्ष्य त्रिपुर बन चुके हैं, ऐसा है यह अद्भुत धनुष ॥ ३२ ॥

शतानन्द—आः, बार बार पिनाककी प्रशंसाकी पिटारी खोलनेसे क्या लाभ, हम तो कौशिककी बातको प्रमाण मानकर उसका आदर करते हैं और रामके लिये असम्भव क्या है?

१ 'कुटुम्बकानाम्'। २ 'तदेनं कौशिकमेव'।

उत्पादयन्क्रमपि कौणपकोटिहोम-
तेजोहुताशनसमिन्धनसामिधेनीम् ।
यस्ताडकामकृत [1]बालसखैः पृषत्कै-
रीषज्जय स्फुटमनेन दशाननोऽपि ॥ ३३ ॥

(नेपथ्येऽर्धप्रविष्टः ।)

[2]पुरुषः—दशाननपुरोहितः [3]शौष्कलो महाराजं दिदृक्षते ।

शतानन्दः—(सोद्वेगम् ।) [4]आः, आगच्छतु ।

(पुरुषो निष्क्रान्तः ।)

उत्पादयन्निति । यः रामः किमपि वर्णयितुमशक्यम् कौणपकोटिहोमम् राक्षसकोटिवधहोमम् उत्पादयन् कुर्वन् बालसखैः बाल्यावस्थोपयुक्तैः पृषत्कैः बाणैः ताडकाम् तेजोहुताशनस्य प्रतापाग्नेः समिन्धने प्रज्वालनकर्मणि सामिधेनीम् अग्निप्रज्वालनोपयोगिनीमृचम् अकृत, राक्षसवधहोमे प्रवृत्ते ताडका नाम राक्षसीं बाल्यावस्थोचितैर्बाणैरेव हत्वा तयैव स्वप्रतापाग्निं प्रज्वलितमकृतेति भावः, तेन तथाभूतेन रामेणानेन दशाननः रावणोऽपि ईषज्जयः सुखं जेतव्य इत्यर्थः । 'राक्षसः कौणपः क्रव्यात्', 'पृषत्कबाणविशिखाः', 'ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने' इति सर्वत्रामरः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३३ ॥

दशाननपुरोहितः रावणपुरोधाः । महाराजम् जनकम् । दिदृक्षते द्रष्टुमिच्छति । तदनुजानन्तु भवन्तस्तत्प्रवेशमिति भावः ।

तेजरूप अग्निको उत्तेजित करनेमें सामधेनी ऋचाके समान इस राक्षस कोटिहोम रूप कार्यको करके रामने अपने बाल्योचित बाणोंसे ताडकाको समाप्त कर दिया, तब राम रावणको आसानीसे जान लेंगे ॥ ३३ ॥

(नेपथ्यमें अर्धप्रविष्ट होकर)

पुरुष—दशाननके पुरोहित शौष्कल महाराजसे मिलना चाहते हैं ।

शतानन्द—(उद्विग्न होकर) आ, आवें ।

(पुरुष जाता है)

---

१ 'कालसखैः'। २ 'पुरुषः । पुरुषः'। ३ 'शौष्कलो नाम'। ४ 'आ' इति क्वचिन्नास्ति ।

राम—([1]सव्यथं जनान्तिकम् ।) वत्स लक्ष्मण, कथमन्तरितोऽयमनेन दुरात्मना राक्षसेन [2]कामारिकार्मुकपरिचर्यामहोत्सवः ।

लक्ष्मण—आर्य, न केवलमयम्—(इत्यर्धोक्ते स्मयते ।)

(रामः सप्रणयरोषस्मितं समपाङ्गेन पश्यति ।)

(प्रविश्य ।)

शौष्कल—(प्रत्येकमवलोक्यात्मगतम् ।) कथमत्रैव जनकशतानन्दाभ्यां पुरस्कृतो विश्वेषामस्माकममित्रो[4] विश्वामित्रः । (विचिन्त्य ।) तिष्ठतु । कोऽयं हस्तदक्षिणेन । (दृष्ट्वा ।) अये, कावेतौ क्षत्रियब्रह्मचारिणौ ।

सव्यथम् व्यथा चात्र शौर्यप्रकाशनावसरलाभप्रत्यूहोपस्थित्या बोध्या ।

अन्तरितः व्यवधापितः विघ्नितो वा । कामारिकार्मुकपरिचर्यामहोत्सवः हरचापारोपणावसरलाभरूपोऽभ्युदयकालः ।

न केवलम्—न केवलं महादेवधनुरारोपणमपि प्रत्यूहितं परं सीताविवाहावसरोऽपि विघ्नित इति लक्ष्मणस्य परिहासपूर्णो भाषितावशेषः ।

अपाङ्गेन पश्यति—कूणितत्रिभागया दृशा नयनमार्गोत्क्षेपेनिवारयितुं दृष्ट्वा सभवते, पुरस्कृतः आहतो युक्तश्च । विश्वेषाम् अस्माकम् सर्वेषामपि रक्षसाम् । अमित्रः शत्रुः । कोऽयम्—अयं विश्वामित्रः किं कर्तुमीशोऽतस्तिष्ठतु वयं किं तया चिन्तयेत्यर्थः । क्षत्रियब्रह्मचारिणौ—प्रथमे वयसि स्थितौ क्षत्रियकुमारौ एतौ कौ ?

राम—(रोषके साथ, छिपाकर) क्यों इस दुरात्मा राक्षसने शिवकार्मुक परिचर्या महोत्सवमें विघ्न कर डाला ।

लक्ष्मण—आर्य, केवल इसामें नहीं—(आधा कहकर हसते हैं)

(राम रोषमें हसकर इशारे से उन्हें चुप करते हैं)

(प्रवेश करके)

शौष्कल—(प्रत्येकको देखकर स्वगत) क्यों, यहींपर जनक शतानन्दके साथ हम सभोंका शत्रु विश्वामित्र भी वर्त्तमान हैं। (सोचकर) रहे, यह दाईं ओर कौन है ? (देखकर) अरे, यह दोनों क्षत्रिय ब्रह्मचारी कौन हैं ।

---

१ सरोषप्रणयम्'।　　२ 'त्र्यक्षकाण्डासन-'।

३ 'शौष्कल'। शौष्कल'।　　४ 'अमित्रम्'।

पुण्यलक्ष्मीकयो [1]कोऽयमनयो प्रतिभासते ।
मौञ्ज्यादिव्यञ्जन शान्तो वीरोपकरणो[2] रस ॥ ३४ ॥

निसर्गोद्‍भ्रममिद[3] च कुमारद्वयम् ।

पार्श्वे त्रयाणामेतेषामृक्सामयजुषामिव ।
रूपाभ्या विधिमन्त्राभ्यामथर्वेव प्रदीप्यते ॥ ३५ ॥

(विमृश्य ।) आ, ननु स [4]एव लक्ष्मणद्वितीयो रामहतक कौशिक मृषिमनुप्लवमानो [5]मिथिलामुपस्थित । (सक्रोधशोकम् ।) हा वत्से,

---

पुण्यलक्ष्मीकयोरिति । पुण्यलक्ष्मीकयो प्रशस्तपावनश्रीसम्पदुपेतयो अनयो पुरोदृश्ययो क्षत्रियकुमारयो क अयम् मौञ्ज्यादिव्यञ्जन मौञ्जमेखलाषटदण्डादिब्रह्मचारिचिह्नै प्रकाश्यमान वीरोपकरण वीररसपरिपोषित शान्तो रस अस्तीति शेष, क्षत्रियकुमारयोरनयोर्मौञ्ज्यादिब्रह्मचारिचिह्ने कोऽप्यद्‍भुत एव वीररसाविद्ध शान्तो रस प्रकाशत इत्यर्थ ॥ अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ३४ ॥

निसर्गोद्‍भ्रम् स्वभावत एव तेजस्वि ।

पार्श्वे इति । ऋक्सामयजुषाम् इव ऋग्वेदसामवेदयजुर्वेदरूपाणाञ्च [illegible] एषाम् जनकशतानन्दविश्वामित्राणा त्रयाणाम् पार्श्वे समीपदेशे विधिमन्त्राभ्याम् रूपाभ्या विधि अनुष्ठानम् मन्त्रश्चेति नाम्या स्वरूपभेदाभ्याम् अथर्वा इव अथर्ववेद इव प्रदीप्यते विद्योतते । कुमारद्वयमिति कर्तृपदमध्याहार्यम् ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणद्वितीयो लक्ष्मणेन सहित । रामहतक दुष्टो राम । अनुप्लवमान अनुगच्छन् । सुकेतुनन्दिनि सुकेतुनामकराक्षसतनये । ईदृशात् शान्तसौम्याकृते ।

पवित्र शोभा धारण करनेवाले इन ब्रह्मचारियोंका यह वीरोचित भावना इन मौञ्ज मेखलादि चिह्नोंसे अभिव्यक्त हो रही है ॥ ३४ ॥

यह दोनों कुमार स्वभावत तेजस्वी प्रतीत हो रहे हैं ।

यह दोनों कुमार ऋक्, साम तथा यजुके समान तीनों ऋषियोंके बगलमें विधि मन्त्र रूप दो भागोंमें विभक्त अथर्ववेदकी तरह दीपित हो रहे हैं ॥ ३५ ॥

(विचार करके) आ ! निश्चय ही यह लक्ष्मणके साथ अभागा राम होगा, जो कौशिकऋषिके साथ मिथिलामें उपस्थित हुआ है । (क्रोध तथा शोकके साथ) हा वत्से

---

१ 'सोऽयम्' । २ 'वीरोपकरणम्' । ३ 'चेदम्' ।
४ 'एष' । ५ मिथिलायाम्' ।

सुकेतुनन्दिनि ताडके, कथमीदृशान्मनुष्यडिम्भात्तादृशो दैवदुर्विपाकस्ते[1] संवृत्त । कष्टमनरण्यवंशजन्मन[2] क्षत्रियशिशो[3]रनात्मवेदिता ।

सुन्दासुरेन्द्रसुतशोणितसीधुपान
दुर्मत्तमार्गणनिरर्गलवीर[4]शब्द ।
द्रोहं चकार दशकण्ठकुटुम्बकेऽपि
सोऽयं बटु कुशिकनन्दनयज्ञबन्धु ॥ ३६ ॥

भवतु । द्रष्टव्यमस्य [5]भुजाशौण्डीर्यम् । (उपसृत्य ।) अपि सुखिनो यूयं जनकमिश्रा ।

मनुष्यडिम्भात् मानवशिशो । दैवदुर्विपाक दशाविपर्यय (मृत्युरूप) संवृत्त जात । अनरण्यवंशजन्मन अनरण्यो नाम रामपूर्वजो राजा, स हि रावणेन पराभूत इति विशिष्य तन्नामोपादानम् । अनात्मवेदिता स्वरूपपरिचयविरह, यस्य पूर्वजो रावणेन पराभूतस्तस्य तद्वंश्यजनवधप्रवृत्तिरनात्मवेदितां व्यञ्जयति, स एवात्र खेदविषय ।

सुन्दासुरेन्द्रेति । स अयम् कुशिकनन्दनस्य विश्वामित्रस्य यज्ञबन्धु यज्ञरक्षासम्पादनसहाय बटु बालको राम सुन्दो नामासुरेन्द्रो राक्षसराजस्तस्य सुत सुबाहुर्नाम तस्य शोणितम् सीधु मद्यं तत्पानेन (सुबाहुशोणितपानेन) दुर्मत्ता अतिमत्ता ये मार्गणा बाणा तैं निरर्गल अप्रतिबद्ध वीरशब्द विजयप्रशस्ति यस्य तादृश सन् सुबाहुवधेन वीरगणनां प्राप्त सन् दशकण्ठकुटुम्बके रावणपरिवारजनेऽपि द्रोहं वधप्रवृत्तिं चकार । सुबाहुवधव्याजेनानेन बटुना रावणबन्धवो ऽपि व्यापादिता इत्यहो साहसिकत्वमिति भाव । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

भुजाशौण्डीर्यम् बाहुपराक्रम ।

'जनकमिश्रा ' अत्र मिश्रपदं बहुवचनं चादराभिव्यञ्जनाय ।

सुकेतुतनये ताडके इस मनुष्यके बच्चेसे तुम्हारी यह दशा कैसे हो गई ? अनरण्यके वंशमें उत्पन्न क्षत्रियकुमारकी इतनी अनात्मज्ञता ॥

सुन्द नामक राक्षसराजके पुत्र सुबाहुके शोणितपानसे अप्रतिहत वीरशब्दका भाजन इस बटुकने विश्वामित्रकी यज्ञरक्षा प्रसङ्गमें दशकण्ठके परिवारके ऊपरभी द्रोह प्रारम्भ कर दिया ॥ ३६ ॥

भवतु—इसके बाहुवीर्यको देखेंगे । (समीप जाकर) आप जनक तो सानन्द हैं ?

---

१ 'विपाकोऽयं त वृत्त '। २ 'अनरण्यजन्मन '। ३ 'बटो '।
४ 'गव '। ५ 'भुजाशौटीर्यम्'।

जनकः—स्वागतं पौलस्त्यपुरोहितस्य। इत आस्यताम्।

(शौष्कलस्तथा करोति।)

जनकः—[1]अपि कुशलं ते[2] राज्ञो रावणस्य। अथवा।

विपदां प्रतिकर्तारो यस्योपायैरथर्वभिः।
त्वादृशाः सन्ति किं तस्य कल्याणमनुयुज्यते॥ ३७॥

शौष्कलः—(विहस्य।) श्रोत्रिय[3] सीरध्वज, [4]प्रत्याकरिष्यामैव वयं यदि स्वभुजमण्डलीमत्तवार[5]णावलीवलयितोरःप्रासादसुस्थितचतुर्दश[6]लोकलक्ष्मीमहान्ति पुरे [7]लङ्कापतौ किमपि [8]प्रतिकार्यमभविष्यत्। पश्य।

विपदामिति। त्वादृशाः त्वत्समानाः पुरोधसो यस्य रावणस्य विपदाम् अथर्वभिः अथर्ववेदप्रदर्शितैः मारणवशीकरणादिभिः उपायैः प्रतिकर्तारः प्रतिकारपरायणाः सन्ति, तस्य कल्याणं कुशलं किम् अनुयुज्यते पृच्छ्यते? नित्यकुशला एव तादृशा जना येषां त्वादृशा अथर्ववेदोक्तोपचारविधाकुशला पुरोहिताः स्युरतस्तत्कुशलप्रश्नो वृथेति भावः॥ ३७॥

श्रोत्रिय वेदाध्यायिन्, राज्ञ इदं सम्बोधनं वीरत्वाभाव व्यञ्जनयोपहासपरम्, प्रत्यकरिष्याम प्रतिकारं सम्पादयिष्याम स्वभुजमण्डली निजबाहुपरम्परा एव मत्तवारणावली गजसमूहस्तया वलयितं वेष्टितं यदुरःस्थलं हृदयं तत्र प्रासादे सुस्थिता या चतुर्दशलोकलक्ष्मीर्विश्वविजयसम्पत्तस्या महान्ति पुरे निवासे किमपि

जनक—पौलस्त्यवंशके पुरोहितका स्वागत है, इधर बैठिए।

(शौष्कल वैसा करता है)

जनक—आपके राजा रावण प्रसन्न हैं तो? अथवा—

जिनकी विपत्तियोंके लिए अथर्वोक्त प्रकारोंसे आपके समान विद्वान् प्रतिकर्ता सुलभ हों उनके कल्याणके सम्बन्धमें क्या पूछना है?॥ ३७॥

शौष्कल—क्षत्रिय सीरध्वज, हम तो प्रतिकार करते ही यदि अपने बाहुगणरूप मत्तवारणोंसे वेष्टित प्रासादरूप अन्त पुरमें चतुर्दश लोकको लक्ष्मीको स्थिर भावसे निवासित करनेवाले रावणके सम्बन्धमें कुछ प्रतिकारके योग्य होता।

१ 'कच्चित्'। २ 'राजरते'। ३ 'महाक्षत्रिय श्रोत्रिय' 'महाक्षत्रिय'। ४ 'प्रत्यकरिष्याम'। ५ वारणवलयितोर—'। ६ 'भुवन'। ७ 'लङ्काधिपतौ'। ८ 'प्रतिकर्तव्यम्'।

यच्चेष्टा [1]समनीकसीमनि परित्रस्त पराञ्चन्नपि
प्रत्यक्षीकुरुते सहस्रनयन पृष्ठोद्भवैरक्षिभि ।
चक्रे वर्त्म च नागलोकजयिनां यात्रामिव प्रस्थुव
न्य कैलासमुदस्य कीदृशम[2]पादानं तु तस्यापदाम् ॥३८॥

लक्ष्मण —(सामर्षं जनान्तिकम् ।) आर्य, [3]कथमसौ सहस्रार्जुन वालिभ्यामवलीढशौर्यसारो दुरात्मा रावण प्रस्तूयते ।

राम —वत्स, न वक्तव्यमि[4]दम् । महान्तो हि[5] तादृशा । किं च ।

प्रतिकार्यम् अनिष्टम् । अनिष्टोदयाभावेन प्रतिकारविधिं विनैव रावणो निपतुमल इति भाव ।

यच्चेष्टा इति । समनीकसीमनि युद्धक्षेत्रे परित्रस्त भीत अत एव च पराञ्चन् पराङ्मुखश्च गत अपि सहस्रनयन इन्द्र यच्चेष्टा यस्य रावणस्य सङ्ग्रामव्या पारान् पृष्ठोद्भवै पृष्ठदेशस्थितै अक्षिभि प्रयत्नात्कुरुते विलोकयति, यस्य युद्धे इन्द्रोऽपि पराजय प्रपद्यत इत्यर्थ । यश्च नागलोकजयिनीम् पाताल विजयसाधनाम् यात्राम् प्रयाणमिव प्रस्तुवन् कर्तुमुद्दिशन् कैलास नाम पर्वतम् उदस्य उत्थाप्य वर्त्म नागलोकमार्गं चक्रे, तस्य आपदाम् अपादान किम् ? कुतस्तस्य भयसम्भावना यो दुवाधिपमपि विजिग्ये कैलास चोद्दतोल्यदित्यर्थं । एवं च भयकारणानुप लब्ध्या सप्रतिकारस्यावश्यकतैव नोपस्थिता भवति, 'यदि स च भयमभविष्यत्तदा प्रत्यकरिष्यामैवेति पूर्णमुत्तरम् 'अनीकोऽस्त्री रणे सैन्ये' इत्यमर । शार्दूल विक्रीडित वृत्तम् ॥ ३८ ॥

सहस्रार्जुनवालिभ्याम् कार्तवीर्येण वालिना च । अवलीढशौर्यसार शमितबल गर्व । तौ हि रावणम् विनिर्जित्यावमत्य च तद्भुजवीर्यं चुलुकीचक्रतु , न वक्तव्य मिदम् रावणनिन्दा न कार्या ।

लड़ाईके मैदानमें जिसकी चेष्टाओंको भागते हुए इन्द्र पृष्ठदेशवर्ती नयनोंसे देखा करते हैं जिसने कैलास पर्वत उठाकर मानों नागलोककी विजययात्रा सी कर ली था, उस रावणको कहाँसे भय हो सकता है ? ॥ ३८ ॥

लक्ष्मण—(क्रोधपूर्वक, छिपाकर) सहस्रार्जुन तथा वालिद्वारा जिसका भुजबल सब कर दिया उस रावणका प्रसङ्ग क्यों लाया जा रहा है ?

---

१ 'स समीक-' ।	२ 'उपादानम्' ।
३ 'अपि कथमसौ वलितस्सहस्रार्जुनाभ्याम्' ।	४ 'एवम्' ।	५ 'अपि' ।

स्याता नाम कपीन्द्रहैहयपती तस्यावगाढान्तर-
स्थामानौ दशकन्धरस्य महती स्कन्धप्रतिष्ठा पुन ।
सद्य पाटितकण्ठकीकसकणाकीर्णा यदंसस्थली
स्वेनैमाजिनपल्लवेन मुदित प्रास्फोटयद् धूर्जटि ॥३९॥

अपि च—

मघोनस्तद्घोरं कुलिशमलसीकृत्य समरे
भुनक्ति स्माराज्य त्रिभुवनभटोऽयं दशमुख ।

स्यातामिति कपीन्द्रो वानरराजो वाली हैहयपति कार्त्तवीर्यश्च तस्य रावणस्य अवगाढम् अवगातम् अन्तरस्थाम आन्तर बल याभ्या तथाभूतौ स्याताम्नाम, पुन किन्तु दशकन्धरस्य रावणस्य स्कन्धप्रतिष्ठा कायिकबलस्तुति महती भूयसी। जायता रावणस्यान्तर बल वालिसहस्रार्जुनाभ्या। तथापि रावणस्य कायिक बलमनितरा प्रसिद्धमस्तीति भाव । तत्र कारणमाह—सद्य इति । मुदित रावणस्य भक्त्या प्रसन्न सन् धूर्जटि शिव स्वेन आत्मसम्बन्धिना इभाजिनपल्लवेन गजचर्माञ्चलेन सद्य पाटितानाम् तत्क्षणकृत्तसमर्पितानाम् कण्ठाना नवाना शिर स्थानानाम् कीकसकणै क्षुद्रास्थिखण्ड आकीर्णा व्याप्ता यदंसस्थली यस्य रावणस्य स्कन्धस्थान् प्रास्फोटयत् प्रोञ्छयतिस्म । कपीन्द्रहैहयपती रावणस्य पराक्रम पराबभूवतुरिति पुराणी कथा स्यान्नाम, तथापि रावणस्य कायबलप्रतिष्ठा न क्षोदीयसी यतो रावणेन छित्त्वा समर्पितेषु स्वेषु नवसु शिरस्सु कीकसकणाकीर्णांसस्थलदेशान् प्रमुदित शिव स्वोत्तरीयभूतगजचर्माञ्चलेन वीजयतिस्म, एतादृशो धीरे भग्ने च रावणे कदाचित्ताभ्या जितेऽपि तस्य न किमपि हीयते इति भाव । 'रूपादिपञ्चके स्कन्ध कायेंऽसे भूपतावपी'ति, 'कीकस कुल्यमस्थि च' इत्युभयत्र विश्वामरौ। शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ३९ ॥

मघोन इति । त्रिभुवनभट त्रिलोकैकवीरोऽयं दशमुख समरे युद्धे तत् प्रसिद्ध

राम—वत्स, ऐसा नहीं कहना चाहिये । वह महान् है, और वालि तथा सहस्रार्जुन रावणके भुजवीर्यके ज्ञाता भले ही रह हों, किन्तु फिर भी दशकन्धरके स्कन्धकी बड़ी प्रतिष्ठा है । तत्काल छिन्न रावणके शिरको जिनपर रुधिर तथा अस्थिखण्ड बिखरे पड़े थे, भगवान् शङ्करने स्वयं अपने गजचमसे वीजित कर दिया था ॥ ३९ ॥

इन्द्रके भयङ्कर वज्रको युद्धक्षेत्रमें मन्द बनाकर यह रावण त्रिभुवन वीर बहादुर

श्रियो नानास्थानभ्रमणरमणीया चपलता
　　मवच्छिद्य स्वस्मिन्नपि भुजवने पूरयति यः ॥ ४० ॥

[1]जनकः—(शौष्कलं प्रति ।) ब्रह्मन्, सत्यमीदृशो[2] राक्षसराजः ।

शौष्कलः—राजर्षे जनक,

सन्तुष्टे तिसृणां पुरामपि रिपौ कण्डूलदोर्मण्डली
　　[3]क्रीडाकृत्तपुनःप्ररूढशिरसो वीरस्य लिप्सोर्वरम् ।
याच्ञादैन्यपराञ्चि यस्य कलहायन्ते मिथस्त्वं वृणु
　　त्वं वृण्वित्यभितो मुखानि स दशग्रीवः कथं [4]वर्ण्यताम् ॥४१॥

पराक्रमं घोरं आप्तवान् मघोनः इन्द्रस्य कुलिशं वज्रम् अलसीकृत्य निश्चेष्टतां प्रापय्य स्वाराज्यं स्वर्गराज्यं भुनक्ति भुङ्क्ते पालयति । अपि च यः रावणः श्रियो लक्ष्म्याः नानास्थानेषु भिन्नभिन्नस्थलेषु भ्रमणेन सञ्चरणेन रमणीयां चपलतां चञ्चलताम् अवच्छिद्य दूरीकृत्य स्वस्मिन् निजे भुजवने बाहुसमुदाये पूरयति स्थापयति । अयं हि रावणो मघोनो वज्रं व्यर्थीकृत्य स्वर्गाधिपत्यमाप्य च लक्ष्म्याश्चञ्चलतां दूरीकृत्य तां भुजवने स्वकीये स्थिरीकरोतीत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४० ॥

सन्तुष्ट इति । तिसृणां पुराम् त्रयाणां राक्षसनगराणां रिपौ महर्त्तरि शिवे सन्तुष्टेऽपि आराधनप्रसन्नेऽपि कण्डूला रणकण्डूशालिनी या दोर्मण्डली भुजसमुदायस्तस्याः क्रीडया विलासेन कृत्तानि छिन्नानि पुनः प्ररूढानि च शिरांसि च यस्य तथाभूतस्य वरं प्रार्थनीयम् लिप्सोः लब्धुमिच्छोर्यस्य रावणस्य मुखानि दशाप्याननानि याच्ञादैन्येन याचनाकृतलाघवभयेन पराञ्चि याचनाविमुखानि भूत्वा 'त्वं वृणु त्वं वृणु' इति प्रकारेण परस्परं कलहायन्ते विवादं कुर्वते, स रावणः

स्वर्गराज्यका भोग करता है, और लक्ष्मीकी नानास्थल-भ्रमण चपलता दोषको दूर करके उसे अपने बाहुओंमें स्थिर रूपमें निवासित करता है ॥ ४० ॥

जनक—(शौष्कलसे) ब्राह्मण सत्य ही रावण ऐसे हैं ।

शौष्कल—राजर्षे जनक, त्रिपुरारि शिवके प्रसन्न हो जानेपर भी खुजलाहटधारी भुजोंने जब अनायास सभी सिर काट दिये, रावण वर प्राप्त करना चाहता भी था, परन्तु याचनादैन्य विमुख उसके सभी मुख 'तुम माँगो तुम माँगो' कहकर आपसमें झगड़ने लगे थे, उस रावणका क्या वर्णन किया जाय ? ॥ ४१ ॥

---

१ 'शतानन्द'।　　२ 'ईदृशोऽयम्'।
३ 'लीलालून-'।　　४ 'कथ्यताम्'।

सोऽपि ।

कन्यामयोनिजन्मानं वरीतु प्रजिघाय माम् ।
पुरोधसा गौतमेन गुप्तस्य भवतो गृहान् ॥ ४२ ॥

विश्वामित्र —सखे सीरध्वज, [1]पश्य पिनाकदर्शनोल्लासिकानिसष्ठुलचित्तवृत्तिरिव वत्सो रामभद्रः ।

जनकः —(विहस्य ।)

किमेतदेव[2] भगवन्नभिधीये पुनस्तराम् ।

कथं केन प्रकारेण वर्ण्यताम् स्तूयताम् ? यस्य प्रसन्नेऽपि वरिवस्यया हरे भुजवनक्रीडया छिन्नप्ररूढशिरसो रावणस्य मुखानि याचितुमनीहमानानि सन्ति 'त्वं वृणु त्वं वृणु' इत्येव परस्परं नियुञ्जानानि कलहायन्ते, स रावण कैः शब्दैः प्रशस्यताम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४१ ॥

कन्यामिति यस्य रावणस्य मुखानि शिवादपि सन्तुष्टाद्वरं याचितुं पराञ्चि समजनिषत, स रावणोऽपि गौतमेन तदाख्येन पुरोधसा पुरोहितेन गुप्तस्य रक्षितस्य भवतो जनकस्य गृहान् अयोनिजन्मानम् अगर्भसम्भवां सीतां नाम कन्यां वरीतुं याचितुं माम् स्वपुरोहितं प्रजिघाय प्रेषयत् । यस्य हि रावणस्य वरप्रदानोद्यतान्छिवादपि याचनायां सङ्कोचस्तस्यैव त्वद्गृहं प्रति कन्यां याचितुं मम प्रेषणं तदिच्छापूर्तेरविचार्यं कर्तव्यत्वमाहेति तदाशयः ॥ ४२ ॥

पिनाकस्य हरधनुषः दर्शनाय या उल्लासिका उत्सुकता तया विसष्ठुला चला चित्तवृत्तिः मनोभावो यस्य तथाभूत, चापद्रष्टुं चलन्मना राम इति पश्येतिक्रियाया वाक्यार्थः कर्म ।

किमेतदेवेति हे भगवन् सर्वसामर्थ्ययुक्त, एतदेव पूर्वोक्तमेव वचनं पुनस्तराम् भूयोभूयः किम् किमर्थम् अभिधीये, एकमेव वचनं पुनः पुनः किमर्थं मामाख्येति

उस रावणने भी—

आपसे आपकी अयोनिजा कन्या सीताकी याचना करनेके लिए मुझे खुद भेजा है पुरोधा गौतमसे परिपालित आपके घरपर ॥ ४२ ॥

विश्वामित्र—सखे सीरध्वज, पिनाकदर्शनकी उत्सुकतासे वत्स रामभद्रकी मनोवृत्ति चञ्चल हो रही है ।

जनक—(हँसकर) भगवन्, वारम्बार मुझे यह आप क्यों कह रहे हैं, हम तथा

---

१ पश्य पश्य' । २. 'एवम्' ।

इक्ष्वाकवो विदेहाश्च परवन्तस्त्वया वयम् ॥ ४३ ॥

शौष्कल—भो सीरध्वज, [1]किमिदमस्माकमाकाशवचनम्, उत दुष्परिच्छेद्य एवायमर्थः । यदुत्तरमपि न प्रतिपद्यसे । [2]पश्य ।

दातव्येयमवश्यमेव दुहिता कस्मैचिदेनामसौ
[3]दोर्लीलामशकीकृतत्रिभुवनो [4]लङ्कापतिर्याचते ।
तत्किं मूढवदीक्षसे ननु [5]कथागोष्ठीषु न शासति
त्वद्वृत्तानि परोरजांसि मुनयः प्राच्या मरीच्यादयः ॥४४॥

भावः, तथा कथनस्यायुक्तत्वं प्रमाणयति—इक्ष्वाकव इति । इक्ष्वाकवो रघुवंश्या विदेहा जनकाश्च वयं परवन्तः त्वदधीनाः तथा च त्वदादेशस्यावश्यपालनीयत्वे पुनरभिधानं निष्फलमिति ॥ ४३ ॥

आकाशभाषितम् शून्यदेशे कथनम्, यस्य कोऽपि श्रोता न स्यात्, किमिति कोऽपि मदुक्तं नाकर्णयतीत्यर्थः । दुष्परिच्छेद्यः क्लेशबोध्यः । प्रतिपद्यसे ददासि ।

दातव्येति । इयम् प्रक्रान्तपाणिग्रहणा कन्या कस्मैचित् वराय अवश्यम् एव देया वैवाहिकविधिनाऽर्पणीया, न तु स्वगृहे रक्षणीया, एनाम् कन्याम् दोःक्रीडया भुजविलसितेन मशकीकृतत्रिभुवनः स्वल्पीकृतत्रिलोकः लङ्कापतिः रावणो याचते प्रार्थयते, तत् तदा अवश्यदानयोग्यवस्तुप्रार्थनया त्रिभुवनकण्टके रावणे समुपस्थिते मूढवत् किंकर्त्तव्यविमूढलोक इव ईक्षसे इतस्ततः पश्यसि ? ईदृशे प्रसङ्गे सौभाग्योपनतेन किमपि विचारणीयं किन्तु सद्यः कर्त्तव्यमवधारणीयमिति तदाशयः । ननु बुद्धिमानेव सद्यः कर्त्तव्यं स्थिरयति न साधारणो लोकस्तत् कथमहं झटिति कर्त्तव्यमवधारयेयं तत्राह—न अस्माकं कथागोष्ठीषु विश्रम्भकथाप्रसङ्गेषु प्राच्याः

इक्ष्वाकु दोनों ही आपके वशवर्ती हैं ॥ ४३ ॥

शौष्कल—अजी सीरध्वज, क्या यह मेरा वचन आकाशभाषित है, अथवा यह विषय नितान्त अविचारणीय ही है कि आप कुछ उत्तर नहीं देते । देखिये—

यह कन्या निश्चय किसीको दान करनी है, फिर इसे अपने भुजवीर्यसे त्रिभुवनको मशक समान सिद्ध कर देनेवाले रावण जब माँग रहे हैं, तब आप किङ्कर्त्तव्यविमूढकी तरह क्या देख रहे हैं ? हम लोगोंकी कथा-गोष्ठीमें प्राचीन मरीचि आदि ऋषिगण आपके रजस्तमोऽतिवर्ती वृत्तान्तोंकी चर्चा किया करते हैं ॥ ४४ ॥

---

१ 'किमस्माकम्'।　　२ 'पश्य पश्य'।
३ 'दोःक्रीडा', 'दोःक्रीडामशकीकृत-'।　　४ 'लङ्काधिपः'।　　५ 'तथा'।

शतानन्द —भ्रह्मन्, चिराय दत्तमेवोत्तरमस्माभिः ।

शौष्कल —[1]हन्त, राजपुत्रीसमर्पणादन्यत्कीदृशं तत् ।

शतानन्द —शृणु ।

शाम्भवं चापमारोप्य योऽस्मानानन्दयिष्यति ।
पूर्णपात्रमियं तस्मै मैथिली [2]कल्पयिष्यते ॥ ४५ ॥

शौष्कल —(विहस्य ।) [3]शान्तम् । अहह युष्माकमप्यमूल्यक्षराणि ।

आद्या मुनयो मरीच्यादयो नाम परोरजांसि रजोगुणमतीत्य समवस्थितानि त्वद्वृत्तानि तदाख्यानानि शासति कथयन्ति । आद्यमुनिमरीच्यादिस्तुतवृत्ततया तव प्रसिद्ध एव त्रिजगत्तदनिरूप्यमुत्तरं प्रतिपद्यस्व स्वीकारात्मकमेव मूकवदेव स्थायेति भाव ॥ ४४ ॥

चिराय बहुकालात्पूर्वम् ।

राजपुत्रीसमर्पणात् सीताप्रदानात् । नात्र वाक्यात्मकमुत्तरमपेक्ष्यते, किन्तु सीताप्रदानात्मकक्रियारूपमेवोत्तरमपेक्ष्यते इति तदाशय ।

शाम्भवमिति य शाम्भवं हरसम्बन्धि चापम् धनु आरोप्य सज्यं कृत्वा अस्मान् कन्यापक्षगतान् पित्रादीन् आनन्दयिष्यति प्रतिज्ञापूर्त्तिसम्भवात् हर्षभाज करिष्यति, इयं मैथिली सीता तस्मै हरचापारोपणयशस्विने पुरुषाय पूर्णपात्र पारितोषिकदक्षिणारूपं कल्पयिष्यते समर्पयिष्यते । इदमेव निश्चितमुत्तरमिति भाव ॥ ४५ ॥

अहह ! इति असम्भाविनोत्तरश्रवणजन्योपहासे । युष्माकमप्यमूल्यक्षराणि यूयं सर्वविषयकज्ञानवन्तोऽपीत्थं ब्रूथ, न भवद्भिरिदं वाच्यमित्यर्थः ।

शतानन्द—भ्रह्मन्, सदाके लिए हमने उत्तर दे दिया है ।

शौष्कल—हाय, राजपुत्रीके समर्पणके अतिरिक्त क्या उत्तर हो हो सकता है ?

शतानन्द—सुनिये—

महादेवके धनुषको आरोपित करके जो हमें आनन्दित करेगा, पूर्णपात्र स्वरूप यह मैथिली उसीको दक्षिणा बनेगी ॥ ४५ ॥

शौष्कल—(हसकर) शान्त रहिये अहा ! आप भी इस तरहकी बात करते हैं ?

---

१ 'हुम्'। २ 'कल्पयिष्यति'। ३ 'शान्त शान्तम्'।

तेनाङ्गुलीशतनिघृष्टकुबेरशैल
कण्ठोकृतो कुलिशकन्दलविक्रमेण ।
माहेश्वरेण महता दशकन्धरेण
कर्मेदृश कथमनार्यमधिक्रियेत ॥ ४६ ॥

शतानन्द —(विहस्य) ब्रह्मन्,

अयं महाक्षत्रियगोत्रजन्मा दृढप्रतिज्ञो जनकाधिराजः ।
न चापमारोपयिता दशास्यस्तथापि जानासि यदुत्तरम् ॥ ४७ ॥

तेनाङ्गुलीशतेनेति । अङ्गुलीना शतेन विंशतिहस्तैस्तावतीभिरङ्गुलीभिर्निघृष्ट चालितः य कुबेरशैल कैलास तेन कण्ठोक्त स्पष्टमाख्यात कुलिशकन्दलविक्रम वज्रपराक्रमो यस्य तेन तथोक्तेन अङ्गुलीशतसचालितकैलासप्रख्यापितपराक्रमातिशयेन तेन महता प्रसिद्धेन माहेश्वरेण शिवभक्तेन दशकन्धरेण रावणेन ईदृश कर्म स्वाराध्यशिवधनुर्भञ्जनात्मक कुकृत्य कथ केन प्रकारेण अधिक्रियेत सम्पादयितुमारभ्येत इष्येत वा ? नहि रावण स्वाराध्यस्य हरस्य चापमारोपयितुमुद्यतो भविष्यति, वीरता तु तस्य कैलासचालनप्रख्याता एव, अतस्तस्य वीरताख्यापनबुद्ध्याऽप्यत्र कर्मणि प्रवृत्तिर्न सम्भवतीति भाव ॥ ४६ ॥

अयमिति अय जनकाधिराज महाक्षत्रियगोत्रजन्मा महति क्षत्रियवंशे समुत्पन्न, दृढप्रतिज्ञश्च अमिथ्याभाषी च, तथा चास्य पक्षे विचारपरिवर्तनमशक्यमिति । एव दशास्यो रावणोऽपि महामाहेश्वरतया चाप हरधनुर्नारोपयिता नारोपयिष्यति, सोऽपि स्वसिद्धान्तात् च्यावयितु न शक्यते, तथा सति न अस्माकम् अत्र प्रसङ्गे यदुत्तर तत् जानासि अपि । चापारोपणमात्रलभ्यायाः सीतायास्तदुपायनात्रलभ्यत्वमिति भाव ॥ ४७ ॥

अपनी सौ अङ्गुलियोंसे सञ्चालित कैलास पर्वतके द्वारा जिस रावणने अपने वज्रोपम-भुजोंके पराक्रमको स्पष्ट बना दिया है, वह महामाहेश्वर दशकण्ठ भला इस तरहका जघन्य कार्य किस प्रकार कर सकेगा? ॥ ४६ ॥

शतानन्द—(हँसकर) ब्रह्मन्,

यह महाक्षत्रिय वंशमें उत्पन्न जनकराज की दृढप्रतिज्ञा है, और माहेश्वर होनेके कारण रावण चापारोपण नहीं करेंगे, फिर आपही समझ सकते हैं कि इस विषयमें हमारा क्या उत्तर हो सकता है? ॥ ४७ ॥

---

१ कर्मेदमीदृशमनार्य—' ।

शौष्कल —(सहासम्।)

अङ्गिराश्च पुलस्त्यश्च प्रसवौ परमेष्ठिनः ।
पौलस्त्ये [1]ज्ञातिधर्मोऽयं तत्किमाङ्गिरसस्य ते ॥ ४८ ॥

([2]सामर्षम्।)

माहेश्वरो दशग्रीवः क्षुद्राश्चान्ये महीभुजः ।
पिनाकारोपणं शुल्कं हा सीते किं भविष्यसि ॥ ४९ ॥

शतानन्द —([3]सरोषव्ययम्।) ब्रह्मन्, [4]एवमनेन धनुषा किमपि विनयाधि[5]कारिकमध्याप्यते। यदद्य [6]परममाहेश्वरस्ते रावणोऽपि संवृत्तः।

अङ्गिरा इति। अङ्गिरा नाम मुनिः गौतमस्य पिता शतानन्दस्य पितामहः, पुलस्त्यः रावणस्य पितामहश्च तावेतौ परमेष्ठिनः ब्रह्मणः प्रसवौ पुत्रौ, तत् तस्मात् पौलस्त्ये रावणे ते तव शतानन्दस्य अयं ज्ञातिधर्मः विद्वेषः किम्? समानकुलयोर्वैरस्य प्रसिद्धतया त्वमपि स्वगोत्रे रावणे विद्वेषमाचरसीति भावः ॥ ४८ ॥

माहेश्वर इति। दशग्रीवो रावणः माहेश्वरः शिवभक्तः (अत एवासौ हरचापारोपणं कृत्वा त्वां न वरीष्यति) अन्ये च महीभुजः नृपतयः क्षुद्राः, तुच्छाः, (अत एव तेषामपि हरचापारोपणे साफल्यमसम्भवम्) ननु विनैव चापारोपणं सीता यस्मै कस्मै चित्वराय दास्यत इति चेत्तत्राह—पिनाकेति। पिनाकारोपणं हरचापनमनं शुल्कं सीतापरिणये पणः अस्यां स्थितौ हा सीते, किं भविष्यसि? का तव दशा भविष्यतीति न जाने इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

विनयाधिकारिकम् नम्रत्वम्। अध्याप्यते शिक्ष्यते। परममाहेश्वरः अतिशिवभक्तः। अस्य नमनमसम्भवं सम्भाव्य स्वाशक्तिगोपनायैव रावणस्यायमुद्यमो न वास्तवमेवासौ शिवभक्त इति काकुः।

शौष्कल—(हसकर) अङ्गिरा और पुलस्त्य ब्रह्माके पुत्र हैं, क्या आङ्गिरस होनेके कारण आप रावणसे दायादका धर्म निभा रहे हैं? ॥ ४८ ॥

(क्रोधसे) रावण माहेश्वर है, अन्य राजगण क्षुद्र ही हैं, पिनाकका आरोपण पण बना ही है, हाय, सीते न जाने तुम्हारा क्या होगा? ॥ ४९ ॥

शतानन्द—(क्रोध तथा खेदके साथ) ब्रह्मन्, इस प्रकार यह धनुष लोगोंको विनयकी शिक्षा दे रहा है। जिससे तुम्हारे रावण भी आज माहेश्वर बन गये हैं।

---

१ 'जाति-'। २ 'सामर्षमाकाशे कर्णं दत्त्वा सहासम्'। ३ 'सरोषावहित्थम्'। ४ 'किमनेन'। ५ 'कारिकां कारिकामध्या-'। ६ 'ते रावणोऽपि परममाहेश्वर'।

शम्भोराधारमचलमुत्क्षेप्तु भुजकौतुकी ।
माहेश्वरो धनु कष्टमहो ते दशकन्धर ॥ ५० ॥

(शौष्कल्वर्नमन्ये[1] स्मयन्ते ।)

शतानन्द —(सरोपावहित्थम् ।) [2]रामभद्र,

तदेतदारोपय [3]चापमीशप्रकोष्ठभस्मप्रतिरूषितज्यम् ।
शौर्योष्मभाजा भजता मुखानि स्वबाहुमौर्वीकिणकालिकेन ॥ ५१ ॥

शम्भोरिति । शम्भो शिवस्याधारमचल निवासभूत पर्वत कैलासमुत्क्षेप्तु स्वात्मनोत्पाट्य चालयितु भुजकौतुकी बाहुत्कण्ठाशाली ते दशकन्धरो रावण अहो आश्चर्यम् धनु कष्टम् माहेश्वर धनुर्नमयितु माहेश्वर माहेश्वर शिवभक्त जात इति शाप । यो हि सव रावण शिवस्यावासभूत कैलासाचल चालयितुमुत्कण्ठ तेस्म, तस्य शैवधनुर्नमने भक्त्या पराङ्मुखत्वम त्याश्चर्यकरमिति । तदिय तवीया प्रतारणाऽत्र न सम्भवत्यवकाशेति भाव ॥ ५० ॥

तदेतदिति । तत् तस्मात् अवसरप्रतीक्षाया व्यर्थत्वात् ईशस्य शिवस्य प्रकोष्ठे मणिबन्धोपरितनहस्तभागे यद् भस्म विभूति तेन प्रतिरूषिता मलिनीकृता रञ्जिता ज्या मौर्वी यस्य तादृशम् एतत् चापम् धनुरारोपय नमय । शौर्योष्मभाजाम्

मिति भाव ॥ ५१ ॥

आपके जिस रावणने महादेवके निवासपर्वत कैलासको चला दिया और अपने भुजोंकी उत्सुकता निवृत्त की, वही रावण आज शिवचापारोपणमें माहेश्वर बन रहा है ॥ ५० ॥

(शौष्कलके अतिरिक्त सभी मुस्कुराते हैं)

शतानन्द—(कोप तथा अवहित्थाके साथ) रामभद्र,

महादेवके बाहुका भस्म जिसकी प्रत्यञ्चाको रूषित बना चुका है ऐसे इसको आरोपित करो, बाहुकी पराक्रमशीलताके कारण गर्व रखनेवालोंके मुखको उनके बाहुमें वर्तमान मौर्वी किणकी कालिमा प्राप्त करले ॥ ५१ ॥

---

१ 'इतरे'।　२ 'रामभद्र रामभद्र'।　३ 'ईश—भूषितज्यम्'।

शौष्कल —(सक्रोधम् ।) अरे रे शतानन्द, किमुद्भ्रान्तोऽसि। यदेवमस्मदग्रे पौलस्त्यं महाराजमधिक्षिपसि। कथमय ते [1]माणिक्यपरिहारेण गैरिकपरिग्रहः । यदेव [2]दशग्रीवमवमन्यमानस्य मनुष्यपोतेऽनुरागः । [3]यदि वा तत्रभवन्त गौतममपहाय कुलिचक्षुषि सहस्राक्षे [4]भवतो [5]मातुरहल्यायाः ।

शतानन्द —([6]सरोपहासम् ।) किमात्थ रे, किमात्थ अस्मदग्र इति।

विश्वामित्र —([7]सप्रणयरोषमिव ।) वत्स गौतम, विरम विरम शुष्ककलहात् । अतिथिरयमस्माकमुपाध्यायो [8]दशकण्ठस्य। (व्ययमानौ

उद्भ्रान्त मूढ, कर्तव्याकर्तव्यविवेकविधुर इत्यर्थः । पौलस्त्यम् रावणम्। अधिक्षिपसि निन्दसि। माणिक्यपरिहारेण रत्नं विहाय। गैरिकपरिग्रहः गैरिकधातुशिलाखण्डस्वीकारः, रावणं विहाय रामस्यादरो रत्नं विहाय गैरिकस्वीकार इव मूर्खतामापकः, अतस्तथा मा कार्षीरिति भावः । अवमन्यमानस्य तिरस्कुर्वतः, मनुष्यपोते मानवशिशौ। कुलिचक्षुषि कुले कच्छप्याश्चक्षुरिव चक्षुर्यस्य तस्मिन् पीतनयने सहस्राक्षे। यथा तव माताऽहल्या गौतमं नाम मुनिं स्वपतिमपहाय पीताभनयनतथा कुरूपे शक्रेऽनुरागस्तथैवाय तव रावणं लोकैकवीरमपहाय मानवशिशौ रामचन्द्रेऽनुरागस्तदयं तव कौलिको रोगो न शक्यते झटिति शमयितुमिति भावः ।

विरम निवर्तस्व। शुष्ककलहात् वृथाविवादात् । उपाध्यायः गुरुपुरोहितः,

शौष्कल—अरे, शतानन्द, क्या तुम पागल हो गये हो कि हमारे सामने ही तुम महाराज रावणपर आक्षेप कर रहे हो। क्यों तुम यह माणिक्य छोड़कर गैरिक स्वीकार कर रहे हो, जो कि दशग्रीवका अपमान करके मनुष्यके बच्चेसे अनुराग कर रहे हो। अथवा उचित है तुम्हारी माताने भी तो गौतमको छोड़कर कछुआकी तरह आँखोंवाले इन्द्रपर प्रेम किया था।

शतानन्द—(रोषसे हँसकर) क्या कहा ? हमारे आगे क्या कहा रे ?

विश्वामित्र—(प्रेम तथा कोपके साथ) शतानन्द छोडो इस शुष्क कलहको, यह दशकण्ठके आचार्य हमारे अतिथि हैं। (व्यथित होते हुए राम लक्ष्मणकी ओर देखकर

१ 'परिहारेण'। २ 'दशाननमवमत्य', 'दशग्रीवमप्यवमन्यमानस्य ते'।
३ 'यदिव' 'अथवा'। ४ 'तव'। ५ मातुरपि कथमहल्यायाः ।
६ 'सरोषाहंकारम्'। ७ 'सप्रणयमिव'। ८ 'दशकन्धरस्य'।

रामलक्ष्मणौ च दृष्ट्वा विहस्य ।) वत्स रामभद्र, 'धनुर्गृहोपसर्पणमभ्यनुजानाति ते जनकान्वयपुरोधा' ।

राम — यदादिशन्ति गुरवः । (इति सविनयलज्जाकौतुकं परिक्रम्य लक्ष्मणेन सह निष्क्रान्तः ।)

शौष्कल — राजर्षे सीरध्वज, धन्योऽसि । पुरा किल परमेश्वरपरिचर्याप्रदाने निकृत्तेषु नवमूर्धसु

वरं तादृक्कर्माद्भुतसदृशमप्रेक्ष्य किमपि
प्ररोहद्वैलक्ष्यं पुरविजयिनो येन ददृशे ।
तदुन्मार्ष्टुं येन त्रिभुवनमपि प्रार्थितमिदं
तदेव त्वय्यर्थीभवति दशमं रावणमुखम् ॥ ५२ ॥

धनुर्गृहोपसर्पणम् धनुर्गृहगमनम् । अभ्यनुजानाति आदिशति । जनकान्वयपुरोधा विदेहवंशपुरोहितः शतानन्दः ॥

वरमिति । येन तादृक्कर्माद्भुतसदृशम् तादृशाद्भुतकार्यानुरूपम् नवशिरःकर्त्तनरूपातिभयानककार्यानुरूपम् किमपि वरम् देयं वस्तु अप्रेक्ष्य अदृष्ट्वा पुरविजयिनः त्रिपुरारेः शिवस्य प्ररोहद्वैलक्ष्यं जायमाना त्रपा ददृशे तत् पुरविजयिनः वैलक्ष्यं प्रमार्ष्टुं च इदं त्रिभुवनम् लोकत्रयं (भुवनत्रितयस्वामित्वं) प्रार्थितम्, तदेव दशमं रावणमुखं त्वयि जनके अर्थीभवति याचकत्वं लभते । रावणे दशसु शिरस्सु नवशिरांसि छित्त्वा प्रसादितवति वरप्रदानायागते शिवे च तादृशाद्भुतकार्यानुकूलवरालाभेनोद्भूतत्रपे सञ्जाते सति शिवस्य तादृशीमवस्थामालोक्य दशमं नवशिष्टं रावणस्य शिरो भुवनत्रयाधिपत्यरूपं लघुमपि वरं याचमानं शिवस्य त्रपा

हँसते हुए) वत्स रामभद्र, तुमको धनुगृहमें जानेकी आज्ञा जनकवंशके पुरोहित दे रहे हैं ।

राम—गुरुजनोंकी जैसी आज्ञा । (विनय, लज्जा, कौतुकसे लक्ष्मणके साथ जाते हैं)

शौष्कल—राजर्षे सीरध्वज, तुम धन्य हो, पूर्वकालमें शिवकी आराधनाके अवसरपर, नव मस्तकोंके काट दिये जानेके बाद,

उस अद्भुत कार्यके योग्य वरको नहीं देखकर रावणका दशममुख लज्जाका अनुभव करने लगा, महादेवने उसकी यह दशा देख ली तब उस मुखने लज्जा गोपनके लिए इस त्रिभुवनको ही माँग लिया, आज रावणका वही मुख तुम्हारे सामने याचक बन रहा है ॥ ५२ ॥

---

१ 'धनुर्गेहोप-' ।

शतानन्द —(उत्थाय । [1]नेपथ्यावलोकितकेन सहर्षाद्भुतम् ।) [2]पश्यन्तु भवन्त ।

यस्मिन्नेकधनुष्मतो भगवत खट्वाङ्गपाणेरसा
वाकृष्टो गुणता गतोऽप्यहिपति कर्णावतंसायते ।
[3]उन्मुक्त पुनरेष भूषणपद याति प्रकोष्ठान्तरे

(जनक औत्सुक्य नाटयति ।)

शतानन्द —
काकुत्स्थेन तदेष भार्गवगुरो कोदण्डमाकृष्यते ॥ ५३ ॥

(नेपथ्ये ।)

मपाकरोत्, तदेव रावणस्य सुखमद्य त्वामर्थयत इति मा अन्यथा चिन्ति, पाल नीय एव च तदनुरोध इति भाव । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ५२ ॥

यस्मिन्निति । एकधनुष्मत अद्वितीयधनुर्धरस्य भगवत सर्वसामर्थ्यशालिन खट्वाङ्गपाणे शिवस्य यस्मिन् धनुषि असौ आकृष्ट गुणता प्रत्यञ्चारूपत्व गतोऽपि अहिपति अनन्तनाग कर्णावतसायते कर्णाभरणरूपता प्रपद्यते, उन्मुक्त त्यक्तश्च सन् पुन एव प्रकोष्ठान्तरे मणिबन्धोपरितनभागे भूषणपद कङ्कणरूपत्व याति, तदेव भार्गवगुरो परशुरामाचार्यस्य शिवस्य कोदण्डम् धनु काकुत्स्थकुलोत्पन्नेन रामेण आकृष्यते नम्यते । महादेवस्य तद्धनु रामेणाकृष्यते यत्र नाग प्रत्यञ्चा-भावेनावस्थित, स ह्याकर्षणकाले कर्णपर्यन्ताकृष्टतया कर्णभूषणभाव, विकर्षणकाले च प्रकोष्ठसंसक्ततया हस्ताभरणभाव भजत इत्याशय । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥५३॥

शतानन्द—(उठकर नेपथ्यकी ओर देखकर) (सहर्ष) आप लोग देखें-

जिस धनुषपर अद्वितीय धनुर्धर भगवान् शङ्करने जब प्रत्यञ्चा चढ़ाकर आकृष्ट किया तब नागराज उनके कर्णावतंस बन गये, फिर प्रत्यञ्चा छोड़ देनेपर वही नागराज कर्णभूषण बन गये थे,

(जनक उत्कण्ठा प्रकट करते हैं)

शतानन्द—ककुत्स्थकुलभूषण राम वही धनुष आकृष्ट कर रहे हैं ॥ ५३ ॥

---

१ 'नेपथ्याभिमुखमवलोक्यन्'। २ 'पश्यन्तु पश्यन्तु'।
३ 'उन्मुक्तश्च पुरेव'।

लक्ष्मणः —

रुन्धन्नष्ट विधेः श्रुतीर्मुखरयन्नष्टौ दिशः क्रोडय-
न्मूर्तीरष्ट महेश्वरस्य दलयन्नष्टौ कुलक्ष्माभृतः ।
तद्यक्ष्णां बधिराणि पन्नगकुलान्यष्टौ च संपादय-
न्नुन्मीलत्ययमार्यदोर्बलदलत्कोदण्डकोलाहलः ॥ ५४ ॥

जनकः—([1]महर्षविषादाद्भुतम् ।) कथं भग्नमपि ।

शतानन्दः —

वैदेहीकरबन्धमङ्गलयजुः सूक्तं द्विजानां मुखे
नारीणां च [3]कपोलकन्दलतले श्रेयानुलूलुध्वनिः ।

रुन्धन्निति । अयम् सर्वश्राव्यतया प्रत्यक्षरूपः आर्यस्य रामस्य दोर्बलेन बाहुवीर्येण दलतः भज्यमानस्य कोदण्डस्य हरचापस्य कोलाहलः भयङ्करः शब्दः विधेश्चतुर्मुखस्य ब्रह्मणः अष्टश्रुतीः कर्णविवराणि रुन्धन् बधिरतां नयन् अष्टौ दिशः प्राच्याद्यष्टदिग्विभागान् मुखरयन् शब्दैः पूरयन्, महेश्वरस्य अष्टमूर्तीः पृथिव्यादिस्वरूपाणि क्रोडयन् क्रोडीकुर्वन् व्याप्नुवन् अष्टौ कुलक्ष्माभृतः दलयन् विदारयन्, तानि प्रसिद्धानि अष्टौ पन्नगकुलानि सर्पकाणानि अपगतानि बधिराणि शब्दग्रहणासमर्थानि सम्पादयन् उन्मीलति सर्वतः प्रसरति । रामेण हरचापे भज्यमाने विधेरपि श्रुतयः शब्दपूर्णतया रुद्धाः, दिशोऽपि सर्वास्तच्छब्दव्याप्ताः, शिवस्य वारिवह्निधराऽऽकाशवायुरविचन्द्रयजमानरूपा अष्टावपि मूर्तयोऽपि तदीयध्वनिना क्रोडीकृताः, सर्पाणां चक्षुःश्रवस्तया चक्षुष्येव शब्दग्रहणासामर्थ्यमापन्नं, सर्वत्र प्रसृतस्तत्कोलाहल इति भावः ॥ ५४ ॥

वैदेहीति । द्विजानां ब्राह्मणानां मुखे वैदेह्याः सीतायाः करबन्धाय पाणिग्रहाय यत् मङ्गलं शुभाशासनम् तदर्थं यजुः सूक्तम् यजुर्वेदीयमन्त्रविशेषः, नारीणां स्त्रीणां

लक्ष्मण—ब्रह्माके आठ कानोंको भरता हुआ, दिशाओंको व्याप्त करता हुआ, महादेवकी पृथिव्यादि आठ मूर्त्तियोंको एवं कुलपर्वतोंको दलित करताहुआ आठ नागोंको बधिर बनाता हुआ यह रामके द्वारा खण्डित धनुषका शब्द प्रकट हो रहा है ॥ ५४ ॥

जनक—(हर्ष विषाद तथा आश्चर्यके साथ) क्या तोड भी दिया ?

शतानन्द—ब्राह्मणोंके मुखोंमें सीता विवाह मङ्गलसूक्तके रूपमें, नारियोंके कपोल

१ 'लस्त्'।　　२ 'सहर्षाद्भुतम्'।　　३ 'कन्दर-'।

पेष्टु च द्विषतामुपश्रुतिशतं मघ्येनभो जृम्भते
रामक्षुण्णमहोक्षलाञ्छनधनुर्दम्भोलिजन्मा रवः ॥ ५५ ॥

शौष्कलः—([1]सविषादाद्भुतमात्मगतम् ।) अहो दुरात्मनः क्षत्रियस्फुलिङ्गस्य सर्वकर्मीणमूष्मायितम् ।

जनकः—(सहर्षं पादयोर्निपत्य ।) [2]भगवन्कुशिकनन्दन,

इयमात्मगुणेनैव क्रीता रामेण मैथिली ।
स्वगृहव्यवहारस्तु लक्ष्मणायोर्मिलाऽस्तु नः ॥ ५६ ॥

कपोलफलकतले गण्डस्थलप्रदेशे श्रेयान् माङ्गलिकः उलुलुध्वनिः शब्दभेदः, द्विषतां शत्रूणां च उपश्रुतिशतम् श्रवणेन्द्रियशतसमीपेषु पेष्टुम् तान् द्विषतो दलयितुं रामेण क्षुण्णस्य रामेण कृष्टस्य महोक्षलाञ्छनस्य वृषकेतनस्य शिवस्य धनुर्दम्भोलेः चापरूपवज्रस्य रवः शब्दः जृम्भते प्रसरति, रामेण हरचापे दलिते सति तदुत्थितो रवः सर्वत्र प्रसरति, स हि ब्राह्मणमुखेषु सीताविवाहमङ्गलमन्त्रात्मना परिणमते, वनितानां कपोलतलेषु च माङ्गलिकोलुलुशब्दात्मना, शत्रूणां श्रवणेषु च दारकशब्दतयेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

दुरात्मनः दुष्टस्य । क्षत्रियस्फुलिङ्गस्य क्षत्रियरूपाग्निकणस्य । सर्वकर्मीणम् सर्वकार्यसमर्थम् । ऊष्मायितम् तेजस्वित्वम् ।

इयमिति । रामेण इयम् मैथिली आत्मगुणेन स्वपराक्रमेण एव (हरचापारोपणद्वारा) क्रीता अर्जिता । नः अस्माकम् स्वगृहव्यवहारः गृहस्थव्यवहारः कन्यादानरूपस्तु लक्ष्मणाय ऊर्मिला नाम कन्यान्तरमस्तु । रामेण सीताया लब्धायामपि मम कन्यादानपुण्यं नोत्पद्यते, तस्यास्तत्पराक्रमलब्धतया मम कर्तव्यता।

तलमें 'उलुलु' शब्दके रूपमें रामके द्वारा तोडे गये शिवके धनुषसे उत्पन्न शब्द शत्रुओंके कानको फाड डालनेके लिए आकाशमें फैल रहा है ॥ ५५ ॥

शौष्कल—(विषादके साथ स्वगत) अहो, इस दुष्ट क्षत्रियकुमारका पराक्रम सर्वतोमुख है ।

जनक—(सहर्ष चरणोंपर पडकर) भगवन् कौशिक,

रामने सीताको अपने गुणसे ही खरीद लिया है, अपने गृहका व्यवहार मैं ऊर्मिला देकर लक्ष्मणके साथ करना चाहता हूँ ॥ ५६ ॥

---

१ 'सविषादमात्मगतम्' । २ 'कौशिकवंशवर्धन' ।

विश्वामित्र—(सस्मितम् ।) सखे सीरध्वज, यदभिरुचितं भवते ।

शतानन्द—([1]जनककर्णे एवमेव कथयित्वा ।) भगवन्विश्वामित्र, ममापि चन्द्रशेखरशरासनारोपणप्रथमप्रियवादिनं पारितोषिकं धारयसि ।

विश्वामित्र—(विहस्य ।) वत्स, दीयते । किमभिप्रैषि ।

शतानन्द—कुशध्वजदुहितृभ्यां माण्डवीश्रुतकीर्तिभ्यां भरतशत्रुघ्नावभ्यर्थये ।

विश्वामित्र—एवमस्तु । (शतानन्दं हस्ते गृहीत्वा सस्मितम् ।) वत्स, सर्वमस्माभिर्विधातव्यम् । आगमयस्व तावद्दशरथम् ।

राहित्यात्, गृहस्थैश्च कन्यादानपुण्यमर्जनीयमतः कृपया मा, रुक्मगार्योर्मिला नाम स्वकन्या दातुमनुमन्यन्तां भवन्त इति भावः ॥ ५६ ॥

चन्द्रशेखरस्य शिवस्य यत् शरासनम् तस्य आरोपणम् रामेण सज्यीकरणम्, तदेव प्रथमं प्रियम् नवश्रुतिकतया कर्णरसायनीभूतं तस्य वादिनं कथयितुः रामेण हरचापमारोपितमिति कर्णरसायनं सर्वप्रथमं सूचयत इत्यर्थः । पारितोषिकं धारयसि पुरस्कारं दातुं धारयसे इत्याशयः ॥

कुशध्वजदुहितृभ्याम् कुशध्वजो नाम सीरध्वजानुजस्तत्कन्याभ्याम् । अभ्यर्थये याचे भरताय माण्डवीं श्रुतकीर्तिं च शत्रुघ्नाय दातुं भवन्तोऽस्माननुजानन्त्विति भावः । आगमयस्व आनेतुं यतस्व ।

विश्वामित्र—(मुस्कुराकर) सखे सीरध्वज, जैसी तुम्हारी इच्छा ।

शतानन्द—(जनकके कानमें कुछ कहकर) भगवन् विश्वामित्र, मैंने हर महादेवके धनुषके आरोपणका समाचार पहले सुनाया है, अतः मेरे लिए आप पारितोषिकके ऋणी हैं ।

विश्वामित्र—(हँसकर) वत्स, देता हूँ, क्या चाहते हो ?

शतानन्द—कुशध्वजकी कन्याओं माण्डवी तथा श्रुतकीर्तिके लिए भरत तथा शत्रुघ्नकी प्रार्थना करता हूँ ।

विश्वामित्र—ऐसा ही हो । (शतानन्दका हाथ पकड़कर हँसते हुए) वत्स, सब हमको करना है, ठहरो तो तब तक ।

---

1 'जनकस्य कर्णे एवमेवमिति' ।

जनक:—तर्हि प्रहीयतामेष एव भगवानाङ्गिरसः प्रियसुहृदमुत्तरकोसलेश्वरमानेतुम्।

विश्वामित्र:—एवमस्तु।

शतानन्द:—(उत्थाय।) भगवन्, किमन्यदधिकमस्ति वाचिकम्।

विश्वामित्र:—वत्स, निसृष्टार्थोऽसि। गम्यताम्।

(इति शतानन्दो निष्क्रान्तः।)

विश्वामित्र:—(हर्षं नाटयन्नात्मगतम्।)

दोर्लीलादलितेन्दुशेखरधनुर्विख्यातविक्रान्तिना
काकुत्स्थेन कृतो विदेहनृपतिः पूर्णप्रतिज्ञाभरः।

प्रहीयताम् प्रेष्यताम् प्रियसुहृदम् प्रियमित्रम् उत्तरकोसलेश्वरम् दशरथम् आनेतुम् मिथिलामानेतुम्॥

वाचिकम् सन्देशवाक्। इह दशरथानयनापेक्षयाऽधिकमपि किञ्चिद्वक्तव्यमस्तीति तत्प्रश्नाशयः।

निसृष्टार्थः दूतप्रकारविशेषो यः स्वयमप्यूहापोहाभ्यामर्थमनुसन्धत्ते, तादृशोऽसि, अतो यद् वाचिकमाख्यातव्यं तत्त्वया स्वयं विचारणीयमिति भावः, निसृष्टार्थदूतलक्षणमुक्तं यथा साहित्यदर्पणे-'उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम्। सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः॥'

दोर्लीलेति। दोर्लीलया भुजविलासेन दलितम् आकृष्टम् यद् इन्दुशेखरस्य शिवस्य धनुः तेन विख्याता प्रसिद्धा विक्रान्तिः पराक्रमो यस्य तादृशेन काकुत्स्थेन रामचन्द्रेण विदेहनृपतिः जनकः पूर्णप्रतिज्ञाभरः पूरितपणः कृतः विहितः, स्वबाहुलीलयैव शाम्भवं चापमारोप्य रामो विदेहस्य प्रतिज्ञामपूरयदिति प्रथमपाद

जनक—तो भगवान् आङ्गिरसको प्रियमित्र दशरथको लानेके लिए भेज दें।

विश्वामित्र—एवमस्तु।

शतानन्द—(उठकर) भगवन्, कुछ और भी सन्देश है?

विश्वामित्र—वत्स सब तुम्हें ज्ञात है, जाओ।

(शतानन्द जाते हैं)

विश्वामित्र—(हर्ष प्रकट करते हुए स्वगत)

भुजपराक्रमसे शिवके धनुषको दलित करके कीर्तिविस्तार करनेवाले रामने विदेह

पश्यामश्च सुहृद्गृहान्नवनवोन्मीलद्विवाहोत्सवा-
नैक्ष्वाकेषु च मैथिलेषु च फलन्त्यस्माकमद्याशिष ॥५७॥

शौष्कल —(वैलक्ष्यरोषाभ्यां स्मयमान ।) भो सीरध्वज, पुरुषप्रकर्षाधाने हि [1]विद्यावृद्धसंयोगाद् बहिरङ्गाणि वयांसि । यदनया प्रहीणलब्धकन्यया [2]यौनसम्बन्धोपस्थित पुलस्त्यकुलमुपेक्षमाणो वर्षीयानपि [3]कोमलप्रज्ञोऽसि । (मुनिं प्रति ।) [4]कौशिक, नाद्यापि किंचिदतिक्रामति ।

प्रकाशार्थ । सुहृद्गृहान् सुहृदो मित्रस्य जनकस्य भवनानि च भवनवोन्मीलद्विवाहोत्सवान् सद्योजायमानपरिणयमङ्गलान् पश्याम, तदित्थम्—अद्य सम्प्रति ऐक्ष्वाकेषु दशरथादिषु वैदेहेषु च राजसु अस्माकम् आशिष शुभाशंसा फलन्ति सफलीभवन्ति दशरथस्य पुत्रवत्ता, तत्पुत्रस्य च प्रख्यातविक्रमता, जनकस्य गृहे प्रतिज्ञापूर्तिजन्य यशो विवाहमङ्गल चेति सर्वमप्यभीष्ट न फलित मिति भाव ॥ ५७ ॥

पुरुषप्रकर्षाधाने पुरुषोत्कर्षज्ञाने, विद्यावृद्धसंयोगात् विद्यावृद्धपुरुषसंयोगमपेक्ष्य, बहिरङ्गाणि दुर्बलानि वयोऽपेक्षया विद्यावृद्धत्वमेव प्रबलम्, केवलवृद्धजनापेक्षया विद्यावृद्धोऽल्पवयसा अपि पुरुषप्रकर्ष ज्ञातुमधिक शक्नोति इत्यर्थ । त्व केवल वृद्धोऽसि, तव विद्या नास्ति, अतएव त्व रावणस्य प्रकर्ष नावगच्छसि, अतएव प्रार्थ्यमानोऽपि तस्मै स्वा कन्या नार्पयसीति भाव । प्रहीणलब्धकन्या हत्पश्चात् प्राप्तया कन्यया । यौनसम्बन्धोपस्थितम विवाहोद्यतम् । उपेक्षमाण अवमन्यमान, वर्षीयान् वृद्धोऽपि, कोमलप्रज्ञ अप्रौढमति, अनया हि अयोनिजयाऽतण्डालनममत।

नृपतिकी प्रतिज्ञा पूरा कर दी मित्र जनकके गृहोंमें नवीन नवीन विवाहोत्सव हो रहे हैं, इस तरह इक्ष्वाकुवंश तथा मैथिलवंशमें हमारे आशीर्वाद आज फलित हो रहे हैं ॥ ५७ ॥

शौष्कल—(लज्जा तथा रोषसे) अजी सीरध्वज पुरुषकी श्रेष्ठतामें विद्याकी अपेक्षया वयको बहिरङ्ग माना जाता है, मैं समझता हूँ यौन-सम्बन्धके लिए उपस्थित पुलस्त्यको छोडकर वृद्ध होनेपर भी तुम कोमलमति ही रहे । (मुनिसे) कौशिक, अभी भी कुछ बिगडा नहीं है, आपके लिए भी नाटकावस्थप अपने अपराधको धो देनेका यही अवसर है ।

---

१ 'वृद्धत्व-' ।   २ 'यौवन-' ।
३ 'प्रतिज्ञोऽसि' ।   ४ 'राजर्षे कौशिक', 'ऋषे कौशिक' ।

तथापि लङ्कापतौ [1]ताडकावधापराधमपमार्ष्टुमयमेवावसर। ([2]कौशिकस्त्रपां नाटयति।)

जनक—भगवन्, एहि। [3]स्वयमुपेत्य [3]रामचन्द्रवदनचन्द्रचन्द्रिकाप्रवाहेण [4]निर्वापयामि नानादलीकधनुर्धर[5]सहस्रप्रार्थ्यमानमैथिलीकदर्थितमात्मानम्। नहि मिहिरमरीचिनिचयपचेलिमस्य [6]तुहिनकरबिम्बसंवादादपरोऽपि[7] कश्चिदगदङ्कार [8]कैरवाकरस्य।

(इत्युत्थाय परिक्रामत।)

स्थानभूतया कन्यया सम्बन्धोद्यतस्य रावणस्य परित्यागस्तव वार्द्धकेऽपि बाल्यं प्रमापयतीति तात्पर्यम्॥ अतिक्रामति अतिवर्तते, नाधुनापि किमपि हीनं, सीतापरिणयस्यापातत्वेन किमपि नातिक्रान्तमिति यावत्। ताडकावधापराधम् ताडकावधस्वरूपं स्वकृतं दोषम्। प्रमार्ष्टुम् क्षालयितुम्। त्वयापि सीताया रावणाय दास्यमानाया तेन प्रसन्नो रावणस्तुभ्यं कोपं न करिष्यति, त्वया कृतमपराधं विस्मरिष्यतीत्यर्थः।

रामचन्द्रवदनचन्द्रचन्द्रिकाप्रवाहेण राममुखशशिज्योत्स्नाधारया निर्वापयामि शीतलीकरोमि। अलीका मिथ्याभूता ये धनुर्धरा वीरा तेषां सहस्रेण बहुभिर्मिथ्यावीरैः प्रार्थ्यमाना या मैथिली सीता तत कदर्थितम् खिन्नम्। बहवो हि मिथ्यावीरत्वाभिमानवन्तो मैथिलीं प्रार्थयमाना मां बहुक्लेशितवन्तस्तदधुना हरचापारोपणपूरितप्रतिज्ञं राममालोक्यात्मनो हृदयं शीतलयामीति भाव। मिहिरस्य सूर्यस्य ये मरीचिनिचया किरणसमुदया, तै पचेलिमस्य सन्तप्तस्य कैरवाकरस्य कुमुदसमूहस्य तुहिनकरबिम्बसंवादात् चन्द्रकरसम्पर्कात्। अपर

(कौशिक इसपर अवज्ञा प्रकट करते हैं)

जनक—भगवन्, आइये, खुद चलकर रामचन्द्रके वदन चन्द्रकी चन्द्रिकासे मिथ्या धनुर्धरों द्वारा की गई सीताकी प्रार्थनासे खिन्न अपने हृदयको शीतल करूँ। कैरवाकरके लिए सूर्यकिरण-सम्पर्कसे परिपक्व चन्द्र-करके अतिरिक्त दूसरा वैद्य नहीं होता है।

(उठकर जाते हैं)

---

१ 'वधमपि मार्ष्टुम्'। २ 'जनक—(तत्रावज्ञां नाटयन्।) भगवन्, एहि'।
३ 'रामभद्रमुखचन्द्रचन्द्रिकाप्रवाहे' 'रामभद्र—प्रवाहे'। ४ 'निर्वापयाम'।
५ 'सहस्रार्थ्य—'। ६ 'परिचय—'।
७ 'हिमकर—'। ८ 'कैरवकेदारस्य'।

शौष्कल — (सखेदमाकाशे ।) हा तपस्विनि भीते, हतासि । पौलस्त्यप्रार्थितापि विचार्यसे ।

त्रिभुवनविजयश्रियं सपत्नीं जनयतु को भवतीमनात्मतन्त्राम् ।
स्वजनमपि न ते निरूपयामः किमपि विपाट्य भुवं विनिर्गतासि ॥५८॥

(सरोषं जनकं प्रति ।) सीरध्वज,

पौराणीभिरनेकविक्रमकथागाथाभिरध्यापिता
स्ते वीरस्य जयन्ति राक्षसपतेर्दोः स्तम्भदम्भोलयः ।

अन्य । अगदङ्कारः चिकित्सकः, क्लेशापहर्ता । यथा कैरवकुलस्य सूर्यकरनिलष्टस्य केवलं चन्द्रकरसम्पर्क एव क्लेशापहो नान्यस्तथैव रावणकृतसीताप्रार्थना कदर्थ्यमानस्य मम रामभद्रमुखावलोक एव तापशमनोपाय इति भावः ॥

तपस्विनि वराकिणि, निरपराधे । विचार्यसे दानविधौ इतस्ततश्चिन्त्यसे ।

त्रिभुवनविजयश्रियमिति । कः अनात्मतन्त्राम् पराधीनाम् भवतीम् त्रिभुवनविजयश्रियं भुवनत्रयविजयलक्ष्म्याः सपत्नीं करोतु ? लोकत्रयविजयिना रावणेन विवाह्य त्रिभुवनजयलक्ष्मीसपत्नीं कस्त्वां करोतु यतस्त्वं परतन्त्रासि, आत्मना तथा कर्तुमक्षमा भवसि, न वाऽस्ति कश्चन ते स्वजनो यस्तव हितमनुध्यायेत्तदाह-भुवं विपाट्य पृथिवीं भित्त्वा विनिर्गता आविर्भूताऽसि, अतश्च तव कमपि स्वजनम् आत्मीय जनमपि पित्रादिकं न निरूपयामः पश्यामः । य आत्मना किमपि स्वहितं कर्तुमक्षमस्तस्य स्वजने हितसाधनमायत्तं, तस्यापि चाभावेऽवश्यम्भाविन्य निष्टसङ्क्रान्तिरिति शोच्यता तवेति भावः ॥५८॥

पौराणीभिरिति । पौराणीभिः पुरातनीभिः अनेकाभिः विपुलाभिः विक्रमकथागाथाभिः पराक्रमस्तुतिभिः अध्यापिताः व्याख्याताः राक्षसपतेः रावणस्य ते दोःस्तम्भदम्भोलयः वज्रसमानाः बाहुस्तम्भाः जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, ऐरावण

शौष्कल — (सखेद आकाशकी ओर) मारे, हा, तुम्हारा भाग्य खराब है जिसमें रावण प्रार्थना होनेपर विचारका विषय बना हो ।

कौन आदमी तुमको त्रिभुवन विजयश्रीकी सपत्नी बनावे ? तुम्हारा कोई आत्मीय जन भी नहीं दीख पड़ता है क्योंकि तुम पृथ्वी फाड़कर बाहर निकली हो ॥५८॥

(सरोष जनकके प्रति) सीरध्वज,

रावणके बाहुरूप वज्र जिनकी प्रशंसा पुरानी अनेक कथाओं द्वारा की जाती है,

यानुत्प्रेक्ष्य विशोषयन्मदमयं मैरेयमैरावणो
भूपालस्रग्भिरभूदमात्यमधुपश्रेणीषु साधारणः ॥ ५९ ॥

तेषु [1]च सत्सु—

वृथा मज्जनसंबन्धसत्कारेणासि वञ्चितः ।
पौलस्त्य[2]हस्तवर्तिन्या सीतया तु भविष्यते ॥ ६० ॥

(साक्षेपं च[3] नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।)

इन्द्रहस्ती यान् दोःस्तम्भस्तम्भोलीन् उत्प्रेक्ष्य दृष्ट्वा मदमयं गर्वस्वरूपं मैरेयम् मद्यवारि विशोषयन् अपनयन् भूपालस्रग्भिः अलङ्कारमाल्यैः अमात्यमधुपश्रेणीषु सहचरभ्रमरसमुदयेषु साधारणः अन्यगजसदृशः अभूत् । सुरागर्वास्ताकथा-विस्पष्टबाहुस्तम्भशाली रावणो जयति यस्य बाहुस्तम्भान् दृष्ट्वा ऐरावतस्य दानवारि शुष्यति, शुष्के च दानवारिणि साधारणगजापेक्षया कोऽपि विशेषस्तत्र सहचरभ्रमरैर्नोपलभ्यते स्म, सति दानवारिणि प्रवहमाने भूपालस्रजि दानवारिणि चोभयत्रालीना विनोदार्थैरावतोऽशोभत, परे च गजाः केवलं भूपालस्रजि, सम्प्रति रावणभयात् शुष्के दानवारिणि ऐरावतोऽपि साधारणहस्तीव भूपालस्रङ्मात्रे भ्रमर-सन्तोषप्रदो जात इति तात्पर्यम् ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५९ ॥

तेषु च सत्सु रावणो यान्तिनरि मतीचर्य ।

वृथामज्जनेति । वृथा व्यर्थमेव मज्जनसम्बन्धो रावणरूपोत्तमपात्रेण सह, यौनसम्बन्धस्ततो यः सत्कारः गौरवम् तेन वञ्चितः रहितः असि व्यर्थमेव सर्वेषु मज्जनरज्जुभिरित्यर्थः, सम्बन्धेन व्यापारेण ज्ञायते सीतादौवारिक सुवर्णपट्ट-मित्येव परममभिप्रेतं, तदिदमाह, तत्राह—पौलस्त्येति । सीतया तु पौलस्त्यहस्त-गामिन्या भवितव्यमेवेति । उभयथापि सीताया रावणहस्तगामित्वे व्यर्थं पुत्र तव मज्जनसम्बन्धयोगजन्यायशोलाभ इति भावः ॥ ६० ॥

सर्वोत्कृष्ट है, जिनको सम्भावनामें ही एरावतका दान-वारि सूख जाता ॥ और भ्रमरके लिये वह भूषालस्रङ्मात्र धारणकर्ता साधारण हस्ती रह जाता है ॥ ५९ ॥

उनके रहते हो व्यर्थ ही तुम सज्जन-सम्बन्धस्य-गौरवसे वञ्चित हो रहे हो। आखिर सीताको रावणके हाथमें आना होगा ही ॥ ६० ॥

(आक्षेपके साथ नेपथ्यकी ओर देखकर)

---

१ 'च' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । २ 'वशवर्तिन्या' ।
३ 'च' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

समन्तादुत्ताले सुरसहचरीचामरमरु-
च्चरङ्गैरुत्कीलद्भुजपरिघसौरभ्यशुचिना ।
स्वयं पौलस्त्येन त्रिभुवनभुजा चेतसि कृता-
मरे राम त्वं मा जनकपतिपुत्रीमुपयथा ॥ ६१ ॥

([1]सविमर्शमात्मगतम् ।) अहो गम्भीरमिदं[2]मुपस्थितं वस्तु । तन्मन्त्रिणं माल्यवन्तमेव पुरस्कृत्य लङ्केश्वरस्य निवेदयामि ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति पिनाकभङ्गो नाम तृतीयोऽङ्कः ।

समन्तादिति । अरे राम, समन्तात् सर्वासु दिक्षु उत्ताले प्रवहद्भिः महद्भिः सुरसहचरीणां देवाङ्गनानां चामरमरुताम् व्यजनपवनानाम् तरङ्गैः प्रवाहैः ऊर्मीभिः प्रसरत् यत् भुजपरिघानाम् बाहुरूपार्गलानाम् सौरभ्यम् सुगन्धः तेन शुचिना सपरिमलेन त्रिभुवनजिता लोकत्रितयविजयिना पौलस्त्येन स्वयं चेतसि कृताम् मनसि धृतां जनकनृपपुत्रीं सीतां त्वं मा उपयथाः परिणैषीः । अरे राम, या सीता रावणः परिणेतुमिच्छति, यो हि रावणो बन्दीकृतदेवाङ्गनाचालितचामरवायुविकीर्णसौरभसुरभिर्लोकत्रयविजयी च, तां त्वं मा उपयथाः, तया सह विवाहो न शुभोदर्को भवेतेति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ६१ ॥

गम्भीरम्—अतिमहत्, हरचापभङ्गरूपं, सीताविवाहरूपं वा ।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रकृतायामनर्घराघवस्य 'प्रकाश'व्याख्यायां तृतीयाङ्कः प्रकाशः ।

चारों ओर जोरोंसे बहनेवाली देवाङ्गनाओंके चमरवायु जिसके भुजदण्डोंकी सुगन्धिको विस्तारित किया करता है, ऐसे रावणने जिस सीताको अपने हृदयमें बिठा लिया है अरे राम, तुम उस सीताके साथ ब्याह मत करना ॥ ६१ ॥

(विचारकर स्वगत) यह गम्भीरवस्तु उपस्थित हो गया है इसलिये मन्त्री माल्यवान्‌को साथ लेकरके रावणसे निवेदन कर दूँ ॥

(सबका प्रस्थान)

तृतीय अङ्क समाप्त ॥

---

१ 'सविस्मयमात्मगतम्'। २ 'इदम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

अथ चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति माल्यवान् ।)

माल्यवान्—([1]जृम्भमाणश्चक्षुषी परिमृज्य ।) अये, [2]विभातैव विभावरी । तथाहि ।

स्तोकोन्निद्रनिदाघदीधितिमहःस्तन्द्रालुचन्द्रातपा
[3]स्तायन्ते ककुभो रथाङ्गगृहिणीगार्हस्थ्यगर्हाभिदः ।
अद्यापि स्वकुलायशाखिशिरसि[4] स्थित्वा रुवन्तो मुहु-
स्तूष्णीं प्रत्यभिजानते बलिभुजो भीताः स्वयूथ्यस्वरान् ॥१॥

विभाता प्रातःकालिकप्रकाशभासा समासेत्यर्थः । विभावरी रात्रिः ।

स्तोकोन्निद्रेति । स्तोकोन्निद्रम् ईषद्विकस्वरं यत् निदाघदीधितिमहः सूर्यतेजः तेन तन्द्रालव इव निष्प्रभत्वं गताः चन्द्रातपाः चन्द्रकिरणाः यासु तथोक्ताः, रथाङ्ग-गृहिणीनां चक्रवाकवधूनां गार्हस्थ्ये गृहस्थधर्मे संसारे या गर्हा रात्रिविरहजनिता दुरवस्था तन्निव तदपनोदिकाः ककुभो दिशः स्तायन्ते विस्तृता भवन्ति । किञ्चिद्-विकासिसूर्यप्रभानिष्प्रभीभूतचन्द्रकराः सति सूर्यप्रकाशे चक्रवाकीविरहव्यथा-पनोदिकाश्च दिशः क्रमशः प्रकाशमासादयन्ति । अद्यापि सम्प्रत्यपि बलिभुजः काकाः स्वकुलायशाखिशिरसि निजावासनीडाश्रयतरुशिखरदेशे स्थित्वा मुहुः पुनः पुनः रुवन्तः शब्दायमानाः पुनश्च भीताः अतश्च तूष्णीम् मूकीभूय स्वयूथ्य स्वरान् स्ववर्गीयशब्दान् प्रत्यभिजानते परिचिन्वन्ति । 'रथाङ्गगृहिणीगार्हस्थ्यगर्हाभिदः' इत्यस्यायमाशयः—रात्रावेकत्रस्थितयोरपि चक्रवाकमिथुनयोः सङ्गमा-

---

(माल्यवान्‌का प्रवेश)

माल्यवान्—(जभाई लेता हुआ आँखें मलकर) अरे, रात समाप्त हो गई, क्योंकि—थोड़ा थोड़ा प्रकट होनेवाले सूर्यके तेजसे दिशाओंमें चन्द्रमाकी किरणें अस्तोन्मुख हो रही हैं, और चक्रवाकियोंके हृदयसे गृहस्थधर्मके प्रति उत्पन्न निन्दा समाप्त होती जा रही है, अभी भी अपने नीडद्रुमके शिखरपर बैठकर काकगण शब्द करते हुए अपने साथियोंके स्वरोंको डर-डरकर पहचान रहे हैं ॥१॥

---

१ 'विजृम्भ—प्रमृज्य' । २ 'विभातप्रायैव विभावरीयम्' ।
३ 'स्त्याय न्ते' । ४ 'शिखरे' ।

अपि च—

प्राचीं वासकसज्जिकामुपगते भानौ दिशा वल्लभे
पश्यैता रुचय पतङ्गदृषदामाग्नेयनाडिन्धमा ।
लोकस्य क्षणदानिरङ्कुशरसौ सम्भोगनिद्रागमौ
[1]कोकस्तोमकुमुद्वतीविपिनयोर्निक्षेपमातन्वते ॥ २ ॥

(सर्वतो [2]निरूप्य ।) हन्त [3]समन्तादामोदमानपौरसम्भोगमयी सलिलमय दशग्रीव[4]भुजार्गलापरिपालिता राजधानी ।

भावाद् व्यर्थोऽयं संसार , कृत गार्हस्थ्यनेत्यादिरूपा या मतिस्तां संव गृहा, ता च विशो दूरीकुर्वन्ति, उदिते सूर्ये तयोरेवान्योन्यमगतयो सतोस्तत्रैव समागे साफल्यबुद्धिजननादिति । 'दिशस्तु ककुभ काष्ठा', 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्', 'काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजा' इति सर्वत्रामर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ १ ॥

प्राचीमिति । दिशा वल्लभे पत्यौ भानौ वासकसज्जिकाम् 'कुरुते मण्डन यस्या सज्जिते वासवेश्मनि । सा तु वासकसज्जा स्याद्विदितप्रियसङ्गमा' इति लक्षणलक्षिता नायिकाम् उपगते प्राप्ते सति पतङ्गसुहृदा सूर्यकान्तानाम् आग्नेयनाडिन्धमा आग्नेयनाडीप्रज्वालिका (यत्सम्पर्केण सूर्यकान्ता प्रज्वलन्ति ते तस्नाडिन्धमत्वेनात्रोक्ता) एता रुचय सूर्यमयूखा लोकस्य क्षणदाया रात्रौ निरङ्कुशरसा अबाधभावमास्वाद्यमानौ सम्भोगनिद्रागमौ रमणस्वापौ कोकाना चक्रवाकाणा स्तोम समूह कुमुद्वतीविपिन कुमुदवन च तयो निक्षेप न्यासम् आतन्वते कुर्वते, पुन प्राभातिकयो रश्मयस्सूर्यकान्तमणि दीपयन्त्य एव लोकाना निशि निरर्गलरसौ सम्भोगस्वापौ चक्रवाककुमुदयोर्न्यस्यत , लोकाश्च सम्भोग जहति स चक्रवाके, य च स्वाप जहति [illegible] कुमुदेषु सङ्क्रामतीति तात्पर्यम् । पूर्वोक्तविपरीत वृत्तम् ॥ २ ॥

दिशाओंके वल्लभ सूर्य देवके प्राचीदिशा रूप वासकसज्जा नायिकाके पास पहुँच जानेपर उनकी यह किरणें—जो सूर्यकान्तमणिकी आग्नेय नाडीको दीपित करती हैं—रात्रिमें सम्भावित सम्भोग तथा निद्रारसको कोकसमुदाय तथा कुमुदनीवनमें निक्षेपके रूपमें रख रही हैं ॥ २ ॥

(चारों ओर देखकर) अहा, चारों ओर प्रसन्न पुरवासिगणके सम्भोगसे पूर्ण हो रही है यह दशकण्ठभुजशालिना राजधानी ।

---

१ 'कोवद्वन्द्व-' । २ 'निरूप्य सहर्षम्' ।
३ 'मोदमान' । ४ 'भुजार्गलपालिता' ।

इत पौरस्त्यायां ककुभि विवृणोति क्रमदलत्-
तमिस्रामर्माणं किरणकलिकामम्बरमणिः ।
इतो निष्क्रामन्ती नवरतिगुरोः प्रोञ्छति वधू-
स्वकस्तूरीपत्राङ्कुरमकरिकामुद्रितमुरः ॥ ३ ॥

[1]अपि च—
अयं मृदुमृणालिनीवनविलासवैहासिकः
स्त्विषां विनपते पतिः सपदि दृश्यमाना निजाः ।
स्तनौ एलकयन्ति चोत्पलदृशां प्रियोरःस्थले

समन्ततः सर्वतः, आमोदमानानां हृष्यतां पौराणां सम्भोगमयी तत्प्रचुरा दशग्रीवस्य भुजा एवार्गला परिघास्तैः पालिता, रावणरक्षितेऽत्र नगरे पौराः सर्वतः सम्भोगभाजोऽत एवामोदमानाश्च सन्तीति भावः ।

इत इति । इतः अस्यां पौरस्त्यायां प्राच्यां ककुभि दिशि अम्बरमणिः क्रमेण पर्यायेण दलत् विदीर्यमाणं तमिस्रायाः रजन्याः मर्म यया तां तथाभूतां किरणकलिकां मयूखाङ्कुरं विवृणोति प्रकाशयति, इतः अन्यां च दिशि नगर्यां वा वधूः नायिका नवरतिगुरोः नूतनसुरताचार्यस्य नायकस्य स्वकस्तूरीपत्राङ्कुरमकरिकामुद्रितम् स्ववक्षःस्थलस्थितमृगमदरचितपत्राङ्कुरकृतमकराकृत्या मुद्रितम् उरः हृदयं प्रोञ्छति नायकस्य गुर्वादिसमीपे सम्भोगचिह्नप्रकटनद्वारा लज्जा मा जनीति नायिका स्ववक्षःस्थलस्थितमृगमदरचितमकराकृतिचिह्नं तत्कृतगाढालिङ्गनसमये तदुरसि लग्नं प्रभाते प्रमार्जयतीति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३ ॥

अयमिति । मृदुः कोमलः यत् मृणालीवनं कमलिनीकाननं तस्य विलासे विकासे वैहासिको विदूषकस्वरूपः ('वैहासिकः केलिकरः प्रहासी च विदूषकः' इत्यमरः) कमलवनविकासकः कमलवनविलासी च, सूर्यः त्विषांपतिः वितपते प्रकाशते । सपदि सम्प्रति च उत्पलदृशां कमलसमाननयनानां प्रियोरःस्थले प्रियवक्षसि

इधर पूर्व दिशामें क्रमसे अन्धकारके मर्मको विदलित करनेवाला अपनी किरणको सूर्य फैला रहा है, और इधर नवरतिगुरु प्रियतमके उरोदेशपर लगे अपने स्तनस्थित कस्तूरीपत्रसे सक्रान्त श्यामिकाको रहस्य भेदनके भयसे युवती पोंछ रही है ॥ ३ ॥

कोमल-मृणालिनीवनके विकासमें विदूषकके कार्य करने सूर्य अपनी किरणें फैला

[1] 'अपि च' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

विपर्यस्यितवृत्तयो घुसृणपङ्कपत्राङ्कुराः ॥ ४ ॥

इतश्च—

प्रियवसतेरपयान्त्यो मिथः करम्बितकराम्बुजन्मानः ।
करजव्रणविरलस्तनपुलकममूः किमपि विवदन्ते ॥ ५ ॥

(अन्यतश्च दृष्ट्वा ।) [1]इतो रम्यतरं वर्तते ।

प्रभाते पृच्छन्तीरनुरहसमवृत्तं सहचरी-
र्नवोढा न व्रीडामुकुलितमुखीयं सुखयति ।

विपर्यस्यितवृत्तयः विपरीतभावेनास्थिताः (वामस्तनस्था दक्षिणस्तनभागं दक्षिणस्तनस्था वामस्तनभागे दृश्यन्ते पुरुषायिते गात्रालिङ्गने च तथा सम्भवात्) निजाः स्वीयाः घुसृणपङ्कपत्राङ्कुराः कुङ्कुमद्रवविरचितपत्रावल्यः स्तनौ पुलकयन्ति सम्भोगस्मरणेन रोमाञ्चितौ कुर्वन्ति । इतः कमलिनीवनविलासाः सूर्यं उत्तपते इतश्च प्रियगृहान्निर्गतानां वधूनां विपर्यस्यितवृत्तयः पत्रावल्यः सम्भोगस्मरणजननद्वारा स्तनयोः रोमाञ्चं सृजन्तीति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४ ॥

प्रियवसतेरिति । प्रियवसतेः कान्तगृहात् अपयान्त्यः बहिर्गच्छन्त्यः अमूः वारस्त्रियः करम्बितानि परस्परावलम्बितानि कराम्बुजन्मानि करकमलानि यासां तथाभूताः सत्यः परस्परघनकराः इति भावः, करजव्रणैः नखक्षतैः विरलः स्वल्पः यस्य पुलकः रोमाञ्चः यत्र तद्यथा स्यात्तथा किमपि परस्परं विवदन्ते काचिद् वदति पश्य स्वस्तनयोर्बहुलीभवन्नखक्षतं येन सम्भोगस्मरणजन्मा रोमाञ्चोऽपि गोपाय्यते, अन्या च नैव मम तथैव भवतीति वदन्ती तदपलपतीति परस्परं कलहायन्ते वारवनिता इत्यहो सम्भोगमयता राजधान्या इत्यर्थः । सामान्यनायिकावर्णनमिदम् । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ५ ॥

प्रभात इति । इयं नवोढा नवपरिणीता वधूर्नायिका व्रीडया लज्जया मुकुलितमुखी नमितवदना सती अनुरहसवृत्तम् नायकेन सह कृतं निधुवनविलाससमाधारी

रहे हैं, और इधर युवतियाँ अपने प्रियतमोंके उरोदेशोंमें संलग्न अपने स्तनस्थित कस्तूरी पत्रोंको देखकर पुलकित हो रहा है ॥ ४ ॥

प्रियतमके आवाससे जाती हुई परस्परालम्बितहस्त ये ललनायें नखक्षत चिह्नसे व्याप्त स्तन रोमाञ्चपूर्वक कुछ वादविवाद करती जा रही हैं ॥ ५ ॥

(दूसरी ओर देखकर) इधर और सुन्दर है—

१ 'इतः' इत्यादि पुस्तकान्तरे नास्ति ।

लिखन्तीनां पत्राङ्कुरमनिशमस्यास्तु कुचयो
श्चमत्कारो गूढं करजपदमासां कथयति ॥ ६ ॥

(मुहूर्तमनुध्याय ।) अहो यतः प्रभृति वैदेहीवरणाय प्रहितेन पुरोधसा कथ्यमानं ककुत्स्थकुलकुमारस्य मानुष्यकातिशयमशृणवम् ततः प्रभृति कष्टां दशामनुभवामि । तथाहि ।

तत्तादृशं कथमुदेति मनुष्यलोके
तेजोऽद्भुतं निरभिसन्धि न तावदेतत् ।

कृत्य रहस्यवृत्तान्तं पृच्छन्ती जिज्ञासमाना सहचरी स्वा सखी न सुखयति मुखं स्वरहस्यमाख्याय नानन्दयति, तु किन्तु अस्याः वध्वाः कुचयोः स्तनयोः चमत्कारः निश्चित्रता अनिशं सर्वदा पत्राङ्कुरं पत्रावलीं लिखन्तीनां विन्यासपूर्वकं विरचयन्तीनाम् आसां सहचरीणाम् गूढं तिरोहितं करजपदं नखक्षतं कथयति प्रकटीकरोति । लज्जावशान्मुखतोऽनिवेद्यमानेऽपि रहोवृत्ते स्तनयोः पत्रावलीविरचनकाले तत्र वैचित्र्यदर्शनात्सहचर्यस्तासां नववधूनां गूढं नखक्षतमनुमिमत इत्याशयः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ६ ॥

वैदेहीवरणाय जनकं सीतां याचितुम् । प्रहितेन प्रेषितेन । पुरोधसा शौष्कल नाम्ना स्वपुरोहितेन । ककुत्स्थकुलकुमारस्य ककुत्स्थवंशबालकस्य रामस्य । मानुष्यकातिशयम् अमानुषचरितप्रकर्षम् । कष्टाम् कष्टप्रदाम् । रामस्यालौकिकं वृत्तं श्रुत्वा व्यथामनुभवामीति भावः ॥

तत्तादृशमिति । मनुष्यलोके मर्त्यभुवने तत्तादृशम् अत्याश्चर्यकरम् तेजः रामाभिधानं ज्योतिः कथम् उदेति केन प्रकारेण जन्म लभते ? एतत् तावद् राममहशस्य तेजसो मर्त्यलोकेऽवतरणं निरभिसन्धिगूढाभिप्रायशून्यं न, अवश्यमेव

प्रातःकालमें सखियाँ रहस्यवृत्तान्त पूछती हैं परन्तु नवोढा कुछ बताती नहीं है केवल लज्जासे मुख झुका लेती है, परन्तु जब सखियाँ उनके स्तनोंपर पत्रावली लिखने बैठती हैं तब नखक्षतोंको देखकर उनका सारा रहस्य समझ जाती हैं ॥ ६ ॥

(थोड़ी देर सोचकर) जबसे मैंने वैदेहीको मँगनाके लिए भेजे गये पुरोहितके मुखसे ककुत्स्थकुल कुमारका मानुष्यकातिशायी वृत्तान्त सुना है तबसे मेरी बुरी दशा हो रही है, क्योंकि—

मनुष्य लोकमें इस प्रकारका अद्भुत तेज क्यों उत्पन्न हो गया है ? यह बिना

१ मनुष्यानि—'।

तान्येव चास्य चरितानि दशाननस्य
धिक्चिन्तया रजनिरक्षिषु न [1]प्रभाति ॥ ७ ॥

अपि च—

श्रुत्वा दुःश्रवमद्भुतं च मिथिलावृत्तान्तमन्तः पत-
च्चिन्तापह्नवसावहित्थवदनत्वग्विप्रकीर्णस्मितः ।
[2]हेलाकृष्टसुरावरोधरमणीसीमन्तसंतानक-
स्रग्वासोज्ज्वलपाणिरप्यवति मां वत्सो न लङ्केश्वरः ॥८॥

रामसमानस्य तेजस्विनो मर्त्यलोकेऽवतारः स्मपि गूढमभिसन्धिं कुक्षौ करोतीति भावः । (ज्ञातेऽपि दुरभिसन्धिपूर्णे रामे) दशाननस्य तान्येव पूर्वाविपरीतानि चरितानि व्यापाराः, दैवैर्दुरभिसन्धिना रामे भुवि प्रहितेऽपि रावणो न चेतयते, धिक्, इदं रावणस्य मूर्खत्वं धिक्, इति चिन्तया एतद्रूपया चिन्तया न अस्माकम् अक्षिषु रजनिः प्रभाति वयं जागरेणैव निखिलां निशां यापयामः, रात्रौ निद्रां न लभामहे इत्यर्थः ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७ ॥

श्रुत्वेति दुःश्रवं श्रोतुमनर्हम् अद्भुतम् आश्चर्यजनकं च मिथिलावृत्तान्तं विदेहनगरीसमाचारं रामकर्तृकशिवधनुर्भङ्गजनककर्तृकरावणप्रार्थनाप्रत्याख्यानादिरूपं श्रुत्वा आकर्ण्य अन्तः पतन्ती मनसि समुद्भवन्ती या चिन्ता तस्याः अपह्नवेन बलान्निगूहनेन सावहित्थानि आकारगोपनचिह्नशालीनि यानि वदनानि दशापि रावणमुखानि तेषां त्वचि चर्मण्युपरितने भागे विकीर्णं विस्तृतं स्मितं हसितं यस्य तथाभूतः रावणो नाम वत्सो लङ्केश्वरः हेलया अनायासेन आकृष्टानां हृतानां सुरावरोधरमणीनां देवाङ्गनानां सीमन्तेषु केशपाशेषु या संतानकस्रजो देवतरुपुष्पमालाः तासां वासेन सौरभेण उज्ज्वलः सुरभीकृतः पाणिर्यस्य तथाभूतः सन्नपि मां न अवति न प्रीणयति । मिथिलावृत्तान्तश्रवणजन्यचिन्तागोपनप्रयासकृतशुष्कहसितपूर्णमुखो भूत्वा रावणो यद्वन्दीभूतसुराङ्गनाकचपाशाकर्षणात्तत्सीमन्तस्थितदेवपुष्पस्रक्सुगन्धेन स्वपाणीन् सुरभीकरोति, तदाप्येन तेनाकारगोपन

किसी गूढ रहस्यके ही नहीं सकता है। इधर दशाननके वही पुराने चरित हैं ? इसी चिन्ताके कारण मैं रातभर जागकर सवेरा करता हूँ ॥ ७ ॥

दुःश्रव तथा अद्भुत मिथिला-वृत्तान्तको सुनकर हृदयमें पैदा होनेवाली चिन्ताके आकार-गोपनपूर्वक वदनपर जिसके हास बिखर रहे हैं, अनायास आकृष्ट देवबाला रूप वन्दिनियोंके शिरोमाल्योंसे जिसके हाथ प्रकाशित हो रहे हैं ऐसा होकर भी रावण मुझे आज आनन्दित नहीं कर रहा है ॥ ८ ॥

१ 'प्रयाति'। २ 'सुरावरोधनवधू-', 'सुराधिराजरमणी-'।

(विमृश्य आकाशे ।) अहह, दारुणेयमस्माकं चिरजीविता ।

प्रीते विधातरि पुरा परिभूय मर्त्या-
न्वत्रेऽन्यतो यदभयं स भवानहंयुः ।
तन्मर्मणि स्पृशति मामतिमात्रमद्य
हा वत्स शान्तमथवा दशकन्धरोऽसि ॥ ९ ॥

(सविमर्शम् ।) अहो मैथिलस्य नृपतेरकार्यज्ञता ।

विश्वामित्रवशीकृते हृदि वयं मा भूम सम्बन्धिन-
स्ते दृष्टा न कथं पुराणमुनयो मान्याः पुलस्त्यादयः ।

व्यापारेणापि मम न सन्तोषः, चिन्ताबीजस्य तावताऽनपनीतत्वादिति भावः । 'अवहित्थाऽऽकारगुप्तिः' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८ ॥

दारुणा क्लेशजननी । चिरजीविता दीर्घायुष्ट्वम् । यदाद् न चिरजीव्यभविष्य तदा प्राङ्कृतं वाद्शिमा दशा नाद्रक्ष्यम्, तद्धिङ्मम चिरजीवित्वमित्यर्थः ।

प्रीत इति । स भवान् अहंयुः अहङ्कारवान् भूत्वा पुरा विधातरि ब्रह्मणि प्रीते तपसा तोषिते सति मर्त्यान् परिभूय मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखो भूत्वा अन्यतः मनुष्यातिरिक्तेभ्यः यत् अभयं निर्भयभावं वव्रे वृतवान्, तत् तव मानवाननादृत्य देवेभ्योऽभयवरणम् अद्य सम्प्रति माम् अतिमात्रम् अत्यन्तं मर्मणि स्पृशति हृदये व्यथयति, अथवा शान्तं प्रतिहतममङ्गलमस्तु, दशकन्धरोऽसि तव दशकन्धरतया नास्ति भयमित्यर्थः । ब्रह्माणं पुरा तपसा प्रसाद्य यद्भवान् देवासुरादिभ्यस्त्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखो याचितवान्, तदधुना मां स्मर्यमाणं सद् व्यथयति, यदि प्रागेव मनुष्यादप्यभयं ब्रह्मणो याचितमभविष्यत्तदा सम्प्रति भयं नाभविष्यदिति कष्टं भवति । अथवाऽलमनया चिन्तया, त्वं दशकन्धरो रामेणैककन्धरेण कथं कार्यं नित स्यात्तदनवसरचिन्तयाऽनयाऽलमिति तात्पर्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥

विश्वामित्रेति । विश्वामित्रेण वशीकृते स्ववशानीते हृदि वयं सम्बन्धिनः सम्बन्धयोग्याः मा भूम न स्याम नाम, ते प्रसिद्धाः मान्याः आदरपात्राणि पुराणमुनयः प्राचीनर्षयः पुलस्त्यादयो रावणपूर्वपुरुषाः कथं न दृष्टाः किमिति न गणिताः, विश्वा

(विचार करके आकाशकी ओर) अहह ! हमारा यह चिरजीवित्व बड़ा दारुण है,

ब्रह्माके प्रसन्न होनेपर मर्त्योंके प्रति आस्था नहीं रखनेवाले उस अहङ्कारी रावणने जो मर्त्येतर जनमें अभय याचनाकी वह बात आज हमारे हृदयमें चुभ रही है, अथवा जाने दो इस बातको, तुम रावण हो ॥ ९ ॥

(विचार करके) मैथिलराजकी अकार्यज्ञता तो देखिए—

विश्वामित्रने उनके हृदयको वशमें कर लिया है अतः वह हमें सम्बन्धके योग्य

जामातापि महेन्द्रमौलिवलभीपर्यङ्करत्नाङ्कुर-
ज्योत्स्नापुष्टनखेन्दुदीधितिरयं [1]नापेक्षितो रावणः ॥ १० ॥

(पुरोऽवलोक्य ।) कथं मिथिलाचरितानि चरितुमनुप्रहिता चिरयति [2]वत्सा शूर्पणखा ।

(प्रविश्य शूर्पणखा ।)

शूर्पणखा—(सहर्षम् ।) अम्महे सोम्मसुन्दरविआहणेवच्छलच्छीविच्छुरिदकान्तिपब्भाराइं रहुउलकुमाराण मुहपुण्डरीआइं पेक्ख-

---

भिन्नाधीने हृदि यद्यस्माकं विषये सम्बन्धार्हताज्ञानं न जातं न जायतान्नाम, परन्तु दिशामित्रापेक्षयाऽप्यधिकतपःशालिनः पुलस्त्यादयो रावणपूर्वपुरुषाः किमिति न मनसि विभाविताः इत्याद्यपादद्वयस्यार्थः । महेन्द्रस्य शक्रस्य मौलिः शिर एव वलभी प्रासादोपरितनगृहम् तत्र ये रत्नाङ्कुराः मणिप्ररोहाः तेषां ज्योत्स्नाभिः किरणैः पुष्टा वृद्धिं नीताः नखेन्दूनां नखरूपचन्द्राणां दीधितिः कान्तिर्यस्य तथाभूतः शक्रशिरसि पादं न्यस्य तत्रस्थरत्नप्रभासमेधितनखमयूखो रावणः अपि जामाता न अपेक्षितः जामातृभावेन न वरीतुमभिलषितः, आश्चर्यमिदम्, यज्जनकः एतादृशमपि ज्ञानं न रक्षतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १० ॥

मिथिलाचरितानि मिथिलावृत्तान्तान् । चरितुम् चरभावेन ज्ञातुम् । प्रहिता प्रेषिता । चिरयति विलम्बं करोति ।

अम्महे आश्चर्यव्यञ्जकमव्ययम् । सोम्मम् अनुद्धतं सुन्दरं रमणीयं च यद् विवाहनेपथ्यम् वैवाहिको वेषः तस्य लक्ष्म्या शोभया विच्छुरितः समधितः कान्तिप्राग्भारः शोभातिशयो येषां तथोक्तानि । रघुकुलकुमाराणाम् रघुवंशोप-

---

मले न समझें, परन्तु पुराणमुनि पुलस्त्य आदिको उन्होंने क्या नहीं देखा ? इन्द्रके मस्तकरूप पर्यङ्कपर वर्तमान रत्नकी किरणोंसे जिसके नखचन्द्रकी द्युति समृद्ध हुआ करती है उन रावणरूप जामाताकी भी अपेक्षा न की ॥ १० ॥

(आगे देखकर) मिथिलाके वृत्तान्तको जाननेके लिए भेजी गई शूर्पणखा क्यों देर कर रही है ?

(शूर्पणखाका प्रवेश)

शूर्पणखा—(सहर्ष) मैंने यद्यपि कपटसे यह मानुषरूप धारण किया है जो मेरे लिए घृणित है, फिर भी इससे मुझे यह बड़ा लाभ हुआ है कि सुन्दर विवाह-वेषमें

---

१ 'नावेक्षित'। 　२. 'वत्सा' में।

न्ती जुउच्छिदेणावि माआमाणुसीभावेण कदत्थीकिदह्मि। अम्मो, सा तारिसी गुणाण पकिदी जा विपक्खहत्थपडिदावि सुहावेदि। [अम्महे, सौम्यसुन्दरविवाहनेपथ्यलक्ष्मीविच्छर्दितकान्तिप्राग्भाराणि रघुकुलकुमाराणां मुखपुण्डरीकाणि प्रेक्षमाणा जुगुप्सितेनापि मायामानुषीभावेन कृतार्थीकृतास्मि। अहो सा तादृशी गुणानां प्रकृतिर्या विपक्षहस्तपतितापि सुखयति।]

माल्यवान्—(दृष्ट्वा सस्नेहम्।) कथं वत्सा मे शूर्पणखा। वत्से, अयमहम्। इत इतो भवती।

शूर्पणखा—कथं इह ज्जेव्व अट्टालअसिहरपग्गीवे मादामहो। अहो दुसिलिट्ठला दड्ढकज्जाणम्। जं दाणिं पजागरकिलिअन्तलोअणो

नानाम् बालकानां रामादीनाम्। मुखपुण्डरीकाणि वदनकमलानि। प्रेक्षमाणा पश्यन्ती। जुगुप्सितेन निन्दनीयेन मायामानुषीभावेन कपटवनिताभावेन। कृतार्थीकृतास्मि धन्यतां प्रापितास्मि। यद्यपि अस्माकं राक्षसीनां दृष्टौ मानुष्यकमति घृणितं तथापि यद्यहं मानुषं रूपं नाग्रहीष्यं तदा कथं तादृशं रघुकुमाराणां सुन्दरं वैवाहिकं वेषमालोक्यात्मानमकृतार्थयिष्यमिति धन्यो मम मायामानुषीरूपपरिग्रह इत्यर्थः। तादृशी गुणानां प्रकृतिः एतादृशो गुणानां स्वभावो (यत्) विपक्षहस्तपतिता शत्रुषु स्थिता। गुणानामयं स्वभावो यत्ते शत्रुषु स्थिता अपि दर्शकानामानन्दमेव जनयन्तीत्यर्थः।

अयमहम् अहमत्र देशेऽस्मि। इत इतो भवती त्वमत्रागच्छेत्यर्थः।

अट्टालकशिखरप्रग्रीवे धनधारणस्थानशिखरे। मातामहो माल्यवान्। दुःश्लिष्टता कष्टप्रदता दग्धकार्याणाम् निन्दितानामेषां कार्याणाम्। प्रजागरक्लान्तलोचनः चिरजागरणवशात् विल्प्टनयनः। प्रतिक्षणं सततं जृम्भया मुखव्यादानेन प्रसारितं व्यात्तं यन्मुखकुहरं गह्वरं तत्र दृष्टः हृदयस्थितः कार्यभारो यस्य तादृश

धित कान्ति मनुष्यधारा इन रघुकुमारमुखपुण्डरीकोंके दर्शनोंसे मैं धन्य हो गई, गुणोंका यह स्वभाव होता है कि वह शत्रुनिष्ठ होकर भी सुखप्रद होते हैं।

माल्यवान्—(देखकर सस्नेह) क्यों मेरी वत्सा शूर्पणखा, वत्से, मैं यह हूं, तुम इधर आओ।

शूर्पणखा—क्यों इसी अट्टालिकाके शिखरपर मातामह उपस्थित हैं?

इन अभागे कार्यों की बुरी स्थिति होती है, जिससे सदा जागने रहनेके कारण इनकी

पडिक्खणजिम्भिआपसारिदमुहकुहरदिट्ठहिअअट्ठिदकठिणकज्जभारो अण्णो विअ को वि दीसदि। अहवा सामण्णो वि गुरुओ मन्तिभारो विसेसेण साहसेक्करसव्ववसाअस्स चण्डचरिदस्स अह्मसामिणो रावणस्स। जाणामि मं जेव्व पडिपालअन्तो चिट्ठदि। जाव णं उवसप्पामि। (सविषादमुपसृत्य।) अज्ज, वन्दे। [कथमिहैवाद्यानकशिलाग्रग्रीवो मातामहः। अहो दुःश्लिष्टता दग्धकार्याणाम्। यदिदानीं प्रजागरक्लान्तलोचनः प्रतिक्षणजृम्भाप्रसारितमुखकुहरदृष्टहृदयस्थितकठिनकार्यभारोऽन्य इव कोऽपि दृश्यते। अथवा सामान्योऽपि गुरुको मन्त्रिभावो विशेषेण साहसैकरसव्यवसायस्य चण्डचरितस्यास्माकं स्वामिनो रावणस्य। जानामि मामेव प्रतिपालयंस्तिष्ठति। यावदेनमुपसर्पामि। आर्य, वन्दे।]

माल्यवान्—[1]वत्से, कल्याणिनी भूयाः। इहास्यताम्। अपि भरतशत्रुघ्नाभ्यां [2]मिथिलामुपस्थितो दशरथः।

शूर्पणखा—(उपविश्य।) अज्ज, ण्सरहे आअदे कुमाराणं गोदा

चिरजागरजनिताभिरनवरतं प्रवर्तमानाभिर्जृम्भाभिर्मुखकुहरे व्यादीयमाने सति तत्र काले तद्धृदयस्थितस्य महतः कार्यभारस्य प्रत्यक्षं भवतीति। अन्य इवायं माल्यवान् प्रतीयते। गुरुकः महान्। साहसैकव्यवसायस्य सततं साहसेन व्याप्रियमाणस्य। चण्डचरितस्य कोपनस्वभावस्य। प्रतिपालयन् प्रतीक्षमाणः॥

कल्याणिनी शुभशालिनी। भरतशत्रुघ्नाभ्याम् इत्यत्र सहेति शेषः।

कुमाराणाम् रामादीनाम्। गोदानमङ्गले विवाहात्पूर्वसम्पाद्ये धार्मिककृत्ये

आँखें क्लान्त हो रही हैं प्रतिक्षण जमाई लेते रहनेसे फैलाये गये मुखके मार्गसे हृदयगत कार्योंके गाम्भीर्यके दर्शन होते हैं, इस तरह यह मातामह दूसरे ही प्रतीत होते हैं, अथवा—सामान्य मन्त्री होना ही महागौरवपूर्ण कार्य है, विशेषतः सततसाहसकर्ता तथा प्रचण्डचरित रावणका मन्त्री होना। मालूम पड़ता है—वह मेरी ही प्रतीक्षामें बैठे हुए हैं। जब तक उनके पास चलूँ। (सखेद समीप जाकर) आर्य, प्रणाम करती हूँ।

माल्यवान्—वत्से, तुम्हारा कल्याण हो। इधर बैठो। क्या भरत तथा शत्रुघ्नके साथ दशरथ मिथिला पहुँच गये?

शूर्पणखा—(बैठकर) दशरथके आ जाने और कुमारोंके गोदानमङ्गलके हो

१ 'कल्याणिनि, इहास्यताम्'। २ 'सह वैदेहमुपस्थितः', शत्रुघ्नाभ्यामुपस्थितः'।

णमङ्गले अ सवुत्ते दाव मए पत्त मिहिलाणअरम् । [आर्य, दशरथे आगते कुमाराणां गोदानमङ्गले च सवृत्ते तावन्मया प्राप्तं मिथिला नगरम् ।]

माल्यवान्—(निःश्वस्य ।) [1]अतिप्रकाशोऽयमर्थो यथा निवृत्तस्वीकरणा जानकीति ।

शूर्पणखा—अध इ । [अथ किम् ।]

माल्यवान्—(विमृश्य ।) अहो दुरात्मनः क्षत्रियब्राह्मणस्य कुशिकजन्मनो दुर्नाटकम् ।

यज्ञोपप्लवशान्तये परिणतो राजा सुतं याचित-
स्तमानीय विनीय चायुधविधौ ते जघ्निरे राक्षसाः ।
त्रैयक्षं विदलय्य कार्मुकमथ स्वीकार्य सीतामितो

विशेषे, क्षत्रियाणामयमाचारो यत्ते विवाहात्पूर्वं पुत्रस्य गोदानमङ्गलं सम्पादयन्ति, तथा च कालिदासः 'अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद् गुरुः' इति प्राप्तं गतम्, मद्गमनात् पूर्वमेव दशरथस्तत्र गत इत्याशयः ॥

अतिप्रकाशः ख्यातः । निवृत्तस्वीकरणा सञ्जातविवाहा । 'उपायमः स्वीकरणे' इति पाणिनिः, तत्रोपयमनं विवाह इति भट्टोजिदीक्षितः ।

दुरात्मनः दुष्टस्य । क्षत्रियब्राह्मणस्य जन्मतः क्षत्रियस्यापि तपसा ब्राह्मणत्वमभिमन्यमानस्य । कुशिकजन्मनः कुशिकात्मजस्य विश्वामित्रस्य । दुर्नाटकम् दुश्चेष्टा ।

यज्ञोपप्लवेति यज्ञोपप्लवशान्तये मखविघ्नोपशमनाय परिणतः वृद्धो राजा दशरथः सुतं रामं नाम पुत्रं याचितः, तं पुत्रं राममानीय तपोवनं प्रापय्य आयुधविधौ शस्त्रप्रयोगे विनीय शिक्षयित्वा च ते प्रसिद्धाः ताडकासुबाहुप्रभृतयो राक्षसा जघ्निरे निहताः, अथ एतदनन्तरं त्र्यक्षस्य त्रिलोचनस्येदं त्रैयक्षं शैवं धनु

जानेपर ही मैं मिथिला पहुँची ।

माल्यवान्—(साँस लेकर) अब यह बात अतिप्रकट है कि सीताका विवाह हो गया ।

शूर्पणखा—और क्या ?

माल्यवान्—(विचारकर) अहा दुरात्मा तथा क्षत्रिय ब्राह्मण विश्वामित्र का दुर्नाटक तो देखो ।

यज्ञविघ्नशमनके लिए राजासे उनके पुत्रकी याचना की, लाकर उन्हें धनुर्वेदकी शिक्षा देकर उनके द्वारा हमारे वीर राक्षसोंका वध करवाया । शिवके धनुषको तुड़वाकर सीताका

---

१ 'प्रतिपदप्रकाश' ।

नो विद्म कुहनाविटेन वटुना किं तेन कारिष्यते ॥ ११ ॥

शूर्पणखा—अज्ज, एव्व णेदम्। सो मए तत्थ बह्मणो वसिट्ठ-महेसिणो वि फुरन्तो दिट्ठो। [आर्य, एवमेतत्। स मया तत्र ब्रह्मणो वसिष्ठमहर्षेरपि स्फुरन्दृष्टः ।]

माल्यवान्—(विहस्य ।) वत्से, तपोभिरस्य ब्राह्मणादेशोऽपि स्थानिवद्भावेन क्षत्रकार्यं न जहाति। किं च स्वभावमधुरोऽपि काकुत्स्थवटुरौत्पत्तिकेन क्षात्रेण ब्राह्मण्येन च जन्मना त्रिजातकादस्मान्मुनेर[१]धीयानोऽवरीण परिणस्यते। तथाहि।

विदलय्य भञ्जयित्वा सीता स्वीकार्यं रामेण विवाह्य इत परम् कुहनाविटेन दम्भकर्मणि निपुणधूर्त्तेन तेन वटुना ब्राह्मणशिशुना विश्वामित्रेण किं कारिष्यते विधास्यत इति नो विद्म न जानीम । विन्माऽत्र व्यज्यते, स्पष्टमन्यत् ॥ ११ ॥

वसिष्ठमहर्षेः वसिष्ठापेक्षया। स्फुरन् दीप्यमानः, वसिष्ठतोऽप्यधिकतेजस्वी।

ब्राह्मणादेशः ब्राह्मणत्वबुद्धिः । क्षत्रकार्यं न जहाति क्षत्रियसम्पाद्यं हिंसादि न त्यजति। यथा 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' सूत्रेण हन्ते स्थाने जायमानः कोऽप्यन्य आदेशः स्थानिप्रयुक्तमपि कार्यं करोति तद्वत् तपस्यया ब्राह्मणत्वं प्राप्तोऽप्ययं प्राक्तनक्षत्रियसंस्कारं तत्प्रयुक्तां हिंसादिप्रवृत्तिं च न जहातीत्यर्थः ।

स्वभावमधुरः निसर्गकोमलस्वभावः । काकुत्स्थवटुः काकुत्स्थो ब्रह्मचारी। औत्पत्तिकेन स्वाभाविकेन, क्षात्रेण क्षत्रियोचितेन ब्राह्मण्येन विप्रभावेन जन्मना परिवर्त्तनेन त्रिजातकात् त्रिधा गृहीतजन्मनः, प्रथममेकं जन्म मातुर्गर्भतः, द्वितीयं क्षत्रियोचितोपनयनेन, तृतीयं च तपोलब्धेन ब्राह्मणत्वाभिमानेनेति बोध्यम्। (अत्र त्रिभिजातस्त्रिजातक इति विश्वामित्रस्यानेकपितृकत्वं ध्वनितं दृष्टार्थम्) अस्मात् मुने

विवाह सम्पन्न करवाया, नहीं जानते हैं इसके बाद यह धूर्त बटुक क्या करेगा ? ॥११॥

शूर्पणखा—आर्य, ऐसी ही बात है, विश्वामित्रको मैंने वसिष्ठके आगे भी अपनी बात चलाते देखा था।

माल्यवान्—(हसकर) तपस्यासे वह ब्राह्मण बन गया है परन्तु उसका क्षत्रिय कार्य अभी नहीं छूट सका है। स्वभावतः सुकुमार होनेपर भी यह बटुकराजकुमार जन्मना क्षत्रिय, कर्मणा ब्राह्मण इस विश्वामित्रसे अस्त्रविद्या ग्रहण करनेके कारण स्वयं धिक्कारका पात्र हो जायगा। क्योंकि—

---

१ 'अधीयत्रपरीणशील'।

अविनयभुवामज्ञानानां शमाय भवन्नपि
प्रकृतिकुटिलाद्विद्याभ्यासः खलत्वविवृद्धये ।
फणिभयभृतामस्तूच्छेदक्षमस्तमसामसौ
विषधरफणारत्नालोको भयं तु भृशायते ॥ १२ ॥

भवतु । किमनतिक्रान्तोपवर्णनेन[2] । [3]कथं न्विदानीं स्वयंग्रहीतुमुत्तिष्ठमानो राक्षसपतिः प्रतिकर्तव्यः स्यात् ।

विश्वामित्रात् । अधीयान विद्यामभ्यस्यन् । अवर्णि धिक्कारपात्रम् । निन्दिताचारात् निन्दितकुलाच्चाध्ययनं धिक्कार्यतामूलम् । परिणस्यते भविष्यति ।

अविनयभुवामिति । अविनयभुवाम् दुर्णयजनकानाम् अज्ञानानाम् शमाय प्रशमनाय भवन् समर्थोऽपि अज्ञानोच्छेदक्षमोऽपि प्रकृतिकुटिलात् स्वभावक्रूराज्जनात् विद्याभ्यासः विद्याध्ययनं खलत्वविवृद्धये दौर्जन्यस्य वर्धनाय जायते इत्यर्थः । अज्ञानापनोदक्षमोऽपि दुर्जनादध्यापकाद्विद्याभ्यासोऽध्येतुर्दुर्जनतां समेधयतीत्यर्थः, तत्र दृष्टान्तमाह-फणिभयेति । फणिभयभृताम् सर्पोऽत्र स्यादिति भयजनकानाम् तमसाम् अन्धकाराणाम् असौ विषधरफणालोकः सर्पमणिप्रकाशः उच्छेदक्षमः विनाशकः अस्तु परं भयं भृशायते सर्पमणिधारणे तदन्विष्यतः सर्पाद् भयं वर्धते । तस्मात् तमोनाशकस्यापि सर्पमणेर्यथा भयसम्पृक्ततयाऽनुपादेयत्वं तथाऽज्ञानविनाशकस्यापि दुर्जनादध्ययनस्येति रामलक्ष्मणयोर्विश्वामित्रादध्ययनं न हितमिति भावः । हरिणीवृत्तम् ॥ १२ ॥

अतिक्रान्तोपवर्णनेन व्यतीतवस्तूपनिबन्धनेन । स्वयं ग्रहीतुम् आत्मनैव सीताहर्तुम् । उत्तिष्ठमानः उद्यतः । प्रतिकर्तव्यः शान्तिं नेयः ।

अविनयसे अज्ञानको दूर करनेवाला होकर भी प्रकृत्या दुष्टजनसे किया गया विद्याभ्यास खलत्वकी वृद्धि किया करता है, जिन्हें सर्पोंसे भय मालूम पड़ता है उन्हें फणि मणिसे अन्धकारका भय भले दूर हो जाय किन्तु फणि मणिके देखनेसे सर्प भय तो बना ही रह जाता है ॥ १२ ॥

अस्तु अतीतवस्तुकी चर्चासे क्या लाभ ? अब सीताको स्वयं हरनेकी चिन्तामें पड़े रावणको किस तरह रोका जाय ?

---

१ 'अस्तूच्छेद-' ।　२ 'वर्णितेन' ।　३ 'कथं चेत्थमिदानीम्' ।

शूर्पणखा—अज्ज, ण खु मोट्टिमं परिहरन्तो अण्णो उआओ लक्खीअदि। [आर्य, न खलु मोट्टिमं परिहरतोऽन्य उपायो लक्ष्यते।]

माल्यवान्—वत्से, मा मैवम्। महादोषो हि तादृशेन [1]धर्मविजयिना वीरप्रवालेन परिगृहीताया वैदेह्याः प्रसह्यापहारः। पश्य।

> दोःस्तम्भद्वयदर्पडम्बरमिति स्पष्टं न निस्पन्दते
> वैदेहीकरबन्धसूचनमिति प्रस्तौति [redacted] व्रीडया।
> इत्यालोच्य कृतस्मितैर्मुनिभिरादिष्टेन येन क्षणा-
> दात्तं वन्दितमाञ्चितं[2] च सहसा भग्नं च तादृग्धनुः ॥१३॥

मोट्टिमम् बलात्कारम्। परिहरन् त्यजन्। लक्ष्यते प्रतीयते, रावणो बलप्रयोगं परिहृत्य नान्येनोपायेन शमयितुं शक्य इत्यर्थः।

महादोषः बहुदोषपूर्णः। धर्मविजयिना धर्ममाश्रित्य विजयप्रवृत्तेन। वीरप्रवालेन नवोदयेन वीरेण। परिगृहीतायाः परिणीतायाः। प्रसह्यापहारः बलाद्धरणम्। सीतायाः रामेण परिणीतायाः तस्याः बलाद्धरणं महतेऽनर्थाय जायेतेति तात्पर्यम्।

दोःस्तम्भद्वयेति। दोःस्तम्भद्वयदर्पडम्बरम्। बाहुरूपयोः स्तम्भयोर्दर्पस्याहङ्कारस्य डम्बरम् प्रकाशनं स्यादिति (सर्वेषु नृपेषु परम्परस्पर्धया धनुर्नमयितुं प्रवर्तमानेष्वपि तथाकरणे स्तम्भोपमयोर्बाह्वोर्दर्पः प्रकाशितो भवतीति तत्प्रकाशनमनभिलषन्) न निस्पन्दते इतरनृपवत् न स्पन्दते, किञ्च तथाकरणे वैदेहीकरबन्धसूचनम् सीतापाणिग्रहविषयकाभिलाषप्रकाशनं स्यादिति व्रीडया लज्जया न प्रस्तौति धनुर्नमनप्रस्तावं न करोति। इति एवं रामस्य शालीनताम् आलोच्य विभाव्य कृतस्मितैः हसितमुखैः मुनिभिः तत्कालमभिहितैः शतानन्दादिभिः आदिष्टेन आज्ञप्तेन येन रामेण तादृक् स्वनामविख्यातम् ऐशं धनुः क्षणात् अल्प

शूर्पणखा—बलात्कारके अतिरिक्त तो कोई उपाय नहीं दीखता है।

माल्यवान्—वत्से, ऐसा मत कहो, धर्मविजयी उस वीर कुमारके द्वारा विवाहिता सीताके बलात् हरणमें बड़ी आपदा हो सकती है। देखो—

शिवधनुषके उठानेमें बाहुओंके गर्वका प्रकाशन होगा ऐसा समझकर उसकी इच्छा नहीं प्रकट करता है, और वैदेहीके विवाहकी सूचना होगी इसलिए लज्जासे धनुषके विषयमें प्रस्तावभी नहीं करता है, ऐसा देखकर मुस्कुराते हुए मुनियोंके आदेशसे उसने तत्क्षण धनुष उठाया, वन्दना की, नवाया और उस विशाल धनुषको तोड़ दिया ॥ १३ ॥

१ 'विजयधर्मविजयिना', 'धर्मविजयिना'। २ 'अञ्चितम्'।

[1]तत्कथं च तस्मिन्निशाचरनाथमाततायिनमनुजानीमः ।

शूर्पणखा—([2]निःश्वस्य ।) जधा णिरूविदं मादामहेण । अहो कालस्स माहप्पं, जं दाणिं तिहुअणजअलच्छीलीलाबन्दिआरे महाराअरावणेवि एव्वं मन्तीअदि । [यथा निरूपितं मातामहेन । अहो कालस्य माहात्म्यम्, यदिदानीं त्रिभुवनजयलक्ष्मीलीलाबन्दीकारे महाराजरावणेऽप्येवं मन्त्र्यते ।]

माल्यवान्—वत्से,

मुनिरपि गुरुर्दिव्यास्त्राणां बभूव दिवौकसा-
मजगवधनुर्भङ्गे तावानहो स महोत्सवः ।

कालेनैव आत्त गृहीत वन्दित नमस्कृतम् आञ्चितम् नमितम् सहसा हठात् भग्नं खण्डितञ्च । अतस्तादृशानीरवधूहरणे रावणस्य हठात् प्रवृत्तिर्न श्रेयसे स्यादिति भावः ॥ १२ ॥

तस्मिन् रामे । निशाचरनाथम् राक्षसराजं रावणम् । आततायिनम् दारापहारिणम्, 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः' ॥
अनुजानीमः अनुमन्यामहे ।

यथानिरूपितं मातामहेन साधु विचारितम् भवता । त्रिभुवनजयलक्ष्मीलीलाबन्दीकारे—अनायासासादितलोकत्रयजयलक्ष्मीके । रावणो यदि रामस्य दारानपहरिष्यति तदा नोचितं करिष्यतीति चिन्ता रावणस्यापि विधीयमाना कालस्य बलवत्तरत्वं प्रकाशयति ।

मुनिरपीति । मुनिर्विश्वामित्रोऽपि दिव्यास्त्राणां जृम्भकादीनां गुरुरुपदेष्टा बभूव, अजगवधनुर्भङ्गे दिवौकसां देवानां स तावान् अतुलितः महोत्सवः बभूवेति

इसलिये हम राक्षसराजको बलप्रयोग करनेकी अनुमति कैसे दें ?

शूर्पणखा—(साँस लेकर) मातामहका सोचना ठीक है । समयका माहात्म्य है, कि इस समय त्रिभुवन विजयलक्ष्मीको बन्दी बनानेवाले महाराज रावणके सम्बन्धमें भी इस तरह विचार किया जा रहा है ।

माल्यवान्—वत्से ! मुनिने दिव्यास्त्रोंका प्रदान किया है, पिनाक-भञ्जनके अवसरपर

१ 'कथं तस्मिन्' । २ 'दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य' ।

रघुपतिगुणक्रीतामेतामवेहि जगत्त्रयीं
विपरिणमते दौर्जन्यं तु प्रभुत्वपदेन न ॥ १४ ॥

शूर्पणखा—को सन्देहो। तस्सिं विवाहमहूसवे सव्वं मए पच्चक्खीकिदम्। [कः सन्देहः। तस्मिन्विवाहमहोत्सवे सर्वं मया प्रत्यक्षीकृतम्।]

माल्यवान्—तन्नेवमेकलोष्टवधः स्यात्। तथाहि। [1]मिथिलां प्रविश्य बलादाक्रम्यमाणे कलत्रे कथं [2]तितिक्षेत [3]रघुराजपुत्रः। स चोत्तिष्ठमानं [4]पौरजानपदप्रकृतयोऽप्यनुतिष्ठेरन्। [5]किमङ्ग, सम्बन्धिबान्ध-

---

शेषः। तदेवम् एताम् जगत्त्रयीम् लोकत्रयम् रघुपतिगुणक्रीताम् राघवगुणवशीकृताम् अवेहि विद्धि न अस्माकं प्रभुत्वमदेन बलदर्पेण दौर्जन्यं दुष्टत्वं विपरिणमते पर्यवस्यति विश्वामित्रः स्वयं तौ नीत्वा दिव्यास्त्राणि दत्तवान् इति दुराधर्षौ तौ, नैतावदेव, देवा अपि तत्पक्षपातिनः, अतएव तत्कृते शिवधनुर्भङ्गे ते महान्तमुत्सवं मन्यन्ते स्म। तदेवं रामस्य लोकप्रियत्वे प्रमाणितेऽपि यदि वयं प्रभुत्वमदं प्रकटयामस्तदा नो दौर्जन्यप्रकाशनमात्रं फलं भविष्यति नान्यदिति तथाह वाऽहमिति भावः ॥ १४ ॥

तस्मिन् विवाहमहोत्सवे सीतारामयोः विवाहरूपे महोत्सवे। प्रत्यक्षीकृतम् दृष्टम्। एकलोष्टवधः लोष्टं मृत्तिकाखण्डम्। यथा लोष्टद्वयास्फालनेनान्यतरस्फुटनं भवति तादृशो वधो लोष्टवधः, मिथिलातो रावणेन सीतायामपहृतायां रामरावणयोः सङ्घर्षे सञ्जाते रामो रावणो वा न भवेदित्यर्थः। कलत्रे स्त्रियाम्, तितिक्षेत सहेत। उत्तिष्ठमानं युद्धोद्यतम्। पौरा जानपदाः प्रकृतयश्चेति पौरजानपदप्रकृतयः, पौराः नगरवासिनः जानपदाः देशवासिनः प्रकृतयः प्रजाश्च। अनुतिष्ठेरन् अनुवर्तेरन्, सहायका भवेयुरित्यर्थः। किमङ्ग, सम्बन्धिबान्धवाः सवासाः प्रजानामेव सहायकत्वं सम्भवतीति सम्बन्धिनो बान्धवाश्च सहायाः

दखीन उनको वश वत्सल बनाया, इस तरह समस्त विश्व को रघुपतिके गुणोंसे उसका क्रीतदास बन रहा है, हमारे प्रभुत्व-मदका परिणाम केवल दौर्जन्य रह जायगा ॥ १४ ॥

शूर्पणखा—इसमें क्या सन्देह ? उस विवाह समयमें मैंने सब कुछ आँखों देखा था।

माल्यवान्—इस समय लड़ना ढेलेको ढेलेसे लड़ानेकी तरह व्यर्थ होगा, क्योंकि मिथिला जाकर यदि हम उनकी स्त्रीका बलात् हरण करेंगे, तो भला रघुराजपुत्र किस प्रकार सहन

---

१ 'मिथिलायाम्'। २ 'तितिक्षत'। ३ 'राजपुत्र'।
४ 'जानपदा'। ५ 'किमुनाङ्ग'।

वा । [1]यथोक्तम्—'आरण्योऽग्निरिव[2] दुःसहदुःखामर्षजं तेजो विक्रमयति, मण्डलस्य चानुग्राह्यो भवति' इति ।

शूर्पणखा—(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य ।) अज्ज, किं दाणिं जुत्तम् । [आर्य, किमिदानीं युक्तम् ?]

माल्यवान्—[3]शृणु वत्से, कार्यज्ञासि । अस्ति वनौकसां मन्त्री जाम्बवान् । स मतङ्गाश्रमवास्तव्यामुपसृत्य [4]श्रमणां नाम सिद्धशबरीमभ्यर्थितवान् । यथास्य वालिनो द्वैराज्येन क्षीणा [5]लुब्धापचारिता

भविष्यन्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः, आरण्योऽग्निः वनवह्निः । दुःसहेन दुःखमोढुमशक्येन अमर्षेण कोपेन जायते तादृशं तेजः पराक्रमं विक्रमयति प्रकाशयति । मण्डलस्य राजसमूहस्य । अनुग्राह्यः प्रीतिपात्रमनुसरणीय इत्याशयः ।

इदानीम् एतादृश्या स्थितौ ।

कार्यज्ञा कर्त्तव्यज्ञानशालिनी । वनौकसाम् वानराणाम् । मन्त्री मन्त्रवित् सः जाम्बवान् । मतङ्गाश्रमवास्तव्याम् मतङ्गाख्यमुनिकुटीरवासिनीम् । सिद्धशबरीम् सिद्धाम् तपस्याप्राप्तसिद्धिम् शबरीं किरातजातीया रामायणकथाप्रसिद्धा वनिताम् । द्वैराज्येन सुग्रीवस्य राज्यं वाली हरति, तदिह कदाचिद् वाली राजाज्ञां प्रवर्त्तयति कदाचिच्च गूढः स्थितः सुग्रीवः, तदिदं द्वैराज्यम्, द्वैराज्यमनिश्चितस्थितिकं शासनम्, तत्र प्रकृतीनां दशा न साधुस्तिष्ठति, तथा च प्रयुक्तं नैषधीये 'चरचिरं शेषवयोवनीयद्वैराज्यभाजि त्वयि खेदमेति ।' क्षीणा अपहृतधना । लुब्धापचारिता धनलुब्धैस्तस्करैरपकृता प्रकृतयः प्रजाः सुग्रीवपुरस्था । अभिषेचय

सकेगा ? वह जब खड़ा होगा तब गाँव तथा देशके लोग भी उसके साथ खड़े हो उठेंगे, सम्बन्धियोंकी बात ही क्या ? कहते हैं—वनवह्निकी तरह लोग दुःसह दुःखजन्य तेजको विक्रमके रूपमें प्रकट करते हैं, और लोग उनका साथ देते हैं ।

शूर्पणखा—(लम्बी गरम साँस लेकर) आर्य, इस समय क्या करना चाहिये ?

माल्यवान्—सुनो वत्स, तुम सब समझती हो, वनवासियोंका मन्त्री है जाम्बवान् । मतङ्गाश्रमवासिनी श्रमणाके पास जाकर सिद्ध शबरीसे उसने प्रार्थना की है कि हम वालिके द्वैराज्यसे क्षीण बनी हुई लुब्ध तथा अपकृत प्रजायें किष्किन्ध्यामें कुमार सुग्रीवको अभिषिक्त करनेमें रामकी सहायता चाहते हैं ।

१ 'तथोक्तम्' । २ 'अग्निरिव दुःखा-' । ३ '(चिन्तां नाटयति ।) शृणु वत्से' । ४ 'श्रवणाम्' । ५ 'अपचिता' ।

प्रकृतय किष्किन्धाया [1]कुमारसुग्रीवमभिषेक्ष्यमाणा सामवायिक राम-भद्रमपेक्षन्ते ।

शूर्पणखा—(सातङ्कम् ।) कध खत्तिअपोदओ वालिणिग्गहे णि सहाओ समीहीअदि । तदो तदो । [कथ क्षत्रियपोतको वालिनिग्रहेऽपि सहाय समीक्ष्यते । ततस्तत ।]

माल्यवान्—ततश्चायोध्यात कैकेय्या भरतवार्ताहरणाय प्रेषिता मन्थरा नाम [2]स्थविरदासी [3]कठोरतरणितापवज्रानलज्वालावलीढजी-विता मिथिलाप्रान्तरे [5]तिष्ठतीति [6]निदाघकिरणान्तेवासी सतीर्थ्यमृषि याज्ञवल्क्यमुपस्थाय [7]सम्प्रत्येव निमेषमात्रान्निवृत्तो हनुमान्कथयति ।

माणा अभिषेक्तु कामयमाना , सामवायिकम् सम्भूय योद्धारम् , मिलित्वा वालि-निग्रहाय प्रयतितारम् । क्षत्रियपोतक क्षत्रियशिशु राम । समीक्ष्यते दृश्यते, एतेन रामस्य महाबलशालित्वसम्भावना कृता वस्तुनिष्ठचिन्ता ध्वनिता ।

कैकेय्या भरतस्य माता । भरतवार्ताहरणाय भरतसमाचारानयनाय । स्थविर दासी वृद्धा चेटी । कठोरस्य परिणतस्य तीव्रस्य तरणे सूर्यस्य तापेन किरण स तापेनैव वज्रानलेन भयङ्कराग्निना अवलीढम् भक्षित गृहीत जीवित यस्यास्त थोक्ता । मिथिलाप्रान्तरे मिथिलाभिमुखे दूरगामिनि शून्यवर्त्मनि कैकेय्या भरत-वृत्तज्ञानाय प्रहिता मन्थरा मध्ये मार्गमत्युग्रभास्करकरसन्ताप्यमाना वर्त्तत इत्यर्थ । निदाघकिरणस्य सूर्यस्य अन्तेवासी व्याकरणविद्याच्छात्र । सतीर्थ्यम् एकगुरुकम् । याज्ञवल्क्य सूर्याद्वेदमधीतवान् हनुमाँश्च सूर्याद् व्याकरणमिति तयो सतीर्थ्यता । उपस्थाय अभिवाद्य । निमेषमात्रात् अल्पकालविलम्बेन । एतेन

शूर्पणखा—(सभय) क्यों वालिके निग्रहमें भी उस क्षत्रियशिशुकी सहायता मागी जा रही है, इसके बाद ?

माल्यवान्—इसके बाद अयोध्यासे कैकेयी द्वारा भरतके समाचार जाननेके लिये भेजी गई मन्थरा नामकी बूढ़ी दासी सूर्यके तापरूप वज्रसे समस्त अङ्गोंकी शक्तिके लुप्त हो जानेसे मिथिला समीप प्रान्तरमें वर्त्तमान है यह बात सूर्यके शिष्य तथा अपने सतीर्थ्य महर्षि याज्ञवल्क्यकी वन्दना करके मिथिलासे लौटे हुए हनुमान्ने अभी अभी

१ 'कुमारम्' । २ 'स्थविरतरा' । ३ 'कठोरतरनरणि' ।
४ 'वज्रानलावलीढ-' । ५ 'प्राते' ।
६ 'निदाघकिरणयावरणान्तेवासी' । ७ 'सम्प्रत्येव' ।

अतस्त्वमस्मदनुरोधेन 'हनूमत्यन्वेशितस्वशरीरा[1] परपुरप्रवेशविद्यया मन्थराशरीरमधितिष्ठन्ती[2] मिथिलामुपेत्य प्रत्ययिता सविधानकमिदं दशरथगोचरीकरिष्यसि[3]। 'इत्यभाविना[4] गुरुनिदेशचर्याप्रसङ्गेन पङ्कपाषाणविषमकण्टकव्यालकुलबहुलामरण्यानीमनुप्रविष्टः[5] सर्वथा वैदेशिको राजपुत्रः कार्यगौरवान्नियतमेव वालिवधपूर्वकेण प्रतीकारसन्धिना[6] सम्बन्धेन सुग्रीवमुपगृह्णीयादिति।

शूर्पणखा—(सकौतुकम्।) अज्ज किं तं सविहाणअम्। [आर्य, किं तत्सविधानकम्।]

मन्थराया मार्गस्य वस्तुकम्। अस्मदनुरोधेन मदीयविचारमनुसृत्य। हनुमत्यन्वेशितस्वशरीरा हनुमता रक्ष्यमाणनिजतनुः, सुग्रीवकार्यसाधकतया हनुमानस्या रक्षां करिष्यति। परपुरप्रवेशविद्यया परकायप्रवेशकल्पया। अधितिष्ठन्ती प्रविशन्ती। प्रत्ययिता मन्थराशरीरप्रविष्टतयाऽङ्गीकृता। सविधानकम् कैकेय्या मन्त्रितम् रामभङ्गवनप्रेषणभरतराज्यप्रदानरूपम्। गोचरीकरिष्यसि बोधयिष्यसि। गुरुनिदेशचर्याप्रसङ्गेन पित्राज्ञापालनप्रसङ्गेन। इत्यभाविना अनेन प्रकारेण भाविना। पङ्केन कर्दमेन, पाषाणेन शिलाशकलेन, विषमाम् नतोन्नताम्, कण्टका व्यालाः सर्पाः व्याघ्रादयश्च तैर्बहुलाम् व्याप्ताञ्च। अरण्यानीम् महावनम् अनुप्रविष्टः प्राप्तः। वैदेशिकः अन्यदेशादागतः। राजपुत्रः रामः, कार्यगौरवात् कर्त्तव्यस्य सीतोद्धरणस्य गौरवमपेक्ष्य। वालिवधपूर्वकेण वालिवधद्वारकेण। प्रतिकारसन्धिना परस्परोपकारकत्वमेव्या प्रतीकारसन्धिलक्षणमुक्तं चाणक्ये 'मयाऽस्योपकृतं पूर्वमयं मामुपकरिष्यति। इति यः क्रियते सन्धिः स प्रतीकार उच्यते। उपकार करोत्यस्य

बताइ है। अतः तुम हमारे अनुरोधसे अपनी देहको हनुमान्‌की देखरेखमें रखकर परकाय प्रवेश विद्याके द्वारा मन्थराके शरीरमें प्रवेश करके मिथिला चली जा सबका विश्वास प्राप्त कर ले, और यह सारी बात दशरथसे कह दे। ऐसा होनेसे गुरुवचन पालनप्रसङ्गसे पङ्क पाषाण, कण्टक, सर्पोंसे व्याप्त अरण्यमें आये हुये रामचन्द्र वैदेशिक होनेके कारण निश्चय ही वालिवधपूर्वक सुग्रीवकी सन्धिको स्वीकार कर लेंगे।

शूर्पणखा—(कुतूहलसे) वह सविधानक क्या है?

---

१ 'हनूमदवेक्षित'। २. 'उपतिष्ठन्ती'। ३ 'कुरुष्व'।
४ 'भाविना च'। ५ 'व्यालबहुलाम्'। ६ 'सन्धिना सुग्रीवम्'।

मात्यवान्—(कर्णे ।) एवमेवम । (इति कथयति ।)

शूर्पणखा—(हसन्ती ।) अहो वुड्ढरिन्छस्स कुडिलदा । तदो तदो ।
[अहो वृद्धऋक्षस्य कुटिलता ।]

माल्यवान्—[1]ततश्च सापि शबरयोगिनी [2]सुग्रीवगुणानुरोधेन मर्ममोमित्युरसिकृत्य तदैव मिथिलाभिमुखी प्रस्थितेति मे जनस्थानविहारिभिर्निशाचरैरागत्य निवेदितम् । [3]तदमुना च जाम्बवत्प्रयोगेण [4]फलता विराधप्रभृतिभिरधिष्ठितेषु विन्ध्यगिरिगह्वरेषु [5]विहरतो रामस्य सुकर कलत्रापहरणम् । अस्मदीयास्तु माया [6]सुरासुरप्रथमरेखयोधस्य युद्धमुदितात्त्रिबुधपतिना [7]वितीर्णमायाहरणमन्त्रधारिणो दशरथस्य सन्निधौ न प्रभवन्ति ।

ममाप्येष करिष्यति । अथ वापि प्रतिकारो रामसुग्रीवयोरिव' । सन्नन्थेन मत्या, उपगृह्णीयात् आश्रयेत् ।

वृद्धऋक्षस्य स्थविरभल्लूकस्य जाम्बवत । कुटिलता वक्रनीतिशालिता । शबरयोगिनी सिद्धा शबरजातीया श्रमणा नाम । सुग्रीवगुणानुरोधेन सुग्रीवस्य गुणान् अनुरुध्य । उरसिकृत्य स्वीकृत्य । मिथिलाभिमुखी मिथिलामुद्दिश्य । जनस्थानविहारिभिः वनवासिभिः । अमुना सुग्रीवसख्यफलकेन । जाम्बवत्प्रयोगे जाम्बवत्कुटिलताया प्रयुक्तेन व्यवहारेण । अधिष्ठितेषु अध्युषितेषु । विन्ध्यगिरिगह्वरेषु विन्ध्याचलकन्दरासु । विहरत भ्रमत । सुकरम् अनायाससाध्यम् । अस्मदीया राक्षसकृता । माया छलनाव्यापारा । सुरासुरप्रथमरेखयोधस्य देवासुराग्रगण्य

माल्यवान्—(कानमें) इस तरह है (कहता है)

शूर्पणखा—(हसती हुई) बूढ़े वानरकी कुटिलता तो देखें। इसके बाद ?

माल्यवान्—इसके बाद वह शबर तपस्विनी सुग्रीवके गुणानुरोधसे सब कुछ स्वीकार करके उसी समय मिथिलाकी ओर चली, यह बात निशाचर राक्षसोंने आकर तत्काल मुझसे बता दी थी। इस जाम्बवान्‌के प्रयोगसे विराध प्रभृतिसे अधिष्ठित विन्ध्य गिरि गह्वरोंमें भ्रमण करनेवाले रामकी स्त्रीका अपहरण सुकर हो जायगा। हमारी माया दशरथके समीप नहीं चल सकती है क्योंकि दशरथने सुरासुर युद्धमें प्रथम पङ्क्तिमें रहकर इन्द्रको प्रसन्न करके मायाहरणमन्त्र सीख लिया है।

---

१ 'तत सापि'। २ अनुरागात् सर्व तथत्युररीकृत्य तथैव'।
३ 'अमुना जाम्बवत'। ४ 'फलवता'। ५ 'विहरत सुकरम्'।
६ 'सुरासुरसमरप्रथमरेखा'। ७ 'त्रिभुवनविनीत'।

शूर्पणखा—(सविचिकित्सम् ।) अज्ज, उवणदस्स एव्व करीअदि ।
[आर्य, उपनतस्यैव क्रियते ।]

माल्यवान्—(विहस्य ।) [1]वत्से, साधु । वृद्धसंवादिनी ते [2]दृष्टि । यदाहु —'यो ह्युपनतस्य पुत्रदारानतिमन्यते[3] तस्योद्विग्नं मण्डलमभावायोपतिष्ठते' इति । किं पुनरस्मासु नैष निसर्गतेजस्वी संश्रयप्रवृत्तिमातिष्ठते ।

शूर्पणखा—हं । अण्णं भणामि । अवि एव्वं करिस्सदि रामभद्दो ।
[अन्यद्भणामि । अप्येवं करिष्यति रामभद्र ।]

वीरस्य । युद्धमुदितविबुधपातिना संग्रामकौशलप्रसन्नशक्रेण । वितीर्णमायाहरणमन्त्रधारिणं दत्तमायाप्रशमनमन्त्रम् इति । दशरथो हि युद्धे प्रसन्नेन्द्रेण दत्तां मायाहरणशक्तिं रक्षतीति न शक्यतेऽस्माभिर्माया काचिदुपपाद्य दशरथो वनं प्रेषयितुं राममादिशन्वारयितुमित्थं च रामे वनं गतेऽवश्यं भावि सीताहरणं तन्मूलकश्च रावणपराभव इति चिन्तावीजमुन्नेयम् ॥

उपनतस्य धनसमीपं गतस्य । एव क्रियते कल्पनमपक्रियते ।

वृद्धसंवादिनी वृद्धजनदृष्टितुल्या, यथा वृद्धा विचारयन्ति तथा त्वमपीति भाव । अतिमन्यते हरति । उद्विग्नम् शङ्काकुलम् । एकस्यास्य समीपागतस्य पुत्रदारानयं हृतवानेवमस्मानपि हरिष्यतीति शङ्काकुलम् । मण्डलं राष्ट्रम् , अभावाय विनाशाय । उपतिष्ठेत उद्यतं स्यात् । निसर्गतेजस्वी स्वभावत तीक्ष्णदृष्टि । संश्रयप्रवृत्तिम् आश्रयेण वर्त्तनम् , आतिष्ठते अङ्गीकरोति । राम कदापि नास्मानाश्रयिष्यति, यत सदीयदारापहरणं शक्यमर्पणं स्याद् यतोऽसौ निसर्गतस्तेजस्वी वर्त्तत इत्याशय ।

एवं करिष्यति पित्रादेशं मानयन्वनं प्राप्स्यति ?

शूर्पणखा—आर्य, आ पड़नेपर ऐसा किया जाता है ।

माल्यवान्—(हँसकर) वत्से, तुम बूढ़ोंकी तरह देखती हो । कहते हैं—जो व्यक्ति उपनतजनकी स्त्री पुत्रका अपहरण करता है उसके अभावके लिए सारा मण्डल उठ खड़ा होता है । क्या वह निसर्ग तेजस्वी रामभद्र हमपर संशय नहीं करने लगगा ।

शूर्पणखा—हुं, मैं कुछ दूसरी बात कह रही थी, क्या रामभद्र ऐसा करेंगे ।

---

१ साधु वत्से' । २ 'बुद्धि' । ३ 'अभिमन्यते' ।

माल्यवान्—[1]क्व सशयः ! लोकोत्तरं हि किमप्युन्मीलयन्तो जगति राज्योपभोगेभ्योऽपि बीभत्सन्ते महानुभावाः ।

शूर्पणखा—[2]अण्णं वि किं वि अणत्थन्तरं अत्थ पडिदमिति तक्केमि । [अन्यदपि किमप्यनर्थान्तरमत्र पतितमिति तर्कयामि ।]

माल्यवान्—(सहर्षम् ।) किं[3] तत् ।

शूर्पणखा—मए जणअणअराओ णिक्कमन्तीए सुदं, जधा खण्डिदसिरिकण्ठसरासणस्स दासरहिणो मच्छरेण सअलखत्तिअणिहन्ता परसुरामो परागदोत्ति । [मया जनकनगराग्निष्क्रामन्त्या श्रुतम्, यथा खण्डितश्रीकण्ठशरासनस्य दाशरथेर्मात्सर्येण सकलक्षत्रियहन्ता परशुरामः परागत इति ।]

माल्यवान्—([4]सहर्षम् ।) सर्वमुपपद्यते ।

लोकोत्तरम् सकललोकविलक्षणम् । उन्मीलयन्तः अलौकिकं चरितं प्रकाशयन्तः । बीभत्सन्ते, अलौकिकचरितं प्रकटीकुर्वन्तो महानुभावाः राज्योपभोगमपि परित्यज्य गच्छन्तीति शङ्कयते रामो वनं गन्तुमिति भावः । अनर्थान्तरम् अनिष्टविशेषः ।

जनकनगरात् मिथिलातः । निष्क्रान्तया बहिर्भूतया । खण्डश्रीकण्ठशरासनस्य खण्डितशिवधनुषः । दाशरथेः रामस्य । मात्सर्येण कोपेन । सकलक्षत्रियहन्ता समस्तराजन्यहर्ता ।

सर्वमुपपद्यते निखिलमस्मदभिमतं सिद्ध्यति, परशुरामागमनमस्मद्धितसिद्धिप्रयोजकमित्यर्थः ।

माल्यवान्—इसमें क्या सन्देह ? कुछ लोकोत्तर कर्म करनेकी इच्छा रखनेवाले राज्योपभोगसे भी घृणा करते हैं ।

शूर्पणखा—इसमें कुछ दूसरा भी अनर्थ मिल गया है, मैं ऐसा सोचती हूँ ।

माल्यवान्—(सहर्ष) वह क्या बात है ?

शूर्पणखा—जनक नगरसे निकलती हुई मैंने सुना था कि शिवधनुष भञ्जक रामने कुपित होकर सकलक्षत्रमर्दारी परशुराम वहाँ आ गये हैं ।

माल्यवान्—(सहर्ष) सब हो सकता है ।

---

१ वत्से, क्व सशयः । लोकोत्तरं किमपि रूपमुन्मीलयन्तः' ।

२ 'किं च अण्ण वि' । ३ 'कीदृश तद्' ।

४ 'सहर्षम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

भुजार्गलितनर्मदामकरचक्रदंष्ट्राङ्कुर-
व्रणप्रकरकर्कशं किमपि बिभ्रदुग्रं वपुः ।
स येन परशौ हुतो नृपतिरर्जुनः कौतुका-
दसौ कथमुपेक्षते गुरुधनुर्व्यलीकं मुनिः ॥ १५ ॥

[1]परं त्वनेनापि सकलमूर्धाभिषिक्त[2]कण्ठकाण्डरुधिरावसेकपङ्किल-कुठारेण दुरभिभवो दाशरथिः ।

भुजार्गलितेति । येन भुजाभिर्बाहुसहस्रेण अर्गलितायाः प्रतिरुद्धप्रवाहायाः नर्मदायाः नदीभेदस्य यानि मकरचक्राणि जलजन्तुनिवहाः तेषां दंष्ट्राङ्कुरैः दशनाग्रभागैः यः व्रणप्रकरः क्षतसमुदयस्तैः कर्कशम् कठोरम् किमपि अवर्णनीयम् उग्रं भीषणं वपुः शरीरं बिभ्रत् धारयन् अर्जुनः कार्तवीर्यार्जुनो नाम नृपतिः परशौ निजपरश्वधरूपाग्निभेदे हुतः क्षयं नीतः असौ मुनिः परशुरामः गुरुधनुर्व्यलीकम् निजाचार्यस्य शिवस्य धनुषो भङ्गं कथमुपेक्षते क्षंस्यति, नेदं सम्भवति यत् नर्मदां भुजैर्बद्ध्वा तत्रत्यजलजन्तुदन्तक्षतकठोरीकृतमुग्रं वपुर्दधानस्य कार्तवीर्यार्जुनस्य नृपतेर्वधाय समर्थस्य परशोर्धर्त्ता परशुरामो निजगुरुचापापमानिनं रामं मर्षयेदिति भावः । पुरा किल बाहुभिर्नर्मदाप्रवाहमवरुध्य स्त्रीभिः सह जलक्रीडां कुर्वतः सहस्रार्जुनस्याङ्गानि जलचरचक्रैः क्षतानीति पुराणवार्त्ता प्रथते । पृथ्वी वृत्तम् ॥ १५ ॥

अनेन परशुरामेण । सकलानां समस्तानां मूर्धाभिषिक्तानां राजन्यानां यानि कण्ठकाण्डानि गलनालानि तेषां रुधिरैः शोणितैरवसेकेन सेचनेन पङ्किलः पङ्कदिग्धः कुठारः परशुर्यस्य तादृशेन । समस्तक्षत्रियसंहारकपरशुनाऽपीत्यर्थः । दुरभिभवः दुर्जयः ।

अपने बाहुओंसे बाँधी गई नर्मदाके मकर समुदाय द्वारा उत्पादित दन्तक्षत चिह्नयुत भुजशाली उग्र शरीरको धारण करनेवाले कार्त्तवीर्यको जिस परशुरामने अपने कुठाररूप अग्निमें होम कर दिया था, वह परशुराम अपने गुरुदेवके धनुषका अपमान कैसे सहन करेगा ? ॥ १५ ॥

परन्तु सकलक्षत्रिय कण्ठसमुदायके रुधिरसे पङ्किल इस कुठारसे भी दशरथपुत्रका अभिभव सम्भव नहीं है ।

१ 'परमनेन' । २ 'कण्ठकन्दरा' ।

शूर्पणखा—(साभ्यसूयम् ।) अह्मो दुद्धमुहे तस्सिं खत्तिअबटुए एव्व सम्भावेदि मादामहो । [अहो दुग्धमुखे तस्मिन् क्षत्रियबटुक एव सम्भावयति मातामहः ।]

माल्यवान्—[1]वत्से, नैतज्जानासि ।

सर्वराजकदुर्धर्षं सर्वदेवमयं धनुः ।
भञ्जता रामभद्रेण [2]विजिग्ये भुवनत्रयम् ॥ १६ ॥

इदानीं तु—

राजन्यरुधिराम्भोधिकृतत्रिषवणो मुनिः ।
प्राप्तः परशुरामोऽयं न विद्मः किं करिष्यति ॥ १७ ॥

तदेहि । राजकुलमेव गच्छावः ।

साभ्यसूयम् सक्रोधम्, स चात्र रामस्य पराक्रमातिशयद्योतनकर्मा । दुग्धमुखे बाल्यावस्थे । क्षत्रियबटुके राजकुमारे । सम्भावयति उत्प्रेक्षते ।

एतत् रामस्य पराक्रमातिशयम् ।

सर्वराजकेति । सर्वं राजकं राजसमूहं दुर्धर्षं दुराकर्षम् नमयितुमशक्यम्, सर्वदेवमयम् सकलदेवांशसमुद्भवम् धनुः शैवं चापं भञ्जता खण्डयता रामभद्रेण भुवनत्रयं लोकत्रितयं विजिग्ये जितम् । यद्देवांशसम्भवं धनुः सकलैः राजभिर्नमयितुं नाशाकि तत्खण्डयितुः रामस्य प्रभावेन सकललोकविजयित्वमिति युक्तमेव रामे परशुरामदुरभिभवत्वमिति भावः ॥ १६ ॥

राजन्येति । राजन्यानां क्षत्रियाणां रुधिराम्भोधौ शोणितसागरे क्षत्रियरुधिरमये समुद्रे कृतत्रिषवणः कृतत्रिसन्ध्यस्नानोऽयं मुनिः परशुरामः प्राप्तः, किं करिष्यति रामं जेष्यति न वा इति न विद्मः न जानीमः ॥ १७ ॥

शूर्पणखा—(असूयाके साथ) उस दुधमुहे क्षत्रियकुमारके विषयमें मातामह ऐसा भाव करते हैं

माल्यवान्—वत्से, तुम नहीं जानती हो, सकल राजवर्गने दुर्नमनीय सर्वदेवमय उस धनुषका भञ्जन करके रामने त्रिलोकको जीत लिया है ॥ १६ ॥

इस समय तो—राजन्यरुधिर रूप समुद्रमें त्रिकालसन्ध्या सम्पन्न करनेवाले मुनि परशुराम आये हैं, न जाने वह क्या करते हैं ? ॥ १७ ॥

चलो राजकुलकी ओर चलें ।

---

१ (विहस्य ।) नैव नावजानासि' ।　　२ 'विजितम्' ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भकः ।

(नेपथ्ये ।)

भो भो जनकाग्निहोत्रपरिचारकाः, पाद्यं पाद्यम् । अर्घोऽर्घः ।

आजन्मब्रह्मचारी पृथुलभुजशिलास्तम्भविभ्राजमान-
ज्याघातश्रेणिसंज्ञान्तरितवसुमतीचक्रजैत्रप्रशस्तिः ।
वक्षःपीठे घनास्त्रव्रणकिणकठिने सङ्क्षुवानः पृषत्कान्
प्राप्तो राजन्यगोष्ठीवनगजमृगयाकौतुकी जामदग्न्यः ॥१८॥

जनकाग्निहोत्रपरिचारकाः—जनकस्य यदग्निहोत्रम् अग्नौ नित्यहोमविधिः, तत्र परिचारकाः सामग्रीसम्पादननियुक्ता भृत्याः । पाद्यम् पादार्थमुदकम्, अर्घः पूजा च प्रस्तूयताम्, आगतस्य परशुरामस्य पूजार्थं पाद्यादि समुपस्थाप्यतामित्यर्थः ।

आजन्मेति । आजन्म जन्मकालादारभ्य ब्रह्मचारी समाश्रितब्रह्मचर्यः, पृथुलौ दीर्घपीनौ भुजौ एव शिलास्तम्भौ तयोर्विभ्राजमाना शोभमाना या ज्याघातश्रेणि मौर्वीसमाकर्षणजन्मा किणराजिः तत्संज्ञया तद्व्याजेन अन्तरिता आच्छन्ना वसुमतीचक्रस्य क्षोणीवलयस्य जैत्रप्रशस्तिः जयप्रशंसा यस्य स तथोक्तः, घनानां कठिनानाम् अस्त्राणां व्रणैः क्षतैः ये किणाः शुष्कव्रणचिह्नानि तैः कठिने कर्कशे वक्षःपीठे उरोदेशे पृषत्कान् बाणान् सङ्क्षुवानः प्रसुप्तेनयन् राजन्यगोष्ठी राजसमूह एव वनगजाः आरण्यकाः करिणस्तेषां मृगयायामाखेटके कौतुकी धृतस्नेहः जामदग्न्यः परशुरामः प्राप्तः, अतः पाद्यादि तत्पूजासाधनमुपस्थाप्यतामिति भावः । जन्मकालावधि मुक्तसांसारिकसुखविमुखः पृथुलयोर्भुजयोः स्तम्भयोरिव विभ्राजमानानां ज्याघातश्रेणीनां व्याजेन समस्तवसुधाविजयप्रशस्तिं बिभ्राणः अस्त्रक्षतकठोरे वक्षसि बाणान् निशितानिव कर्तुमाकृशम्नयः परशुरामः क्षत्रियगजमृगया-विहारी प्राप्त इति बोध्यम् । 'पृषत्कबाणपृषताः' इत्यमरः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ १८ ॥

(दोनों जाते हैं)

(विष्कम्भक)

(नेपथ्यमें)

हे जनकके अग्निहोत्रके परिचारको, पाद्य लाओ पाद्य, अर्घ लाओ लाओ, आजन्म ब्रह्मचारी, विशाल बाहु पर वर्तमान ज्याघात परम्पराके रूपमें विश्वविजय प्रशस्तिको धारण करनेवाले, अस्त्र व्रणचिह्नसे युक्त वक्षःस्थलमें बाणोंको धारण करनेवाले, तथा क्षत्रिय-समुदाय रूप मृगवर्गको मृगयाके कौतुकी परशुराम आरहे हैं ॥ १८ ॥

अपि च—

[1]एष स्त्रैणकपोलकुङ्कुमलिपिस्तेयातिभीरौ[2] भुजे
बिभ्राणश्चतुरन्तराजविजयि ज्यानादरौद्रं धनुः ।
तूणावेव पुनस्तरां द्रढयति स्वादन्तरस्मात्पटा-
द्रूढग्रन्थि कुशचीरतन्तुभिरभिक्रुद्धो मुनिर्भार्गवः ॥ १९ ॥

(ततः प्रविशति शरचापहस्तः क्रोधोद्धतो[3] जामदग्न्यः ।)

जामदग्न्यः—(सखेदम् ।) अहह यथा [4]मृष्टभोजिना कृतान्तेन प्रत्ययमितास्ते सांयुगीनाः । वर्तमाने तु

एष इत्यादि एष भार्गवः अभिक्रुद्धः सातिशयकुपितः सन् (हरचापभञ्जनक्रुद्धो भूत्वा) स्त्रैणाः स्त्रीसम्बन्धिनो ये कपोलाः गण्डदेशास्तेषां कपोलानां या कुङ्कुमलिपयः काश्मीरद्रवलेपविशेषास्तेषां स्तेये चौर्ये सम्भोगव्यापारकापनयनेऽतिभीरौ साशङ्के स्त्रीसम्भोगसुखानभिज्ञे आबाल्यब्रह्मचारिणि भुजे चतुरन्तस्य चतुरुदधिवलयितस्य जगतो राज्ञां विजयि पराभवकारि ज्यानादरौद्रम् धनुष्टङ्कारभीषणं धनुर्बिभ्राणः धारयन्, अभिक्रुद्धो भार्गवो नाम मुनिः स्वात् निजात् अन्तरस्मात् पटात् उत्तरीयवस्त्रात् कुशचीरतन्तुभिः सूक्ष्मवल्कलसूत्रैः तूणौ एव पुनस्तरां भूयोऽपि द्रढयति दृढीकरोति । अयमतिकोपनः आजन्मब्रह्मचारी च परशुरामः स्वहस्ते भयंकरं सकलराजन्यकविजयि च धनुर्धारयन् स्वोत्तरीयवल्कलसूत्राभ्यां तूण्यौ स्वतूणौ दृढयति, एतेन तस्य युद्धोद्यतत्वं द्योतितम्, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १९ ॥

मृष्टभोजिना स्वादुभोजनशीलेन । कृतान्तेन यमेन । प्रत्ययमिताः भुक्ताः, सांयुगीनाः युद्धरसिकाः, सर्वेऽपि राजानो यमेन भक्षिताः ।

ब्रह्मचारी होनेसे स्त्रियोंके कपोल पर वर्तमान कुङ्कुमलिपिके स्तेयमें डरनेवाले अपने बाहु पर सागर पर्यन्त राजमण्डलके विजयी धनुषको धारण करनेवाले तथा अति कुपित यह परशुराम अपने उत्तरीय वस्त्रके कुश चीरात्मक सूत्रों द्वारा अपने तूणीरोंको दृढ कर रहे हैं ॥ १९ ॥

(शरचापधारी कुपित परशुरामका प्रवेश)

जामदग्न्य—(खेदके साथ) अहा, सभीको समाप्त कर देनेवाले यमराजने लड़नेवाले वीरोंको खालिया,

१ 'क्षत्रस्त्रैण'। २ 'अतिभीमे', 'अतिरौद्रे'। ३ 'क्रुधोद्धत'। ४ 'मिष्ट'।

शस्त्राशस्त्रिकथैव का नवभवद्गीर्वाणपाणिंधमा
पन्थानो दिवि संकुचन्ति वसुधा वन्ध्या न सूते भटान् ।
लक्ष्मीरप्यरविन्दसौधवलभीनिर्व्यूहपर्यङ्किका
विश्रान्तैरलिभिर्न कुञ्जरघटागण्डोद्गतैर्मोदते ॥ २० ॥

(सविमर्शाश्चर्यम् ।)

शंभुर्यद्गुणवल्लरीमुपनयत्याकृष्य कर्णान्तिकं

शस्त्राशस्त्रीति । शस्त्राशस्त्रि यद्युद्धं शस्त्रैश्च शस्त्रैश्च प्रवृत्तं तद्युद्धम्, तस्य कथा वार्ता एव का कीदृशी, सम्प्रति युद्धस्य वार्ताऽपि जगति न विद्यते सर्वेषामपि राजन्यकानां परशुरामेण हतत्वादित्यर्थः, नवभवन्तो युद्धे प्राणान् विमुच्य सद्यो जायमाना ये गीर्वाणा देवास्तेषां पाणिन्धमाः ते ये ते तथोक्ताः (युद्धहतानां देवत्व प्राप्तानामसङ्ख्यतया स्वर्गेऽहमहमिकया सञ्चरतां तेषां परस्परसङ्घर्षे पाणय पीड्यन्ते इत्याशयेनेदं पथो विशेषणम्) पन्थानः स्वर्गमार्गाः सङ्कुचन्ति अविस्तृता प्रतिभासन्ते, वन्ध्या जननसामर्थ्यशून्या वसुधा भटान् वीरान् न सूते न जनयति । लक्ष्मी जयश्रीरपि कुञ्जरघटानां साङ्ग्रामिकगजानां गण्डेभ्यः कपोलदेशेभ्य उद्गतैः निर्गतैः अरविन्दमेव सौधवलभी हर्म्यशिरोगृहम् सैव निर्व्यूहपर्यङ्किका हस्तिदन्तनिर्मितपर्यङ्कः तत्र विश्रान्तैः लब्धस्थानैः अलिभिः भ्रमरैः न मोदते न प्रीतिमासादयति, लक्ष्मीर्हि गजदानवारिलुब्धानां भ्रमराणां समूहो गजकपोलदेशा दुत्पत्य कमलानि यावदाश्रयतिस्म, करिकपोलयोरेव दानलुब्धतया तिष्ठति स्म तावत् कमलकुलवासिनी लक्ष्मीरानन्देन कमलेषु वसति स्म, सम्प्रति युद्धकथा समाप्तौ साङ्ग्रामिकगजानुपलभ्य सर्वेऽपि भ्रमराः करिकपोलमपहाय कमलमेवा श्रिता इति लक्ष्म्याः परितोषमात्रे कारणं बोध्यम् । 'निर्व्यूहः शेखरे द्वारे निर्व्यूहो नागदन्तके' इति धरणिः । 'पर्यङ्किका तु खट्वा स्यात्' इति मेदिनी । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

शम्भुरिति । शम्भुः शिवः यस्य धनुषः गुणवल्लरीं मौर्वीलताम् आकृष्य कर्णा

अब लड़ाई की तो बात ही नहीं रही, नये नये देव बननेवाले लोगोंसे आवृत स्वर्गका मार्ग बन्द हो गया, पृथ्वी पर वीरोंके जन्म होते ही नहीं वह वन्ध्या ही रही है, लक्ष्मी भी अब गजघटाके कपोलस्थलवर्ती भ्रमरोंसे नहीं किन्तु कमल रूप भवनकी पर्यङ्किका पर विश्राम करनेवाले भ्रमरोंसे अपना दिल बहलाया करती है ॥ २० ॥

(विचार करके साश्चर्य) महादेव जिसकी प्रत्यञ्चाको आकृष्ट करके कानों तक ले

१ 'निर्यूह'। २ 'उत्कट'। ३ 'सुखी'।

भ्रश्यन्ति त्रिपुरावरोधसुदृशां कर्णोत्पलग्रन्थयः ।
स्व चास्फालयति प्रकोष्ठकमिमामुन्मुच्य तासामहो
भिद्यन्ते वलयानि दाशरथिना तद्भग्नमैशं धनुः ॥ २१ ॥

(सरोषविष्टं परिक्रमन् ।) भो भो विदेहा, क्व रामो दाशरथिः ।

यस्मिन्नर्जुनदोःसहस्रमलकप्रोद्गच्छदस्रच्छटा

न्तिकं स्वश्रवणसामीप्यम् उपनयति प्रापयति, (तावत्) त्रिपुरावरोधसुदृशाम् त्रिपुरास्य पुरस्त्रीणाम् कर्णोत्पलसन्धिग्रन्थनानि भ्रश्यन्ति विगलन्ति (शम्भुना यस्मिन् धनुषि कर्णान्तिकोपनीतमौर्वीके कृते सति त्रिपुरावरोधा भाविस्वामिवधाशङ्कयाऽलङ्कारभूतं कर्णोत्पलं शिथिलबन्धनतां नयन्ति) शम्भुः च स्व निज प्रकोष्ठकम् बाहुभागम् आस्फालयति ताडयति सति तासां त्रिपुरावरोधसुदृशाम् वलयानि कङ्कणा भिद्यन्ते त्रुट्यन्ति, पत्यपायस्य निश्चितत्वेन समाप्यन्ते, तद् ऐशं धनुः दाशरथिना रामेण भग्नम् त्रोटितम्। अयमाशयः—रामस्तस्य शिवधनुषो भङ्गं कृतवान् यस्मिन्धनुषि ज्यामाधाय हरेण कर्णान्तिकमानीयमाने स्वस्वामिविनाशसम्भावनया त्रिपुरावरोधसुदृशो निजमलङ्कारभूतं कर्णोत्पलं शिथिलबन्धनं कुर्वते, किञ्च तेन धनुषा करस्थे यदा शम्भुः स्वं प्रकोष्ठमास्फालति तदा त्रिपुरावरोधसुदृशां वलयानि पतन्ति भाविपति निरहङ्कसंदोहत्वेन स्खलन्ति, स महदनुचितं कृतं तेनेति । अत्र यस्य कर्णान्तिकं धनुरागच्छति तस्यैव कर्णोत्पलभ्रंशः, यस्य च प्रकोष्ठकास्फालनं तस्यैव वलयभेदः उचितस्तथाप्यत्र शिवस्य धनुषि तत्कर्णान्तिकमुपागच्छति त्रिपुरावरोधसुदृशाम् कर्णोत्पलभ्रंशस्य, शिवप्रकोष्ठकास्फालने सति त्रिपुरावरोधसुदृशीवलयभेदस्य चोपनिबन्धनात् कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतयाऽसङ्गतिर्नामालङ्कारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २१ ॥

यस्मिन्निति । अर्जुनस्य तदाख्यया प्रसिद्धस्य दोः सहस्रं सहस्रसङ्ख्याका भुजास्त एव नलकानि प्रवाहास्तेभ्यः प्रोद्गच्छन्ती निस्सरन्ती या अस्रच्छटा रुधिरधारा

जाते हैं, जिसमें त्रिपुरासुरकी स्त्रियोंके कर्णोत्पलोंकी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, और जब महादेव इस धनुषको तानकर अपने प्रकोष्ठको आकृष्ट करते हैं तब त्रिपुरासुरकी स्त्रियोंके हस्ताभरण टूटने लगते हैं, उसी धनुषको दशरथके पुत्रने तोड दिया ॥ २१ ॥

(सरोष भ्रमण करते हुए) अरे ओ विदेहगण, दशरथ पुत्र राम कहाँ है ?

सहस्रार्जुनके सहस्रभुजरूपनालोंसे निकलती हुई रुधिर धारासे भीषण जिस कुठारमें

१ 'क्रणत्तेद्वरतम्'।

जिह्वाले जुहवावभूविम रुषा राजन्यसत्त्रामपि ।
सोऽय[1] प्राक्कवलग्रहस्य विघसीभूतेष्वपि क्षत्रिय-
क्षुद्रेषु क्षुधितश्चिरेण परशुस्तेनायमन्विष्यते ॥ २२ ॥

(तत प्रविशति सधैर्यप्रमोदो[2] दाशरथी राम ।)

राम —

साक शक्तिधरेण तत्रभवतो देवाद्भवानीपते
र्ये सम्यञ्चमवाप चापनिगम सम्यञ्चि सामानि च ।
शूराणा च तपस्विना च परमा काष्ठामधिष्ठास्नुभि[3]
स्तेजोभिर्भगवानसौ भृगुपतिर्दिष्ट्याऽद्य दर्शिष्यते ॥ २३ ॥

तया जिह्वाले रसनाशालिनि यस्मिन् निजपरशौ रुषा कोपेन राजन्यसत्त्राम् सकलक्षत्रियास्तित्व जुहवाम्बभूविम हुतवन्तो वयमिति शेष । कार्त्तवीर्यार्जुन भुजभारनलकनिर्यद्रुधिरधाराप्रकटितरसने यस्मिन् परशौ वय सकलक्षत्रकुल हुतवन्त इत्यर्थक परशुपराक्रमबोधकमेक वाक्यम् । सोऽय परशु प्राक्कवल ग्रहस्य पूर्व कवलीकृतस्य विघसीभूतेषु भुक्तावशिष्टोच्छिष्टरूपेषु अपि क्षत्रियक्षुद्रेषु राजन्यापसदेषु चिरेण क्षुधित बहो कालाद् बुभुक्षित विद्यते, तेन मम परशु नाऽय हरधनुर्भङ्गसाहसी रामोऽन्विष्यते मृग्यते । येन परशुना पूर्व सर्वे राजानो हता स एनाय मम परशु निहतावशेषान् क्षत्रियाञ्जिघासुर्भूत्वा सम्प्रति हरचाप भञ्जक राममन्विष्यतीति भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २२ ॥

साकमिति । य परशुराम शक्तिधरेण कुमारकार्त्तिकेयेन साक सह तत्र भवत पूजनीयात् देवात् भवानीपते शिवात् सम्यञ्च साधुरूपम् चापनिगम धनुर्वेद सम्यञ्चि साधुस्वरूपाणि सामानि सामवेदशाखाश्च अवाप अधीतवान् शूराणाम् तपस्विनाञ्च परमा काष्ठाम् चरमा कोटिम् अधिष्ठास्नुभि आश्रितवद्भि तेजोभि प्रभावै (उपलक्षित) असौ भगवान् सर्वसामर्थ्ययुक्त भृगुपति अद्य सम्भवि

मैने सकल क्षत्रियकुलकी सत्ताका होम कर दिया, वही यह मेरा कुठार आज पूर्वभक्षितसे शेष क्षुद्र क्षत्रियों पर क्षुधित हो उठा है और वह रामको ढूंढ रहा है ॥ २२ ॥

(धैर्य तथा आनन्दसे युक्त रामका प्रवेश)

कार्तिकेयके साथ जिन्होंने शिवजीके चरणोंमें चापविद्या तथा सामवेदका यथावत् अध्ययन किया, पराकाष्ठाको पहुँचनेवाले अपने प्रतापसे वीरों तथा तपस्वियोंके अग्रगण्य वही परशुराम सौभाग्यवश हमारे सामने होंगे ॥ २३ ॥

१ 'अय'। २ 'सधैर्यसम्भ्रमो राम'। ३ 'अधिष्ठातृभि'।

जामदग्न्यः—(सखेदोपालम्भमात्मानं प्रति ।)

भस्माङ्कुरेति खुरलीकलहे कुमार-
　　मप्याक्षिपन्परुषरोषरसान्धचेताः ।
दृष्टोऽस्मि यः कृतमिथोहसितं शिवाभ्यां
　　तच्चापभङ्गमपि हा सघृणः शृणोमि ॥ २४ ॥

([1]विमृश्य च ।) अहो मामरण्यनिवासिनमुपश्रुत्य दुरात्मना रघु-कुटुम्बकेन दूरमुच्छ्वसितम् । (निर्विद्य्चैः ।)

दिष्ट्या मत्सौभाग्येन दर्शिष्यत साक्षात् करिष्यते । यो भगवान् परशुरामः शिवेन सुतनिर्विशेषं धनुर्वेदे सामवेदे च शिक्षितः, यश्च वीरतपरित्यक्तप्रभावेण परां प्रतिष्ठां प्राप्तस्तमधुना प्रत्यक्षीकरिष्यामीत्यहो मम सौभाग्यमिति भावः । 'शक्तिधरः कुमारः क्रौञ्चदारणः' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २३ ॥

भस्माङ्कुरेति । परुषः कठोरो यो रोषरसः कोपरस्तेन अन्धं विचारशून्यं चेतो यस्य तथोक्तः यः अहम् खुरलीकलहे धनुर्वेदाभ्यासपाटवस्पर्धाविवादे कुमारम् कार्त्तिकेयम् अपि भस्माङ्कुर नष्टतापसपुत्र इत्याक्षिपन् निन्दावाक्येन भर्त्सयन् शिवाभ्याम् हरपार्वतीभ्याम् कृतमिथोहसितम् अन्योन्यस्मितपूर्वकम् दृष्टः, सोऽहम् शिवयोः सुतापेक्षयाऽप्यधिप्रीतिभाजनं भूत्वाऽपि सघृणः स्वकर्त्तव्यभावनाविरहितः सन् तच्चापभङ्गम् हरचापखण्डनकथाम् शृणोमि, नेतन्मम योग्यमिति भावः । 'अभ्यासः खुरली योग्या' इति हारावली ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २४ ॥

माम् परशुरामम् । अरण्यवासिनम् वने वसन्तं तपस्यासमासक्तम् । उपश्रुत्य आकर्ण्य । रघुकुटुम्बकेन रघुकुलोत्पन्नेन राजसमूहेन । दूरम् अत्यथम् । उच्छ्वसितम् साहसं कृतम् । मदीयारण्यवासं श्रुत्वा रघुकुलं नितरां साहसिकं सञ्जातमित्यर्थः ॥

जामदग्न्य—(खेद तथा उलाहनेके साथ स्वगत) शस्त्राभ्यास-कलहकालमें जब मैं कुमारको 'भस्माङ्कुर' कहकर ललकारता था और क्रोधसे हमारा हृदय अन्धा हो उठता था, तब मुझे शिव पार्वती परस्पर हासपूर्वक देखती थीं, वही मैं आज निर्दयभावसे उनके चापके टूटनेकी बात सुन रहा हूँ ॥ २४ ॥

(विमर्श करके) हाय, मुझे वनवासी समझकर दुरात्मा दशरथपरिवारने बहुत

---

१ '(विमृश्य ।) अहो नु खलु मामरण्यवासिनम्' ।

रे काकुत्स्थाः कथं वः श्रुतिविषयमयं नागमद्भार्गवीयो
दुःसामन्तापचारप्रचितपितृवधामर्षनिस्तारबन्धुः ।
वारानासप्तविंशान्विशमिततविषमक्षत्रजातिप्ररोहः
क्रोधादुत्कृत्तगर्भामिषरुधिरवसाविस्रगन्धिः कुठारः ॥ २५ ॥

राम —(दृष्ट्वा सहर्षबहुमानम् ।)

जेतारं दशकन्धरस्य रभसाद्दोःश्रेणिनिःश्रेणिका-
तुल्यारूढसमस्तलोकविजयश्रीपूर्यमाणोरसम् ।

रे काकुत्स्था इति । रे काकुत्स्थाः ककुत्स्थकुलोत्पन्नाः क्षत्रियाः, दुःसामन्तानां दुष्टक्षत्रियाणाम् अपचारेण अत्याचारेण प्रचितः कृतो यः पितृवधः मदीयपितृहत्या, तेन यः अमर्षः शत्रुस्वनिर्यातनेच्छा तस्य निस्तारे पूर्तौ बन्धुः सहायभूतः, आसप्तविंशान् वारान् एकविंशतिवारान् विशमितः निहतः विषमक्षत्रजातिप्ररोहः दुष्टराजन्यकुलाङ्कुरो येन स तथोक्तः, क्रोधात् उत्कृत्ताः खण्डिताः ये (क्षत्रिय स्त्रीणाम्) गर्भाः तेषां यत् आमिषम् मांसम् रुधिरं शोणितम् वसा मेदाः च तैः विस्रगन्धिः आमगन्धिः भार्गवीयः परशुरामसम्बन्धी कुठारः कथं वः युष्माकम् श्रुतिविषयं न अगमत् न श्रुतः । यो मम कुठारः दुष्टराजभिरत्याचारेण मम पितरि निहते जातेन कोपेन एकविंशतिवारान् क्षत्रजातिप्ररोहानलुनात्, यश्च तावताऽप्य शान्तकोपः क्षत्रियस्त्रीणां गर्भानपि छित्त्वा तदीयमांसासृङ्मेदोभिरामगन्धितामभजत् तदीयं नाम किं यूयं न श्रुतवन्तो येनैतावत् हरचापभञ्जनमाहसिकं प्रकाशितवन्त इति भावः । 'विस्रस्यादामगन्धि यत्' इत्यमरः । पूर्वं सहस्रार्जुनेन जमदग्निर्हतः, तदनन्तरं पितृवधामर्षात्परशुरामेण क्षत्रिया हता इति कथाऽत्र पृष्ठभूमिः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ २५ ॥

जेतारमिति । यः भार्गवः दशकन्धरस्य दशग्रीवस्य रावणस्य जेतारम् परिभवितारम्, तथा दोःश्रेणिः सहस्रसंख्यकभुजपरम्परा एव निःश्रेणिका अधिरोहणी तत्र तुल्यारूढा एककालमारूढा या समस्तलोकविजयश्रीः सकलभुवनजयलक्ष्मी

साहस कर लिये (कुछ उच्च स्वरसे) अरे ककुत्स्थवंशके लोगो, दुष्टक्षत्रियोंके अपचारसे उत्पन्न पितृवधजन्य कोपसे मुक्ति दिलानेवाले इक्कीसबार क्षत्रियजातिके अङ्कुरोंको खण्डित करनेवाले, तथा क्रोधमें खण्डित क्षत्रिय गर्भके रुधिर मांस वसादिके सम्पर्कसे आमगन्धि इस भार्गवकुठारके सम्बन्धमें तुम लोगोंने कुछ नहीं सुना है ॥ २५ ॥

राम—(देखकर हर्ष तथा आदरसे) रावणको जीतनेवाले तथा भुजमण्डलरूप पर्यंङ्कपर एक साथ समस्त विश्वविजय लक्ष्मियोंको बैठाकर हृदयमें धारण करनेवाले,

य सङ्ख्ये निजघान हैहयपतिं शत्रोर्मुखं दृष्टवा-
न्य पृष्ठं ददतोऽपि षण्मुखजये सोऽयं कृती भार्गवः ॥२६॥

(क्षणं च निर्वर्ण्य सस्मितम् ।) अहो सङ्कीर्यमाणानेकरसानुभावगम्भीर-मधुरोऽयमस्याभोगः । तथाहि ।

जटां धत्ते मूर्धा परशुधनुषी बाहुशिखरं
प्रकोष्ठो रौद्राक्षं वलयमिषुदण्डानपि करः ।
प्ररूढप्रौढास्त्रव्रणविकटरौद्राद्भुतमिदं

स्तया पूर्यमाणम् भृत सनाथमुरो वक्षो देशो यस्य तथाभूतम् , हैहयपतिं कार्त्त-वीर्यार्जुनं सङ्ख्ये युद्धे निजघान हतवान् , यश्च षण्मुखजये कार्त्तिकेयपराजयकाले पृष्ठं ददतः पराङ्मुखीभूतस्य पलायमानस्यापि शत्रोः षण्मुखस्य मुखं दृष्टवान् षण्मुखस्य पृष्ठदेशेऽपि मुखशालितया वदनं साक्षात्कृतवान्, सोऽयं कृती रणकुशलो भार्गवः अस्तीति शेषः । अयमर्थः—यः कार्त्तवीर्यो रावणमपि जिगाय, यस्य भुजमयूखरूपनिश्रेणिकाद्वाराऽऽरुह्य सकलभुवनमङ्गललक्ष्मीर्वक्षोदेशमधितिष्ठति स्म, तमपि जितवांस्तथा षण्मुखमपि युद्धे विजितं कृत्वा तदीयं पृष्ठस्थं मुखं साक्षात्कृतवानयं भगवान् परशुराम इति । 'निःश्रेणिस्त्वधिरोहिणी' इत्यमरः । शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् ॥ २६ ॥

सङ्कीर्यमाणेति । सङ्कीर्यमाणाः एकत्राश्रये मिलिता ये अनेके रसाः वीरशान्त्या-दयः , तेषामनुभावेन सम्बन्धप्रभावेण गम्भीरः दुरवगाहः मधुरः रमणीयः । अस्य परशुरामस्य । आभोगः शरीरावयवविस्तारः । परशुरामशरीरस्यानेकरससामग्री पूर्णत्वमुक्तं, तदेवोपपादयिष्यति 'जटां धत्ते' इत्यादिना वक्ष्यमाणश्लोकेन ॥

जटां धत्त इति (अस्य भार्गवस्य) मूर्धा शिरोदेशः जटां धत्ते धारयति, बाहुशिखरम् भुजाग्रदेशः परशुधनुषी कुठारं धनुश्च धत्ते, प्रकोष्ठः हस्तभागः रौद्राक्षं वलयं रुद्राक्षमालाम् , करः हस्तश्च इषुदण्डान् शरान् धत्ते, प्ररूढेन जातेन प्रौढेन महता अस्त्रव्रणेन अस्त्रक्षतेन विकटं भीषणं रौद्राद्भुतम् रौद्ररसेन विस्मय

कार्त्तवीर्यार्जुनको जिन्होंने युद्धमें निहत किया, और जिन्होंने युद्धसे भागते हुए कार्त्तिकेय का मुख देखा, यद्यपि वह पीठ दिखला रहे थे, वही हैं यह कुशलकर्मा भार्गव ॥ २६ ॥

(थोडी देर देखकर सहास) अहो इनके आकारमें अनेक रसोंका सम्मिश्रण है जिससे यह प्रभावशाली तथा रमणीय प्रतीत होते हैं, क्योंकि —

इनके सिर पर जटा है और बाहुमें कुठार तथा धनुष हैं, प्रकोष्ठमें रुद्राक्ष है और

प्रशान्तामैणेयीं त्वचमपि च वक्ष कलयति ॥ २७ ॥

(इत्युपसर्पति ।)

जामदग्न्य —(विलोक्य ।) [1]कथमयमसौ [2]श्रूयमाणगुणानुकल्पिताकारसवादी दाशरथि । साधु रे राजन्यपोत, साधु ।

सविधमुपसरन्समूलकाष कषितनृपान्वयमद्य मा धिनोषि ।
हरिमिव करिकुम्भकूटकोटिप्रकटकठोरनखाङ्कुरं कुरङ्ग ॥ २८ ॥

जनक च वक्ष उर चापि प्रशान्ता सौम्याम् ऐणेयीम् मृगमम्बन्धिनीम् त्वच कृत्ति कलयति धारयति । जटया शान्ति, परशुधनुर्भ्यां वीरता, रुद्राक्षवलयेन शान्ति, इषुदण्डे पुनर्वीरभाव, उरसि स्थितैरस्त्रक्षतचिह्नैर्वीरता रौद्रता अद्भुतता च, पुनरैणेयत्वचि शान्तिरित्यस्य वपुरनेकरससामग्रीसवलिततयाऽद्भुतमिति भाव । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २७ ॥

श्रूयमाणानुकल्पिताकारसवादी श्रूयमाणो लोकै कथितो मया श्रुतश्च अनुकल्पितस्तेन मनसि स्थिरीकृतो य आकारस्तत्सवादी तदनुहारी । दाशरथि राम । राजन्यपोत क्षत्रियशिशो ।

सविधमुपसरन्निति सविधमुपसरन् मदन्तिकमागच्छन् त्वम् समूलकाषम् आमूलचूलम् कषितनृपान्वयम् निहतराजकुलम् माम् परशुरामम् अद्य अधुना कुरङ्गो मृग करिणा गजाना ये कुम्भा मस्तकदेशास्तेषा कूटानि शिखराणि तेषा कोटौ तत्सङ्घातायाम् प्रकट प्रसिद्ध कठोर तीक्ष्णो नखाङ्कुरो नखाग्रभागो यस्य तथाविध हरिं सिंहमिव धिनोषि प्रीणयसि । यथा करिकुम्भकूटकोटिपाटन विदधत सिंहस्य तृप्तये समीपमुपसरन् कुरङ्गो जायते तथैव समूलकषितक्षत्रकुलस्य मम

हाथ में धनुष तथा बाण विद्यमान हैं, वक्ष स्थल पर अस्त्र प्रहार के चिह्नों की रौद्रता स्थित है और शान्तिव्यञ्जक मृगचर्म भी है ॥ २७ ॥

(समीप जाते हैं)

जामदग्न्य—(देखकर) क्या यह वही दशरथपुत्र है जिसके सुने गये गुण आकार से मिल जुल रहे हैं, साधु रे क्षत्रियकुमार, साधु,

समूल क्षत्रिय वश के सहार करनेवाले परशुराम के पास आता हुआ तुम उसे उसी तरह आनन्दित कर रहा है जैसे गजकुम्भ-समुदाय पर नख कोटि को प्रकट करनेवाले सिंह के पास आता हुआ हरिण उसे आनन्दित करता है ॥ २८ ॥

---

१ 'भा, कथमसौ' । २ गुणानुरूपकल्पिताकार–' ।

राम —(सस्मितम् ।) भगवन्भार्गव, [1]गुरुगर्भरूपयोरेतावदेवान्तरम् । किं च[2] ।

आदेष्टा भगवान्भृगुर्जनकयोरौत्पत्तिकब्राह्मयो
देवो धूर्जटिरस्त्रकर्मणि गुरुर्वीर्यं च दूरे गिराम् ।
सप्तद्वीपवतीं ददद्भुवमभिप्रैषि द्विजान्कश्यप-
प्रायान[3]प्रतिमानुभाव भवते कस्मैचिदस्मै नमः ॥ २९ ॥

समीपमुपसर त्वं मा भैष्यसीत्युपमया यथासौ कुरङ्गो हरिणा तेनानानाय व्यापाद्यते तथैव त्वमपि मया व्यापादयिष्यसे इति वस्तुनो ध्वनिः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ २८ ॥

गुरुः महान्, गर्भरूपः अतिक्षुद्रो बालकः, तयोरेतावदेव अन्तरं भेदः, यथा कुरङ्गसिंहयोरन्तरं तथैव मम भवतश्च तत्त्वदुक्तं सत्यमेवेति भावः ॥

आदेष्टेति अप्रतिमानुभाव हे अनुपमप्रभाव, भगवान् भृगुः औत्पत्तिकब्राह्मयोः मातृकुक्षिजन्मसावित्रजन्मनो जनकयोः आदेष्टा उपदेशकः जन्मदातोपनेता च, देवः धूर्जटिः शिवः अस्त्रकर्मणि धनुर्वेदशिक्षायाम् आचार्यः शिक्षकः, वीर्यं पराक्रमश्च गिरां दूरे अवर्णनीयम् इत्यर्थः । सप्तद्वीपवतीम् सप्तद्वीपशालिनीम् भुवं पृथिवीं ददत् कश्यपप्रायान् कश्यपादीन् द्विजान् ब्राह्मणान् अभिप्रैषि स्वदानक्रियाकर्मणा सप्तद्वीपया वसुमत्या योजयितुमिच्छसि कश्यपादिभ्यो ब्राह्मणेभ्यो धरां वितरसीत्यर्थः, कस्मैचित् अचिन्त्यसर्वगुणाय अस्मै भगवते परशुरामाय नमः । औत्पत्तिकब्राह्मजन्मनोर्भृगुरादेष्टेतिकथनेन बीजशुद्धिः संस्कारशुद्धिश्चोक्ता, किञ्च धूर्जटिरस्त्रोपदेष्टेत्यनेन सम्प्रदायशुद्धिरुच्यते, वीर्यं गिरां दूरे इत्यनेन च पात्रशुद्धिकृत उत्कर्षः प्रकाश्यते, कश्यपादिभ्यो धरादानेन सत्त्वशुद्धिश्चेति सर्वशुद्धिनिधये भवते प्रणतास्मीति भावः । 'जम्बुप्लक्षकुशक्रौञ्चशाकशाल्मलिपुष्कराः । द्वीपाः सप्तेति'। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २९ ॥

राम—भगवन्, गुरुओं तथा बालकोंमें इतना ही अन्तर होता है ।

आपको औत्पत्तिक तथा सांस्कारिक जन्म भगवान् भृगुने दिया, अस्त्रकी शिक्षा महादेवने दी, आपके पराक्रमका वर्णन अशक्य है, सप्तसमुद्रवेष्टिता पृथ्वीको देते हुए आप सभी ब्राह्मणोंको कश्यपके समान समझते हैं, आपका प्रभाव अतुल है, आपको नमस्कार है ॥ २९ ॥

१ 'गुरुगर्भयो' 'गुरुभयो'। २ 'तु'। ३ 'अप्रतिमप्रभाव'।

इमां च क्षत्राणां भुजवनमहादुर्गविषमां
मय वीरो वारानजयदुपविंशान्वसुमतीम् ॥ ३२ ॥

राम —शान्तं शान्तम् । [1]प्रसीद भगवन् , अविमृश्यकारितया न गणितोऽसि । न पुनरवलेपात् ।

स्त्रीषु प्रवीरजननी जननी तवैव
देवी स्वयं भगवती गिरिजापि यस्यै ।
त्वद्दोर्विशीकृतविशाखमुखावलोक-
व्रीडाविदीर्णहृदया स्पृहयांबभूव ॥ ३३ ॥

जन्म रता यस्य तथोक्तश्च समभवत् सञ्जात । अथ महल्लक्षणो वीरश्च उपविंशान् वारान् एकविंशतिधा क्षत्राणां क्षत्रियाणां भुजवनानि एव महादुर्गाणि तैः विषमाम् दारुणाम् वसुमतीम् पृथ्वीम् अजयत् जितवान् । मया सह युध्यमानो महासेन पलाय्य प्राणानरक्षीत्, किन्त्वहं क्षत्रियभुजवनरूपदुर्गशालिनीमिमां पृथ्वीमेकविंशतिवारानजैषम् , तदीदृशोऽप्यहं त्वया न गणित इत्यहो तव साहसिकत्वम् इत्याशय । 'कार्त्तिकेयो महासेन शरजन्मा षडानन ' इत्यमर ॥ ३२ ॥

प्रसीद क्षमस्व । अविमृश्यकारितया अविवेकितया । न पुनरवलेपात् गर्वात् न केवलं ममाविवेकित्वमेव तवागणनाया कारणं न पुनर्मम दर्पं, मयि तस्याभावादिति भाव ॥

स्त्रीषु प्रवीरेति । स्त्रीषु स्त्रीणां मध्ये तवैव जननी माता रेणुका प्रवीरजननी प्रकृष्टवीरप्रसविनी, स्वयं भगवती गिरिजा पार्वती अपि तव दोष्णा भुजेन त्वदीय बाहुबलेन वशीकृतस्य निर्जितस्य विशाखस्य कार्त्तिकेयस्य मुखावलोकेन वदन दर्शनेन या व्रीडा लज्जा तया विदीर्णहृदया दुःखितहृदया यस्यै तव जनन्यै स्पृह

कार्त्तिकेयने अपनेको दो बार शरजन्मा समझा, उस वीर परशुरामने क्षत्रियोंके भुजवन विषमा इस पृथ्वीको इक्कीस बार जीता ॥ ३२ ॥

राम —शान्त शान्त ! कृपा कीजिये महाराज, अविचारके कारण हो आपको नहीं गिना, गर्वसे नहीं गिना यह बात नहीं है ।

स्त्रियोंमें वीरजननी आपकी ही माता है, आपके द्वारा पराजित कार्त्तिकेय के मुखको देखकर लज्जासे विदीर्णहृदया होकर स्वयं देवी पार्वतीने आपकी माताके प्रति अपनी स्पृहा प्रकट की थी ॥ ३३ ॥

---

१ 'प्रसीद' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

जामदग्न्य —(विहस्य ।) रे राजन्यपोत,[1]

अनुभवपुनरुक्तां मुञ्च न स्तोत्रचर्या-
मुपनमय तदेतत्कौशिकोपज्ञमस्त्रम् ।
क्षिपति न खलु कालं वीरगोष्ठीविनोद-
प्रियपरशुरयं मे बाहुरुद्यच्छमानः ॥ ३४ ॥

राम —(स्वगतम् ।) अये, भगवन्तं विश्वामित्रमपि स्पृशति । भवत्वेवं तावत् । (प्रकाशम् । सधैर्यस्मितम् ।)

याम्रभूव स्पृहाञ्चकार । धन्या भार्गवजननी यस्याः पुत्रो ममापि पुत्रमजयत्, इति मनसि विभावयन्ती स्वापेक्षया या गरीयसीं मनुते स्म भगवती गिरिजा, तादृशी तव जननी धन्येति भावः । 'विशाखः शिखिवाहनः' इत्यमरः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३३ ॥

अनुभवेति । अनुभवपुनरुक्ताम् प्रयत्नसिद्धाम् न अस्माकं स्तोत्रचर्याम् मुञ्च स्तुतिवार्ता परित्यज । तदेतत् कौशिकोपज्ञम् विश्वामित्रशिक्षितम् अस्त्रम् उपनमय उपनमय उपगच्छ, वीरगोष्ठी शूरजनसभा संग्रामः तत्र विनोदप्रियः तद्रसिकः परशुः कुठारो यत्र तादृशः उद्यच्छमानः युद्धोद्यतो मम बाहुः कालं समयं न खलु क्षिपति नैव प्रतीक्षते, मदीयः समस्तोऽपि वीरत्वमनुभवप्रमापितमियत् तत्स्तुत्या रक्षणतया, युद्धाय सज्जो भव विश्वामित्रवितीर्णं च रक्षणास्त्रमुपनमय, युद्धरसिको ममायं कुठारो मदीये बाहौ स्थितस्त्वं युद्धाय प्रेरयति, तदसौ समयप्रतीक्षानर्ह इति भावः । कौशिकः उपज्ञा आद्योपदेष्टा यस्य तत्कौशिकोपज्ञम् 'उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यादि'ति कोषः । मालिनीवृत्तम्, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणम् ॥ ३४ ॥

विश्वामित्रमपि स्पृशति निन्दयति शेषः, मदीयनिन्दाद्वारा मद्गुरुमपि निन्दतीत्यर्थः ।

जामदग्न्य—(हँसकर) अरे क्षत्रियकुमार, अनुभवों द्वारा सत्यापित हमारी प्रशंसाकी बात छोड़ दो, तुमने कौशिकसे जिस अस्त्रकी शिक्षा प्राप्त की है उसे प्रकटकर, यह प्रियपरशु तथा फटकता हुआ हमारा बाहु इस वीरगोष्ठी विनोदको नहीं पसन्द करता है ॥ ३४ ॥

राम—(स्वगत) अरे, यह तो भगवान् विश्वामित्रको भी समेटे जा रहा है रहे तब

---

१ 'रे राजन्यपोत' इति क्वचिन्नोपलभ्यते ।

भूमात्रं कियदेतदर्णवमयं[1] तत्साधितं हार्यते
यद्वीरेण भवादृशेन वद्रति त्रिः सप्तकृत्वो जयः ।
डिम्भोऽयं नवबाहुरीदृशमिदं घोरं च वीरव्रतं
[3]तत्कोपाद्विरम प्रसीद भगवञ्जात्यैव पूज्योऽसि नः ॥३५॥

जामदग्न्यः—(सक्रोधकम्पं स्वगतम् ।) अहो दुरात्मनोऽस्य राजन्यपोतस्य [4]वीरप्रहृताया पद्धतेरस्खलितमुक्तिर्नैदग्ध्यम् । ([5]प्रकाशम् ।) आः पाप, जात्यैव केवलया [6]पूज्यते परशुराम । कथमद्यापि निरायुधोऽसि ।

भूमात्रमिति । एतत् भूमात्रं कियत् अत्यल्पमिदं भूमण्डलम्, तदपि अर्णवमयं सागरव्याप्तं साधितं जितं सत् भवादृशेन वीरेण हार्यते पुनः परवशं नीयते यत् भवता जितस्य सागरव्याप्तस्य भूमण्डलस्य परिहरणात् त्रिः सप्तकृत्वः एकविंशति वारान् नियमाणो विजयः वदति कथयति, अन्यथा जितस्य पुनर्न्यायोगात् पुनः पुनर्जयोद्योगः जितायाभुवः परिहरणं प्रमापयति, तथा सत्येव पुनर्जयोद्योगसम्भवात् । अयम् डिम्भः बालः अहम् नवबाहुः नवप्रासभुजः कोमलबाहुः, इदञ्च वीरव्रतम् युद्धम् ईदृशं घोरम् भीषणम्, तत् तस्मात् हे भगवन् जामदग्न्य प्रसीद प्रसादं भज, कोपाद्विरम निवृत्तो भव, जात्या एव नः अस्माकं पूज्यः असि ब्राह्मणत्वादेव तव पूज्यता अतोऽस्मत्सात् कोपो नेति भावः । अत्र नवोद्यनर्जुनेन बालकेन मया यदि तव पराजयो जायते तदाऽतीवापमानः स्यादिति कोपनिवृत्तावेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३५ ॥

दुरात्मनः दुष्टस्य । वीरपोतस्य वीरबालकस्य । वीरप्रहृताया वीरजनपरिशीलिताया । पद्धतेः मार्गात् । अस्खलितम् अच्युतम् । उक्तिमुक्तिर्नैदग्ध्यम्

नम [प्रकट] (धयसे मुस्कुराते हुए) समुद्रवेष्टित इस पृथ्वीको प्राप्त करके आपने दानमें दे दिया, यह कौन सी बड़ी बात है, आपने तो पृथ्वीको इक्कीस बार जीता है। मैं नवबाहुशाली बालक हूं और यह वीरव्रत बड़ा भयङ्कर है, क्रोध छोड़िये, आप मेरे लिये जन्मतः आदरणीय हैं ॥ ३५ ॥

जामदग्न्य—(क्रोधसे काँपते हुए स्वगत) अहो, यह दुरात्मा क्षत्रियकुमार वीर जनक्षुण्णपद्धतिसे बिना हटे कैसा चतुराईसे बातें कर रहा है, (प्रकट) आः पाप क्या परशुराम केवल जातिसे पूज्य है ? क्यों अब तक तुमने अस्त्रग्रहण नहीं किया ?

१ 'मितम्'। २ 'अहम्'। ३ 'कोपात्'।
४ 'महावीर'। ५ 'प्रकाशं सरोषम्'। ६ 'पूजनीय'।

विनयनिचुलितैर्भवद्वचोभिः किमपि नवं विव्रणद्भिरङ्गमन्तः ।
अयमजनि करः कृतान्तदंष्ट्राक्रकचकठोरकुठारदुर्निरीक्ष्यः ॥ २६ ॥

(उच्चैः ।) अहो नु खलु भो ,

त्रैलोक्यत्राणशौण्डः [1]सरसिजवसतेर्यः प्रसूतो भुजाभ्यां
स क्षत्रं नाम वर्णः कुलिशकठिनयोर्यस्य दोष्णोर्विलीनः ।
ज्वालाजिह्वालकालानलकवलभयभ्रान्तदेवासुराणि
व्यातन्वानो जगन्ति ज्वलति मुनिरयं पार्वतीधर्मपुत्रः ॥२७॥

कथोपकथनचातुर्यम् । निरायुधः अपलापः । पुनः पुनरागृहीतोऽपि किमपि समग्रस्यापि युद्धोद्यतो न भवसीति भावः ॥

विनयेति । विनयनिचुलितैः शिष्टाचारपिहितैः किमपि रहस्यम् अन्तः मनसि स्थितम् नवम् अहम् पापः कल्कम् विव्रणद्भिः व्यञ्जयद्भिः उपरि विनीतत्वेऽपि मनसि स्थितं कौटिल्यं प्रकटीकुर्वद्भिः 'साक्षिस्त हार्यते' इत्यादिपूर्वोक्तरूपैः अत्र मम करः कृतान्तस्य यमस्य दंष्ट्रा दन्ता एव क्रकचः तद्वत् कठोरेण परशुना दुर्निरीक्ष्यः दुर्दर्शः अजनि कृतः । दुर्विलसितवचनैः प्रेरितो ममायं करो युद्धोद्यमः आपित इत्यर्थः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ २६ ॥

त्रैलोक्येति । यः सरसिजवसतेः कमलजन्मनो ब्रह्मणः भुजाभ्यां प्रसूतः जन्मागृहीत, 'बाहू राजन्यः कृतः' इति श्रुत्या क्षत्रियजातेर्बाहुजत्वं प्रमाणितम् , स तादृशः त्रैलोक्यत्राणशौण्डः लोकत्रयरक्षणसमर्थः क्षत्रं नाम वर्णः क्षत्रियजातिः यस्य मम दोष्णोः भुजयोः विलीनः समाप्तिं गतः , अयं स मुनिः पार्वतीधर्मपुत्रः पार्वत्या पुत्रवदनुगृहीतः जगति सर्वान् लोकान् ज्वालाभिः शिखाभिः जिह्वालः जिह्वावान् च कालानलः प्रलयाग्निः तस्य कवलात् ग्रासात् भयेन भ्रान्ताः मूढभावं गमिताः देवा असुराश्च येषु तानि तथाभूतानि व्यातन्वानः कुर्वन् ज्वलति दीप्यते । ब्राह्मणो

विनयमें आवृत तथा भीतरमें घाव भरे तुम्हारे इन वचनोंसे प्रेरित होकर यह हमारा यमराजकी दंष्ट्राके समान कठोर कुठारसे दुर्निरीक्ष्य हो रहा है ॥ २६ ॥

(जोरोंसे) अहो, अरे ओ दुष्टो,

त्रैलोक्यकी रक्षामें दक्ष तथा ब्रह्माके बाहुओंसे उत्पन्न जो क्षत्रिय जाति मेरे जिन कुलिश कठोर बाहुओंमें विलीन हो गयी, वही ज्वाला भीषण प्रलयानलके भयसे देवासुरोंको त्रस्त बनानेवाला तथा पार्वतीका धर्मपुत्र मैं परशुराम कोपसे प्रज्वलित हो रहा हूँ ॥२७॥

---

१ 'सप्रसूत'।

(नेपथ्ये ।)

[1]भगवन्भार्गव,

[2]अप्रवृत्तिविषयं वितन्वत क्षत्रशब्दमियमेव मेदिनी ।
दक्षिणा तव बभूव यज्वनो मुञ्च सम्प्रति तु शुष्कमायुधम् ॥ ३८ ॥

जामदग्न्य —अये [3]प्रशान्तगम्भीर क एष । तर्हि जनकेन भवितव्यम् । (तदभिमुखमवलोक्य ।) [4]राजर्षे सीरध्वज, भगवत सूर्यशिष्यात्पुराणवाजसनेयिनो याज्ञवल्क्यादधीतब्रह्मसिद्धान्तो गृहीतवाक्य[5] एवासि । किं तु नायमवसर शिष्टानुरोधस्य ।

हस्ताभ्या गृहीतजन्मा त्रैलोक्यरक्षादक्षश्च क्षत्रियवर्णो यस्य बाहुभ्या समापित, ज्वालाजालजटिलकालानलभ्रमवशाद्यतो देवा, असुराश्च बिभ्यति, तादृशोऽहं मुनिस्तवल कटूक्तिभिर्ननु सज्जो भव युद्धायेति भाव । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३७ ॥

अप्रवृत्तिविषयमिति । क्षत्रशब्दम् क्षत्रियेतिसज्ञाम् अप्रवृत्तिविषयम् प्रवृत्तिविषयशून्यम् क्षत्रशब्दशक्यतावच्छेदकक्षत्रस्वरूपजातिविरहितम् अप्रसिद्धवाच्यम् वितन्वत कुर्वत सर्वानेव क्षत्रियान्विनाश्य क्षत्रशब्दप्रवृत्तिनिमित्त क्षत्रियत्व लुम्पत तव यज्वन कृतयज्ञस्य इयमेव मेदिनी ब्राह्मणाय देया बभूव जाता, सम्प्रति तु शुष्कम् नीरसमप्रयोजनम् आयुध शस्त्र मुञ्च । तव प्रतिपन्थिविरहादायुधग्रहण नितान्तविफलमित्यल तद्ग्रहणेनेति भाव । रथोद्धतावृत्तम्, 'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति तल्लक्षणात् ॥ ३८ ॥

पुराणवाजसनेयिन पुरातनयजुर्वेदविद्याविद । अधीतब्रह्मसिद्धान्त अधिगतब्रह्मविद्य, गृहीतवाक्य मान्यवचन । पुरा तव वाक्य मया, मन्यतेस्मैव, किं तु नाय

(नेपथ्यमें)

भगवन् भार्गव,

आपने इस पृथिवीपरसे क्षत्रिय जातिके प्रवृत्ति निमित्त क्षत्रियत्वको उठा दिया, और उस यज्ञकी दक्षिणामें यह पृथिवी हो प्राप्त हुई, अब आप इस शुष्क आयुधका त्याग कर दें ॥ ३८ ॥

जामदग्न्य—अरे, यह प्रशान्त गम्भीर कौन है, तो यह जनक हो सकता है? (इधर देखकर) राजर्षे सीरध्वज, आपने सूर्यके शिष्य पुराणवाजसनेयी याज्ञवल्क्यसे ब्रह्मविद्या सीखी है, आपकी बात मैं मान चुका हूं परन्तु यह शिष्टाचारका समय नहीं है।

---

१ 'भगवन् भार्गव'। २ 'अप्रवृत्त'। ३ 'प्रशान्तगम्भीरस्वरेण जनकेन'।
४ 'राजर्षे' इति क्वचिन्नास्ति। ५ 'वागेवासि'।

अवनिमधिकविंशानभ्यवस्कन्द्य वारा-
　　नवभृथभृतकेभ्यः सम्प्रदाय द्विजेभ्यः ।
विरमति रमणीयाद् द्वन्द्वयुद्धात्कथं मे
　　निखिलनृपतिहत्यादृष्टसारः कुठारः ॥ ३९ ॥

(पुनर्नेपथ्ये ।)

भृगुतिलक नमस्ते मुञ्च वैमत्यमेत-
　　त्कुरु करुणमिदानीं मानसं मानशौण्ड ।
वहति यत किमत्र पुत्रभाण्डेऽपि रामे
　　त्रिजगदभयदानस्थूललक्ष्यो भुजस्ते ॥ ४० ॥

काले शिष्टानुरोधस्य महाजनवचनपालनस्य, युद्धकाले महाजनवचनात्ततो निवृत्तौ कार्तवीर्यवधनादिति भावः ।

अवनिमिति । अधिकविंशान् विंशतेरधिकान् एकविंशतिवारान् अवनिं पृथ्वीम् अवस्कन्द्य विजित्य अवभृथभृतकेभ्यः यज्ञान्तस्नानार्त्विग्भ्यः द्विजेभ्यः अवनिं प्रदाय च (स्थितस्य) मे मम निखिलानां नृपतीनां हत्यायां वधे दृष्टः सारो बलं यस्य तादृशोऽयं कुठारः परशुः रमणीयात् अनधिकप्रयाससम्पाद्यात् द्वन्द्वयुद्धात् द्वयोरेवावयोर्मध्ये भाविनः सङ्ग्रामात् कथं विरमति निवर्त्तते । योऽहमखिलां धरां विजित्य यज्ञे ऋत्विग्भ्यः प्रतिपादितवांस्तस्य ममायं सकलराजन्यकवधदृष्टसामर्थ्योऽयं कुठारः परस्परयुद्धादस्मात्कथंकारं निवर्त्तेत, तदलं तव वचनेनेति भावः । मालिनीवृत्तम् ॥३९॥

भृगुतिलकेति । भृगुतिलक हे भार्गवकुलभूषण, ते तुभ्यं नमः, एतत् सम्प्रति प्रकाश्यमानम् वैमत्यं विरुद्धबुद्धिं मुञ्च त्यज, हे मानशौण्ड अभिमानशालिन्, इदानीं स्वं मानसं करुणं दयायुक्तं कुरु, त्रिजगतः लोकत्रयस्य अभयदाने निर्भयभावप्रदाने स्थूललक्ष्यः वदान्यः 'स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदः' इत्यमरः । ते भुजः बाहुः

इक्कीसबार आक्रमण कर इस पृथिवीको जिसने यज्ञान्तस्नानीय ब्राह्मणोंके अधीन कर दिया है समस्त नृपतियोंकी हत्यामें जिसका बल देखा जा चुका है वही यह मेरा कुठार इस रमणीय द्वन्द्वयुद्धमें किस प्रकार विरत होगा ? ॥ ३९ ॥

(फिर नेपथ्यमें)

हे भृगुतिलक, आपको नमस्कार, आप अपना यह हठ छोड़ दें, हे अभिमानिन्, आप अपने हृदयको दयालु बनाइये, क्यों आप पुत्रके समान रामपर अस्त्र उठा रहे हैं ? ॥४०॥

जामदग्न्य —(राम प्रति ।) अये, धीरकर्कशस्वर क एष ।

राम —(सप्रश्रयम् ।) भगवन्, अयं नस्तातो रघुपति ।

जामदग्न्य —(सव्ययम् ।) धिक्, सर्वत [1]क्षत्रकुलम्बोद्भेद । ([2]नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।) भो राजन्दशरथ, [3]अस्मन्नामधेयमात्रमित्रेण [4]पुत्रेणामुना मानार्हो भवान् । किं पुनरनभिज्ञोऽसि वीरव्यवहारस्य ।

पुरमथनधनुर्विमर्दनोत्थ प्रदहदहर्दिवमस्ति तीव्रमर्चि ।
रघुजनकुटुम्बबाष्पपूरै परमिह शान्तिमुशन्ति शस्त्रभाज ॥४१॥

पुत्रभाण्डे पुत्ररूपे मूलधने किम् कथम् अत्र वहति धारयति ? घटेति नेदे । मालिनीवृत्तम् ॥ ४० ॥

धीरकर्कशस्वर गम्भीरकठोरवाक् ।

सप्रश्रयम् विनयपूर्वकम् । तातो जनक । रघुपति दशरथ ।

सव्यथम् समनस्तापम् ।

सर्वत सतन्त्वात् । क्षत्रकुलम्बोद्भेद क्षत्रियाङ्कुरप्ररोह । अस्मन्नामधेयमात्रमित्रेण नामधेयसमतासरलेन । मानार्ह पूज्य । तवापि पुत्रस्य तदेव नाम यन्ममेति मम पूज्योऽसि त्वमित्याशय, वीरव्यवहारस्य शूरकर्त्तव्यस्य, युद्धावसरे सान्त्व वचन न व्याहरन्ति शूरास्तत्कथमेवमाह भवानिति भाव ।

पुरमथनेति । पुरमथनधनुर्निमर्दनोत्थम् हरशरासनभङ्गभवम् तीव्रम् उग्रम् अर्चि कोपरूपन्तेज अहर्दिव सततम् प्रदहत् जाज्वल्यमानम् अस्ति ममेति शेष, इह अस्मिन्नर्चिषि शस्त्रभाज मादृशा शस्त्रधारिण पर केवलम् रघूणा जनकाना च कुटुम्बयो वंशयो बाष्पपूरै अश्रुप्रवाहै शान्तिमुशन्ति कामयन्ते, रामे

जामदग्न्य—(*रामके प्रति*) *अजी, धीरकर्कश स्वरवाला यह कौन है ?*

राम—(नम्रतासे) ये है हमारे पिता रघुपति ।

जामदग्न्य—(सखेद) धिक्, चारों ओर क्षत्रियोंके अङ्कुर उग आये । (नेपथ्यकी ओर देखकर) हे राजन् दशरथ, आपके पुत्रका भी वही नाम है जो मेरा नाम है, अत वह मेरा मित्र हुआ, अत आप हमारे मान्य हें किन्तु आपको वीरजनके व्यवहार का ज्ञान नहीं है ।

महादेवके धनुषके भङ्गसे उत्पन्न यह तीव्र दाह अहर्निश हृदयको दग्ध कर रहा है,

---

१ 'कदम्बकोद्भेद' । २ 'नेपथ्याभिमुख' ।
३ *'नामधेयमित्रेण'* । ४ *'सूनुना मानार्हो'* ।

(नेपथ्ये)

आ जामदग्न्य, किमेवमतिप्रसक्त [1]सन्यस्तशस्त्रानस्मानपि बलाद्ध नुर्ग्राहयसि !

जामदग्न्य —(सरोषम् ।) अरे विदेहप्रसवपासन[2],

अयमधिपतिर्भासामेकान्तरो भवतो गुरु-
स्त्वमसि [3]तपसा यद्वर्षीयानिति स्म तितिक्ष्यसे ।
कथमसि धनुर्नामग्राही तदेष [4]समाप्यसे
मम हि सकलक्षत्रारम्भकर्तोरमृत भवान् ॥ ४२ ॥

हते रघुकुटुम्बो पुत्रशोकेन जनककुटुम्बश्च जामातृशोकेन यदि रुदति तदा तद्बाष्पैरेवास्याहर्निशं ज्वलतो मम कोपस्याग्ने शान्तिर्भविष्यतीति भाव ॥४१॥

अतिप्रसक्त —अत्युद्धत । सन्यस्तशस्त्रान् चिरात्यक्तशस्त्रान् । बलात् प्रसह्य । धनुर्ग्राहयसि युद्धे प्रवर्त्तयसि ॥

विदेहप्रसवपासन विदेहवंशदूषक ।

अयमधिपतिरिति । अयं भासा तेजसाम् अधिपति सूर्य भवत एकान्तर एकव्यवहित गुरु आचार्य, (याज्ञवल्क्य सूर्यात् याज्ञवल्क्याच्च भवानधीतवानिति सूर्यस्य याज्ञवल्क्यव्यवहित भवदाचार्यत्वमिति) त्व तपसा तपस्यया वर्षीयान् मदपेक्षया वृद्धतम इति तितिक्ष्यसे मया क्षम्यसे । धनुर्नामग्राही कथमसि कथ धनुषो नाम गृहीतवानसि, तद् धनुर्नामग्रहणात्युद्धोद्धततातुद्धया

शस्त्रग्राहिजन रघु तथा जनकके वंशलोक अश्रुप्रवाहसे ही उसकी शान्तिकी कामना करते हैं ॥ ४१ ॥

(नेपथ्यमें)

आ जामदग्न्य, क्यों इस तरह धृष्टता प्रकाशित करके शस्त्रसंन्यास लेनेवाले मुझको भी अस्त्रग्रहण करनेको बाधित कर रहे हो ?

जामदग्न्य—(क्रोधसे) अरे विदेहाधम,

ये सूर्य तुम्हारे परमगुरु हैं और तुम तपस्यामें मुझसे श्रेष्ठ हो अत क्षमा कर रहा हूँ, अगर तुम किसी तरह शस्त्रग्राही बने तो अभी समाप्त कर दिये जाओगे, मेरे द्वारा प्रक्रान्त इस सकल क्षत्रिय संहार यज्ञका तुम ही यज्ञशेष बनोगे ॥ ४२ ॥

---

१ 'शस्त्रानपि'। २ 'पांसुल'। ३ 'तपसा त्वम्'। ४ 'समाप्यते'।

(नेपथ्ये ।)

[1]भार्गव भार्गव, च्यवनादिवृद्धवाक्यगौरवनिगृहीतसप्रहारक्रियासमभिहारस्य [2]तत्रभवत परमे ब्रह्मणि वर्तमानस्य पुनरुपप्लवन्ते बुद्धय । [3]तद्विरम, कियच्चिरमित [4] परमपि नाटयिष्यति [5]भवन्तमायुधपिशाची ।

जामदग्न्य —(विहस्य ।) अहो याज्यस्नेह शतानन्दमाकुलयति । भवतु, सान्त्वयामि तावदेनम् । (तदभिमुखम् ।) आङ्गिरस,

---

समाप्यसे हन्यसे त्वमिति शेप, भवान् जनक मम सङ्ख्याना क्षत्राणामालम्भो वध एव क्रतुर्यागस्तस्यामृत हुतशेषभूत । मया पूर्वं सर्वान् क्षत्रियान् मारयतापि न हत, सम्प्रति तमपि भवन्त मारयामीत्याशय । 'अमृत हुतशेपे स्यात्' इति विश्व । हरिणीवृत्तम् ॥ ४२ ॥

च्यवनादीनाम्–तन्नामप्रथितानाम् वृद्धाना स्वकुलश्रेष्ठाना वाक्येषु वचनेषु गौरवात् आदरातिशयात् निगृहीत सयत सप्रहारक्रियाया युद्धप्रवृत्तिरूपाया समभिहार सम्मिलन येन ताड्भस्य, च्यवनादिवृद्धवचनाद्यस्य युद्धप्रवृत्तेरित्यर्थ । तत्र भवत पूज्यस्य परशुरामस्य । परमे ब्रह्मणि वर्तमानस्य ब्रह्मनिष्ठस्य तप स्विन । बुद्धय पुनरुपप्लवन्ते–पुनर्युद्धाभिमुखीभवन्ति । तत् विरम–त्यज युद्ध मित्यर्थ । इत परमपि–इतोऽग्रेऽपि महाज्ञानात् परमपि । भवन्तम्–परशुरामम् । आयुधपिशाची–अस्त्रग्रहणलालसारूपा पिशाचयोषित् । कियच्चिर कियन्त काल यावत्, नाटयिष्यति नर्तयिष्यति ।

याज्यस्नेह यजमाने जनके प्रेमा । आकुलयति व्यथयति, यदसावेव मा भाषते । सान्त्वयामि–शान्ति गमयामि । आङ्गिरस शतानन्द ।

(नेपथ्यमें)

भार्गव, भार्गव च्यवन आदि वृद्धजनोंके वचन मानकर जिन्होंने शस्त्रग्रहण करना छोड दिया है और जो सदा परब्रह्ममें ध्यान रहा करते हैं उनकी बुद्धि फिर शस्त्रग्रहण करनेको चपला हो रही है अत रुक जाओ, इसके आगे भी न जाने कब तक यह आयुधपिशाची तुम्हें नचाती रहेगी ?

जामदग्न्य–(हँसकर) अहो, यजमानका प्रेम शतानन्दको व्याकुल बना रहा है । अस्तु, मैं इनका मुँह बन्द कर देता हूँ । (उसकी ओर) आङ्गिरस,

---

१ 'भगवन्भार्गव' । २ भवत' । ३ 'विरम विरम' ।
४ 'इयमपरमपि' । ५ 'परवन्तम्' ।

नृपस्ते पात्र्योऽयं मम पशुपुरोडाशरसिकः
पृथिव्यामव्याजोद्धुरभुजभृतः सन्ति रघवः ।
अमीषामुत्सिक्तं किमपि कुलमुत्कृत्य लवशो
विधाता तत्सर्वं यदभिरुचितं ते भृगुपतिः ॥ ४३ ॥

(नेपथ्ये ।)

आः पाप [1]क्षत्रियायाः पुत्र, क्षत्रियभ्रूणहत्यापातकिन्, निसर्गनिष्प्राणं हि प्रहरणमिक्ष्वाकूणां ब्राह्मणेषु । तेर्यादृशस्तादृशो वा सोढव्योऽसि । [2]कथमेवमतिक्रामन्नस्माकमपि ब्रह्मवर्चसान् निभेषि ।

नृपस्त इति । ते तव शतानन्दस्य पशुः यज्ञार्थो मृगः छागो वा पुरोडाशो हव्यद्रव्यभेदस्तयो रसिकः सस्नेहः सततं पशुपुरोडाशसत्रागो यज्ञप्रवृत्तः अयं नृपो जनकः मम पात्र्यः रक्षणीयः, किन्तु पृथिव्याम् अव्याजम् अकपटं यथा स्यात्तथा उद्धुरभुजभृतः उद्दण्डदोर्दण्डशालिनः रघवः सन्ति रघुवंश्याः प्रथन्ते, अमीषां रघूणां किमपि अत्यधिकम् उत्सिक्तम् गर्वोद्धतं कुलं वंशम् लवशः उत्कृत्य खण्डशो विनाश्य भृगुपतिः परशुरामः ते यद् अभिरुचितम् इष्टम् तत्सर्वं विधाता विधास्यति । यज्ञरसिकस्य तव यजमानस्य वधेन प्रवृत्तिर्मम, अतस्तं जोषमास्स्व, सम्प्रति समुद्धतं रघुकुलं खण्डशः कृत्वा त्वदभिमतं सर्वमपि सम्पादयितुं कर्त्तास्मीत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४३ ॥

क्षत्रियायाः पुत्र क्षत्रियस्य गाधेः कन्यका रेणुका तस्याः पुत्र । क्षत्रियभ्रूणहत्यापातकिन् गर्भस्थानामपि क्षत्रियकुलाङ्कुराणां हन्ता । निसर्गनिष्प्राणम् स्वभावतोऽनलम्, यादृशस्तादृशः अतिदुराचारोऽपि । सोढव्यः क्षन्तव्यः । इक्ष्वाकवो

पुरोडाशका प्रेमी तुम्हारा यह राजा मेरे लिये रक्षणीय है, किन्तु यह रघुवंश पृथ्वीपर बहादुरी प्रकाशित कर रहा है । इसके घमण्डी वंशको खण्डशः करके पीछे जो तुम कहोगे वह सब कुछ भृगुपति करनेको उद्यत रहेगा ॥ ४३ ॥

(नेपथ्यमें)

आः पाप, क्षत्रियापुत्र, क्षत्रियोंके गर्भपातका पापी, इक्ष्वाकुओंके अस्त्र ब्राह्मणोंके विषयमें स्वभावतः निष्प्राण होते हैं, जिससे किसी भी स्थितिमें तुम्हें क्षमा करते आ रहे हैं, किन्तु इस तरह बढते हुए तुम क्यों हमारे ब्रह्मतेजसे भी नहीं डर रहे हो ?

---

१ 'क्षत्रियपुत्र' । २ 'अतिक्रमन्' ।

जामदग्न्य —(सरोषहासम् ।) अरे ब्रह्मबन्धो बान्धकिनेय गौतमगोत्रपामन,

> कुर्युः शस्त्रकथाममी यदि मनोर्वंशे मनुष्याङ्कुरा
> स्याच्चेद् ब्रह्मगणोऽयमाकृतिगणस्तत्रेष्यते चेद्भवान् ।
> सम्राजां समिधां च साधकतमं धत्ते छिदाकारणं
> धिङ्मौर्वीकुशकर्षणोल्वणकिणग्रन्थिर्ममायं करः ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणेषु न प्रगल्भन्तेऽतो दुराचारेऽपि त्वयि ते न शस्त्रग्रहणं करिष्यन्ति । एवं मतिक्रामन्, इत्थं प्रगल्भमान अस्माकम्-आङ्गिरसानाम् । ब्रह्मवर्चसात्-ब्राह्मतेजस । राघवान् ब्राह्मणेष्वशस्त्रग्राहिणो ज्ञात्वा काम मा भैषी, परमस्मद्ब्रह्मवर्चसस्तु त्वया भेतव्यमासीदित्येवपदे ण्त त्वा दत्तु क्षममिति ।

ब्रह्मबन्धो ब्राह्मणाधम । बान्धकिनेय बन्धकी कुलटा, तदपत्य, शतानन्दमातु रहल्याया इन्द्रसङ्गमादित्युक्ति । 'ब्रह्मबन्धुरधिक्षेपे' इति, 'अथ बान्धकिनेय स्याद् बन्धुल श्चासतीसुत ' इति चामर । गौतमगोत्रपासन गौतमकुलकलङ्क । सर्वमेतत् शतानन्द निन्दापर्यवसायि सम्बोधनजातम् ॥

कुर्यु शस्त्रकथामिति । यदि अमी मनोर्वंशे मनुष्याङ्कुरा मनुकुलजा मनुष्यशिशव शस्त्रकथा कुर्यु युद्धवार्त्ता प्रवर्त्तयेयु , चेद् ब्रह्मगण ब्राह्मणगणना आकृतिगण आकारमात्रग्राह्य स्यात् , तत्रापि चेत् ब्राह्मणगणेष्वपि यदि भवान् इष्यते भवतोऽपि यदि ब्राह्मणेषु गणना स्यात्, तदा मम मौर्वीकुशानाम् कुशनिर्मितमौर्वीगुणानाम् कर्षणेन मुहुरामर्शेन उल्बण उत्कट किणग्रन्थि शुष्कव्रणचिह्न यत्र तथाभूत अयं कर हस्त सम्राजां राजन्यानां समिधां होमकाष्ठानां च समानभावेन छिदाकारण छेदक साधकतमं क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकम् इमं परशुं धिक् व्यर्थं धत्ते। यद्यमी मनुवश्या शस्त्रं गृह्णीयुर्यदि वा भवादृशा विप्राधमा आकारमात्रेण ब्राह्मणेषु गण्येरन् तदाऽनवरतमज्याकुशाकर्षणरसिको ममायं करो वृथैव समभावेन क्षत्रियान्समिधश्च छिन्दन्तमिमं कुठारं धारयतीत्यर्थ । मयि परशुधरे नामीषां युद्धकथा न वा तव ब्राह्मणगणना सम्भवतीति भाव ॥ ४४ ॥

जामदग्न्य—(सरोषहास) अरे मिथ्या ब्राह्मण, व्यभिचारिणीके पुत्र, गौतम वंशाधम यदि यह मनुष्यके अकुर भी शस्त्रकी बातें करने लगे, और यदि ब्रह्मगणको आकृति गण मानकर तुम्हारा भी उसमें समावेश कर दिया जाय, तब राजाओं तथा समिधाओं को समभावसे काटनेवाले इस कुठारको धनुष्प्रत्यञ्चाके द्वारा घर्षणसे उत्पन्न व्रणचिह्नयुक्त हमारा हाथ व्यर्थ धारण करता है इसे धिक्कार है ॥ ४४ ॥

(नेपथ्ये ।)

[1]भगवान् भार्गव भार्गव,

त्वं वेदवानसि वसिष्ठगुरोः सनाभिः
 स्वायम्भुवः स भगवान्प्रभवो गुरुस्ते ।
तेनातिमात्रमसृणं हृदयं मदीयं
 मय्यापि न त्रुटति शाम्यतु ते कुदृष्टिः ॥ ४५ ॥

जामदग्न्यः—(सोच्चैर्हासम् ।) किमात्थ रे दशरथ, किमात्थ नाद्यापि हृदयं त्रुटतीति । कथं वा त्रुटतु यावदेष न व्याप्रियते परशुः ।

(नेपथ्ये ।)

त्वं वेदवानसि इति । वेदवान् अधीतवेदः त्वम् परशुराम वसिष्ठगुरोः वसिष्ठाख्यस्य मम गुरोराचार्यस्य सनाभिः सपिण्डः एकगोत्रोत्पन्नः असि, ते तव प्रभवः जनकः स भगवान् भृगुः स्वायम्भुवः ब्रह्मणः पुत्रः । भृगोर्वसिष्ठस्य चैकजनकोत्पन्नतया सनाभित्वेन भृगुपुत्रस्य तवापि वसिष्ठसनाभित्वं सिद्धमिति भावः । तेन तवास्मद्गुरुवसिष्ठसनाभित्वेन अतिमात्रममसृणं मदीयं हृदयम् नितान्तकोमलं दयार्द्रमपि मम चित्तं त्वद्विषयेऽपि त्वयेयति निरस्यमानेऽपि न त्रुटति न निर्दयत्वमुपैति, ते तव कुदृष्टिः विरुद्धभावः शाम्यतु निवर्त्तताम् येन मम कोपो नोद्दियात् वा मम गुरुसपिण्डवधभवो दोषः स्यादिति भावः ॥ ४५ ॥

यावदेष न व्याप्रियते यावन्मम धनुर्नोद्यमपरायणं भवति तावत्ते हृदयं कथं खण्डशः स्यादिति त्रुटतिपदस्यार्थान्तरपरकतयाऽधिक्षेपः ।

(नेपथ्यमें)

भगवान् भार्गव तुम वेदज्ञ तथा हमारे गुरुदेव वसिष्ठके वंशमें उत्पन्न हो, क्योंकि तुम भी ब्रह्माके पुत्रकी सन्तति हो, इसीलिये हमारा यह सस्नेह हृदय नहीं टूट रहा है, अभी भी तो तुम्हारी कुदृष्टि शान्त होवे ॥ ४५ ॥

जामदग्न्य—(जोरसे हँसकर) क्या कहा रे दशरथ, क्या कहा ? अभी भी हृदय नहीं टूट रहा है ? टूटे तो कैसे ? अभी तो हमारे कुठार ने कुछ किया ही नहीं है ॥

(नेपथ्यमें)

१ 'भगवन्' इति पुस्तकान्तरे सोपलभ्यते ।

मैंट्टीं वृत्तिमधिष्ठितेऽपि हि मयि क्षात्रेण कल्पेन ते
दिष्ट्या कौतुकमाभिरामिकमसि त्वं कोऽपि वीराङ्कुर ॥४७॥

(नेपथ्ये ।)

भार्गव भार्गव, दुर्विज्ञानमिदमर्वाक्फलनिष्पत्तेराभिरामिकं साङ्ग्रामिकं वा ।

राम —(सरोषं नेपथ्याभिमुखम् ।) आः वत्स, कोऽयमद्यतनस्ते [1]दुर्विनयप्ररोहो यद्गुरूनपि चेत्रीकरोषि ।

त्व पर्यापितामू आत्मानं प्रापितामू मैंट्टीं वृत्तिं सिंहव्यापारम् अधिष्ठिते प्राप्तेऽपि मयि दिष्ट्या भाग्यवशेन ते तव क्षात्रेण कल्पेन शौर्यप्रकटनेन आभिरामिकम् प्रीतिप्रदं कौतुकम् औत्सुक्यम्, त्वं कोऽपि वीराङ्कुर वीरप्ररोह असि । अयमाशय यथा कोऽपि सिंहः स्वनखरैः क्षमपि प्रोन्नतशिरसं दन्तावलं विदार्य तन्मौक्तिकानि च निकीर्य स्वां मैंट्टीं वृत्तिमधितिष्ठति, तथैव मयि स्वक्षुरप्राखेण प्रोन्नतशिखरं क्रौञ्चाद्रिं विदार्य तद्विवरान्निर्गच्छतो हंसश्रेणीस्ततः सञ्चार्य सैंहीं वृत्तिं प्राप्ते सत्यपि यत्त्व क्षात्रेण कल्पेन वीरत्वं प्रथयसि तत्सत्यं मम महत्यै प्रीतये जायते, निश्चितं तव वीराङ्कुरत्वमिति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४७ ॥

दुर्विज्ञानम् वेत्तुं कठिनम् । फलनिष्पत्तेः फलोत्पत्तेः । अर्वाक् प्राक् । रामस्येदं कौतुकमाभिरामिकं भवत्प्रीतिजननोद्देश्यकम् साङ्ग्रामिकं युद्धार्थं वेति फलनिष्पत्तेः पूर्वमवगन्तुमयोग्यम्, फलानुमेयत्वात्प्रारम्भाणामित्याशयः ।

अद्यतनः अद्य जायमानः । दुर्विनयप्ररोहः अशिष्टाचारितोदयः । यद् गुरूनपि पूज्यानपि । चेत्रीकरोषि विषयीकरोषि, कोऽयमद्य तवाविनयो यद् गुरूनपि नाद्रियस इत्यर्थः ।

व्यवहार करनेवाले तुममें बहुत कौतुक भरा है, तुम जरूर बहादुर हो ॥ ४७ ॥

(नेपथ्यमें)

भार्गव, भार्गव, फल निष्पत्तिके पहले यह समझना कठिन है कि मेरा कुतूहल आभिरामिक है या साङ्ग्रामिक है ।

राम—(रोषसे नेपथ्यकी ओर) आ वत्स, आज तुम क्यों इतने अविनीत हो रहे हो कि गुरुजनों पर भी आक्षेप करते हो ।

---

१ 'विनयातिप्ररोहो यद्गुरूनपि' ।

(नेपथ्ये ।)

आर्य, [1]तूष्णीमयमस्मि । क्षमस्व जामदग्न्य, नियन्त्रितोऽस्म्यार्येण ।

जामदग्न्यः—(विहस्य ।) [2]अरे राम, [3]कथमद्यापि वाचमेव सूनृतामस्मदभियोगप्रशमनीं [4]प्रथयसे । कवचहरोऽसि । शस्त्रैरेव प्रतिक्रियन्तां शस्त्राणि । किं च रे,

राजन्येभ्यो जन्म वैवस्वतेभ्यश्चक्रे चापाचार्यकं कौशिकश्च ।
क्षात्रीं चर्यामेवमुन्मुञ्चतस्ते गोत्राक्षेपी वज्रलेपः कलङ्कः ॥ ४८ ॥

रामः—(सगर्वस्मितम् ।) भगवन्, सत्यमेतत् ।

तूष्णीम् मौनीभूतः । नियन्त्रितः उत्पथान्निवारितः ।

सूनृताम् प्रियाम् । अस्मदभियोगप्रशमनीम् मदीययुद्धोद्यमनिवर्तिनीम् । प्रथयसे विस्तारयसि । कवचहरः वर्मधारणक्षमः, प्राप्तयुद्धोपयुक्तावस्थ इत्यर्थः । शस्त्राणि प्रतिक्रियन्ताम् अस्त्राणामुत्तरं दीयताम् ।

राजन्येभ्य इति । तव रामस्य वैवस्वतेभ्यः सूर्यवंश्येभ्यः राजन्येभ्यः क्षत्रियेभ्यो जन्म उत्पत्तिः कौशिकः विश्वामित्रश्च चापाचार्यकम् धनुर्वेदविद्यागुरुत्वम् चक्रे कृतवान् । एवम् क्षात्रीं क्षत्रजात्युचिताम् चर्याम् परिपाटीम् उन्मुञ्चतः त्यजतस्तव कलङ्कः अपवादः वज्रलेप इवानपनेयः स्यादिति शेषः । सूर्यवंशे गृहीतजन्मनो विश्वामित्रादधीतधनुर्वेदस्य च तव क्षात्रचर्यापरित्यागोऽपरिहार्यकलङ्कं जनयेदिति भावः ॥ ४८ ॥

(नेपथ्यमें)

आर्य मैं अब चुप रहता हूँ । जामदग्न्य, आप मुझे क्षमा करें, आर्य ने मुझे रोक लिया ।

जामदग्न्य—(हँसकर) अरे राम, अभी भी तुम हमारे कोप को शान्त करनेवाली बातें ही कर रहा है ? तू तो कवचधारी है शस्त्रोंका उत्तर शस्त्रोंसे दो । और—

तुम्हारा जन्म सूर्यवंशियोंमें हुआ है, तथा तुम्हें विश्वामित्रने शस्त्रविद्या की शिक्षा दी है, यदि तू इस तरह क्षात्र धर्मका त्याग करेगा तो तुम्हारे वंशका यह कलङ्क वज्र लेप हो जायगा ॥ ४८ ॥

राम—(सगर्वहास) भगवन्, आपका कथन सत्य है,

---

१ 'तूष्णीमस्मि'।　२ 'रे रे'।　३ 'कथं वाचमेव'।　४ 'समर्थयसे'।

जातः सोऽहं दिनकरकुले[1] क्षत्रियश्रोत्रियेभ्यो
विश्वामित्रादपि भगवतो [2]दृष्टदिव्यास्त्रपारः ।
[3]अस्मिन्वंशे कथयतु जनो दुर्यशो वा यशो वा
विप्रे शस्त्रग्रहणगुरुणः साहसिक्याद्बिभेमि ॥ ४९ ॥

जामदग्न्य —(सक्रोधम् ।) आः पाप दुर्मुख, वसिष्ठ इव विश्वामित्र इव स्वस्तिवाचनिको ब्राह्मणस्ते परशुरामः ! (सव्ययम् ।) धिक्कष्टम् । एवमुच्चावचवाच क्षत्रिया श्रूयन्ते । (क्रोधातिशयं नाटयन् ।) अयमहं भो,

जात इति । दिनकरकुले सूर्यवंशे क्षत्रियश्रोत्रियेभ्यः वेदज्ञेभ्यो राजभ्यः राज्ञामुत्तमेभ्यो वा जातः उत्पन्नः विश्वामित्राद् भगवतः दृष्टदिव्यास्त्रपारः अवाप्तदिव्यास्त्रविद्यः सोऽहम् रामः जनः अस्मिन्वंशे मदुत्पत्तिक्षेत्रे कुले यशः कथयतु अयशो वा कथयतु, विप्रे शस्त्रग्रहणगुरुणः ब्राह्मणेऽस्त्रग्रहणमहतः साहसिक्याद् साहसाद् बिभेमि भयमनुभवामि । सत्यमहं क्षत्रियेभ्यो भास्वद्वंशे लब्धजन्मा विश्वामित्राद् धीतास्त्रविद्यारहस्यश्चास्मि, कामं लोको मयि भवता सह योद्धुमप्रवर्तमाने सति मदीये वंशे यशोऽयशो वाऽभिधत्ताम्, परमहं ब्राह्मणे शस्त्रग्रहणसाहसं कर्तुमशक्त इत्यर्थः । मन्दाक्रान्तावृत्तम्, तल्लक्षणं यथा 'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति ॥ ४९ ॥

स्वस्तिवाचनिकः यत्किञ्चिद्दानं प्राप्य स्वस्तीतिवचनप्रयोक्ता ।
उच्चावचवाचः विविधालापाः । 'उच्चावचं नैकभेदम्' इत्यमरः ॥

सूर्यवंशके क्षत्रिय श्रोत्रियोंसे मैं उत्पन्न हुआ हूँ, भगवान् विश्वामित्रने मुझे अस्त्रकलाकी शिक्षा दी है लोग हमारे वंशको यश दें या अयश, ब्राह्मणके ऊपर शस्त्रग्रहणरूप साहसकार्यमें मैं डरता हूँ ॥ ४९ ॥

जामदग्न्य—(सक्रोध) आः पापी कटुभाषी, क्या वसिष्ठ या विश्वामित्रकी तरह परशुराम भी तुम्हारा स्वस्ति मनानेवाला ब्राह्मण है ! (सखेद) धिक् बड़े खेदकी बात है कि क्षत्रियोंकी यह ऊँचनीच बातें सुननी पड़ रही हैं ॥ (अतिकुपित होकर)

१ 'कुलक्षत्रिय-' । २ 'लब्धविद्यास्त्र-' । ३ 'अस्मिन्वंशे कथयतु' ।

सह दशरथमथोत्कृत्य पुत्रैश्चतुर्भि
र्जनककुलकबन्धस्कन्धनिर्गत्वरीभिः ।
नवरुधिरलताभिः [1]वल्गुलीलापताकां
रणभुवमतिरौद्रीं रुद्रशिष्यः करोमि ॥ ५० ॥

रामः—([2]सरोषम् ।) आः जामदग्न्य, सेयं [3]वाग्विभीषिका ! दूर-मतिनामति प्रसङ्गे कदाचिदिक्ष्वाकवोऽपि दुर्मनायन्ते ।

जामदग्न्यः—([4]सभ्रुकुटीभङ्गम् ।) ततः किम् ।

रामः—(सावष्टम्भम् ।) ततश्च ।

सहेति । रुद्रशिष्यः शिवस्याश्वविद्यान्तेवासी अहं परशुरामोऽद्य चतुर्भिः रामादिभिः पुत्रैः सह दशरथं नाम राजानम् उत्कृत्य खण्डयित्वा जनककुलस्य प्रधाना हतजनकवंश्यजनच्छिन्नशिरोदेहाना स्कन्धेभ्यो गलदेशेभ्यो निर्गत्वरीभिः निस्सरन्तीभिः नवरुधिरलताभिः सद्यः शोणितवल्लरीभिः वल्गुलीलापताकाम् रचितपताकाम् रणभुवम् अतिरौद्रीम् नितरामभीषणां करोमि । अथाह रुद्रशिष्यः स पुत्रचतुष्टयं दशरथं निहत्य जनककुलकबन्धस्कन्धनिर्गत्वरीभिः प्रचप्ररुधिरधाराभिः घनपताका रणभुवं भीषणां विदधामि । मालिनीवृत्तम् । 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणात् ॥ ५० ॥

वाग्विभीषिका वचनद्वारा भयप्रदर्शनम् । प्रसङ्गे वाग्व्यापारे । दूरमतिमात्रमतिवर्धमाने सति । दुर्मनायन्ते दुर्मनसः कुपिता इवाचरन्ति, वाकोवाक्यवशात् कदाचिदिक्ष्वाकूणामपि कोपोदयः सम्भवतीति भावः ।

ततः किम् वाकोवाक्यं विहाय त्वं किं कर्तुमिच्छसीति भावः ।

चारों पुत्रोंके साथ दशरथको काटकर जनकवंशियोंके कबन्धोंसे निकलनेवाली नव रुधिरधारारूप पताकायें फैलाकर मैं अभी रणभूमिको अतिभयङ्कर बना देता हूँ ॥ ५० ॥

राम—(सक्रोध) आः जामदग्न्य, यह क्या वचन विभीषिका दिखा रहे हो ? बात अधिक बढ़ जानेपर कदाचित् इक्ष्वाकुवंशी भी कुपित हो जा सकते हैं ॥

जामदग्न्य—(भ्रुकुटी चढ़ाकर) इससे क्या ?

राम—(जोर देकर) इससे—

---

१ 'वल्गु-' । २ 'सक्रोधम्' । ३ 'विभीषा' । ४ 'सभ्रुकुटिबन्धम्' ।

१६ अ० रा०

तैस्त्रि सप्तभिरेव राजविजयैर्यत्ते भुजस्तम्भयो
कृत्वा तोरणमालिका पुनरमु द्वाविंशमारिप्सते ।
द्रक्ष्यामि त्वयि वर्तमानमधुना तच्चापविद्याद्भुत
शंभोस्तस्य हि केवलेन धनुषा कृष्टेन तुष्टिर्न मे ॥ ५१ ॥

जामदग्न्य —(सरोषम् ।) किमात्थ रे, किमात्थ । ('द्रक्ष्यामि त्वयि वर्तमानमधुना' इत्यादि श्लोकोत्तरार्धं पठित्वा सव्यथम् ।) अहो सर्वत समिध्यमानदारुणस्य रोषजातवेदसो विदेहदिलीपयो कुल नाम कति भविष्यन्त्याहुतय । (उच्चै ।) भो भो सप्तद्वीपकुलपर्वतवर्तिनो राजान चेतयध्व चेतयध्वम् ।

तैस्त्रिसप्तभिरिति (यत् तव चापविद्याद्भुतम्) तै सर्वजनविदितै त्रिसप्तभि एकविंशतिसङ्ख्यकै एव राजविजयै क्षत्रियजातिपराभवै ते तव परशुरामस्य भुजयो स्तम्भयोरिव स्तम्भोपमस्थूलदृढयोर्भुजयो तोरणमालिका कृत्वा तोरण यथा माल्याऽलङ्करोति तथैकविंशत्या वारविजयैस्तव भुजस्तम्भावलङ्कृत्ये त्यर्थ.। अमु द्वाविंश मज्जयरूप राजविजयम् आरिप्सते कर्तुमिच्छति, तद् त्वयि वर्तमान त्वया स्थित चापविद्याद्भुतम् अस्त्रविद्यारूपमाश्चर्यम् अधुना सम्प्रति द्रक्ष्यामि, हि यत तस्य शम्भो धनुषा चापेन केवलेन कृष्टेन मे मम रामस्य तुष्टि सन्तोषो न । त्वदीय तच्चापविद्याकौशल द्रक्ष्यामि यत् त्रि सप्तवारान् राजविजय कृत्वा तैर्विजयैस्तव भुजस्तम्भौ तोरणमालिकाभिरिवालङ्कृतवत्, अमुना कृतेन हरधनु कर्षणमात्रेण मम मनस्तोषो नास्तीत्यर्थ । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥५१॥

समिध्यमानदारुणस्य दीप्यमानस्य भीषणस्य च । रोषजातवेदस कोपाग्ने । कति कियत्सख्या आहुतय हव्यप्रक्षेपा । विदेहदिलीपकुलयो खण्डनेन मम

इक्कीस बार किए गए राज विजयसे तुम्हारे भुजस्तम्भोंने तोरणमाला धारण करके यह बाईसवां विजय प्रारम्भ करना चाहता है, अब मैं देखूंगा कि तुममें कितना चाप विद्याकौशल है । केवल इस महादेवके धनुषभङ्गसे मुझे सन्तोष नहा हुआ है ॥ ५१ ॥

जामदग्न्य —(सरोष) क्या कहता है रे क्या कहता है ? ('द्रक्ष्यामि त्वयि' इत्यादि श्लोकार्धको दुहराते हुए सखेद) अहो, हमारी निस कोपाग्निमें सभी ओरसे ज्वालायें बढ रही हैं, उसमें विदेह तथा दिलीपके वश कितनी आहुतियाँ बन सकेगा ? (उच्च स्वरसे) अजी सप्तद्वीप तथा कुलपर्वतोंपर रहनेवाले नृगण, सावधान हो जाओ सावधान,

१ 'ससरम्भम्' । २ 'उच्चै ' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

येन स्वा विनिहत्य मातरमपि क्षत्रास्रमध्वासव-
स्वादाभिज्ञपरश्वधेन विदधे निःक्षत्रिया मेदिनी ।
यद्बाणव्रणवर्त्मना शिखरिणः क्रौञ्चस्य हंसच्छला
दद्याप्यस्थिकणाः पतन्ति स पुनः क्रुद्धो मुनिर्भार्गवः ॥५२॥

रामः—([1]सहर्षसम्भ्रमम् ।)

नृपानप्रत्यक्षान्किमपवदसे नन्वयमहं

क्रोधस्य कियती पूर्त्तिः शान्तिर्वा भाविनीति भावः । सप्तद्वीपकुलपर्वतवर्त्तिनः सप्तसु द्वीपेषु सप्तसु कुलपर्वतेषु च स्थिताः । चेतयध्वम् सावधाना भवत ।

येन स्वामिति । येन क्षत्रास्राणि क्षत्रियरुधिराण्येव मध्वासवा मद्यानि तत्स्वादाभिज्ञः तत्स्वादविन्, परश्वधः परशुर्यस्य तादृशेन क्षत्रियरुधिररूपमद्यस्वादरसिकपरशुधारिणा परशुरामेण स्वा मातरं जननीं रेणुकाम् अपि विनिहत्य हत्वा पृथ्वी समस्ता धरा निःक्षत्रिया क्षत्रियसामान्यशून्या विदधे कृता, अद्यापि सम्प्रत्यपि यद्बाणव्रणवर्त्मना यदीयबाणच्छिद्रमार्गेण हंसच्छलात् निर्यन्मरालकुलव्याजात् क्रौञ्चस्य शिखरिणः क्रौञ्चाभिधस्य पर्वतस्य अस्थिकणाः पतन्ति स मुनिर्भार्गवः परशुरामः पुनः क्रुद्धः कुपितः । अयमाशयः—हे सप्तद्वीपकुलाचलस्था राजानो यूयं सावधाना भवत, यतः क्षत्रियरुधिररूपमद्यास्वादरसिककुठारः परशुरामो यो मात्रा सहैव सर्वानपि, राज्ञो विनिहत्य भुवं निःक्षत्रियामकृत, य एव च क्रौञ्चं नाम गिरिं स्वबाणैश्छिद्रवन्तम् व्यधित, यद्बाणच्छिद्रवर्त्मना तद्गिरेरस्थिखण्डा इव हंसा निपतन्ति, अन्यस्यापि प्रगलितगात्रस्य यथाऽस्थीनि निपतन्ति तथेति । पुरा स्वपितुराज्ञया परशुरामो निजां मातरमहन्निति कथाऽत्र बोध्या । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५२ ॥

नृपानिति । अप्रत्यक्षान् दृष्टिविषयबहिर्गतान् दूरस्थान् नृपान् राज्ञः किम्

क्षत्रिय शोणितरूप मदिराके स्वादको जाननेवाले परशुसे जिस परशुरामने अपनी माताको भी काटकर इस पृथ्वीको क्षत्रियशून्य बना दिया, जिसके बाणमार्गसे आज भी हंसोंके छलसे क्रौञ्चपर्वतके अस्थिकण गिरा करते हैं वही परशुराम पुनः कुपित हो उठे हैं ॥५२॥

रामः—(हर्ष तथा उतावलापनके साथ) जो सामने नहीं हैं उन नृपोंकी निन्दा

[1] 'सहासम्' ।

शिशुक्रीडाभग्नत्रिपुरहरधन्वा तव पुरः ।
अहंकारक्रूरार्जुनभुजवनच्छेदनकला
निसृष्टार्थो बाहुः कथय कतरस्ते प्रहरतु ॥ ५३ ॥

जामदग्न्यः—(सकोपाटोपम्[1] ।) आः पाप विकर्तनकुलकलङ्क, पुनस्तदेव पार्वतीदयितकोदण्डदलनसाहसमुद्भावयसि[2] । अहह क्षत्रियोऽपि भार्गवस्य कार्तवीर्यजयिनं[3] भुजदण्डमन्विष्यति । अहो गरीयान्कालः । यदश्रुतचरमपि श्रावयति । अदृष्टचरमपि दर्शयति । अपि च रे राजन्यकीट,

---

किमर्थम् अपवदन्मे निन्दसि ? अस्मण्वता तेषां निन्दया न किमपि फलं लभ्यमित्यर्थः । ननु शिशुक्रीडया बाललीलया भग्नः खण्डितः त्रिपुरहरस्य शिवस्य धनुर्येन तथोक्तः अयमहम् तव पुरः अग्रतः अस्मीति शेषः, अहङ्कारेण भुजदर्पेण क्रूरस्य समुद्धतस्य अर्जुनस्य कार्तवीर्यस्य भुजवनानाम् सहस्रमरण्यकबाहूनाम् प्रच्छेदनस्य छेदनस्य कला सामर्थ्यम् तेन निसृष्टार्थः ज्ञातवस्तुसारः ते तव कतरो बाहुः प्रहरतु मयि प्रहारं करोतु इति कथय आदिश । अपराधिनि पुरःस्थे च मयि प्रहाराय स्वभुजादेश एव प्रासङ्गिको न व्यर्थोऽपरराजनिन्देति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५३ ॥

सकोपाटोपम् सक्रोधावेगम् । विकर्तनकुलकलङ्क सूर्यवंशाधम । पार्वतीदयितस्य महादेवस्य कोदण्डो धनुस्तस्य दलने खण्डने साहसं स्वसामर्थ्यम् उद्भावयसि प्रकाशयसि । अहह इति खेदातिशयस्य सूचकम् । अन्विष्यति मृगयते । गरीयान् गुरुतरः, सर्वाधिकबलशाली । अश्रुतचरम् पूर्वं कदापि न श्रुतम् । अदृष्टचरम् पूर्वं कदापि न दृष्टम् । राजन्यकीट क्षत्रियाधम ।

क्यों करते हो ? बाल्यावस्थामें त्रिपुरारिके धनुषको तोड़ देनेवाला मैं तेरे आगे खड़ा हूँ । आज्ञा दो कि अहङ्कार भरे अर्जुन बाहुओंके खण्डनकी कलामें निपुण तुम्हारा कौन-सा हाथ पहले मुझपर प्रहार करेगा ? ॥ ५३ ॥

जामदग्न्य—(कोपके वेगमें) आः पाप सूर्यकुलकलङ्क फिर उसी शिवधनुर्भङ्गकी बात चलाता है, अहह ! क्षत्रिय होकर भी मेरे कार्तवीर्य विजयी हाथकी खोज कर रहा है ? समय बड़ा बलवान् है, जो अश्रुतपूर्व वस्तु सुनाता तथा अदृष्टपूर्व वस्तु दिखलाता

---

१ 'साटोपम्' । २ 'साहसम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।
३ 'कार्तवीर्यभुजविजयिनम्—अन्वेषयति' ।

जानास्येव यथा पितुः परिभवन्होमार्जुनीमर्जुनो
　　मत्कोदण्डमनेकराजकवधस्वाध्यायमध्यापिपत्[1] ।
तेनैवास्ति भवत्सु यद्यपि मम क्रोधोऽयमौत्सर्गिक-
　　स्तत्सम्प्रत्युपसर्जनं गुरुधनुर्भङ्गादयं हेतुमान् ॥ ५४ ॥

रामः—[2]ऋषे जामदग्न्य, पटच्चरीभूता खल्वियं पुरातनी कीर्तिपताका । तन्निदानीमेव द्रष्टव्यम् । (नेपथ्याभिमुखम् ।) वत्स लक्ष्मण, धनुर्धेनु ।

जामदग्न्यः—([3]साक्षेपम् ।) [4]अरे अनात्मज्ञ क्षत्रियवटो,

जानास्येवेति । यथा पितुर्मम भगवतः जमदग्नेः होमार्जुनीम् होमसाधनीभूता सौरभेयीम् गाम् परिभवन् हरन् अर्जुनः कार्तवीर्यः मत्कोदण्डम् मम चापम् अनेकेषां राजकानाम् वध एव स्वाध्यायः तम् अध्यापिपत् पाठितवान् (तत्) जानास्येव । कार्तवीर्यो नाम राजा मम पितुर्होमधेनुं हरन् मम धनुस्सकलक्षत्रवधाय प्रेरितवानिति नाविदितं स्यात्तवेति भावः । तेनैव कार्तवीर्यकोपनेनैव भवत्सु क्षत्रियेषु अयम् मम कोपः औत्सर्गिकः सामान्यः अस्ति, तत् सम्प्रति उपसर्जनं गुणीभूतम् अप्रधानम्, अयं साम्प्रतिकस्तु भवत्सु मम कोपः गुरुधनुर्भङ्गात् शिवचापदलनात् हेतुमान् सकारणकः । यद्यपि कार्तवीर्यापराधसमुत्थितो मम भवत्सु कोपः आसीदेव, परमसौ सम्प्रति न प्रज्वलति, असौ गुणीभूतः, सम्प्रति तु गुरुचापभङ्गभवस्य कोपस्य यूयं विषया इति भावः । 'अर्जुनी सौरभेयी गौः' इत्यमरः ॥ ५४ ॥

पटच्चरीभूता जीर्णवसनस्वरूपतां गता । 'पटच्चरं जीर्णवस्त्रम्' इत्यमरः । पुरातनी प्राचीना । यशःपताका कीर्त्तिप्रशस्तिः ।

अनात्मज्ञ स्वरूपपरिचयशून्य । क्षत्रियवटो क्षत्रियशिशो ।

है । अरे क्षुद्र क्षत्रिय, जानते ही हो कि हमारे पिताकी होमधेनुका अपमान करनेवाले अर्जुनने मेरे धनुषको अनेक क्षत्रियवधका पाठ पढ़ा दिया है, क्षत्रियोंपर मैं उसीसे कुपित रहता आया हूँ परन्तु इस समय वह गौण हो रहा है, इस समय तो मैं गुरुके धनुषके भङ्गसे कुपित हो रहा हूँ ॥ ५४ ॥

राम—ऋषे जामदग्न्य, तुम्हारी यह कीर्तिपताका अब जीर्ण वस्त्र बन गई है क्या देखना है—(नेपथ्यकी ओर) वत्स लक्ष्मण, धनुष तो देना ।

जामदग्न्य—(आक्षेपके स्वरमें) अरे अनात्मज्ञ क्षत्रिय कुमार,

१ 'अध्यापयत्' ।　　२ 'ऋषे' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।
३ 'साक्षेपम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।　　४ 'रे रे' ।

तच्चापमीशभुजपीडनपीतसारं
प्रागप्यभज्यत भवांस्तु निमित्तमात्रम् ।
राजन्यकप्रधनसाधनमस्मदीय
माकर्ष कार्मुकमिदं गरुडध्वजस्य ॥ ५५ ॥

आकृष्टेन पुनरमुनैव धनुषा [1]किलास्मानभियोत्स्यसे । क्षत्रसत्रे दीक्षितानां तु चिरस्य [2]होताय परशुरस्माकमस्त्येव ।

(इति रामस्य हस्ते धनुरर्पयति ।)

तच्चापमिति । ईशभुजपीडनेन महादेवकरकृतभूयस्समाकर्षणेन पीतसारं अपिते सामर्थ्यम् तत् चापम् प्रागपि प्रागेव अभज्यत स्वयं भग्नम् , भवांस्तु निमित्तमात्रम् उपलक्षणमात्रम् , शिवव्यवहृततया वृद्धं तदनु स्वयमेव भग्नमभवद् भवतः कुतस्तद् भञ्जनक्षमत्वमित्यर्थः । (नन्वस्ति मयि सामर्थ्यं तादृशं तत्राह-राजन्यकेति) राजन्यकानां क्षत्रियाणां प्रधने मारणे साधनं सहायभूतम् इदं गरुडध्वजस्य कार्मुकम् वैष्णवं धनुराकर्ष नमय, स्वसामर्थ्यपरीक्षार्थमिदं मम चापं नमयेति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

अभियोत्स्यसे युद्धं करिष्यसि । रामो लक्ष्मणाय 'धनुर्धनु' इत्युक्तवान् , तदुत्तरमिदं परशुरामवचनम् , इदं ममैव धनुराकृष्य स्वबलं परीक्ष्य मामेव मया सह युद्धं करिष्यसि, इतमन्यधनुरानयनादेशप्रदानेनेति तात्पर्यम् ।

ननु यदि त्वं स्वं चापं मह्यं ददासि तत्तेन पुनस्त्वं योत्स्यसे इत्युत्तरमाह-परशुरामः । क्षत्रेति । क्षत्रसत्रे अस्मिन् क्षत्रियवधयागे । दीक्षितानां कृतसङ्कल्पानाम् , होता होमकर्त्ता । अहमनेन परशुनैव योत्स्य इत्यर्थः ।

महादेवके भुजों द्वारा पीडित होनेसे दुर्बल वह धनुष पहले भी टूट जा सकता था तू तो निमित्तमात्र हो गया है। सकलक्षत्रिय संहारी मेरे इस वैष्णव चापको तो चढाओ ॥ ५५ ॥

इसी धनुषको चढाकर हमसे लडो। क्षत्रवध यज्ञमें बहुत दिनोंसे लगे रहनेवाले मेरे लिये तो यह परशु है ही ॥

(रामके हाथमें धनुष देता है)

१ अभियोक्ष्यसे । २ अयम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

राम —(गृहीत्वा ।) भार्गव, समन्तादुद्घातिनी भूमिरियम् । तदेहि विमर्दक्षमं प्रदेशान्तरमवतराव ।

जामदग्न्य —(सरोषं परिक्रामन् ।) भो भोः क्षात्रेण ब्राह्मेण च तेजसा विकत्थमानाः, सदत्र

> भवतु शरणदो वा सर्वशस्त्राभिसारः
> 　　प्रतिविदधतु वाऽस्मिन्नाशिषो वैजयिक्यः ।
> अदशरथमरामं निर्विदेहेन्द्रमुर्वी-
> 　　वलयमिह विधत्ते रोषणो रैणुकेयः ॥ ५६ ॥

(इति निष्क्रान्तौ ।)

(नेपथ्ये ।)

समन्तात् सर्वतः । उद्घातिनी नतोन्नता । विमर्दक्षमम् युद्धयोग्यं समतलम्, प्रदेशान्तरम् अन्यत्स्थानम् ।

विकत्थमानाः आत्मश्लाघापरायणाः, ब्राह्मतेजसा क्षात्रतेजसा चाभिमानवन्तः ।

भवत्विति । सर्वशस्त्राभिसारः सर्वयोधैः एकत्र सर्वशस्त्रकृतं युद्धम् वा शरणदः रामस्य रक्षायामुद्यतो भवतु, अस्मिन् रामस्य मया क्रियमाणे वधे वैजयिक्यः विजयप्रयोजिकाः विनयातिसिन्य आशिषः युष्माकं शुभाशंसाः वा प्रतिविदधतु प्रतिकारपरायणा भवन्तु । इह अत्र देशे काले च रोषणः कुपितः रैणुकेयः रेणुकापुत्रः परशुरामः उर्वीवलयम् इदं भूमण्डलम् अदशरथम् दशरथशून्यम् अरामम् रामविरहितम् निर्विदेहेन्द्रम् जनकवर्जितं च विधत्ते, सर्वेषु योधेषु सर्वैरपि शस्त्रैरेकत्रैव रक्षापरायणेषु सत्स्वपि सर्वेषु लोकेषु शुभाशंसापरेष्वपि सत्सु सम्प्रत्यहं दशरथरामजनकान् मारयामीत्यर्थः । मालिनी वृत्तम् ॥ ५६ ॥

राम—(लेकर) भार्गव, यह जगह निम्नोन्नत है, अत आइये, युद्धके योग्य समतर भूमिमें चलें ।

जामदग्न्य—(सकोप चलते हुए) हे क्षात्र तथा ब्राह्मतेजके अभिमानियो,

सकलशास्त्रका ज्ञान शरणप्रद हो, या विजयके आशीर्वाद प्रतिकर्त्ता हों, मैं रेणुकापुत्र परशुराम कुपित होकर इस भूमण्डलको दशरथ तथा रामसे रहित बनाने जा रहा हूँ ॥५६॥

(दोनों जाते हैं)

(नेपथ्यमें)

भो भो पौरजानपदाः, प्रवर्त्यन्तां माङ्गलिकमातोद्यानि । [1]प्रसज्यता मयमपि वैदेहीविवाहमहोत्सवो जामदग्न्यविजयोत्सवेन ।

कन्या काचिदिहापि कर्मणि पणः स्यादित्यसूयावल-
त्सीतापाङ्गमयूखमांसलमुखज्योत्स्नाविलिप्तां दिवम् ।
कुर्वाणेन रघूद्वहेन चकृषे नारायणीयं धनु-
स्तेनाथाशु [2]शरश्च मार्गगतिविच्छेदादमोघीकृतः ॥ ५७ ॥

प्रवर्त्यन्ताम् वाद्यन्ताम् । माङ्गलिकम् मङ्गलसाधनम् । आतोद्यम् वीणामुरजवंशकांस्यवाद्यम्, 'चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्' इत्यमरः ।

प्रसज्यताम् योज्यताम् । जामदग्न्यविजयोत्सवोऽपि वैदेहीविवाहमहोत्सवेन सह योज्यतामिति भावः ।

कन्या काचिदिति । (यथा पूर्ववृत्ते हरधनुर्भङ्गेऽहं पणः आसम् तथा) इह नारायणीयधनुर्भङ्गात्मकेऽपि कर्मणि काचित् कन्या पणः शुल्कं स्यात् इति सायत्नसम्भावनाजन्यया असूयया अमर्षेण वलन्ति सञ्चारिणि अपाङ्गस्य नेत्रप्रान्तस्य मयूखैः किरणैः मांसलया प्रभूततां गतया मुखज्योत्स्नया विलिप्ताम् लिप्तामिव व्योम कुर्वाणेन विदधता यद्यत्रापि कर्मणि काचित् कन्या पणः स्यात्तदा सा मम सपत्नी भविष्यतीति सपत्नीशङ्कया सीतया कूणितत्रिभागया दृशा दृश्यमानो रामः स्वमुखप्रतिफलत्सीतानयनमयूखैः समेधितकान्तिमुखः निजं व्योमनि क्षिपन् दिवं तत्कान्तिलिप्तां करोति—तथोक्तेन रघूद्वहेन राघवश्रेष्ठेन नारायणीयं धनुः चकृषे आकृष्टम्, शरश्च बाणश्च सन्धाय तत्र धनुष्यारोप्य मार्गगतिविच्छेदात् परशुरामस्वर्गमार्गनिरोधद्वारा अमोघीकृतः वैयर्थ्याद्विवारितः । रामेण नारायणीये धनुषि शरमारोप्यानेन किं ते छिनद्मीति पृष्टः परशुरामो मौनावलम्बितया स्वा

हे पुरवासियो, माङ्गलिक वाद्य बजानेका प्रबन्ध करो, वैदेही विवाहोत्सवके साथ जामदग्न्य-विजयोत्सव भी मना लिया जाय ।

इस कार्यमें भी कदाचित् कोई कन्या पणरूपमें स्थापित हो ऐसा सोचकर असूयावती सीताके अपाङ्गकी किरणोंसे आकाशको आलोकित करानेवाले रघुनाथने नारायणीय चापको आकृष्ट कर दिया, और उसपर बाण सन्धान करके उस बाणको मार्गवकी उत्तरगतिच्छेदके द्वारा अमोघ बना दिया ॥ ५७ ॥

१ 'प्रसपतामय वैदेहीविवाहोत्सवो जामदग्न्यविजयमहोत्सवेन', 'प्रसज्जतामय —विजयेन' । २ 'शर घ' ।

([1]ततः प्रविशतो रामजामदग्न्यौ ।)

राम —भगवन्भार्गव,

परैराहूतानां विहितमपि शस्त्रं भवतु न
प्रकृत्या विप्रेभ्यः पुनरकृतशिल्पा रघुभुवः ।
चिरादृण्डीरेण त्वयि तदपि रामेण गणितं
तपोविद्यावीरव्रतमय [2]मयि क्षाम्यतु भवान् ॥ ५८ ॥

जामदग्न्य —(विहस्य ।) कथमपराद्धमस्मासु वत्सेन ।
यदर्थमस्माभिरिह प्रकोपितस्तदद्य [3]दृष्ट्वा तव धाम वैष्णवम् ।

स्वर्गतिमेव च्छेत्तुं तमन्वरणः स च तामेव छित्त्वा स्व यागममोघीचकारेति भावः । 'विस्मितीम्' इत्यत्र 'क्तादल्पाख्यायाम्' इति ङीप् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५७ ॥

परैराहूतानामिति । परैः शत्रुभिः आहूतानाम् युद्धार्थमामन्त्रितानाम् न अस्माकं राघववंशीयानाम् शस्त्रम् शस्त्रग्रहणम् विहितम् विधिसम्मतमपि भवतु स्ताम्नाम्, पुनः परन्तु रघुभुवः रघुवंश्या प्रकृत्या स्वभावतः विप्रेभ्यः ब्राह्मणानुद्दिश्य अकृतशिल्पाः अविहितशस्त्रक्रियाभ्यासाः । चिरात् बहोः कालात् शण्डीरेण धृतगर्वेण मया तदपि ब्राह्मणविषये शस्त्रग्रहणस्यायुक्तत्वम् अपि त्वयि त्वत्प्रसङ्गे न गणितम् न विचारितम् , हे तपोविद्याव्रतमय, तपोमय, विद्यामय, व्रतमय, च, भवान् मयि क्षाम्यतु क्षमयतु, अनुचितं मदाचरितं क्षमतां भवानित्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ५८ ॥

कथमपराद्धमस्मासु वत्सेन—नापराधं कृतवान् भवान्मयीति भावः ।

यदर्थमिति । अस्माभिः यदर्थम् यस्य वैष्णवस्य धाम्नो दर्शनार्थम् अस्मिन् विषये अत्र प्रसङ्गे प्रकोपितः क्रोधं लम्भितः असि, तत् वैष्णवं धाम दृष्ट्वा प्रत्यक्षी

(राम और जामदग्न्यका प्रवेश)

राम—भगवन् भार्गव, दूसरों द्वारा ललकारे जानेपर भले ही हम शस्त्रग्रहण करनेको बाध्य हो जांय, परन्तु स्वभावतः हम ब्राह्मणोंपर शस्त्र नहीं उठाते हैं, गर्वी होकर मैंने इस नियमका पालन नहीं किया, हे तप तथा विद्या-वीरताके व्रतधारी आप हमें क्षमा करें ॥ ५८ ॥

जामदग्न्य—(हंसकर) वत्सने मेरे प्रति क्या अपराध किया है ?

मैंने आपको जिसलिए कुपित किया था, आपके उस वैष्णव तेजको देखकर हमारे

१ 'ततः प्रविशति रामः परशुरामश्च'। २ 'मम'। ३ 'दृष्टम्'।

विशीर्णसर्वामयमस्मदान्तरं चिरस्य कश्चिल्लघिमानमश्नुते ॥ ५९ ॥

राम —इत इतो [1]भगवन् ।

जामदग्न्य —(रामस्य चिबुकमुन्नमय्य सस्मितम् ।) वत्स, अप्रशस्त स्त्वारण्यकानां जनपदेषु चिरप्रचारः । [2]तत्क पुनरस्मान्नेष्यसि ।

राम —भगवन्, [3]भगवतो याज्ञवल्क्यस्याश्रमपदे कृतातिथेयसंनिधानौ तातजनकौ भवन्तमनुपालयतः ।

एहि विष्टरपाद्यार्घ्य[4]मधुपर्कैरुपस्थितान् ।

इक्ष्वाकूंश्च विदेहांश्च पुनीहि भगवन्नमून् ॥ ६० ॥

कृत्य अद्य अस्मदान्तरम् ममान्तःकरणम् विशीर्णसर्वामयम् अपेतसमस्तरोगम् सत् चिरस्य बहोः कालात् कञ्चित् लघिमानम् लाघवम् अश्नुते भजति । वैष्णवं तेजो दृष्ट्वाऽपेतमकल्मषमनोमलस्य मम हृदयं लघुभूतमिति भावः । वशस्थविलं वृत्तम्, 'वदन्ति वशस्थविलं जतौ जरौ' इति तल्लक्षणात् ॥ ५९ ॥

अप्रशस्तः निषिद्धः । आरण्यकानाम् वनवासिनाम् । जनपदेषु ग्रामनगरादिषु । चिरप्रचारः बहुकालपर्यन्तं वासः ।

आश्रमपदे आश्रमे निवासस्थाने । कृतातिथेयसंविधानौ समाहृतातिथ्योपकरणौ । तातजनकौ दशरथविदेहौ । अनुपालयतः प्रतीक्षेते ।

एहि विष्टरेति । विष्टरः आसनम्, पाद्यार्घं पाद्यम्, मधुपर्कश्च तैः त्वदर्चनार्थं माहृतैः विष्टरपाद्यार्घमधुपर्कैः (सह) उपस्थितान् अमून् इक्ष्वाकून् विदेहांश्च उभयवंश्यान् पुनीहि पवित्रीकुरु, भगवन् परशुराम । एहि आगच्छ ॥ ६० ॥

हृदयका सारा रोग दूर हो गया, हमारे हृदयका भार हल्का हो गया है ॥ ५९ ॥

राम—आप इधर आइये ।

जामदग्न्य—(रामकी ठुड्डी पकड़कर उठाते हुए) वत्स, वनवासियोंके लिए अधिक समय तक गाँवमें रहना निन्दित है, अतः मुझे कहाँ ले जाओगे ?

राम—भगवन्, भगवान् याज्ञवल्क्यके आश्रममें आतिथ्यका आयोजन करके हमारे पिता तथा जनक आपके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

आइये, आसन, पाद्य तथा मधुपर्कसे आपकी सेवाके लिए उपस्थित इक्ष्वाकु तथा विदेहके वंशज को पवित्र करें ॥ ६० ॥

१ 'भवान्', 'भगवान्' । २ 'तत्कथम्' ।
३ 'भगवन' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । ४ 'पाद्यार्घ' 'पाद्यार्घ्य' ।

जामदग्न्यः—वत्स, अपरिहार्यमेव[1] ह्यातिथ्यं राजन्यश्रोत्रियाणाम् । किं पुनरेवंविधवैखानसोचिताचारस्खलितविलक्षो न शक्नोमि धर्माचार्यं याज्ञवल्क्यमुपेत्यावलोकितुम्[2] । आचारस्तु दूरादपि कृतः[3] कृतः स्यात् । (किंचिदुच्चैर्नेपथ्याभिमुखम्[4] ।)

यस्य स्मृतौ प्रतीक्षन्ते[5] चतुर्वर्गे मनीषिणः ।
नमो भगवते तस्मै याज्ञवल्क्याय योगिने ॥ ६१ ॥

(नेपथ्ये ।)

गायत्री द्रुपदा[6] देवी पाप्मानमपहन्तु ते ।
पुनन्तु पावमान्यस्त्वामृध्नोतु ब्रह्म ते परम् ॥ ६२ ॥

अपरिहार्यम् अपरित्यक्तव्यम् । आतिथ्यम् सत्कारः । राजन्यश्रोत्रियाणाम्—वेदविद्याविदां राज्ञाम् राजश्रेष्ठानां वा । किं पुनः—किन्तु । वैखानसोचिताचारस्खलितविलक्षः वाग्मित्स्यागलज्जितः । आचारः प्रणामादिः ।

यस्येति । मनीषिणो विद्वांसो यस्य स्मृतौ संहितावचनानि चतुर्वर्गे धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थचतुष्टये प्रतीक्षन्ते प्रमाणमामनन्ति, तस्मै योगिने अवलम्बितसमाधये भगवते याज्ञवल्क्याय नमः ॥ ६१ ॥

गायत्रीति । गायत्री मन्त्रात्मिका सावित्री देवी तथा द्रुपदा 'द्रुपदादिव मुमुचानः' इत्यादिमन्त्रात्मिका च देवी ते तव पाप्मानम् पापम् अपहन्तु नाशयतु पावमान्यः पवित्रताजनकतया पठिता मन्त्रविशेषाः त्वां पुनन्तु पवित्रतां नयन्तु, ते परं ब्रह्म ब्रह्मज्ञानम् ऋध्नोतु वर्धताम् ॥ ६२ ॥

जामदग्न्य—क्षत्रिय-श्रोत्रियों द्वारा आयोजित आतिथ्य अपरिहार्य है, किन्तु मैंने तपस्वियोंके आचरणसे अपनेको स्खलित कर लिया है, अतः मुझे धर्माचार्य याज्ञवल्क्यके सामने आनेमें लज्जा होती है । आचार तो दूरसे भी किया जा सकता है ।

(नेपथ्यमें ऊपरकी ओर देखकर)

विद्वान् लोग चतुर्वर्गके विषयमें जिनकी स्मृतिकी प्रतीक्षा करते हैं, उस योगिराज याज्ञवल्क्यको नमस्कार ॥ ६१ ॥

(नेपथ्यमें)

गायत्री तथा द्रुपदादि मन्त्र तुम्हारे पापको नष्ट करें, पावमानी ऋचायें तुम्हें पवित्र करें, तथा तुम्हारा ब्रह्मज्ञान समृद्ध हो ॥ ६२ ॥

---

१ 'एव हि' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।　२ 'अवलोकयितुम्' ।
३ 'कृतकृत्य' ।　४ 'अभिमुख' ।　५ 'अपेक्षन्ते' ।　६ 'त्रिपदा' ।

जामदग्न्य —भगवन्, अपत्रपमाणो न भवन्तं द्रष्टुमुत्सहे। तद नुमन्यस्व [1]मामरण्याय।

(नेपथ्ये।)

शिवास्ते पन्थानो व्रज निजगृहेभ्यो निजगृहा
निकमन्यत्सर्वथा गुणमय! [2]शिरोमाल्यमसि नः।
त्रिलोकीनिर्माणस्थितिनिधनबन्धोर्मधुभिदो
भवान्षष्ठी[3] मूर्तिर्भृगुकुलमधिष्ठाय रमते॥ ६३॥

जामदग्न्य —वत्स रामभद्र।

राम —आज्ञापय।

अपत्रपमाण साधुजनोचिताचारपरित्यागलज्जित। अनुमन्यस्व अनुजानीहि। अरण्याय वनं गन्तुम्।

शिवास्त इति। ते तव पन्थानः शिवाः कल्याणमयाः सन्तु इति योजनीयम्, निजगृहेभ्य निजानां स्वजनानामस्माकं गृहेभ्यो निजगृहान् स्वीयानाश्रमान् व्रज गच्छ, अन्यत् किम् उच्यताम्, हे गुणमय सकलगुणालय, नः अस्माकम् शिरोमाल्यम् आदरणीय असि। त्रिलोक्या लोकत्रयस्य निर्माण सृष्टि, स्थिति पालनम्, निधन विनाशश्च तद्बन्धो तत्कर्त्तुः मधुभिदो विष्णो षष्ठी मूर्त्तिः परशुरामरूपा तनुर्भवान् भृगुकुलम् अधिष्ठाय स्थित्वा सनाथीकुर्वन् रमते व्यवहारपरायणतया क्रीडति। 'मत्स्य कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामन। रामो रामश्च रामश्च बुद्ध कल्की च ते दश' इत्यवतारगणना। राम परशुराम, रामो रामचन्द्र, राम बलरामश्चेति क्रम॥ ६३॥

जामदग्न्य—भगवन्, लज्जाके कारण मैं आपका दर्शन नहीं करना चाहता हूं, अत मुझे वनगमनकी अनुमति दें॥

(नेपथ्यमें)

तुम्हारे मार्ग कल्याणमय हों, आत्मीयजनोंके यहाँसे अपने घर जाओ, हे गुणमय, और क्या कहें, आप हमारे शिरोभूषण हैं, ससारके निर्माण रक्षासहारकारी भगवान् विष्णुके षष्ठ अवतारके रूपमें आप भृगुकुलमें रम रहे हैं॥ ६३॥

जामदग्न्य—वत्स रामभद्र।

राम—आज्ञा करें।

---

१ 'अरण्यगमनाय'। २ 'शिरोरत्नम्'। ३ 'मूर्ति षष्ठी'।

जामदग्न्यः—निवर्तस्व । नूनमिदानीं कृतकौतुकागारमङ्गलोपचारः[1] श्वशुरकुललोकस्त्वां प्रतीक्षते । (इति परिष्वज्य निष्क्रान्तः ।)

रामः—(सोद्वेगम् ।) कथं गतो भगवान् । तदहमपि तातसमीपमेव गच्छामि । (इति [2]परिक्रामन्पुरोऽवलोक्य ।) कथं तातश्च जनकश्चेत इत्याभिवर्तेते । (इत्युपसर्पति ।)

(ततः प्रविशतो जनकदशरथौ राजानावन्योन्यं परिष्वज्य ।)

जनकः—

सुचरितमिदमैतिहासिकानां [3]हृदि न विरंस्यति यत्तवैष पुत्रः ।
भृगुसुतपरशूदराद्विराजां सहजविजित्वरमाचकर्ष तेजः ॥ ६४ ॥

दशरथः—(पुरोऽवलोक्य सहर्षम् ।) कथमागत एव वत्सो रामभद्रः ।

निवर्तस्व मदनुगमनं विहाय परावर्तस्व । कौतुकागारं परिणयगृहम् । तत्र मङ्गलम् नानाविधाचारद्वारकं शुभाशंसनम् , तदुपचारः परिपाटी ।

सुचरितमिति । तव एष रामलक्ष्मणः पुत्रो जामाता सुतश्च भृगुसुतस्य परशुरामस्य परशूदरात् कुठारान्तरालात् विराजां क्षत्रियाणां सहजविजित्वरम् स्वभावतो विजयशीलम् तेजः यद् आचकर्ष आकृष्य बहिर्नीतवान् इदं सुचरितम् रामस्य चरित्रम् ऐतिहासिकानाम् इतिहासविदां हृदि न विरंस्यति न मलिनतां गमिष्यति । तव पुत्रेण रामेण परशुरामकुठारापहृता क्षत्राणां बलसम्पत्पुनरुद्धृतेति कीर्त्तिमैतिहासिका अनवरतं स्मरिष्यन्तीति भावः ॥ ६४ ॥

जामदग्न्य—लौटिये, कौतुक-मङ्गलाचार करके श्वशुरकुलके आदमी निश्चय आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे । (आलिङ्गन करके जाते हैं)

राम—(उद्वेगके साथ) क्यों, भगवान् चले गये । अतः मैं भी पिताजीके पास जाता हूं । (चलते हुए आगे देखकर) क्यों, पिताजी तथा जनक इधर ही आ रहे हैं । (समीप जाते हैं) ॥

(दशरथ तथा जनक आकर परस्पर लिपट जाते हैं)

जनक—ऐतिहासिकोंके हृदयोंसे यह सुचरित कभी भी दूर नहीं होगा, कि आपके इस पुत्रने भृगुपतिके उदरसे क्षत्रियोंके स्वाभाविक तेजको बाहर निकाल लाया ॥ ६४ ॥

दशरथ—(आगे देखकर सहर्ष) क्यों, रामभद्र भी आ ही गये,

---

१ 'कुल' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । २ 'पुरतोऽवलोक्य च' । ३ 'न हृदि' ।

जनक —सखे महाराज दशरथ, पश्य पश्य ।

चिरात्क्षात्रं तेजस्त्रिजग[1]द्वजैत्रं जनयिता
विधाता सर्वेषामुपरि सवितारं [2]कुलभृताम् ।
विनेता वर्णानां भृगुपतिभुजादर्पनिकषो
महावीरः श्रीमानय[3]ममृतमक्ष्णोर्विकिरति ॥ ६५ ॥

दशरथ —(निर्वर्ण्य । सस्नेहम् ।) सखे सीरध्वज, रघुराजधर्माधिकारसर्वधुरीणः शिशुरपि वत्सोऽयम् । तदस्मिन्नरसा दुर्वहं वर्णाश्रम-

चिरादिति । चिरात् बहो कालात् परतः क्षात्रं तेजः क्षत्रियजातिबलम् त्रिजगद्वजैत्रम् लोकत्रयविजयकरम् जनयिता विधाता, कुलभृतां तत्तद्वंशप्रवर्तकानाम् चन्द्रादीनाम् मध्ये सवितारम् सूर्यम् उपरि विधाता सर्वाधिक प्रकर्षं प्रापयन्, वर्णानां ब्राह्मणादीनां विनेता सत्पथप्रवर्तकः, भृगुपतिभुजादर्पनिकषः परीक्षित परशुरामभुजवीर्यश्च श्रीमान् पुण्यलक्ष्मीको महावीरो रामोऽयमक्ष्णो मे नयनयोरमृतं विकिरति सुधामिव वर्षति । यो बहोः कालात् क्षात्रं तेजो विश्वविजयि समापितवान्, सर्वेषामपि वंशानां मध्ये सूर्यवंशं प्रतिष्ठिततमं कृत्वा तत्तद्वंशादिपुरुषाणां मध्ये सूर्यस्य प्रतिष्ठां समेधितवान् सर्वान् ब्राह्मणादीन् वर्णान् सत्पथे प्रवर्तितवान्, भृगुपतेर्भुजवीर्यं च परासितवानसौ महावीरो रामो मम नयनयोरमृतवृष्टिमिव करोतीत्यर्थः । 'शाणस्तु निकषः कषः' इत्यमरः ॥ ६५ ॥

रघुराजानाम् राघववंश्यनृपाणाम्, धर्माधिकारे सर्वविधधर्मपालने सर्वधुरीणः सर्वविधभारवहनक्षम । जरसा दुर्वहम् वृद्धतया मया वोढुमशक्यम् । वर्णाश्रमभारम्—वर्णानामाश्रमाणां च रक्षाकार्यम् । आरोप्य दत्त्वा । राम यौवराज्येऽभिषिच्येत्यर्थः । शेषमायुः अवशिष्टं वयः । उपबुभुक्षामहे उपभोक्तुमिच्छाम, यापयितुं कामयामहे, ईदृशम्—पुत्रे लक्ष्मीं निधाय तपस्यारसिकम् । साधु—सम्यक् । राम

जनक—सखे महाराज, देखिये,

क्षात्रतेजको त्रिजगद्विजयी बनानेवाला तथा सभी कुलप्रवर्तकोंके ऊपर सूर्यको प्रतिष्ठित करनेवाला, सभी वर्णोंका विजेता, तथा भार्गवके दर्पको शान्त करनेवाला, यह महावीर राम आँखोंमें अमृतकी वर्षा कर रहा है ॥ ६५ ॥

दशरथ—(देखकर) (सस्नेह) सखे सीरध्वज, यह राम लडका होनेपर भी रघुवंश के धर्माधिकारके भारको उठानेमें समर्थ है । अतः मैं चाहता हूँ कि मैं बूढा हो

१ 'उपजीव्यम्' । २ 'कुलवताम्' । ३ 'अमृतमयम्' ।

भारमारोप्य [1]वयमपि क्वापि तपोवने दिलीपकुलोचितेन विधिना शेष-[2]मायुरुपभुञ्जामहे।

जनकः—सखे दशरथ, साधु ते हृदयमीदृशम्। [3]क्रमादेतदनुष्ठातव्यम्।

रामः—(उपसृत्य।) [4]तातौ, अभिवादये।

जनकः—एह्येहि वत्स रामभद्र। (इति सहर्षमालिङ्गति।)

दशरथः—(राममालिङ्ग्य।) सखे जनक, रामभद्रमभिषेक्तुं जामदग्न्यविजयप्रीतिरेव श्रेयानवसरः। कालक्षेपे पुनः को हेतुः।

(प्रविश्य।)

लक्ष्मणः—इयमार्यया मन्थरयोपनीता मध्यमाम्बाया पत्री।

(राजानौ सवितर्कमन्योन्यं पश्यतः।)

रामः—(सहर्षम्।) वत्स लक्ष्मण, अपि सपरिवारतया कुशलमम्बाया कथयत्यार्या मन्थरा।

अभिषेक्तुम्—रामस्य यौवराज्याभिषेकं कर्तुम्। जामदग्न्यविजयप्रीतिः परशुरामविजयजन्यः सन्तोषः श्रेयान् अवसरः उत्तमः कालः।

मध्यमाम्बाया कैकेय्या। पत्री लिपिः।

अस्मत्प्रवासदौर्मनस्यम् अस्माकं प्रवासेन परदेशस्थत्वेन जायमानं दुःखम्॥

गया हूँ मुझे जो भार दुर्वह है उसे रामपर रख दूँ और दिलीपकुलोचित मार्गसे किसी तपोवनमें आयुके दिनोंका उपभोग करूँ।

जनक—सखे, ठीक है आपके हृदयमें ऐसा बात है, क्रमशः ऐसा कर लीजियेगा।

राम—(समीप आकर) तात, प्रणाम करता हूँ।

जनक—आओ वत्स रामभद्र, (गले लगाते हैं)

दशरथ—(रामको गले लगाकर) सखे जनक, जामदग्न्यकी जीतका आनन्दोत्सव ही रामभद्रके अभिषेकका उत्तम अवसर है, समय बितानेमें क्या हेतु ?

लक्ष्मण—आर्या मध्यमा अम्बाने यह पत्री भेजी है।

(दोनों राजा सवितर्क परस्पर देखते हैं)

राम—(हर्षसे) वत्सलक्ष्मण, सपरिवार मध्यमा अम्बाका कुशल तो बताती है मन्थरा ?

---

१ 'वयमपि' इति पुस्तकान्तरे नास्ति।　२ 'उपभोक्ष्यामहे'।

३ 'एवमनुष्ठातव्यम्'।　४ 'तातौ' इति पुस्तकान्तरे नास्ति।

लक्ष्मण —[1]आर्य, अथ किम् ।

राम —नूनमस्मत्प्रवासदौर्मनस्यमम्बा पीडयिष्यति ।

जनक —(लक्ष्मणहस्तात्पत्रिका गृहीत्वा वाचयति ।) स्वस्ति । महाराज दशरथं कैकेयी[2] विज्ञापयति । यथा

> तन्मे वरद्वयमुरीकृतपूर्वमेव
> याचे बिभर्तु भरतस्तव राज्यलक्ष्मीम् ।
> वर्षाणि तिष्ठतु चतुर्दश दण्डकायां
> सौमित्रिमैथिलसुतासहितश्च रामः ॥ ६६ ॥

(इति राजानौ मूर्च्छतः ।)

राम —यदादिशत्यम्बा । (इति शिरसि पत्रिकां [3]दत्त्वा ।) वत्स लक्ष्मण निजामस्मदाराधनसहाध्यायिनीं प्रजावतीमादाय [4]पुरो भव ।

तन्मे वरद्वयमिति । तत् मे मह्यम् उरीकृतपूर्वम् पूर्वमङ्गीकृतम् एव वरद्वयं याचे अर्थये, (तयोरेकेन) भरतस्तव राज्यलक्ष्मीं बिभर्तु पालयतु (द्वितीयेन) रामः सौमित्रिमैथिलसुताभ्याम् लक्ष्मणसीताभ्याम् सहितः रामः दण्डकायां दण्डकावने चतुर्दशवर्षाणि तिष्ठतु च ॥ ६६ ॥

अस्मदाराधने अस्माकं सेवायाम् , सहाध्यायिनीम् सङ्गिनीम् , यथा सीता च सहैवास्माकमाराधने इति तथासावस्मदाराधनसहाध्यायिनी भवति । प्रजावतीम् भ्रातृजायाम् । 'प्रजावतीदोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेवे'ति कालिदासः ।

लक्ष्मण—आर्य, और क्या ?

राम—निश्चय ही हमारे प्रवाससे माता पीडित होगी ।

जनक—(लक्ष्मणके हाथसे पत्र लेकर पढते हैं) स्वस्ति, महाराजसे कैकेयी विज्ञापित करती हैं, हमारे जो दो वर आपने पहले स्वीकार किये थे, उनमें मैं भरतका राज्याभिषेक माँगती हूँ और लक्ष्मण तथा सीताके साथ चौदह वर्ष पर्यन्त राम दण्डकावनमें रहें ॥६६॥

(दोनों राजा मूर्च्छित होते हैं)

राम—माताकी जैसी आज्ञा । (पत्रिका सिरपर लेकर) वत्स लक्ष्मण, हमारी आराधनामें तुम्हारी सहायता करनेवाली अपनी भौजाइको साथ लेकर आगे बढो ।

---

१ 'आर्य' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । २ 'देवी कैकेयी' ।
३ 'गृहीत्वा' । ४ 'पुरस्ताद्भवेति' ।

लक्ष्मण —[1]तथा । (इति निष्क्रान्तः ।)

राम —तातौ, [2]समाश्वसित समाश्वसितम् ।

जनक —(आश्वस्य ।) अहह !

पाणिर्गृहीतो रघुपुंगवेन [3]देवः पुराणः श्वशुरो विवस्वान् ।
पिता स्वयं केकयचक्रवर्ती कर्मेदमेतादृशमाः किमेतत् ॥ ६७ ॥

(इति मूर्च्छति ।)

(रामः [4]पटाञ्चलेन वीजयति ।)

दशरथ —(आश्वस्य ।)

कोऽप्येष [5]वाङ्मनसयोरतिवृत्तवृत्ति
र्भावो हुताशनमयश्च तमोमयश्च ।

पाणिरिति । रघुपुङ्गवेन दशरथेन पाणिर्गृहीतः विवाहविधिना स्वीकृतः, देवो विवस्वान्सूर्यः पुराणः श्वशुरः, पिता जनकः साक्षात् स्वयं केकयचक्रवर्ती केकयानां सम्राट्, तथापि तव ईदृशम् रामवनवासप्रार्थनात्मकं कर्म ? एतत् किम् ? कुत आगतमिति शेषः ॥ ६७ ॥

कोऽप्येष इति । वाङ्मनसयोः वाचो मनसश्च अतिवृत्तवृत्तिः अविषयः वचसो

लक्ष्मण —(जो आज्ञा) (जाता है)

राम —तात, धीरज धरें ।

जनक —(आश्वस्त होकर) अहह ! रघुराज (दशरथ) ने पाणिग्रहण किया, भगवान् सूर्य इसके श्वशुर हैं, पिता हैं केकयदेशके चक्रवर्ती, फिर भी इसके यह कार्य, आः, यह कैसे हुआ ? ॥ ६७ ॥

(मूर्च्छित होते हैं)

(राम वस्त्रान्तसे हवा करते हैं)

दशरथ —(आश्वस्त होकर) वाणी तथा मनका अतिक्रमण करनेवाला एवं उष्णतामय

---

१ 'यदाज्ञापयत्यार्यः'। २ 'समाश्वसिता समाश्वसिताम्'। ३ 'देवश्च साक्षात्'।
४ 'रामस्तथैव पटान्तेन'। ५ 'अनिवृत्तकर्मा' 'अनिवृत्तकर्मा'।

भोक्तृत्वमात्रमिह मे पुनरीदृशं माम्
हा वत्स राम कथमुत्सहसे विहातुम् ॥ ६८ ॥

(विमृश्य ।) हा वत्से जानकि, निशाचराणामातिथेयीभवितुं दशरथ-[1]गृहे प्रविष्टासि । (इति मूर्च्छति ।)

राम — तात, [2]समाश्वसित समाश्वसितम् ।

जनक — (आश्वस्य । आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा ।) साधु सखि कैकेयि, साधु । यदस्या विश्वंभरादुहितुर्मे वत्साया पत्युरनुवृत्तिरेव प्रसादीकृता (विमृश्य । सव्ययम् ।)

तमनोऽपि वाऽविषय हुताशनश्च सन्तापकतया वह्निमय अज्ञानजनकतया तमोमयश्च कोऽपि अनिर्वचनीयस्वरूपो भाव ममावस्था जायत इत्यर्थः । इदृश्यां विपन्नायामवस्थायां मे पुनः भोक्तृत्वमात्रम् केवलमनुभवितृत्वम् न जनकत्वं न वा प्रतिकारक्षमत्वम् अस्ति, हा ईदृशीम् इमां कष्टामवस्थां प्राप्तम् मां हे वत्स राम, त्वं कथं विहातुं त्यक्त्वा वनं गन्तुमुत्सहसे इच्छसि ? ईदृश्यामवस्थायां मां परित्यज्य तव वनगमनमनुचितमिति भावः ॥ ६८ ॥

आतिथेयी अतिथि, निशाचरगृहे गन्तुमेव दशरथगृहे गतासीत्यर्थः । विश्वम्भरादुहितुः धरासुतायाः । पत्युरनुवृत्तिः पत्यनुगमनम् ।

तथा अन्धकारमय यह भाव है, इसमें यद्यपि मैं भोक्तामात्र हूँ, तथापि हे राम, तुम मुझे क्यों छोड़ रहे हो ॥ ६८ ॥

(सोचकर) हा सीते, राक्षसोंके आतिथ्यके लिए ही तुमने दशरथके गृहमें प्रवेश किया ।

राम—तात, धीरज धरें.

जनक—(आश्वस्त होकर) (आकाशमें हाथ जोड़कर) साधु सखि कैकेयि साधु, पृथ्वीकी पुत्री इस सीताको तुमने पतिका अनुगमन ही उपहारमें दिया ।

(विचारकर सखेद)

१ 'गृहमनुप्रविष्टासि'। २ 'समाश्वसितु समाश्वसितुम्'।

धनुष्मन्तौ वत्सौ दशरथभुजैरूष्मलतमा[1]
प्रदेशास्ते वत्सा शिशुरशिववृत्ता वनभुवः ।
प्रिये राजा मुक्तैरसुभिरपमार्ष्टि स्वमयश-
श्चरित्रव्यत्यासः सखि कथमयं केकयकुले ॥ ६९ ॥

कष्टं च । वयमपि कथमनेन जनपदेषु [2]बहुलीभवता भरतयौवराज्यलक्ष्मीकर्णपूरतमालपल्लवेन कैकेयीदुर्यशसा मूर्धानमुन्नमय्य लोकस्य मुखं द्रक्ष्यामः ।

धनुष्मन्ताविति । वत्सौ रामलक्ष्मणौ धनुष्मन्तौ प्रशंसनीयधनुर्धरौ, ते प्रदेशाः गमनेन गन्तव्या देशाः दशरथभुजैः दशरथप्रतापैः उष्मलतमाः साधुतेन पूर्णाः परिपालिताः सन्तापिताश्च सन्तीति शेषः, वत्सा सीता शिशुः बालावस्था, वनभुवः काननस्थलानि अशिववृत्ताः विघ्नबहुलाः, राजा दशरथः सुखं परित्यजन् प्रियैः स्वैः प्राणैरयशो रामवनप्रेषणकलङ्कम् अपमार्ष्टि क्षालयति, हे सखि कैकेयि, केकयकुले तव पितुः केकयस्य वंशोऽयं चरित्रव्यत्यासः दुराचारभवः कलङ्कः कथं जातः । बालावपि रामलक्ष्मणौ धनुर्धरौ, रामगम्यादेशाश्च दशरथभुजवीर्यनिर्जिताः इति च वनभुवां विघ्नबहुलत्वेऽपि शिशोरपि सीताया न किमपि शङ्कितव्यमस्ति, दशरथश्च प्राणानपहायैव स्वीयं रामवनप्रेषणकलङ्कं क्षालयति, तदयं सर्वोऽपि कलङ्कः केकयवंश एव त्वया निहित इति कारणं तस्य न पश्यामि इत्याशयः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ६९ ॥

बहुलीभवता प्रसरता । भरतस्य यौवराज्यलक्ष्म्याः कर्णपूरः कर्णाभरणं यस्तमालपल्लवस्तत्स्वरूपेण, भरतराज्यलक्ष्म्या सततसंनिहितेनेत्यर्थः । कैकेयीदुर्यशसा कैकेयीकलङ्केन ।

राम-लक्ष्मण धनुर्धर हैं, दशरथके भुजप्रतापसे वह देश पहलेसे ही साधित है फिर भी वन अमङ्गलमय होते हैं, अपने प्रिय प्राणोंका त्याग करके दशरथ अपने अयशका क्षालन कर रहे हैं, हे सखि, तुम्हारे कुलका चरित इस प्रकार क्यों बदल गया ॥ ६९ ॥

बड़ा कष्ट ! इस देशमें फैलनेवाले भरतकी राज्यलक्ष्मीके कर्णभूषणतुल्य इस कैकेयीके कलङ्कके कारण कैसे सिर उठाकर चलेंगे ?

---

१ 'उत्खगतमा'।　　२ 'बहुलीभविष्यता'।

राम—(उत्थाय ।) तात जनक, यथा सुस्थं तातं शृणोमि तथा [1]भवता [2]विधातव्यम् । (इति निष्क्रान्तः ।)

दशरथ—(आश्वस्योत्थाय च ।) वत्स रामभद्र, परिपालय माम् । (इति जनकेन धार्यमाणो निष्क्रान्तः ।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति दशरथविप्रलम्भो नाम चतुर्थोऽङ्कः ।

सुस्थम् प्राप्तसुस्थभावम्, प्रसन्नम् ॥

[इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते अनर्घराघव 'प्रकाशे' चतुर्थाङ्क 'प्रकाश'।

राम—(उठकर) जिस प्रकार मैं पिताजीको स्वस्थ सुन पाऊँ, आप वैसा प्रयास करेंगे । (जाते हैं)

दशरथ—(आश्वस्त होकर और उठकर) वत्स रामभद्र, मेरी रक्षा करो ।

(जनकसे अवलम्बित दशरथका प्रस्थान)

(सबका प्रस्थान)

चतुर्थ अङ्क समाप्त ॥

---

१ 'भवतैव'। २ 'तथा विधातव्यम्'।

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशतः [1]श्रवणाजाम्बवन्तौ ।)

जाम्बवान्—ततस्ततः ।

श्रवणा—ततो मिथिलाया निष्क्रम्य मन्थराकलेवरमवकीर्य मारुतिप्रत्यवेक्षितं स्वशरीरमधिष्ठाय [2]गङ्गायां शृङ्गवेरपुरं नाम निषादपक्कणमागत्य[3] शबरीभूतास्मि ।

जाम्बवान्—ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च ममानुपदमेव तस्मिन्निमौ रामलक्ष्मणावियं सीतेति सर्वतः शब्दो महानभूत् ।

जाम्बवान्—(सहर्षम् ।) ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च क्वावेतौ रामलक्ष्मणाविति कर्णधाराधिपतिना

मिथिलाया निष्क्रम्य विदेहनगराद् बहिर्भूय । अवकीर्य परित्यज्य । मारुतिप्रत्यवेक्षितम् हनुमता सुरक्षितम् । गङ्गायाम् गङ्गातटे । पक्कणम् शबरालयम् । शबरीभूता चाण्डालरूप धृतवती ।

ममानुपदम् मत्पश्चात् । तस्मिन् शबरालये ।

कर्णधाराधिपतिना कर्णधाराणाम् नाविकानाम् अधिपतिना राज्ञा गुहेन । अनुयुक्ता पृष्टा । निवेदितवती उक्तवती ।

(श्रवणा तथा जाम्बवान्का प्रवेश)

जाम्बवान्—इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद मिथिलासे निकलकर मन्थराके कलेवरको छोड हनूमान्का रक्षामें वर्तमान अपने शरीरमें प्रवेश करके गङ्गातटस्थ शृङ्गवेर पुरमें आकर शबरी बन गई ॥

जाम्बवान्—इसके बाद ?

श्रवणा—मेरे पाछे ही उस शृङ्गवेर पुरमें–यह है राम-लक्ष्मण, यह है सीता–इस प्रकारके शब्द होने लगे ।

जाम्बवान्—(सहर्ष) इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद कर्णधाराधिपति गुहने मुझसे पूछ लिया कि यह राम-लक्ष्मण

---

१ 'श्रमणा–' । २ 'गङ्गातीरे' । ३ 'आगत्य भूतास्मि' ।

गुहेनाहमनुयुक्ता निवेदितवत्यस्मि[1]।—

पुत्रीयता दशरथेन मुनिप्रसादा-
त्प्राप्ताः पुराणपुरुषस्य कलाश्चतस्रः।
तासामयं गुणमयः प्रथमः कुमारो
धीरोद्धतः[2] पुनरसावपरस्तृतीयः॥ १॥

जाम्बवान्—श्रवणे, साधूक्तम्। ततस्ततः।

श्रवणा—ततश्चोदकान्तनिवर्तितानुयात्रिकबन्धुवर्गं ससम्भ्रमोपगतेन[3] गुहेनोपनीतां नावमधिरुह्य

तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनाऽसौ तृतीय-
स्तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपहृतवानातरं नाविकाय।

पुत्रीयतेति। पुत्रीयता आत्मनः पुत्रमिच्छता दशरथेन मुनेः ऋष्यश्रृङ्गस्य प्रसादात् अनुग्रहातिशयात् पुराणपुरुषस्य नारायणस्य चतस्रः कलाः अंशाः प्राप्ताः पुत्ररूपेण लब्धाः, तासां कलानां मध्ये अयं गुणमयः सकलगुणनिधानम् प्रथमः कुमारः रामः, धीरोद्धतः धीरोद्धतगत्या परिक्रामन् असावपरः तृतीयः कुमारो लक्ष्मणः अस्तीति शेषः। ऋष्यश्रृङ्गविहितयागमहिम्ना दशरथेन ये चत्वारः पुत्राः प्राप्तास्तेषु प्रथमोऽयं रामस्तृतीयश्चायं लक्ष्मण इत्यर्थः॥ १॥

ततश्चेति। ततश्च तदनन्तरम् उदकान्तात् जलसमीपात् निवर्तितः परावर्तितः अनुयात्रिकः अनुगच्छन् बन्धुवर्गो येन तथोक्तः, 'आ उदकान्तं स्निग्धोऽनुगम्यते' इति श्रुत्यनुसारेण जलसमीपदेशादनुयायिबन्धुजनान्विसृज्येत्यर्थः। ससम्भ्रमोपगतेन सत्वरमुपस्थितेन। गुहेन निषादेन। उपनीताम् आनीताम्। अधिरुह्य आरुह्य।

तीर्त्वा भूतेशेति। आत्मना तृतीयः द्वाभ्यां सीतालक्ष्मणाभ्यां सहितः असौ रामः

कौन है? इसपर मैंने उत्तर दिया कि—

पुत्रकी इच्छासे यज्ञ करनेवाले दशरथने मुनिवरके अनुग्रहसे पुराणपुरुष विष्णुकी चार कलायें प्राप्त कीं, उनमें प्रथम यह राम हैं और तृतीय हैं यह धीरोद्धत लक्ष्मण॥१॥

जाम्बवान्—श्रवणे, तुमने ठीक उत्तर दिया। इसके बाद?

श्रवणा—इसके बाद जलाशयके पाससे पीछे चलनेवाले आत्मीयजनोंको लौटाकर शीघ्रतया गुहद्वारा उपस्थापित नावपर चढ़कर—

सीता तथा लक्ष्मणके साथ रामने गङ्गा पार किया और उस गुहको लक्ष्मणके साथ

१ अस्मि' इति पुस्तकान्तरे नास्ति। २ 'धीरोद्धत'। ३ 'उपगतेन'।

व्यामग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकोदञ्चदक्ष
कृच्छ्रादन्वीयमानः क्षणमचलमथो चित्रकूटं प्रतस्थे ॥ २ ॥

जाम्बवान्—हन्त महत्करुणम् ।

श्रवणा—आर्य, करुणभयादेव तस्मिन्निङ्गुदीतरुमूले कुमारयोर्ज-टाग्रहणवृत्तान्तमन्तरितवत्यस्मि ।

जाम्बवान्—श्रवणे, सर्वमेतत्कल्याणोदर्कं भविष्यति[1] ।

नूतनमौलिस्रजम् शिवशिरोमाल्यमाव भक्तां सुरधुनीं गङ्गां तीर्त्वा उत्तीर्य तस्मै नाविकाय सौमित्रिमैत्रीमयम् लक्ष्मणेन सह-भ्रातृत्वरूपम् आतरम् तरपण्यम् उपहृतवान् दत्तवान् । सीतालक्ष्मणाभ्यां द्वाभ्यां सहितः आत्मना तृतीयो ऽसौ रामः शिवशिरोमाल्यरूपतया प्रथितां गङ्गामुत्तार्य नाविकाय तस्मै लक्ष्मणेन सह मैत्रीमेव तरपण्यं समर्पितवानित्यर्थः । अथो अनन्तरम् व्यामग्राह्यस्तनीभिः व्यामः बाह्वोस्तिर्यगन्तरभागः तद्ग्राह्यौ पीनतया बाहुद्वयग्राह्यौ स्तनौ यासां तादृशीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकेन कुतूहलेन उदञ्चती अक्षिणी नयने यत्र तत्तथा कुतूहलप्रचलितनयनं यथा स्यात्तथा कृच्छ्रात् कष्टम् अन्वीयमानः अनुगम्यमानः चित्रकूटनामाचलं प्रतस्थे ययौ । अत्र कृच्छ्रानुगमने कारणमुक्तं व्यामग्राह्येत्यादिना । 'आनरस्तरपण्यं स्यात्' इत्यमरः । 'व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्' इति च । स्रग्धरावृत्तम् ॥ २ ॥

करुणभयात् तथापि शृण्वतः शोकः स्यादिति भयेन । इङ्गुदीतरुमूले तापसतरोरधस्तात् । कुमारयोः रामलक्ष्मणयोः । जटाग्रहणवृत्तान्तम् जटानिर्माणवृत्तम् । अन्तरितवती त्यक्तवती ।

कल्याणोदर्कम् शुभफलम् । 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः ।

मैत्रीरूप उतराई अर्पित की । इसके बाद विशालतम स्तनोंवाली शबरियों द्वारा आँखोंसे कौतुक भर कर अनुगम्यमान हो वह राम कठिनाईके साथ चित्रकूटाचलकी ओर बढ़े ॥२॥

जाम्बवान्—अहा ! बड़ा करुण दृश्य रहा होगा ।

श्रवणा—आर्य, करुण होनेके कारण ही मैंने उस इङ्गुदी-तरुमूलमें किये गये कुमारोंके जटाग्रहण-वृत्तान्तको छोड़ दिया है ॥

जाम्बवान्—श्रवणे, इन सबका परिणाम अच्छा ही होगा ।

१ 'जटाजूट-' ।　　२ 'भविष्यति इति' ।

श्रवणा—अहं तु निषादपतिप्रीतये तत्रैवातिष्ठम्। अतीते च गणरात्रे 'सप्रकृतिजनपदः' पितुः 'स्वर्गारोहणवार्ताभिधायी 'द्वितीयो दाशरथी रामभद्रमयोध्यामुपनेतुं तेनैव पथा चित्रकूटमुपगतः।

जाम्बवान्—('साशङ्कम्।) ततस्ततः।

श्रवणा—ततश्च तस्मिन् 'आर्य, लोके कैकेयानामाकल्पमनल्पमकीर्तिस्तम्भं निखनता 'केनापि च्छलितस्तातः। तत्सम्प्रति गृहाण 'रघूणामधिराज्यम्' इति पुनः पुनश्चिरमनुबन्धी रामेण मृष्टिकया प्रत्यादिष्टः कृतजटापरिग्रहो भरतः शरभङ्गमुनिप्रेषितामस्य 'पादुकां 'भद्रास-

निषादपतिप्रीतये निषादराजाज्ञापूर्त्यां तत्सन्तोषजननार्थम्। तत्रैव रामाश्रमे, गणरात्रे बह्वीषु निशासु। 'गणरात्रं निशा बह्व्यः'। इत्यमरः। सप्रकृतिजनपदः प्रजाभिर्देशवासिभिश्च सह। पितुः दशरथस्य।

स्वर्गारोहणवार्ताभिधायी मृत्युं कथयन्। द्वितीयो दाशरथिः दशरथस्य द्वितीयः पुत्रो भरतः। उपनेतुम् परावर्त्तयितुम्। पथा मार्गेण।

कैकेयानाम् केकयवंश्यानाम्। आकल्पम् प्रलयकालपर्यन्तम्। अनल्पम् अतुच्छम्। अकीर्तिस्तम्भं निखनता अयशःस्तम्भं रोपयता। छलितः वञ्चितः। अनुबन्धी आग्रहपरायणः। मृष्टिकया सशपथम्। 'मृष्टिका शपथेऽपि च' इति रत्नकोषः। प्रत्यादिष्टः निषिद्धः। कृतजटापरिग्रहः धृतजटः। शरभङ्गमुनिप्रेषिताम् सदारपमुनिद्वारा प्रहिताम्। अस्य रामस्य। पादुकाम् उपानहम्। 'अथ पादुका,

श्रवणा—मैं तो निषादको प्रसन्न करनेके लिये वहीं ठहर गई। कुछ रात्रियोंके व्यतीत हो जानेपर भरत प्रजाजनको साथ लेकर वनमें आये, उन्होंने पिताके निधनकी बात कही, और रामभद्रको अयोध्या ले जाना चाहा तथा उसी मार्गसे चित्रकूट गये॥

जाम्बवान्—(सशङ्क) इसके बाद?

श्रवणा—इसके बाद भरतने रामसे कहा—'आर्य, लोकमें कैकेयीको कलङ्कित करनेके लिए अकीर्ति स्तम्भ गाड़कर किसीने पिताजीको धोखा दे दिया था, अब आप अपना रघुवंश राज्य स्वीकार करें'। इस तरह बार बार प्रार्थना करनेपर भी रामने

१ 'प्रकृतिपौरजानपदः'। २ 'स्वर्गाधिरोहण—'।
३ 'दाशरथिर्द्वितीयः' 'भरतो दाशरथिर्द्वितीयः'। ४ 'सानन्दम्'।
५ 'केनापि भूतेन'। ६ 'रघूणां धुरमिति पुनः पुनरनुबन्धी'।
७ 'अस्य रामस्य'। ८ 'आरोप्य'।

नमधिरोप्य प्रजानामाभ्युदयिकमवेक्षमाणस्तत्रैव[1] नन्दिग्रामं [2]गतवान्।

जाम्बवान्—(सहर्षम् ।) हन्त फलितमस्मद्व्यवसायश्रवणापरिश्रमाभ्याम् । ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च शावाशौचमास्थितस्य क्षत्रियस्य[3] प्रतिषिद्धमस्त्रग्रहणमिति छिद्रान्वेषिभिर्जनस्थानवास्तव्यैः खरदूषणप्रभृतिभिस्तत्र [4]विराधो नाम राक्षसस्तीक्ष्णः प्रहितः ।

जाम्बवान्—(विहस्य ।) धिङ्मूर्खाः, आतिपातिके हि कार्ये राज्ञां सद्यः [5]शुद्धिः । ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च [6]विराधवधाक्षिप्तहृदये दुःसहशोकदीर्घाहीमौर्व्य

पादुरुपानत्' इत्यमरः । भद्रासनमारोप्य सिंहासने स्थापयित्वा । आभ्युदयिकम् अभ्युदयम् । अवेक्षमाणः परिपालयन् । अस्मद्व्यवसायश्रवणापरिश्रमाभ्याम् मम श्रवणायाश्चायासः सफलो जातः, शावाशौचम् मृतकाशुद्धिम् । आस्थितस्य प्राप्तस्य । प्रतिषिद्धम् वर्जितम् । छिद्रान्वेषिभिः रन्ध्रगवेषणतत्परैः । जनस्थानवासिभिः मल्यगिरिसमीपस्थरक्षोवासस्थानवर्तिभिः । तीक्ष्णः खरः । 'खरा मरुया निनोऽस्तीक्ष्णः' इति धरणिः । आतिपातिके कालातिपातासहिष्णौ । सद्यः शुद्धिः तत्काल एव शौचम् । विराधस्य वधेन आक्षिप्तम् आकृष्टं हृदयं यस्य तथोक्ते विराधवधं कृत्वा खिद्यमानमानसे रामे । दुःसहशोकदीर्घाहीमं दुःसहेन कष्टभोग्येन

प्रत्याख्यान कर दिया । तब भरतने भी जटा बना ली और वह रामभद्र द्वारा प्रेषित रामभद्रकी पादुकाको गद्दीपर बैठा करके प्रजाओंके अभ्युदयकी देख-रेख करते हुए नन्दिग्राममें चलकर रहने लगे।

जाम्बवान्—(सहर्ष) अहा हमारा व्यवसाय और श्रवणाका परिश्रम सफल हुआ। इसके बाद ?

श्रवणा—मरणशौचकी दशामें क्षत्रियोंके लिए अस्त्रग्रहण निषिद्ध है ऐसा समझकर छिद्रान्वेषी वनवासी विराध, खर, दूषण प्रभृतिके द्वारा रामके पास भेजा गया ॥

जाम्बवान्—धिक्कार है इन मूर्खोंको, शीघ्र सम्पाद्य कार्यमें राजाको सद्यःशुद्धि होती है, इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद विराधके वधसे रामका हृदय खिन्न हो उठा, दुःख तथा

१ 'नवाक्ष्यमाण'। २ 'गत'। ३ 'क्षत्रस्य निषिद्धम्'।
४ 'विराधनामा'। ५ 'विशुद्धिः'। ६ 'वधक्षणाक्षिप्तहृदये दुःख-'।

दैर्घिकीं पितुः क्रियामतिवाह्य भगवता चतुःसमुद्रमुष्टिंधयेन विन्ध्याचलचापलारम्भविघ्नघातिना वातापिदानवदीर्घयात्रामङ्गलकलशेन [२]कलशयोनिना सनाथामरण्यवीथीं प्रतिक्रममाणे दाशरथौ पथि धाराधरो नाम वायसः सहसैव वैदेहीमुपाद्रवत् ।

शोकेन पितृमरणजन्यकष्टेन दीर्घाणि दुःखयविशालानि अहानि दिनानि यस्याः तादृशीम् । पितुः दशरथस्य । और्ध्वदैहिकीं क्रियाम् मरणानन्तरमवश्याधा श्राद्धक्रियाम् । अतिवाह्य समाप्य । चतुःसमुद्रेति । चतुर्णां समुद्राणां समाहारश्चतुःसमुद्रम्, तन्मुष्टीकृत्य धयति पिबतीति चतुःसमुद्रमुष्टिंधयेन, दानवेषु युद्धे पराजितेष्वपि पुनः पुनः सागरे निलीय स्वं गोपयित्वा देवानुपद्रवत्सु शक्रः प्रार्थितोऽगस्त्यः सागरं पीतवानिति कथामूलकमिदमगस्त्यविशेषणम् । विन्ध्याचलेति । विन्ध्याचलस्य चापलेन चाञ्चल्यप्रयोजितो यः आरम्भः सूर्यमार्गावरोधप्रयासस्तस्य विघ्नघातिना विघ्नोत्पादविधया हन्त्रा पुरा मेरुस्पर्धया वर्धमाने विन्ध्ये सूर्यमार्गावरोधाज्जगति व्याकुले सति देवैरर्थितोऽगस्त्यः स्वशिष्यं विन्ध्यं गुरुमस्य पादप्रणते तस्मिन् 'यावदहं परावर्ते तावदित्थमेव स्थेयं न चोत्थेयमि'त्यभिधाय दक्षिणां दिशम् पुनः अपरावृत्तये गत इति कथामूलकमिदमगस्त्यविशेषणम् । विन्ध्याचलकर्तृकस्यारम्भस्य विघ्नघाती हि मुनिरगस्त्यो भवति प्रतार्य तस्मात् पतनादिति बोध्यम् । वातापिदानवेति । वातापिदानवस्य तद्वारयात्रानुरोधस्य या दीर्घयात्रा मरणं तत्र मङ्गलकलशेन सिद्धिकरेण यथा यात्रायां मङ्गलकलशः सिद्धिकरस्तथैवागस्त्यो वातापेर्मृत्यौ सिद्धिकर इति तथा विशेषणम् । पुरा आतापिवातापी नाम राक्षसौ परस्परं विचार्य मांसभोजनाय कञ्चन निमन्त्रयामासतुः, तस्मिन्नागते मेषस्वरूपमेकं द्वयोर्हत्वा संस्कृत्य चापरो निमन्त्रितानतिथिं भोजयति, भुक्तवति तस्मिन् आताते बहिर्भवति वातापीरिति श्रुत्वा भोक्तुरुदरं विदार्य भुक्त आतापिर्निर्याति, म्रियते च मांसभोक्ताऽतिथिरित्थं तन्मांसं तौ सुखमत्त, संयोगात् कदाचिदगस्त्यमपि निमन्त्र्य व्यवहर्तुं प्रवर्तमानस्य मुनेर्वातापेरुदरे एव जीर्णताऽजमीति तन्मरणे मङ्गलकलशायितमगस्त्येनेति कथात्र विशेषणे मूलम् । कलशयोनिना अगस्त्येन ।

शोकमें पिताका श्राद्ध करके राम जब चारों सागरोंको उठाकर पी जाने वाले विन्ध्याचलके उन्नमनको रोकनेवाले तथा वातापि दानवकी दीर्घयात्रा करानेमें मङ्गलकलश समान अगस्त्यमुनिसे सनाथ वनकी ओर जा रहे थे तब धाराधर नामका काक हठात् वैदेहीके साथ उपद्रव कर बैठा ।

---

१ दीर्घनिद्रा-' । २ 'कलशयोनिनाऽगस्त्येन मुनिना सनाथमरण्यवीथीं प्रविष्टमाने' ।

जाम्बवान्—(स्वगतम् ।) इदं तावदपशकुनं नाम । (प्रकाशम् ।) ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च

रक्षोभिचारचरुभाण्डमिव स्तनं यो
देव्या विदेहदुहितुर्विददार काकः ।
ऐषीकमस्त्रमधिकृत्य तदा तमक्ष्णा
काणीचकार चरमो रघुराजपुत्रः ॥ ३ ॥

जाम्बवान्—ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च ।

क्रमेणैव सुतीक्ष्णादीनुपस्थाय महामुनीन् ।

सनाथाम् युक्ताम् । अरण्यवीथीम् वनम् । प्रतिष्ठमाने गच्छति । दशरथौ रामे । वायसः काकः ।

इदम् काकवृत्तमुपद्रवणम् । अपशकुनम् अशुभसूचकम् ।

रक्षोऽभिचारेति । यः काकः रक्षसां राक्षसानाम् अभिचारे मारणप्रयोगात्मके यागभेदे चरुभाण्डम् हव्यपाकपात्रमिव देव्याः विदेहदुहितुः सीतायाः स्तनं विददार क्षतवान्, चरमो रघुराजपुत्रः प्रथमो दशरथसुतो रामः ऐषीकम् वीरणशलाकाकृतम् अस्त्रम् बाणम् अधिकृत्य आदाय तं काकं धाराधरं नाम अक्ष्णा काणीचकार एकमक्षि बिभेद तस्येति भावः । 'हव्यपाके चरुः पुमान्' इत्यमरः, 'चरमो ज्येष्ठकनिष्ठयोः' इति विश्वप्रकाशः ॥ ३ ॥

क्रमेणैवेति । रघूद्वह रघुवंशतिलक राम क्रमेण यथाक्रमम् सुतीक्ष्णादीन् सुतीक्ष्णागस्त्यशरभङ्गप्रभृतीन् महामुनीन् महर्षीन् उपस्थाय प्रणामादिना

जाम्बवान्—(स्वगत) यह तो अपशकुन है । (प्रकट) इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद जिस कौवेने राक्षस वध यज्ञके चरुभाण्डतुल्य देवीके स्तनोंको विदारित किया था, उसे बड़े रघुराजपुत्रने ऐषीक अस्त्र (शरकण्डेके बाण) से काना बना दिया ॥ ३ ॥

जाम्बवान्—इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद क्रमशः सुतीक्ष्ण आदि महामुनियोंकी चरणवन्दना करके

अगस्त्यशासनादास्ते पञ्चवट्यां रघूद्वहः ॥ ४ ॥

जाम्बवान्—(सहर्षम् ।) तर्हि [1]हस्तगत एवास्माकम् । कियदन्तरमृष्यमूकजनस्थानयोः ।

श्रवणा—आर्य, न खल्वद्यापि श्रोतव्यं शृणोषि ।

जाम्बवान्—अवहितोऽस्मि ।

श्रवणा—तत्र च कामुकी [2]रामभद्रमनुप्रविश्य [3]रसं दास्यामीति सङ्कल्पितपतिद्रोहपातकिनी शूर्पणखा लक्ष्मणरोषप्रहुतभुजि कर्णनासौष्ठमयीभिस्तिसृभिराहुतिभिः प्रायश्चित्तयाचक्रे ।

संस्कृत्य अगस्त्यशासनात् अगस्त्यादेशं प्राप्य पञ्चवट्यां तन्नामके स्थाने आस्ते वर्तते ॥ ४ ॥

हस्तगतः करगतः प्राप्तकल्पः । कियदन्तरम् कियद्व्यवधानम् ।

न तावदद्यापि श्रोतव्यं शृणोषि सम्प्रत्यपि श्रोतव्यमवशिष्यते श्रोतुम् । कामुकी मैथुनेच्छाशालिनी । रामभद्रम् अनुप्रविश्य रूपयौवनललितैर्मोहयित्वा । रसम् विषविशेषम् । सङ्कल्पितस्य मनसाकृतस्य । पत्युः रामस्य । द्रोहकारिणी अशुभाभिलाषिणी । लक्ष्मणरोषप्रहुतभुजि लक्ष्मणस्य कोपपावके । प्रायश्चित्तयाचक्रे प्रायश्चित्तं कृतवती । रामं पतित्वेन मनसि कृत्वा तस्य द्रोहं विषदानरूपं चिन्तयित्वा विहितपापा शूर्पणखा कर्णनासौष्ठमयीस्तिस्र आहुतीर्लक्ष्मणकोपपावके दत्तवती, अन्यापि कृतपापा पावके यथाशास्त्रमाहुतीर्ददाति तथेति भावः ॥

अगस्त्यकी आज्ञासे राम पञ्चवटीमें निवास कर रहे हैं ॥ ४ ॥

जाम्बवान्—(सहर्ष) तब तो वह हमारे हाथमें ही है। ऋष्यमूक तथा उस वनमें कितना अन्तर है ?

श्रवणा—आर्य अभी तो आपने कामकी बात सुनी ही नहीं।

जाम्बवान्—कहो, सावधान हूँ।

श्रवणा—वहाँपर कामपरवशा शूर्पणखा पहुँची, उसने सोचा कि रामके साथ सम्बन्ध जोड़कर आनन्द करूंगी, और उन्हें विष दे दूंगी, इस प्रकार जो उसने सङ्कल्पित पतिका द्रोह सोचा इसके लिये उसे लक्ष्मणके कोपानलमें कान नाक ओष्ठरूप तीन आहुतियाँ देकर प्रायश्चित्त करना पड़ गया।

---

१ 'हस्तस्थः'। २ 'राममनु—'। ३ 'विषं'।

जाम्बवान्—(सातङ्कम् ।) अहह महाननर्थकन्द -सवृत्त । अथ भगिन्यास्तादृशं विडम्बनमवलोक्य खरादिभिः किं प्रतिपन्नम् ।

श्रवणा—(विहस्य ।) आर्य, किं प्रतिपन्नम् । यद्रामभद्रे धृतधनुषि प्रतिपद्यते ।

जाम्बवान्—(सहर्षहासम् ।) तत्किं तेऽपि [१]वालिसाहायकोपस्थायिनो विराधयात्राप्रहतमध्वानमनुप्रपन्ना ।

श्रवणा—अथ किम् ।

जाम्बवान्—श्रवणे, प्ररूढमिदानीं रामरावणयोर्वैरम् ।

श्रवणा—(हसन्ती ।) आर्य, मन्ये [२]खरदूषणप्रभृतीनामभिभवाभिधाने केवलं क्लेशयिष्यति वाचमात्मनः । पुनरनक्षरमपि शूर्पणखामुखमावेदयिष्यति दशकंधरस्य ।

अनर्थकन्द अनिष्टमूलम् । सवृत्त जात । विडम्बनम् अपमानं धर्षणञ्च । प्रतिपन्नम् अनुष्ठितम् ।

वालिसाहायकोपस्थायिन वालिन साहायकाय सहायतायै उपस्थायिन तत्र सन्निहिता । विराधयात्राप्रहतम् विराधेन क्षुण्णम् । अध्वानम् मार्गम् । अनुप्रपन्ना अनुसृतवन्त ॥

प्ररूढम् पुष्टिं गतम् ।

अभिभवाभिधाने पराजयकथने । क्लेशयिष्यति खेदयिष्यति । अनक्षरम् विना शब्दप्रयोगम् । विकृतं शूर्पणखामुखं विनैवोक्तिं सर्वं वस्तुवृत्तं रावणाय निवे-

---

जाम्बवान्—(डरकर) बड़े भारी अनर्थकी जड़ जम गई । अपनी बहनकी वह दशा देखकर खरादि राक्षसोंने क्या किया ।

श्रवणा—(हँसकर) रामभद्रके समान धनुधरके रहते जो करना चाहिए ।

जाम्बवान्—(महहान) क्या वालिकी सहायतामें आये हुए वे भी विराधके द्वारा गतमार्गसे चले गये ।

श्रवणा—और क्या ?

जाम्बवान्—श्रवणे, अब तो राम रावणका वैर जम गया ।

श्रवणा—(हँसती हुई) मैं समझती हूँ खरदूषण आदिकी कथा कहकर वह केवल अपनी वाणीको कष्ट देगी, नहीं तो शूर्पणखाका मुख ही विना शब्दके सारी बात बता देनेमें पर्याप्त है ॥

---

१ 'साहायकस्थायिनो' ।　　२ 'खरप्रभृतीना' ।

जाम्बवान्—(सस्मितम् ।) अयमेव [1]लघूत्थमनर्थमुत्प्रेक्ष्य प्रमुग्धोऽस्मि ।

ऐक्ष्वाकेण पुरापि कौशिकमखादारभ्य लङ्केश्वरो
धत्ते शाश्वतिकं विरोधमधुना [2]त्वेते हता बान्धवाः ।
उत्साहप्रभुमन्त्रशक्तिभिरलम्भूष्णुश्छलज्ञो बली
दृप्तः शूर्पणखानिकारमपरं दृष्ट्वा कथं मृष्यते ॥ ५ ॥

शनैः शनैरनयोर्विरोधे सन्धुक्षमाणे [3]तुल्यव्यसनस्थो दाशरथिरस-

दयिष्यति, तच्छूर्पणखा किमर्थं सम्बोधनाय स्वां वाचं क्लेशयिष्यतीत्यर्थः । लघूत्थम् अचिरभाविनम् । अनर्थम् विपदागमम् । उत्प्रेक्ष्य सम्भाव्य । प्रमुग्धः किङ्कर्तव्यताविचारशून्यः ।

ऐक्ष्वाकेणेति । पुरा पूर्वकालात् एवापि लङ्केश्वरो रावणः कौशिकमखात् विश्वामित्रयागसमयात् आरभ्य ऐक्ष्वाकेण रामेण शाश्वतिकं सार्वकालिकम् विरोधं वैरम् धत्ते बिभर्ति, यदेव रामेण विश्वामित्रयागे ते ते राक्षसा अहन्यन्त तत एव कालाद्रावणस्तेन सततं धृतवैर एवास्तीत्यर्थः, अधुना सम्प्रति तु एते बान्धवाः स्वकुल्याः खरादयो हता मारिताः, एतेन तद्वैरं प्रवृद्धमिति वेदितव्यम् । अस्यां स्थितौ उत्साहप्रभुमन्त्रशक्तिभिः उत्साहशक्तिः उत्साहकृतं सामर्थ्यम्, मन्त्रशक्तिः मन्त्रणाकृतं सामर्थ्यम्, प्रभुशक्तिः प्रभावश्च ताभिः तिसृभिः शक्तिभिः अलं भूष्णुः अतिसमर्थः छलज्ञो वञ्चनाकलानिपुणश्च बली बलवान् दृप्तः गर्वोद्धतश्च रावणः अपरम् सद्यः समुत्पन्नम् शूर्पणखानिकारम् नासाकर्णादिकृन्तनकृतमपमानम् दृष्ट्वा कथं मृष्यते केन प्रकारेण क्षमते ? आदितो वर्तमानो मध्ये सन्धुक्षितः सम्प्रत्युद्दीपितोऽयं रावणनिकारो न शक्नोति निर्वातुमिति महाननर्थः समुपस्थितो दैव इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

शनैः शनैः मन्दं मन्दम् । अनयोः रामरावणयोः । सन्धुक्षमाणे प्रज्वलति ।

जाम्बवान्—(मुस्कुराकर) शीघ्र उपस्थित अनर्थको देखकर मुग्ध हो रहा हूँ ।

रावण विश्वामित्रके यज्ञके समयसे ही रामके साथ शाश्वतिक विरोध रखता है अब तो उसके बन्धुजन भी मारे गये हैं । उत्साहशक्ति प्रभुशक्ति तथा मन्त्रशक्तिसे युक्त, छलज्ञ, बलवान् और गर्वी रावण शूर्पणखाके इस कान नाकको कैसे सहन करेगा ? ॥ ५ ॥

धीरे धीरे इनके वैरके बढने जानेपर समान विपत्तिमें पतित तथा असहाय रामके

[1] 'लघूत्थानम्' । [2] 'चैते' । [3] 'स्वल्पव्यसनस्थो' ।

हाय सूर्यसूनुना सधातुमीषत्करं स्यात् ।

श्रवणा—आर्य, किमिदानीमनुष्ठेयमस्ति । मम हि शिष्यपुत्रो निषादचक्रवर्ती गुहो लक्ष्मणमित्रम् । अनेन सोपानेन सुखाधिरोहो रघुपतिरस्माकम् ।

जाम्बवान्—(सहर्षस्मितम् ।) श्रवणे, [1]यद्यसि सुग्रीवपक्षपातिनी, तद्गच्छ सत्वरमुपस्थापय निषादराजम् ।

(इति श्रवणा निष्क्रान्ता ।)

(नेपथ्ये । एकत ।)

दुर्व्यसनस्य समानदुःखभोगी । असहाय सहायान्तररहित । सूर्यसूनुना सुग्रीवेण । सन्धातुम् सन्धि कारयितुम् । ईषत्कर सुकर । रामो रावणेनापकृत सन् वैर वहति, सुग्रीवोऽपि वालिना सह, रामस्य कोऽपि कानने सहायो नास्ति, तदनो सुग्रीवेण सन्धि कुर्यादिति नितरा सङ्गत सूपपादश्चेति भाव । अनुष्ठेयम् कर्त्तव्यम् । शिष्यस्य पुत्र शिष्यपुत्र शिष्य पुत्र इति वा । निषादचक्रवर्ती निषादराजो गुह । अनेन सोपानेन उपायेन । सुखाधिरोह अनायासगम्य । लक्ष्मणस्य गुहो मित्र स च मम शिष्यपुत्र इति परम्परासम्बन्धेन गुहद्वारा राम सुगम सम्ध्येय इत्याशय ।

उपस्थापय लक्ष्मणसमीपमानय । तद्द्वारा सुग्रीवरामयो सन्धि घटयेति भाव । निषादराजम् गुहम् ।

साथ सूर्यपुत्र सुग्रीवके लिए मैत्री सहज सम्भव हो जायगी ।

श्रवणा—अब क्या करना है ? मेरा शिष्यपुत्र निषादराज गुह लक्ष्मणके मित्र हैं, इस जरियेसे हम रामके पास सुखपूर्वक पहुँच सकते हैं ।

जाम्बवान्—(सहर्ष हसकर) श्रवणे, यदि तुम्हें सुग्रीवके प्रति प्रेम है तो जाकर शीघ्र निषादराजको बुला लाओ ।

(श्रवणा जाता है)

(नेपथ्यमें एक ओरसे)

---

१ 'सत्यमसि' ।

भो भो लक्ष्मण, वैशेषिककन्दली[1]पण्डितो जगद्विजयमान पर्यटामि। क्वासौ [2]राम । तेन सह [3]विवदिष्ये।

(अन्यत ।)

भो भो परिव्राजक, कालसर्पसलीकारज्जुंलता न खलु सुखकरी वृश्चिकमन्त्रतान्त्रिकस्य।

जाम्बवान्—[4]कथ लक्ष्मणपरिव्राजकौ [5]सलपत । शृणोमि तावत्। ([6]इत्यवधत्ते ।)

(नेपथ्ये । पुनरेकत ।)

वैशेपिककन्दलीपण्डित वैशेषिककन्दलीनामा वैशेपिकशास्त्रव्याख्याग्रन्थ प्रसिद्धस्त पण्डित । विजयमान शास्त्रार्थे पराजयन्। पर्यटामि सर्वतो भ्रमामि। विवदिष्ये शास्त्रार्थकलह प्रवर्तयिष्यामि।

कालसर्पवलीकारज्जुंलता कालसर्पो विषधरो महानागस्तस्य वलीकारे द्रोहाचरणे रज्जू लता कण्डूशालिता । वृश्चिकमन्त्रतान्त्रिकस्य वृश्चिकमन्त्रज्ञस्य। सुखकरी सुखजनिका। यथा वृश्चिकमन्त्र जानत कालसर्पद्रोह पराभवाय जायते, तथैव साधारणपण्डितस्य तव रामेण शास्त्रार्थे प्रवृत्ति पराभव जनयेदतो मौन मास्स्वेति भाव ।

अजी लक्ष्मण, मैं वैशेषिक शास्त्रका पण्डित हू और जगद्विजय करता हुआ घूम रहा हू। कहाँ है वह राम ? उसके साथ शास्त्रार्थ करूगा ।

(दूसरी ओरसे)

अजी परिव्राजक, बीछूका मन्त्र जानकर काले नागसे खेल करना कल्याणप्रद नहीं होता है।

जाम्बवान्—क्यों, लक्ष्मण और परिव्राजक सलाप कर रहे हैं ? सुनू तो, (सावधान होता है।

(नेपथ्यमें फिर एक ओर से)

---

१ 'पण्डितोऽस्मि'। २ 'त रामभद्र'। ३ 'विवदितव्यम्'।
४ 'कथ पथि'। ५ 'मिथ प्रलपत', 'समलपत'।
६ 'इत्यवधत्ते इति पुस्तकान्तरे नास्ति'।

आ लक्ष्मण, सर्वविद्रावण खल्वहम्। को मया जनितमानभङ्गो न पराजीयते।

(नेपथ्ये। पुनरन्यत ।)

किं भवान् रावण ।

(जाम्बवान्सविशेषमवदधाति ।)

(नेपथ्ये। पुनरन्यत ।)

भो वाचोयुक्तिपटो, सर्वेषां विद्रावण खल्वहमिति रामस्य व्याहृत मन्यथाभिसन्धाय वाक्छलेन प्रत्यवतिष्ठमानो निगृहीतोऽसि। तन्मुञ्च मा भिक्षायै।

(अन्यत ।)

सर्वविद्रावण सर्वेषां विजेता, सर्वज्ञो रावणश्चेति कुत्सिततोऽर्थः।

वाचोयुक्तिपटो वचनपटो, मया सर्वेषां विद्रावणो जेतेत्यर्थे सर्वविद्रावण इति प्रयुक्तम्, त्वं पुनस्तत्सर्ववित् रावण इत्यर्थक सम्भावयसीत्यहो तव चातुर्यमित्यर्थः। समस्य समासमन्यादृशं कृत्वा। व्याहृतम् उक्तम्। अन्यथाऽभिसन्धाय अन्यार्थकं मत्वा। वाक्छलेन वक्रोक्तिद्वारा। प्रत्यवतिष्ठमान उत्तरं ददत्। निगृहीत शास्त्रार्थदोषग्रस्तो जातः। 'यथाऽयं नेपालाद्गागतो नवकम्बलत्वात्' इति वादिना प्रयुक्ते—'कुतोऽस्य नवकम्बलाः एककम्बल एवायमिति ब्रुवाण प्रतिवादी वाक्छलनाम्ना निग्रहस्थानेन पराजीयते तथा त्वमपि सर्वविद्रावण इति मया सर्वविजेतृताऽभिप्रायेण प्रयुक्ते भवान् सर्वज्ञो रावण इति प्रतिपद्योत्तरं प्रयुञ्जानो वाक्छलेन निगृहीत इत्यर्थः।

आ लक्ष्मण मैं सबको परास्त करनेवाला या सर्वज्ञ रावण हूं मैंने किसका मान भङ्ग नहीं किया ? किसे परास्त नहीं किया ?

(नेपथ्यमें फिर दूसरी ओरसे)

क्या आप रावण हैं ?

(जाम्बवान् और सावधान होता है)

(नेपथ्यमें फिर एक ओरसे)

अजी 'वाक्पटो, सर्वविद्रावण ' यह रामने कहा आपने उसका अर्थ कुछ दूसरा समझ लिया अत आप वाक्छल करनेके कारण निगृहीत हो गये। अब छोड़िये शास्त्रार्थ, मैं भिक्षाको जाऊं।

(दूसरी ओर)

किं त्वया, [1]कितरा च रावणेन । अहमप्युत्सुकोऽस्मि । त्वरित गच्छामि ।

जाम्बवान्—कथमेतदस्फुटार्थमेव निर्वहणम् । मन्ये पुनरेष परिव्राजकच्छलेन रावण एव कोपादुक्तमप्यपलप्य स्व नाम द्रागपक्रान्त । (सर्वतो निरूप्य ।) अये, [2]पुराणप्रियसुहृदस्माक दक्षिणस्या दिश परापतञ्जटायुरिव लक्ष्यते । [3]तदेनमनुपालयामि तावत् । दूरदृशो हि गृध्रा । कदाचिदेष लङ्काद्वीपवृत्तान्तमप्युपलभेत ।

(प्रविश्य ।)

जटायु —प्राप्तैवेयमस्माभि [4]पञ्चवटी । यदमूर्गोदावरीतरङ्गसीकरसेकसुकुमारमांसलपरिसरारण्यमालिन्यो जनस्थानसीमान । अपि च ।

उत्सुक आश्रमगमनौत्सुक्यवान् ।

अस्फुटार्थम् अस्पष्टाभिधेयम् । निर्वहणम् उपक्रान्तोपसहार 'उपक्रान्तस्य सहारो भवेन्निर्वहण त्विदम्' इति भरत । कोपादुक्तमपि स्व नाम अपलप्य कोपवशादुक्तमपि स्व नाम चातुर्येण गोपयित्वा । द्रागपक्रान्त शीघ्र पलायित ।

पुराणप्रियसुहृद् प्राचीन प्रियबन्धु । परापतन् समागच्छन् । अनुपालयामि प्रतीक्षे । दूरदृश सुदूरदेशस्थवस्तुग्रहणसमर्थदृष्टय । उपलभेत साक्षात्कुर्यात् ।

गोदावरीति । गोदावर्या तन्नामनद्या तरङ्गाणाम् सीकरसेकेन जलकणस्पर्शेन मांसला पुष्टि नीता परिसरारण्यमाला समीपभूमिगतवनपङ्क्तय, तद्वत्य । जनस्थानसीमान दण्डकारण्यभागा ।

आपसे और रावणसे मुझे क्या काम ? मैं भी उत्सुक हू शीघ्र जाता हू ।

जाम्बवान्—क्यों, यह निर्वहण अस्पष्ट ही रह गया । मैं समझता हू यह रावण ही परिव्राजक वेषमें आया था क्रोधवश उसके मुखसे रावण यह अपना नाम निकल आया था । उसका अपलाप करके तेजासे निकल गया । (चारो ओर देखकर) अरे, यह तो हमारे प्रियमित्र जटायु दक्षिणदिशासे आते दीख रहे हैं, अत इनके आनेकी प्रतीक्षा करता हू, गृध्रकी दृष्टि बडी तेज होती है कदाचित् वह लङ्काकी बात भी जानता हो ?

(प्रवेश करके)

जटायु—मैं पञ्चवटीमें पहुँच गया । यही है गोदावरीकी तरङ्ग बिन्दुओंके सेकसे सुकुमार तथा समृद्ध वनसे शोभित पञ्चवटीकी सीमायें और—

---

१ 'किं च' । २ 'पुराणसुहृत्' । ३ 'अनुलपामि' । ४ 'पञ्चवटीभू' ।

दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधूनिर्धूतचूताङ्कुर-
प्राग्भारप्रसरत्परागसिकतादुर्गास्तटीभूमयः ।
या कृच्छ्रादतिलङ्घ्य लुब्धकभयात्तैरेव रेणूत्करै-
र्धारावाहिभिरस्ति लुप्तपदवीनि शङ्कमेणीकुलम् ॥ ६ ॥

जाम्बवान्—(किंचिदुपसृत्य ।) कुत, पुनरियता वेगेन वयस्यो जटायु ।

जटायु —(दृष्ट्वा ।) कथं जाम्बवान्। सखे, क्षमस्व । न [1]सभाजयिष्यामि त्वामद्यतनम् । मया हि मलयाचलकुलायादार्यसंपाति[2]पादा-

दृश्यन्त इति । मधुमत्ताभिः वसन्तसुलभमकरन्दपानमत्ताभिः कोकिलवधूभिः कोकिलाभिः निर्धूता विदलिता ये चूताङ्कुरा रसालमञ्जर्यस्तत्प्राग्भारेभ्य तत्समूहेभ्यः प्रसरन्तीभिः निर्गच्छन्तीभिः परागसिकताभिः कौसुमरजोरूपवालुकाभिः दुर्गा अगम्यतया दुःसञ्चारा तटीभूमयः तीरदेशा दृश्यन्ते, यास्तटीभूमी कृच्छ्रात् अतिलङ्घ्य कथञ्चित् अतीत्य धारावाहिभिः सततवर्षिभिः तैरेव रेणूत्करैः परागसमूहैः एणीकुलम् मृगाणां समूहः लुब्धकभयात् आखेटकभीते लुप्तपदवीनि शङ्कम् मार्गस्य निह्नुततया गतभयम् अस्ति । अयमाशयः—वसन्ते मधु पीत्वा माद्यन्त्यः कोकिलस्त्रियो रसालमञ्जरीर्दशन्त्यस्तन्निर्गतपरागसिकताभिस्तटीभूमीर्दुर्गमा कुर्वते, ताश्च तटीभूमीः कथञ्चिदुत्तीर्य स्थितं हरिणीकुलं तैरेव पतद्भिः परागनिवहैस्तन्मार्गे लुप्ते सति केन पथा हरिणीकुलं गतमिति लुब्धकैर्ज्ञातुमशक्ये सति तेभ्यो निःशङ्कं तिष्ठतीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

इयता एतावता । वेगेन शीघ्रतया ।

न सभाजयिष्यामि त्वा सम्प्रति सभाजनाख्येन न सत्करिष्यामि । मलयाचलकुलायात् मलयपर्वतवर्तिनीडात् । सम्पातिनामजटायुषो भ्राता । अभिवाद्य

मधुपानसे मत्त कोकिलाओं द्वारा कम्पित चूताङ्कुरोंके समुदायसे फैलनेवाले परागोंके कणोंसे दुर्ग नदीवाले प्रदेशोंको किसी तरह पार करके उन्हीं परागकणोंसे आगमन मार्गके लुप्त हो जानेपर यहाँ हरिणोंका दल अशङ्क होकर बैठा रहता है ॥ ६ ॥

जाम्बवान्—(थोड़ा समीप जाकर) मेरे प्रिय जटायु, कहाँसे इतने वेगसे आ रहे हो ?

जटायु—(देखकर) क्यों जाम्बवान्, मित्र, क्षमा करना । मैं आपका सत्कार नहीं कर सकूँगा । मैं मलयाचलस्थित अपने घोंसलेमें आर्य सम्पातीके चरणोंकी वन्दना करके

१ 'सम्भावयिष्यामि' । २ 'पादावभिवन्द्य' ।

नभिराद्य निवर्तमानेन मारीचसहचर सचरन्निमामरण्यानीमभिलक्षितो राक्षसराज । तदतिविषममाशङ्कमान मा वत्सरामभद्रस्नेहस्त्वरयति ।

जाम्बवान्—(स्वगतम् ।) वयमप्येतदेव [1]प्रतिपित्सामहे । (प्रकाशम् ।) सखे, [2]त्वरस्व । (इति निष्क्रान्ता ।)

जटायु —(परिक्रम्यावलोक्य च ।) इयमग्रे पञ्चवटी । (सवितर्कम् ।)

नीतो दूर [3]कनकहरिणश्रद्धया रामभद्र
पश्चादेन द्रुतमुपसरत्येष वत्स कनिष्ठ ।
बिभ्यद्बिभ्यत्प्रविशति तत पर्णशाला च भिक्षु
धिक्कष्ट[4] भो प्रथयति निजामाकृतिं रावणोऽयम् ॥ ७ ॥

प्रणम्य । मारीचसहचर मारीचसख । इमामरण्यानीम् सञ्चरन् एतद्वनाभिमुखमागच्छन् । अभिलक्षित दृष्ट । अतिविषमम् महद्भयम्, त्वरयति शीघ्रता कर्तुं प्रेरयति । रामभद्रस्य किमपि व्यसन रावणादुपस्थित स्यादिति त्वरित यामि, अत एव प्रियसखमपि त्वा न सभाजयामि तत्त्वया क्षन्तव्यमिति भाव । एतत् रामभद्रवृत्तम् । प्रतिपित्सामहे ज्ञातुमिच्छाम ।

नीतो दूरमिति । कनकहरिणे स्वर्णमृगे या श्रद्धा आदर लोभजनित सुवर्णमृग प्रत्ययस्तया रामभद्र दूर नीत सुदूर गमित, पश्चात् एष कनिष्ठो वत्स लक्ष्मण एन दूरगतम् रामम् द्रुतम् सत्वरम् उपसरति अनुगच्छति । ततश्च भिक्षु परिव्राजकवेषो रावण बिभ्यत् बिभ्यत् भीतभीत पर्णशालाम् रामोटजं प्रविशति, भो धिक्कष्टम् अतिभयमुपस्थितम्, अथ भिक्षुवेषो रावण निजाम् आकृति स्वरूप प्रथयति विस्तारयति । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ७ ॥

लौट रहा था तो मैंने देखा कि मारीचके साथ रावण इसी महावनकी ओर आ रहा है। इसीसे मुझे बड़ी शङ्का हो गई है और मेरा प्रेम मुझे रामभद्रसे शीघ्र मिलनेको प्रेरित कर रहा है,

जाम्बवान्—(स्वगत) हम भी यही जानना चाहते थे। (प्रकट) मित्र, शीघ्रता करो।

जटायु—(चलकर तथा देखकर) यही तो आगे पञ्चवटी है। (विचार करके)

कनकमृगकी प्रीतिसे राम बहुत दूर ले जाये गये, पीछेसे उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी उनका अनुसरण कर रहे हैं, एक साधु डरते डरते उनकी पर्णशालामें प्रवेश कर रहा है, हाय, हाय, यह तो रावण है जो अपनी आकृति प्रकट कर रहा है ॥ ७ ॥

१ 'प्रतिपत्स्यामहे'। २ 'त्वरस्व त्वरस्व'। ३ 'हरिणच्छद्मना'। ४ 'धिग्धिक्कष्टम्'।

अहह !

> आर्यपुत्रार्यपुत्रेति रुदन्तीं कुररीमिव ।
> रथमारोप्य वैदेहीमेष पाप क यास्यति ॥ ८ ॥

([1]साटोप परिक्रामन् ।) अरे रे रावण,

> वधूटीमिक्ष्वाकोर्निजकरतलस्पर्शमलिना-
> मिमां कुर्वाणस्य स्फुरति हृदि शोभेऽत्र भवत ।
> कुले येषां किं तु त्वमसि गणितास्तेऽपि गुरवो
> न सप्त ब्रह्माण कथमिव पुलस्त्यप्रभृतय ॥ ९ ॥

(पुनराकाशे ।) अलीकाट्टहासधूमधूसरितदशवक्त्रवल्मीक, किमारथ

आर्यपुत्रेति । पाप एष रावण कुररीम् उत्क्रोशपक्षिणीम् इव 'आर्यपुत्र आर्यपुत्र' इति रुदन्तीम् आक्रोशन्तीम् वैदेहीम् सीताम् रथमारोप्य स्यन्दने स्थापयित्वा क यास्यति कुत्र गमिष्यति ॥ ८ ॥

वधूटीमिति । इक्ष्वाको तदाख्यवंशस्य इमां वधूटीम् नवीनां वधू निजकरतलस्पर्शमलिनां स्वबाहुसंसर्गदूषितां कुर्वाणस्य विदधानस्य स्वीयबाहुस्पर्शेन कलङ्कयतो भवत हृदि शोभाप्रसन्नताजनितो विकास एव स्फुरति प्रकटति, न तु लज्जेति, काम भवतो हृदय तथाविधेनापि कुकर्मणा लज्जा मा जनीति भाव, किन्तु परन्तु येषां कुले वंशे त्वमसि जातोऽसि तेऽपि सप्त ब्रह्माण पुलस्त्यप्रभृतय सप्तर्षयो गुरव कुलश्रेष्ठा न गणिता न विभाविता, तेऽपि कुकृत्यमिदमाचरता त्वया स्वपूर्वजा कलङ्किता इति महदनुचितमाचरितमित्यर्थ ॥ ९ ॥

अलीकेति । अलीक वृथा योऽट्टहास उच्चैर्हसितम्, स एव धूमस्तेन धूसरित पांशुलीकृत दशवक्त्र एव वल्मीक कीटभेदस्तत्सम्बोधने रूपम् ॥

आर्यपुत्र, आर्यपुत्र, कहकर कुररीकी तरह रोती हुई सीताको रथपर बैठाकर यह पापी कहाँ ले जायगा ? ॥ ८ ॥

(वेगसे चलता हुआ) अरे रावण सूर्यकुलकी वधूको अपने हाथके स्पर्शसे मलिन बनानेवाले तेरे हृदयमें यह बात भली ही लगती होगी, परन्तु क्या तुमने उन पुलस्त्य प्रभृति अपने पूर्वजोंके विषयमें भी सोचा है जिनके वंशमें तुम उत्पन्न हुए हो ॥ ९ ॥

(फिर आकाशमें) मिथ्या अट्टहाससे अपने मुखको धूमिल बनानेवाले पापी राक्षस,

[1] 'इति साटोपम्' ।

रे राक्षसापसद, किमात्थ ।

'जगद्विलोभिसीतारूपमामिषं हरतो मम ।
अयं किल जरद्गृध्रः करादाच्छिद्य नेष्यति' ॥ १० ॥ [१]इति ।

आः पाप, [२]कथमेवमभिदधासि । तिष्ठ तिष्ठ ।

भुजविटपमदेन व्यर्थमन्धंभविष्णु-
र्विगपसरसि चोरंकारम[३]ाक्रुश्यमानः ।
त्वदुरसि विदधातु न्यामपस्कारकेलिं
कुटिलकरजकोटिनिष्ठुरकर्मा जटायुः ॥ ११ ॥

राक्षसापसद नीचराक्षस ।

जगद्विलोभीति । अयं गृध्रो जटायुः जगतां विलोभि लोभजनकं स्पृहणीयम् सीतारूपम् सीतानामकम् आमिषं मांसम् भोग्यवस्तु हरतः नयतो मम रावणस्य करात् आच्छिद्य बलाद्गृहीत्वा नेष्यति किलेत्यलीके । यथा गृध्रो मांसं हरतो जनस्य करान्मांसमादाय गच्छति तथैव मया ह्रियमाणां सीतां हरिष्यतीति सम्भावनाऽलीकैवेति भावः । 'उत्कृष्टे पलले भोग्ये भोग्यवस्तुनि चामिषम्' इति विश्वः ॥ १० ॥

भुजविटपमदेनेति । भुजविटपमदेन बाहुशाखादर्पेण व्यर्थम् वृथैव अन्धंभविष्णुः अन्धीभवन् आक्रुश्यमानः मयाऽन्येन निन्दापूर्वकम् आहूयमानः त्वम् चौरंकारम् चौर इव अपसरसि पलायसे, धिक् त्वाम् , सम्प्रति कुटिलानां वक्राणां नखराणां कोटिभिः अग्रभागैः निष्ठुरकर्मा भीषणव्यापारः जटायुर्नाम गृध्रः त्वदुरसि तव वक्षोदेशे न्याय्याम् नितराम् अयस्कारकेलिम् नखविलेखनक्रीडाम् विदधातु करोतु । बाहुबलदर्पितस्य तव पलायनं नोचितम् , तिष्ठ, तव वक्षसि जटायुरहं नखविलेखनक्रीडामाचरामि, त्वदीयमुरो निशितैर्नखैर्विदारयामीति भावः । मालिनीवृत्तम् ॥ ११ ॥

क्या कहा तुमने ? क्या कहा ?

संसारको लोभित करनेवाले सीतारूप आमिषको मैं हरकर लिये जा रहा हूं, क्या यह गृध्र इसे मेरे हाथोंसे छीनकर ले जायेगा ? ॥ १० ॥

अरे पापी, इस तरह क्यों कहता है ? ठहरो तो ।

अपने बाहुरूपी शाखाओंके मदमें व्यर्थ गर्व करनेवाला तू चोरकी तरह ललकारे जानेपर भी भागा जा रहा है, धिक्कार है तुमको, तुम्हारी छातीपर अपने कुटिल नखोंसे निष्ठुर कर्म करनेवाला यह जटायु अपनी अयस्कारकेलि-पटुता प्रकट करेगा ॥ ११ ॥

---

१ 'इति' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । २ 'कथमभिदधासि' । ३ 'आहूयमाणः' ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भकः ।

(ततः [1]प्रविशति लक्ष्मणः ।)

लक्ष्मणः—अहो दुर्निवारदारुणक्रोधशोकलज्जागहनो विषमोऽयं दशाविवर्तः । यस्मिन्निति कर्तव्यताभिधानमप्यस्माकमनौपयिकम् । तथाहि

तत्ताडग्दशकण्ठवञ्चनरुषा धूमायमानो गिरं
　　नार्योक्तप्रविलीनवर्णविधुरामार्यः [2]समाप्नोति मे ।
धाये तातजटायुजीवितकथापर्यन्तधूमायितं
　　क्रोधोत्पीडनिपीतशोकजडिमा दृष्टिस्तु विश्राम्यति ॥१२॥

दुर्निवारेति । दुर्निवारा निवारयितुं शमयितुं कठिना अतएव दारुणा कष्टप्रदा महान्तश्च क्रोधशोकलज्जा क्रोधः शत्रुं प्रति कोपः, शोकः प्रियजनवियोगजन्मा खेदः, लज्जा कुलवधूरेकाऽस्माभिर्न पालिता रक्षितुमित्याद्यवमानजनना त्रपा, ताभिर्गहनो भीषणः, विषमः अनितुल्यः दशाविवर्तः अवस्थापरिणामः । इतिकर्तव्यताभिधानम् किङ्कर्तव्यमिति निश्चित्य कथनम् । अनौपयिकम् अयुक्तम् ।

तत्ताडगिति । मे आर्यः मम पूजनीयो रामः तत् तादृक् यत् दशकण्ठवञ्चनं रावणकृतसीताहरणात्मकप्रतारणम् तेन या रुट् रोषः तया धूमायमानः धूमं मुञ्चन् (अग्निरिव स्थितः) अर्धोक्त एव प्रविलीनः अर्धोच्चारित एव प्रकर्षेण लयं गतो यो वर्णः अक्षरम् तेन विधुराम् विपर्यस्ताम् अतएव उदितास्तमितो निहिता सत्ता च वाच वाणीं न समाप्नोति निरवशेषीकरोति, अर्धोक्त एव वचने विरमतीत्यर्थः । तु किन्तु तातस्य पितृमवःसख्युरस्य जटायोर्जीवितकथापर्यन्तेन जीवनवृत्तसमाप्त्या धूमायितं धूमोद्गारी च क्रोधोत्पीडः कोपातिशयः तेन निपीत

(दोनों का प्रस्थान)

लक्ष्मण—दुर्निवार तथा दारुण कोप, शोक तथा लज्जासे विषम यह दशा परिवर्तन है, जिसमें क्या किया जाय यह भी नहीं समझमें आ रहा है । क्योंकि—

रावण द्वारा किये गये वञ्चनसे उत्पन्न कोपके कारण अन्तर्दह्यमान हमारे आर्य आधा कहकर रुक जाते हैं, बातको समाप्त नहीं कर पाते हैं, तात जटायुकी जीवनकथासे उनका कोप धूमिल हो जाता है उनकी आँखें शोकसे जड होकर जटायुपर आ लगती हैं ॥१२॥

१ 'प्रविश्य' ।　　२ 'समाप्नोत्ययम्' ।

([1]नेपथ्याभिमुख ।) इत इत आर्य मारीचमथन, दृश्यन्तामम्रवाचीं ककुभमभिवर्धमाना [2]विन्ध्यवनवीथिभूमय ।

([3]प्रविश्य ।)

राम — (आकाशे लक्ष्य बद्ध्वा ।)

कुले वा शौर्ये वा भुजसमुदये वा तपसि वा
बभूवुर्न प्राञ्चस्त्वमिव भवितारो न चरमे ।
अहो [4]दिङ्मोहस्ते [5]समजनि चिरादेष न खलु
प्रवीराणां पन्था दशवदन येनासि चलित ॥ १३ ॥

निश्शेषमवमापित शोकजडिमा शोककुण्ठितश्च यस्यास्तादृशी रामस्य दृष्टि चापे धनुषि विश्राम्यति स्थिरीभवति । जटायुनिधनजन्यकोपवशान्निश्शेषसमापित दु खबाष्पा रामस्य दृष्टिर्धनुरीक्षते, कोपोदयेन दु खोद्रेकस्य समाप्ततया प्रतिकर्तुं धनुरवलोकते इत्याशय ॥ १२ ॥

मारीचमथन मारीचहन्त , अवाचीं ककुभम् दक्षिणा दिशम् , अभिवर्धमाना अभिमुख प्रवृत्ता , दक्षिणदिशाभिमुखगामिन्य ।

कुले वेति । हे दशवदन रावण, कुले वंशे, शौर्ये पराक्रमे वा, भुजसमुदये बाहु समूहे वा, तपसि तपोऽनुष्ठाने वा त्वमिव त्वया समाना प्राञ्च पूर्वतमा लोका न बभूवु , न वा चरमे पश्चाद् भाविन त्वमिव भवितार त्वया समा भविष्यन्ति । हे रावण, कुलगौरवे पराक्रमे भुजबाहुल्ये तपश्चर्यायां वा त्वत्सादृश्य न प्राचां पुरुषाणामजायत न वा भाविलोकानां भविष्यति तदित्थमप्रतिमस्त्वमसीति भाव । अहो आश्चर्यम् ते तव चिरात् दिङ्मोह दिग्भ्रम एष समजनि जात , त्व भ्रान्त

(नेपथ्यकी ओर) आर्य इधर आइये, मारीचमथन, देखिये यह दक्षिण दिशाकी ओर फैली हुई विन्ध्यवन वीथी ।

(प्रवेश करके)

राम—(आकाशकी ओर लक्ष्य करके) कुल गौरवमें, वीरतामें, बाहुशक्तिमें, तपस्यामें, न कोई तुम्हारे समान हुआ है और न आगे चलकर होगा, अहो, तुमको यह दिग्भ्रम कहांसे हो गया, हे रावण, तुमने जिधरसे चलना आरम्भ किया है यह मार्ग वीरोंका नहीं है ॥ १३ ॥

---

१ 'मुखम्' । २ 'विन्ध्याचल-' । ३ 'तत प्रविशति राम' ।
४ 'दिङ्मोह' । ५ 'कथयति', 'कथमिह' ।

(विमृश्य । सखेदस्मितम् ।) हहो पौलस्त्य,

सिद्धश्रोत्रपरम्परापरिगतैरेभिः प्रपौत्रस्य ते
वृत्तैरद्य पुलस्त्यवर्जमभितः स्मेरेषु देवर्षिषु ।
विष्वग्वृत्तिरशक्यता नमयितुं दुर्वारलज्जाभर-
म्लानश्रीस्तु चतुर्मुखी भगवतो धातुः कथं वर्तते ॥ १४ ॥

(क्षणमनुध्याय ।) हा प्रिये विदेहराजपुत्रि ! (इति मूर्च्छां नाटयति ।)

लक्ष्मणः—(उपसृत्य ।) आर्य, कोऽयमभिपङ्गो नाम भवादृशान् प्यास्पदीकरोति ।

सन् परस्त्रीहरणकर्मणि प्रवृत्तो भूरिस्याश्चर्यजनकम्, येन यथा परस्त्रीहरणात्मना चलित प्रचरित असि असौ पन्था प्रवीणाणां न खलु निश्चयेन वारास्त पन्थानं नैवाश्रयति, त्वं च तमेवाश्रित इत्यतस्त्व तवाय विभ्रम इति ॥ १३ ॥

सिद्धश्रोत्रेति । सिद्धानां देवयोनिभेदानां कर्णपरम्परा श्रोत्रपरम्परा तत्र परिगतैः सिद्धानां श्रवणसमुदायपतितैः ते तव पौलस्त्यस्य प्रपौत्रस्य रावणस्य वृत्तैः सीताहरणात्मककुत्सितवृत्तान्तैः पुलस्त्यवर्जम् पुलस्त्य विहाय इतरेषु अन्येषु देवर्षिषु स्मेरेषु विस्मितमुखेषु सत्सु विष्वग्वृत्तिः सर्वतोमुखी अत एव नमयितुम् नम्रतां प्रापयितुम् असह्या अशक्या दुर्वारेण दुरपसमेन लज्जाभरेण त्रपाराशिना म्लानश्रीः मलिनकान्तिः धातुः ब्रह्मणः चतुर्मुखी मुखचतुष्टयी कथं वर्तते का दशामनुभवति ? सिद्धैः कर्णाकर्णिकया निवेदितानि रावणस्य दुर्वृत्तानि श्रुत्वा यदा पुलस्त्यातिरिक्ताः सर्वे देवर्षयो हसिष्यन्ति, तदा ब्रह्मणः कीदृशी दशा भविष्यति ? ब्रह्मा हि रावणकुलप्रथमपुरुषः, स्वकुलजस्य दुर्वृत्तमाकर्ण्य त्रपेत ब्रह्मा, यदि त्रपया मुखमपि नमयितुमिच्छति तदपि न शक्यं कर्तुं निखिलासु चतसृष्वपि दिशासु स्थितानां मुखानां नमयितुमशक्यत्वात्, अतश्च विषमा भवेद् ब्रह्मणोऽवस्था, तद्विधमाचारस्तव नोपयुक्त इति ॥ १४ ॥

(विचार करके खेदकी हँसीके साथ) हे पौलस्त्य,

सिद्धोंकी कर्णपरम्परासे सुने प्रपौत्रके इन वृत्तान्तोंको सुनकर, पुलस्त्यको छोड़ अन्य ऋषियोंके हँसने लगनेपर, चारों ओर फैले हुए मुखोंको ब्रह्मा झुका भी नहीं सकेंगे, फिर न जाने किस तरह रहेंगे ॥ १४ ॥

(क्षणभर सोचकर) हा प्रिये विदेहतनये, (मूर्च्छित होते हैं)

लक्ष्मण—(समीप जाकर) आर्य, यह कैसा दुःख है जो आपको भी सता रहा है ?

[1]पतिते व्यसने [2]दैवाद्दारुणे [3]दारुणात्मनि ।
सवर्मयति वज्रेण धैर्यं हि महतां मनः ॥ १५ ॥

राम —([4]दीर्घं निःश्वस्य ।) वत्स,

सहजधैर्यवशवदवृत्तयो हृदि रुषश्च शुचश्च नियन्त्रिताः ।
इह तु किं करवै यदपत्रपा किमपि मामवमत्य विजृम्भते ॥१६॥

लक्ष्मण —(पुरोऽवलोक्य ।) आर्य, [5]अयमग्रे तातजटायुषो वीर[6]लोकसाधनसिद्धक्षेत्रमरण्यानीसंनिवेशः । पश्य ।

पतितेति । दैवात् भाग्यवशात् दारुणात्मनि महात्मनि जने दारुणे भीषणे व्यसने दुःखे पतिते आगते सति धैर्यं हि महतां मनः वज्रेण सवर्मयति आवृणोति । 'दारुणो भीषणे दुरौ' इति शाश्वतः ॥ १५ ॥

सहजेति । सहजस्य स्वाभाविकस्य धैर्यस्य वशंवदा अधीना वृत्तिः सत्ता व्यापारो वा यासां तादृश्यः स्वाभाविकधैर्यवशवर्तिन्यो रुषः कोपाः शुचः शोकाश्च नियन्त्रिता नियमिताः, किन्तु यत् अपत्रपा लज्जा परपुरुषदर्शनजन्मा ह्री माम् अवमत्य विनिन्द्य विजृम्भते स्फुरति इह अत्र विषये किं करवै करवाणि ? यद्यपि स्वाभाविकं धैर्यमाधाय तदधीना रुषः शुचश्च मया निगूहिताः, परं धैर्येण निगूहितुमशक्या लज्जा या मां पराभूय स्फुरति तत्र मया किं क्रियतामिति भावः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति ॥ १६ ॥

वीरलोकसाधनसिद्धिक्षेत्रम् वीरलोकप्राप्तिस्थानम् (जटायुर्यत्र रावणेन युद्ध्वा वीरलोकमापत् तादृशम्) अरण्यानीसंनिवेशः वनप्रदेशः ।

दैववश भयानक विपत्तिके आ जानेपर महाजनोंके हृदय अपने धैर्यको ही कवच बनाते हैं ॥ १५ ॥

राम—(दीर्घ श्वास लेकर) स्वाभाविक धैर्यके वशमें रहनेसे कोप तथा शोकको किसी तरह रोक लिया है, परन्तु इसका क्या करूँ कि लज्जा मुझे हराकर विजृम्भित हो रहा है ॥ १६ ॥

लक्ष्मण—(आगे देखकर) आर्य यही है आगे तात जटायु द्वारा किये गये वीरलोक साधनका सिद्धक्षेत्र वनप्रदेश देखिए—

---

१ 'पतति व्यसने', 'पतित व्यसने'। २ 'दारुणाद्'।
३ 'दारुणात्मन'। ४ 'दीर्घमुष्णं च'।

भग्नोऽयं कथमस्ति रावणरथस्तातेन वज्राङ्कुर-
[3]क्रूरापस्क्रियमाणभङ्गुरनखक्रोटित्रुटद्बन्धनः ।

राम —(सकरुणम् ।)

हा सीरध्वजराजपुत्रि स तदा दृष्टस्त्वया धन्यया
पक्षीन्द्रो दशकण्ठकुञ्जरशिरःसञ्चारिपञ्चाननः ॥ १७ ॥

(इति लक्ष्मणमवष्टभ्य ध्यानं नाटयति ।)

लक्ष्मण —(स्वगतम् ।) [4]महादोषः खल्वयमतिप्रमज्ज्यमानो [5]मानसः शोकाख्यो विकारः । तदन्यतः प्रेरयामि[6] । (प्रकाशम् ।) आर्य, पश्य पश्य !

भग्नोऽयमिति । तातेन पितुः सख्या जटायुषा वज्राङ्कुरवत् क्रूराभ्याम् दारुणाभ्यां भीषणाभ्याम् अपस्क्रियमाणाभ्यां विदारयन्तीभ्यां च अत एव भङ्गुराभ्यां कुटिलताम् गताभ्यां नखक्रोटिभ्यां नखाग्रभागाभ्याम् त्रुटद् भ्रश्यत् बन्धनम् सन्धिबन्धनं यस्य तथोक्तः (कुपितजटायुनखत्रुटितसन्धिबन्धनः) अत एव च भग्नः अयं रावणरथः कथमस्ति केन प्रकारेणात्र तिष्ठति ? हा सीरध्वजराजपुत्रि, जनकनन्दिनि, धन्यया त्वया सीतया दशकण्ठो रावण एव कुञ्जरः करी तस्य शिरस्सु सञ्चारी आक्रामन् पञ्चाननः सिंहः स पक्षीन्द्रः खगजातिश्रेष्ठः जटायुः दृष्टः, यत्र रावणशिरसि हरिशिरसि सिंहमिव घूर्णमानं जटायुषमपश्यस्तत्र धन्यासीति भावः, 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्य' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १७ ॥

अवष्टभ्य आश्रित्य । ध्यानं नाटयति ध्यानस्थ इव भवति ।

अतिप्रमज्ज्यमानः नितरां वर्धमानः । अन्यतः प्रेरयामि ध्यानमपाकरोमि ।

तात जटायुद्वारा वज्रकठोर नखाङ्कुर प्रहारसे जिसके बन्धन तोड़ डाले गये हैं, वैसा यही टूटा हुआ रावणका रथ पड़ा है।

राम—(करुणासे) हा विदेहपुत्रि, दशकण्ठरूपी गजपर सिंहकी तरह आक्रमण करनेवाले उस तात जटायुको तुमने देखा था, अतः तुम धन्य हो ॥ १७ ॥

(लक्ष्मणको थामकर सोचने लगता है)

लक्ष्मण—(स्वगत) बढ़ता हुआ यह शोक नामक मनोविकार बड़ा बुरा होता है। अतः इनको दूसरी ओर आकृष्ट करता हूँ। (प्रकट) आर्य देखिये—

---

१ अयमेवाग्रे'। २ 'सिद्धिक्षेत्रमरण्यमनिवेश'। ३ 'अपस्क्रियमाण-'।
४ 'महान्दोषो हि' क्वचिन्नास्ति। ५ 'मानस' इति। ६ 'प्रतिसारयामि'।

विन्ध्यगिरिराजकन्यान्तःपुरमेतास्तरङ्गमालिन्यः ।
[1]वेतस्वतीभिरद्भिस्तौर्यत्रिकगुणनिकां दधते ॥ १८ ॥

राम —(उन्मील्य चक्षुषी दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य ।) वत्स, दर्शनीयमेतत् ।

कुमुदवनविशायजाग्रदम्भोरुहकृतयामिकविभ्रमा रमन्ते ।
मदकलकरिकर्णतालनृत्यन्मुखरमयूरमनोरमास्तटिन्यः ॥ १९ ॥

(इति परिक्रामतः ।)

विन्ध्यगिरिराजेति । विन्ध्यगिरिराजस्य विन्ध्याचलाख्यपर्वतेन्द्रस्य कन्यान्तःपुरम् अन्तःपुरशब्दस्य तद्वासियाचिलक्षकतया कन्याजनः एताः तरङ्गमालिन्यो नद्यः (विन्ध्यपुत्रीरूपा एता नद्यः) वेतस्वतीभिः वानीरवृक्षसंयुक्ताभिः अद्भिः तौर्यत्रिकगुणनिकाम् गीतवाद्यनृत्याभ्यासम् दधते धारयन्ति । 'कन्यकार भूभुजामन्तःपुरं स्यादवरोधनम्', 'अभ्यासे गुणनी, योग्या', 'तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यम्' इति च सर्वत्रामरः ॥ १८ ॥

कुमुदवनेति । कुमुदवनेन सह विशायेन पर्यायेण जाग्रन्ति विकसन्ति (रात्रौ कुमुदानि जाग्रति दिवा चाम्भोरुहाणि इति पर्यायेण) अम्भोरुहैः कृतः यामिकानां प्रहरिणां विभ्रमो विलासो यासु ताः तथोक्ताः, मदकला मत्ता ये करिणो हस्तिनः तेषां कर्णतालेन कर्णशब्देन नृत्यन्तः मुखराः शब्दायमानाश्च ये मयूराः तैर्मनोरमाः सुन्दर्यः तटिन्यः नद्यः रमन्ते क्रीडन्ति, अन्या अपि राजकन्याः प्रहरिभिः सुरक्षिता मयूरनृत्यं पश्यन्त्यो रमन्ते तद्वदमूर्विन्ध्यगिरिकन्यारूपा नद्यः निशि कुमुदानि दिवा चाम्भोजानीति पर्यायेण प्रहरिभिः प्रासरक्षाः सत्यो मत्तकरिकर्णनादनृत्यन्मुखरमयूरमनोहरा इह रमन्त इत्याशयः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ १९ ॥

विन्ध्यगिरिराजकी कन्याओंका अन्तःपुर स्वरूप यह नदियाँ बेंतके वृक्षोंसे होकर बहनेवाले अपने जलोंसे गीत-नृत्य वाद्यरूप तौर्यत्रिकका अभ्यास सी कर रही हैं ॥ १८ ॥

(राम आँखें खोलकर दीर्घ तथा उष्ण श्वास लेकर) वत्स, यह तो देखने योग्य है,

यहाँ कुमुदवनके साथ बारी बारीसे जागृत होनेवाले कमल पहरेदारकी शोभा धारण कर रहे हैं, मत्तकरियोंके कर्णतालसे नाचनेवाले मयूर यहाँकी शोभा बढ़ा रहे हैं, इस प्रकार यहाँकी नदियाँ बहुत सुन्दर दीख रही हैं ॥ १९ ॥

(दोनों चलते हैं)

---

१ 'वहुवेतसाभिः'।

लक्ष्मण —आर्य, अयमितो गिरिर्माल्यवान् ।

> इह महिषविषाणव्यस्तपाषाणपीठ
> स्खलनसुलभरोहिद्गर्भिणीभ्रूणहत्या ।
> कुहरविहरमाणप्रौढभल्लूकहिक्का
> चयचकितकिरातस्रस्तशस्त्रा वनान्ता ॥ २० ॥

राम —(चिरं दृष्ट्वा सकरुणास्रम् ।)

> प्रतिपरिसर भूयानर्घ शिखण्डभृता यथा
> मिलितमलिभि सम्भुज्यन्ते कदम्बविभूतय ।
> अभिनवघनव्यूढोरस्क प्रवर्षति माल्यवान्

इह महिषेति । इह अस्मिन् प्रदेशे वनान्ता वनभूमिसीमान महिषाणां विषाणे शृङ्गै व्यस्तेषु विपर्यस्तेषु पाषाणपीठेषु प्रस्तरखण्डेषु स्खलनेन पादप्रच्यवनेन सुलभा सर्वदा सम्भवन्त्य रोहिद्गर्भिणीनाम् गर्भवतीनां मृगीणां भ्रूणहत्या गर्भस्थशिशुवधा येषु तथोक्ता, तथा कुहरेषु पर्वतगह्वरेषु विहरमाणानां तिष्ठताम् प्रौढानां विशालकायानां भल्लूकानां हिक्काचयेन चकितानां सम्भ्रान्तानां किरातानां शबराणां स्रस्तानि अपस्खलितानि शस्त्राणि येषु तथोक्ताश्च सन्तीति शेष । तत्र वनप्रान्तेषु महिषा विषाणै पर्वतशिला विपर्यासयन्ति, तासां विशृङ्खलस्थितया तत्र चरन्त्यो हरिण्यो गर्भवत्य स्खलन्ति तेन तासां गर्भा स्रवन्ति, किञ्च पर्वतगह्वरस्थस्य प्रौढभल्लूकस्य हिक्काचयेन चकितानां किरातानां हस्तेभ्योऽस्त्राणि स्खलन्ति, एतादृशोऽयं वनप्रान्त इत्यर्थ । मालिनीवृत्तम् ॥ २० ॥

प्रतिपरिसरमिति । प्रतिपरिसर सर्वासु पर्यन्तभूषु शिखण्डभृतां मयूराणाम् भूयान् अर्घ महोत्सव (अस्ति), अलिभि भ्रमरै यथामिलित यथोपस्थित कदम्बविभूतय नीपपुष्पाणि सम्भुज्यन्ते सम्भोगविषयीक्रियन्ते । अभिनवघनव्यूढोरस्क नूतनमेघपूर्णमध्यभाग माल्यवान् नाम गिरि विषधरवधूनां भुजगाङ्ग

लक्ष्मण—आर्य इधर यह माल्यवान् नामक पर्वत है,

यहाँके वनान्तमें महिषोंके शृङ्गोंसे उलटे गये पाषाण-खण्डोंपर गिरनेके कारण हरिणियोंके गर्भपात प्रसिद्ध हैं, और कन्दराओंमें रहनेवाले प्रौढ भालुओंके हिक्का शब्दसे चकित होनेवाले किरातोंके हाथोंसे बाण अनायास निकल जाते हैं ॥ २० ॥

राम—(बड़ी देर तक देखकर) प्रतिपरिसरमें मयूरोंके उत्सव हो रहे हैं, कदम्बकी यथालभ्य विभूतियोंको मिल जुलकर भ्रमरगण पी रहे हैं, नवीन मेघमण्डलसे भरा

विषधरवधूगर्भाधानप्रियंकरणीरप ॥ २१ ॥

वत्स लक्ष्मण धारय माम् । न शक्नोमि स्तम्भयितुमात्मानम् ।

इयमविरलश्वासा शुष्यन्मुखी [1]भिदुरस्वरा
तनुरवयवैः [2]श्रान्तस्रस्तैरुपैति विवर्णताम् ।
स्फुरति जडता बाष्पायेते दृशौ [3]गलति स्मृति
र्मयि रसतया शोको मावश्चिरेण विपच्यते ॥ २२ ॥

(इति लक्ष्मणेन धार्यमाणो निमीलिताक्ष एव ।) हा प्रिये दण्डकारण्य विहारसब्रह्मचारिणि । (इति पुनः संमुह्यते ।)

नानां गर्भाधानरूपं प्रियं क्रियते आभिस्तथोक्ता अपः प्रवर्षति । अत्र वर्षासमये सर्वासु पर्यन्तभूमिषु मयूराणामुत्सवः प्रवर्तते भ्रमराः यथालाभं कदम्बकुसुमानि भुञ्जते, नूतनवारिदपूर्णमध्यभागो माल्यवान्नामायं गिरिः सर्पवनितागर्भाधानप्रियङ्करणीरपो वर्षति । एतादृशोऽयं वर्षासमय उपस्थित इत्यर्थः ॥ २१ ॥

इयमविरलेति । अविरलश्वासा सततप्रवृत्तश्वासा शुष्यन्मुखी शोषयुक्तानना भिदुरस्वरा घर्घरस्वरशालिनी इयं तनुः ममेदं शरीरम् श्रान्तस्रस्तैः क्लान्ततया विवशतां गतैः अवयवैः करचरणादिभिरङ्गैः विवर्णताम् मलिनतामुपैति गच्छति । जडता अचेतनत्वं स्फुरति प्रसरति, दृशौ नयने बाष्पायेते अश्रु वमतः, स्मृतिः स्मरणशक्तिर्गलति नश्यति, मयि मम चित्ते शोको नाम करुणस्थायी भावः चिरेण रसतया रसरूपेण विपच्यते परिणतो भवति, करुणरसस्थायी शोको मयि स्थित एव स ह्यन्येषामपि स्वोपोद्बलकानां श्वासाधिक्यमुखशोषादिस्वरभङ्गाद्यश्रुपातादीनां समवधानाद्रसरूपतां गच्छतीत्यर्थः । हरिणीवृत्तम् ॥ २२ ॥

दण्डकारण्यविहारसब्रह्मचारिणि–दण्डकावासमङ्गिनि सीते ।

हुआ यह माल्यवान् विषधर कन्याओंके गर्भाधान करानेवाले जलकी वृष्टि कर रहा है ॥

वत्स लक्ष्मण पकड़ लो मुझे, मैं अपनेको सम्हालनेमें असमर्थ हो रहा हूं ।

श्वासवेगसे निकल रहा है, मुख सूखता है, स्वर भङ्ग हो रहा है, अवयवोंके श्रान्त तथा स्रस्त हो जानेसे शरीर विवर्ण हो रहा है, जड़ता बढ़ रही है, आंखोंसे अश्रु प्रवाहित हो रहा है, स्मरणशक्ति लुप्त हो रही है, मुझमें शोक करुणरसके रूपमें परिणत हो रहा है ॥ २२ ॥

---

१ 'मधुरस्वरा'। २ 'क्लान्तम्लाने'। ३ 'गलिता'।

लक्ष्मण—(सखेदमात्मगतम् ।) केन पुनरेष रसो रसान्तरेण तिरस्क्रियते ।

(नेपथ्ये ।)

आः पाप कबन्धहतक, अद्य न भवसि ।

राम—(आकर्ण्य । ससंभ्रमम् ।) वत्स लक्ष्मण, दुरात्मना दनुकबन्धेन कलहायमानो वयस्यस्ते गुह इव श्रूयते । बहुच्छलानि रक्षांसि । तत्त्वरितमभ्युपपद्यस्व ।

लक्ष्मण—तथा । (इति निष्क्रान्तः ।)

राम—(पार्श्वतोऽवलोक्य । सकरुणम् ।) देवि वामशीले सीरध्वजराजनन्दिनि[1], इयं ते विश्वनिस्रम्भमर्मवेदिनी[2] निचुलनिकुञ्जलेखा । इह हि—

स्ववपुषि नखलक्ष्म स्वेन कृत्वा भवत्या
कृतमिति चतुराणां दर्शयिष्ये सखीनाम् ।

रसान्तरेण अन्येन रसेन । तिरस्क्रियते दूरीक्रियते । केन प्रसङ्गेन रामस्यायं शोको विस्मार्यते इति भावः ।

स्ववपुषीति । स्ववपुषि निजशरीरे स्वेन आत्मना नखलक्ष्म नखक्षतचिह्नं कृत्वा भवत्या सीतया कृतं रामशरीरे नखक्षतं विहितमिति चतुराणां विदग्धहृदयानां सखीनां दर्शयिष्ये प्रत्यक्षीकारयिष्यामि, तथा च तव रहस्यभङ्गः स्यादिति

(लक्ष्मणके द्वारा अवलम्बित तथा आँखें बन्द किए हुए) हा दण्डकारण्यसङ्गिनि प्रियतमे, (फिर मूर्च्छित होते हैं)

लक्ष्मण—(सखेद स्वगत) किस रसान्तरसे इस शोकको अन्तरित किया जा सकेगा ।

(नेपथ्यमें)

आ पापी अभागा कबन्ध, अब तुम नहीं बच सकेगा ।

राम—(सुनकर घबराहटके साथ) वत्स, सुन रहा हूँ जैसे तुम्हारे मित्र गुहका दुष्ट कबन्धके साथ झगड़ा हो रहा है, राक्षस बड़े छली होते हैं, अतः शीघ्र जाओ ।

लक्ष्मण—जो आज्ञा । (जाते हैं)

राम—(चारों ओर देखकर) हे वामशीले विदेहपुत्रि, तुम्हारे सकल रहस्योंको जाननेवाली वेत्र निकुञ्ज परम्परा यही तो है । यथा—

मैं अपने शरीरपर नखचिह्न बनाकर तुमसे कहता था कि जाता हूँ तुम्हारी सखियोंमें

---

१ 'सीरध्वजनन्दिनि' । २ 'नर्मविस्रम्भमर्मभेदिनी' ।

इति रहसि मया ते भीषिताया स्मरामि
स्मरपरिमलमुद्राभङ्गसर्वसहाया ॥ २३ ॥

(इति धनुरवष्टभ्य लक्ष्मणवृत्तान्तदत्तचेतास्तथैवास्ते ।)

(ततः प्रविशति लक्ष्मणो गुहश्च ।)

गुहः—जयतु[1] जयतु देवः ।

विनेता वर्णानामयमभयदुर्गं दिविषदां
कनिष्ठः काकुत्स्थो जयति जगदाश्चर्यचरितः ।
यदस्त्रैः पाप्मानं रजनिचरजन्मग्रहसृजं
विजित्य स्वर्लोकानयिकलमुपातिष्ठत दनुः ॥ २४ ॥

मया रामेण रहसि एकान्ते भीषिताया भयं प्रापिताया ते सीताया स्मरः कामः तस्य परिमलो विमर्दोत्थः सुगन्धः तस्य मुद्रा चिह्नं तस्याः भङ्गे सर्वसहाया सर्वं विधमपि कष्टं सोढुं प्रवृत्तायाः स्मरामि । रामोऽहं स्वेन स्वतनौ लक्ष्म नखस्य कृत्वा सीतया कृतमिदमिति तव सखीनां दर्शयिष्ये इत्येवं सीता यदाऽभीषयत्तदा सा रहस्यभङ्गभीता सती कामचिह्नस्य तस्य नखक्षतस्य भङ्गाय सर्वमपि कष्टं सोढुं मुद्यताभूत् एतादृश्या सीताया रामः स्मरतीति भावः । स्मरतियोगे कर्मणि षष्ठी । मालिनीवृत्त, तल्लक्षणमुक्तम् ॥ २३ ॥

विनेतेति । वर्णानां ब्राह्मणक्षत्रियविशां विनेता सत्पथप्रवर्तकः, दिविषदां देवानाम् अभयदुर्गं निर्भयवासोपयुक्तं दुर्गमस्थानम्, जगतः आश्चर्यं विस्मयजनकं चरितं यस्य तादृशः तथोक्तः कनिष्ठः काकुत्स्थो लक्ष्मणः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते, यस्य लक्ष्मणस्य अस्त्रैः प्रहरणैः रजनिचरेषु राक्षसेषु जन्मग्रहसृजं जन्मग्रहणकारणीभूतं पाप्मानं पापं विजित्य पराभूय दनुर्नाम राक्षसः अविकलं सर्वात्मना

कहनेकी सीताने यह नखचिह्न कर दिये हैं, इस प्रकार कहनेपर तुम भयभीत हो उठती थी, उस अवस्थाकी तुम्हारी कामकला विमर्द सहिष्णुताकी याद आ रही है ॥ २३ ॥

(धनुष लेकर लक्ष्मणके वृत्तान्तमें मन लगाये उसी तरह बैठा रहता है)

(लक्ष्मण तथा गुहका प्रवेश)

गुह—जय हो जय हो महाराजकी ।

वर्णोंको उचित शिक्षा देनेवाले, देवोंको अभयदान देनेवाले, जगत्‌में आश्चर्य चरित वाले कनिष्ठकाकुत्स्थका जय हो, जिनके अस्त्रोंसे राक्षसयोनिमें जन्म देनेवाले पापोंको धोकर यह दनु निर्बाधभावसे स्वर्ग पहुँच गया है ॥ २४ ॥

[1] 'जयति जयति'।

राम—साधु वृत्तम्। शिवा सन्तु तस्य देवयाना पन्थान । वत्स गुह, वियति विवर्तमान कश्चिदचल इव लक्षित किमसौ तेनैव योजनबाहुना प्रहरणीकृत ।

गुह—देव,

दुन्दुभि नाम दैत्येन्द्र निष्पिपेष कपीश्वर ।
तस्य कङ्कालकूटोऽयं कुमारेण विलोडित ॥ २५ ॥

तन्निमित्तजन्मा सम्प्रति [1]वालिनो महानभियोग सभाव्यते ।

लक्ष्मण—तत किम् ।

स्वर्लोकान् उपातिष्ठत प्राप्त, दनु पूर्वं कोऽपि गन्धर्व शापाद्राक्षसयोनि प्राप्य लक्ष्मणास्त्रात् शापान्त प्राप्य स्वर्गमलभतेति कथात्र मूलम्। यद्यपि कनिष्ठ काकुत्स्थ शत्रुघ्नो न लक्ष्मणस्तथापि सन्निहितत्वादत्र लक्ष्मण एव तथा विवक्षितो बोध्य । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २४ ॥

साधु वृत्तम्-उत्तम जातम्, देवाना यान यै ते देवयाना पन्थानो मार्गा शिवा कल्याणमया । वियति व्योमनि। विवर्त्तमान अस्तव्यस्तभावेन स्थित । अचल पर्वत । लक्षितो दृष्ट । योजनबाहुना दनुकबन्धेन, प्रहरणीकृत लक्ष्मणोपरि क्षेप्तुमस्त्रभाव गमित ॥

दुन्दुभिमिति। कपीन्द्रो वाली पुरा दुन्दुभि नाम दैत्येन्द्र राक्षस निष्पिपेष निहतवान्, अथ तस्य कङ्कालकूट अस्थिराशि कुमारेण लक्ष्मणेन विलोडित धनुष्कोट्या विपर्यासित । वालिनिहतस्य दुन्दुभेरस्थिराशिरय लक्ष्मणेन धनुष्कोट्या चालितो न दनुप्रहरणमिति भाव ॥ २५ ॥

तन्निमित्तजन्मा लक्ष्मणेन यद् दुन्दुभिकङ्कालकूट धनुष्कोट्या क्षिप्त तत्कारण, कोऽय वीरो यस्तातनतोऽस्थिकूटस्य विपर्यास कृतवान्, पश्येय तस्य बलमिति बुद्ध्या। अभियोग आक्रमणम्।

राम—ठीक है, देवलोकका मार्ग उसके लिए कल्याणमय हो। वत्स गुह, आकाशमें किसी पर्वतसदृश वस्तुको चलते देखा था, क्या योजनबाहुने ही उसे प्रहरण बनाया था।

गुह—दुन्दुभि नामक दैत्यको वानरराजने मारा था, यह उसी का कङ्कालकूट था जिसे कुमार लक्ष्मणने स्थानसे खिसका दिया है ॥ २५ ॥

इसके कारण हो सकता है कि वाली बड़ा उत्पात मचावे ।

लक्ष्मण—इससे क्या ?

---

१ 'पुनर्वालिनो'।

राम —वत्स, मा मैवम्। माननीय खल्वसौ पुराणवीरो महेन्द्रसूनु। (गुह प्रति।) कुत पुनरागच्छतो वत्सस्य योजनबाहुरन्तराय सवृत्त।

गुह —देव, व्योमयानेन सत्वरमपक्रामति रावणे सीतादेव्या —

राम —(¹साशङ्कमात्मगतम्।) किं पुनरस्या।

गुह —यदुत्तरीयमुत्प्लुत्य हनूमानग्रहीत्, ²तदेतदेव गुणानुरागिणा कुमारसुग्रीवेण सभाजयितुमुपस्थितवतो मम हस्ते देवस्य प्राभृतीकृतम्। (इति रामस्य हस्ते सीताया उत्तरीयमर्पयति।)

राम —(गृहीत्वा हृदये निधाय। सास्रम्।) हा देवि विदेहराजनन्दिनि, कथमुत्तरीयशेषा दृश्यसे। (इति निमीलिताक्षो ³लक्ष्मणमवष्टभ्नाति।)

पुराणवीर प्राचीन प्रसिद्धश्च शूरो महेन्द्रसूनु इन्द्रपुत्रो वाली। आगच्छत आश्रम प्रत्यावर्तमानस्य। वत्सस्य लक्ष्मणस्य। योजनबाहु दनुकबन्ध। अन्तराय मार्गरोधको विघ्न।

व्योमयानेन आकाशमार्गेण, सत्वरम् वेगेन। अपक्रामति पलायमाने। साशङ्कम् सीतादेव्या इत्यर्धोक्ते किंजातमिति शङ्का।

उत्तरीयम् ऊर्ध्ववस्त्रम्। गुणानुरागिणा गुणैकपक्षपातिना। सभाजयितु भवन्त सत्कर्तुम्। उपस्थितवत समायातस्य। प्राभृतीकृतम् उपहाररूपेण दत्तम्। 'प्राभृत तु प्रदेशनम्' इत्यमर।

उत्तरीयशेषा उत्तरीयमात्रावशेषा, केवलमुत्तरीयमेव दृश्यते न त्वमिति खेदस्य विषय इत्यर्थ।

राम—वत्स ऐसा मत कहो, इन्द्रपुत्र तथा पुराणवीर वाली हमारे आदरके योग्य हैं, (गुहके प्रति) तुम कहांसे आ रहे थे कि बीचमें योजनबाहु आ खड़ा हुआ था?

गुह—आकाशमार्गसे रावण वेगसे भागा जा रहा था तब सीतादेवीके—

राम—(साशङ्क स्वगत) उसको क्या?

गुह—जिस उत्तरीयको उछलकर हनुमानने ले लिया था, मैं हनुमानके पास सुग्रीवको धन्यवाद देने गया था तब हनुमानने आपको अर्पित करनेके लिए वह उत्तरीय मुझे दे दिया है॥ (रामके हाथमें सीताका उत्तरीय अर्पित करता है)

राम—(लेकर तथा हृदयसे लगाकर) (रोते हुए) हा देवि, विदेहराजपुत्रि, अब

---

१ '(साशङ्कम्।) किं तस्या' 'विस्मया'। २ 'तदेतदेव'। ३ 'अवलम्बते'।

लक्ष्मण —(निःश्वस्य ।) सखे निषादराज, कुशलं सुग्रीवस्य ।

गुह —अद्य त्वयि वार्तामनुयुञ्जाने ।

राम —(स्वगतम् ।)

जानन्नेव दशाननोऽपहरते न प्रेयसीमस्ति 'वा
चन्द्रापीडमुपासितुं स हि शिरोदाम स्वयं कृत्तवान् ।
तत्त्रासो रजनीचरस्य न पुनः कण्ठाटवीकर्तना-
द्धिग्बाणैर्मम चन्द्रहासहतकक्षुण्णोऽयमध्वा वृतः ॥२६॥

वार्तामनुयुञ्जाने कुशलं पृच्छति सति, यदद्य त्वं सुग्रीवस्य कुशलं पृच्छसि तदेतेन तव कुशलप्रश्नेन सम्भावितसाहाय्यकोऽसौ कुशलमनुभवतीत्यर्थः ।

जानन्नेवेति । दशाननः रावणः न अस्माकं प्रेयसीम् प्रियतमां सीताम् जानन् एव एतेन कर्मणा भाविनं स्वविनाशं विदन् नैव अपहरते चौर्येण स्वपुरीं नयति, अस्ति वा युज्यते एतत्, हि यतः स रावणः चन्द्रापीडं चन्द्रभूषणम् उपासितुम् आराधयितुम् स्वं शिरोदाम निजां शिरःपरम्पराम् स्वयं कृत्तवान् निजहस्तेन खण्डितवान् तत् तस्मात् रजनीचरस्य रावणस्य पुनः कण्ठाटवीकर्तनात् पुनः शिरश्छेदनात् त्रासो भयं न । धिक्, खेदास्पदमिदं यत् मम बाणैः शरैः चन्द्रहासहतकेन अतिनिराशेन चन्द्रहासनाम्ना रावणखड्गेन क्षुण्णोऽभ्यस्तः अध्वा वृतः प्रार्थितः । रावणो निजनाशं जानन्नेव सीतां हरति, युक्तमिदं यतोऽसौ रावणः स्वयं स्वकण्ठानां छेदनं कृतवानसौ कण्ठच्छेदविषये निर्भयः, खेदस्य त्वयं विषयो यन्मम बाणैश्चन्द्रहासकृतं रावणशिरश्छेदनात्मकमेव कार्यं कर्तव्यत्वेन वृतमित्यर्थः ॥ २६ ॥

केवल तुम्हारा उत्तरीय ही देख रहा हूँ। (आँखें बन्द करके लक्ष्मणको पकड़ते हैं)

लक्ष्मण—(साँस लेकर) सखे निषादराज, सुग्रीव तो सकुशल हैं ?

गुह—आज जब आप कुशल पूछ रहे हैं तब उनका कुशल ही है।

राम—(स्वगत) रावणने जान-बूझकर ही मेरी प्रियतमाका अपहरण किया है, उसको शिरश्छेदका भय नहीं है क्योंकि उसने शिवकी आराधनामें स्वयम् अपने मस्तक काट दिये थे। धिक्कार है हमारे बाणोंको जिनको चन्द्रहास द्वारा क्षुण्ण मार्ग अपनाना है॥

१ 'अस्तु'।

लक्ष्मण—आर्य, [1]कथमस्मासु वनौकसोऽपि सौजन्यमनुरुध्यन्ते ।

राम—किमुच्यते । सुग्रीव सनाभिरयमस्माकम् । अस्य हि प्रभवो [2]भगवानैक्ष्वाकस्य राजर्षिवंशस्य प्रसविता सहस्रदीधिति । (हृदयस्थमुत्तरीयं दृष्ट्वा ।) वत्स गुह, स्पृहयामि सुग्रीवहनूमतोर्दर्शनाय । तदृष्यमूकगामिनं [3]मार्गमावेदय ।

गुह—(सहर्षमात्मगतम् ।) कथमचिरादेव फलवती जाम्बवतो मन्त्रशक्ति । (प्रकाशम् ।) इत इतो मतङ्गाश्रमवर्त्मना देव ।

(इति सर्वे परिक्रामन्ति ।)

गुह—देव, पश्य पश्य ।

विदधति मुदमक्ष्णोर्नूतनानूपनीप-
　　प्रहसनसहचर्यान्नित्यनृत्यन्मयूरा ।

वनौकस वनवासिनो वानरादय । सौजन्यम् सद्भावम् । अनुरुध्यन्ते कामयन्ते ।

सनाभि सगोत्र । सुग्रीवस्य सूर्यपुत्रतया सनाभित्वमभिप्रेतं रामेण । अस्य सुग्रीवस्य । प्रभव जनक । प्रसविता उत्पादक । सहस्रदीधिति सूर्य । स्पृहयामि इच्छामि । आवेदय कथय । फलवती सफला । मन्त्रशक्ति मन्त्रणा । (जाम्बवान् रामसुग्रीवयो सख्य सम्भावयतिस्म, रामस्य सुग्रीवदर्शनस्पृहोदयात् तत्साफल्य प्रतीक्षितं कृतम् ॥

विदध-।नि　नूतनानां नवविकसितानाम् अनूपनीपानाम् जलप्रायदेशस्थ कदम्बानाम् प्रहसन विकासस्तत्सहचर्यया तत्सहवासेन नित्य सततं नृत्यन्तो

लक्ष्मण—आर्य, हमारे साथ यह वन्यजन्तुगण क्यों सौजन्य प्रकाशित किया करते हैं ?

राम—इसमें क्या कहना है ! सुग्रीव हमारे सवंश्य हैं, क्योंकि उनके भी जन्मदाता वही सूर्य हैं जो इक्ष्वाकुवंशके प्रवर्तक हैं । (हृदयस्थ उत्तरीयकी ओर देखकर) सुग्रीव तथा हनूमानको देखनेके लिए तरस रहा हूँ । अत मुझे ऋष्यमूक जानेवाला मार्ग बताओ ।

गुह—(सहर्ष स्वगत) क्यों, जाम्बवानकी मन्त्रणा शीघ्र ही सफल हो रही है । (प्रकट) इधरसे मतङ्गाश्रम होकर आप जा सकते हैं ।

(सभीका प्रस्थान)

गुह—देव, देखिये—नवीन विकसित नूतन और जलप्राय देशस्थित नीप वृक्षोंके साहचर्यसे जहाँ मयूर नृत्य किया करते हैं ऐसे फल भरे जम्बुकुञ्जोंमें शब्दायमान

---

१ 'किमस्मासु' ।　२ 'भगवान्' इति क्वचिन्नास्ति ।　३ 'मादेशय' ।

फलपुलकितजम्बूकुञ्जकूजत्कपोत-
प्रियशबरपुरन्ध्रीबन्धवो विन्ध्यलेखाः ॥ २७ ॥

राम —(सर्वतो निरूप्य । समेदम् ।)

समन्तादुन्मीलद्बहललहरीलङ्घनकला
लघुप्रेङ्खत्पम्पानिलविदलदेलासुरभयः ।
अविद्यावैदेहीशतलिपिकरीणां मम धियां
अमी हस्तालम्बं विपिनविनिवेशा विदधते ॥ २८ ॥

मयूरा यासु तथोक्ताः, तथा फलैः पुलकिताः पूर्णा ये जम्बूकुञ्जा जम्बूकाननानि तेषु कूजन्तः शब्दायमाना ये कपोताः पारावताः तत्प्रियाणां स्नेहिनीनां शबरपुरन्ध्रीणाम् व्याधाङ्गनानाम् बान्धवा मित्रभूता विन्ध्यलेखा विन्ध्यपर्वतमाला अधुना दर्शकजननयनयोः मुदम् प्रीतिं विदधति कुर्वन्ति । जलप्रायदेशस्थप्रत्यग्रप्रफुल्लकदम्बकुसुमसहवासनृत्यन्मयूरास्तथा फलपूर्णजम्बूवनशब्दायमानकपोतप्रियशबरवधूमित्रभूता इमा विन्ध्यपर्वतमाला दर्शकलोचने तर्पयन्तीत्यर्थः । 'जलप्रायमनूपं स्यात्' इत्यमरः । मालिनीवृत्तम् ॥ २७ ॥

समन्तादिति । समन्तात् सर्वतः उन्मीलन्तीनां प्रसरणशीलानां बहलानां बहुसंख्यानाम् लहरीणां तरङ्गाणां लङ्घनकलया अतिक्रमणक्रियया लघु क्षिप्रं प्रेङ्खन् सञ्चरणशीलो यः पम्पानिलः पम्पासरोवरवायुस्तेन विदलन्तीभिः विकसन्तीभिः एलाभिः सुरभयः सुगन्धपूर्णाः, अमी विपिनविनिवेशाः वनप्रदेशाः अविद्यावैदेहीशतस्य मिथ्याकल्पितसीताशतस्य लिपिकरीणां सर्वासु दिक्षु सीतामेव भावयित्वा चित्रयन्तीनाम् मम धियां बुद्धीनाम् हस्तालम्बं साहाय्यकं विदधते । सर्वतो विसृमरबहलतरङ्गावलीसञ्चरणप्रेरितपम्पासरोवातसम्पर्कविकसितैलाकुसुमगन्धपूर्णा अमी विन्ध्यवनप्रदेशाः सर्वतः भावनोपनीतसीताचित्रनिर्माणपरायणाया

कपोतसे स्नेह करनेवाली शबरियोंके प्रिय यह विन्ध्य वनके प्रदेश आनन्द उत्पन्न करते हैं ॥ २७ ॥

राम—(चारों ओर देखकर, सखेद) मिथ्या वैदेहीकी कल्पना करनेवाली हमारी बुद्धिको यहाँके वनसन्निवेश सहायता प्रदान कर रहे हैं जो वनसन्निवेश चारों ओर प्रसारित होनेवाली तरङ्गोंको लाँघकर धीरे धीरे बहनेवाली वायुसे विकसित इलाची सुगन्धियोंसे परिपूर्ण हैं ॥ २८ ॥

१ 'जाम्बवना'।　　२ 'विन्ध्यपादा'।

लक्ष्मण—आर्य, इतस्तावत्।

भयभ्रष्टप्रेयोविरहनिरहंकारहरिणी-
मुखालोकोन्मीलद्गुरुकरुणरुग्णां सहचरीम्।
विलोक्य म्लेच्छन्तीमलमलमिति प्राक्प्रणिहित[1]
शरव्याल्लुब्धाना हृदयमपराद्ध न तु शरा ॥ २९ ॥

राम—(साम्रम्।) हा देवि जानकि,
मारीचमृगयाव्यग्रे मयि प्राप्ते च रावणे।

मम प्रिय सहायतामिव कुर्वन्ति, इमान् वनोद्देशान् निरीक्ष्याहमनवरत सीतामेव भावयन् दशापि दिश सीतामयी पश्यामीति तात्पर्यम्। शिखरिणीवृत्तम् ॥ २८ ॥

भयभ्रष्टेति। भयेन भ्रष्टस्य पलायितस्य प्रेयस प्रियतमस्य विरहेण निरहङ्कारा गतगर्वा विषादयुक्ता या हरिणी मृगी तस्या मुखालोकेन दर्शनेन उन्मीलन् जायमानो यो गुरुर्महान् करुण शोको दया वा तेन रुग्णा व्यथमानमानसाम् अलम् अलम्, मैव, मैना हिंसीरिति म्लेच्छन्तीं चारभाषया निषेधन्तीम् सहचरीम् प्रियाम् विलोक्य दृष्ट्वा लुब्धाना व्याधाना हृदय शरव्यात् लक्ष्यतः मीतात् तस्स प्राणिन स्खलति अन्यत्र याति, शरा तत्सहिता शरा बाणास्तु न स्खलन्ति नान्यत्र यान्ति तैरसौ प्राणी व्यापाद्यत एव तेषा पूर्वसहिततया लक्ष्यवेधस्यावश्य भावित्वादिति भाव। व्याधभयभ्रष्टसहचरविरहविषण्णमृगीमुखालोकोदयद्दयया प्रियया मैना हिंसीरिति निषिध्यमानस्य व्याधस्य स्वप्रियामुखमुदितकरुण निरीक्ष्य हृदये ततो लक्ष्यादन्यत्र गामिनि सत्यपि पूर्वसहितास्तच्छरा न लक्ष्यादपराद्धा भवन्तीति बोध्यम्। शिखरिणीवृत्तम् ॥ २९ ॥

मारीचेति। मयि रामे मारीचमृगयाव्यग्रे काञ्चनमृगरूपधारिमारीचवधोद्यते

लक्ष्मण—आर्य, इधर देखिये,

भयसे भागे हुए प्रियतमके विरहसे दुःखिनी हरिणीके मुखको देखकर दयाकुल होने वाली अपनी सहचरीको देखकर भी उसके द्वारा प्रहार करनेके निषेधके किये जानेपर भी शिकारी शबरोंका हृदय लक्ष्यसे चूक जाता है परन्तु उनके *बाण* लक्ष्यसे नहीं चूकते ॥२९॥

राम—(साश्रु नयन होकर) हा देवि जानकि,

मैं जब मारीचकी शिकारमें चला गया और रावण आ पहुँचा, तब तुम्हारी आँखें

---

१ 'प्रणिहिता'।

आसामिव कुरङ्गीणां तवोत्पश्यामि लोचने ॥ ३० ॥

लक्ष्मणः—(स्वगतम् ।) कः पुनरुपायो येन [1]विनोद्यते हृदयमार्यस्य ।

(नेपथ्ये ।)

भो भो वनौकसः, कथयन्तु भवन्तः । [2]केनास्मत्कीर्तिकामिनीकेलिचङ्क्रमणक्रीडापर्वतो विवर्तितोऽयं दनुराजकङ्कालकूटः ।

गुहः—(दृष्ट्वा । सभयसम्भ्रमम् ।) देव, पश्य पश्य । कनकमयसहस्रपत्रपुण्डरीकनैकस्रक्प्रभापटलेन[3] दुन्दुभिकरङ्कव्यतिकरजन्मना च

गते रावणे च प्राप्ते उटजद्वारमागते सति तव लोचने नयने आसां व्याधहस्तगतानां भयभ्रष्टपतिकानां च कुरङ्गीणां हरिणीनां लोचने इव कातरे सखेदे च उत्पश्यामि सम्भावयामि । यथामूषां मृगीणां नयने कातरे सखेदे च तथैव मयि मृगयार्थं दूरगते रावणे च प्राप्ते सति तवापि नयने कातरे सखेदे चाभूतामिति मम सम्भावनेति भावः ॥ ३० ॥

विनोद्यते सान्त्वनां प्राप्यते ।

अस्मदिति । अस्माकं कीर्त्तिः यशः सैवातिशयकान्त्यातिरेव कामिनी वनिता तस्याः केलिचङ्क्रमणं लीलाविहारः तदर्थं क्रीडापर्वतः कृत्रिमपर्वतः, विवर्त्तितः-विपर्यस्य विघटितः । दनुराजकङ्कालकूटः-दानवास्थिचयः । अयं कङ्कालकूटो मत्कीर्तिरूपाया नायिकायाः क्रीडाविहाररूपतया स्थितः केनाद्य विघटित इत्यर्थः ।

कनकेति । कनकमयानां स्वर्णमयानां सहस्रपत्रपुण्डरीकाणां सहस्रदलकमलानां नैकविधं बहुसि तिर्यग्न्यस्तं माल्यं तस्य प्रभापटलेन कान्तिसमूहेन । दुन्दुभेः दानवभेदस्य करङ्कः कङ्कालः तस्य व्यतिकरो विपर्यासः तज्जन्मना तदु

भी इन्हीं हरिणियोंकी आँखोंके समान हो गई होंगी, ऐसी मैं सम्भावना करता हूँ ॥३०॥

लक्ष्मण—कौन सा उपाय है जिससे आपके हृदयको बहलाया जा सके ।

(नेपथ्यमें)

हे वनवासियों, आप बतावें कि किसने हमारी कीर्तिकामिनीके क्रीडापर्वतरूप इस दनुराज कङ्कालराशिको उलट दिया है ।

गुह—(देखकर सभय) देव देखिये, कनकमय कमलकी कान्ति समुदायसे और दुन्दुभिनामक दैत्यके कङ्काल-राशिके उलटाये जानेसे उत्पन्न कोपसे तिगुना रक्तवर्ण शरीर

१ 'विनोदयते'। २ कामिनीचङ्क्रमणकेलिपर्वत'। ३ 'प्रभामण्डलेन'।

रोषरागेण त्रिगुणपिशङ्गीं तनुमादधान प्लवगराजोऽयमित एवाभिवर्तते।
पौलस्त्यावयवौघसंकटभुजामूलक्षणोन्मूलित
द्वैराज्याममरावतीं कृतवते वीराय यस्मै हरिः ।
नित्यालोकनकौतुकव्यसनिनी शङ्के सहस्रं दृशः
पिण्डीकृत्य दलच्छलेन कनकाम्भोजस्रजं दत्तवान् ॥३१॥

दितेन रोषरागेण कोपजनितलौहित्येन त्रिगुणपिशङ्गीम् त्रिधापिशङ्गवर्णाम्, (वानरस्य तनुः स्वतः पीतरक्ता पिशङ्गी, सा हि स्वर्णकमलमाल्या पुनः पिशङ्गी कृता पुनश्च सैव दनुकङ्कालविपर्यासजन्यकोपजनितलौहित्येन पिशङ्गीकृतेति त्रिधापिशङ्गी तत्तनुरत्र निर्दिष्टा) 'वैकक्षिकं तु तत्, यत्तिर्यक् क्षिप्तमुरसि' इत्यमरः । 'कङ्को मस्तकास्थिनि' इति च । प्लवगराजः-वानराधीशो वाली इत एवाभिवर्त्तते-एतदभिमुखमेवायाति ॥

पौलस्त्येति । हरिः इन्द्रः पौलस्त्यस्य रावणस्य अवयवौघेन करचरणाद्यवयवसमुदायेन सङ्कटं व्याप्तं यत् भुजामूलं कक्षप्रदेशः तेन उन्मूलितम् समापितम् द्वैराज्यम् राजद्वयाधिष्ठितत्वं यस्यास्तां तथोक्ताम् अमरावतीं शक्रपुरीं कृतवते यस्मै वीराय वालिने नित्यालोकनकौतुकव्यसनिनी पुत्रस्य वालिनः सर्वदा विलोकनाय कौतुकव्यसनिनी समासक्ता दृशः स्वीयनयनानि दलच्छलेन कमलदलव्याजेन पिण्डीकृत्य समाहृत्य कनकाम्भोजस्रजं कनककमलमाल्यं दत्तवान्। वाली रावणं कक्षे निधाय सप्तसु समुद्रेषु स्नानपूर्वकं सन्ध्यावन्दनमन्वतिष्ठत्, तावत् कालपर्यन्तं स्वर्गस्य द्वैराज्यमपगतं, सति रावणे बहिःस्थे स्वर्गे शक्रस्य रावणस्य च समेऽधिकारे तत्र द्वैराज्यमिवासीत्, तदियतेऽपि कालाय स्वर्गे इन्द्रस्यैकाधिपत्यं स्थापयित्वा वाली स्वपितरं शक्रं सन्तोषितवान्, सन्तुष्टेन पित्रा वालिने कनककमलमाल्यं वितीर्णं शङ्के न तत्कनककमलमाल्यं किन्तु पुत्रदिदृक्षाव्याकुलानि इन्द्रस्य सहस्रं नयनान्येव मालाभावापन्नानि सन्तीति भावः ॥३१॥

लिए यह वानरराज इधर ही आ रहे हैं।

रावणके अवयव-समुदायसे व्याप्त भुजमूल वाला होकर इस वालीने कुछ देरके लिए स्वर्गको द्वैराज्य भयसे मुक्त कर दिया था इसीलिये इन्द्रकी हजार आँखें इस वालीको सतत देखते रहना चाहती थीं, तब इन्द्रने उन आँखोंको पत्र रूपमें परिणत करके सहस्र कमलका माल्य वालीके गले डाल दिया था ॥ ३१ ॥

---

१ 'तस्मै'। २ 'मन्ये'।

[1]क्षणं च देवस्य महावीरसंवादगोष्ठीयमृष्यमूकयात्रामन्तरयिष्यति। [2]तदहमग्रतो गत्वा दिष्ट्या वर्धयामि सूर्यतनयम्।

रामः—एवमस्तु।

गुहः—वाचिकं पुनरेतत्कुमारसुग्रीवस्य यत् 'मित्त्रपर्यायान्तरितं देवस्य दास्यमिच्छामि' इति।

रामः—(अपवार्य।) वत्स लक्ष्मण, एवमाह वयस्यस्ते गुहः। किं च [3]मन्त्रोत्साहसंपन्नानामपि प्रभुशक्तिमपेक्षन्ते सिद्धयः। तदहं वालि-

---

महावीरसंवादगोष्ठी-वीरेण वालिना सह वार्तालापः। ऋष्यमूकयात्रामन्तरयिष्यति-विलम्बयिष्यति॥

दिष्ट्या सौभाग्येन, रामस्त्वया सह मिलितुमागच्छतीति सौभाग्यसूचनयेत्यर्थः। वर्धयामि सौभाग्यभाजं करोमि। सूर्यतनयम् सुग्रीवम्।

वाचिकम् सन्देशवाक्। मित्रपर्यायान्तरितम् मित्रशब्दनिगूढम्। देवस्य भवतः। कुमारसुग्रीवः सन्दिशति यदहं भवतो रामस्य दास्यं कामये, यद्यपि मम दास्यं मित्रतया निगूहितं स्थास्यति तथापि मनसाऽहं दास एवास्मीति भावः।

एवमाह—पूर्वोक्तस्वरूपं सुग्रीवसन्देशं कथयतीत्यर्थः। मन्त्रोत्साहसम्पन्नानां मन्त्रशक्त्या उत्साहशक्त्या च युक्तानाम्। सिद्धयः साफल्यानि। प्रभुशक्तिम्-कोषदण्डजं तेजः। अपेक्षन्ते स्वजन्मनि कारणतयेच्छन्ति। मन्त्रोत्साहशक्ती यद्यप्यस्मासु विद्येते परं प्रभुशक्तिर्नास्ति, न च तामन्तरा कार्यं सिद्ध्यति, सिद्धेः शक्तित्रयजन्यत्वात् अतो मया सुग्रीवेण सन्धिं कृत्वा यदि प्रभुशक्तिरासादिता भवति

क्षणभर आपको इस वीरके संवादमें चित्रकूट यात्राके प्रति विघ्न होगा। अतः मैं आगे बढ़कर सूर्यपुत्रको सौभाग्य सूचनासे अभिवर्धित करता हूँ।

राम—यही हो।

गुह—कुमार सुग्रीवने इतना मौखिक संवाद भी कहा था कि मैं रामका मित्र शब्दमें छिपा दास्य प्राप्त करना चाहता हूँ।

राम—(छिपाकर) वत्स, तुम्हारा मित्र गुह इस तरह कह रहा है। मन्त्रोत्साह सम्पन्न होनेपर भी सिद्धिके लिए प्रभुशक्तिकी अपेक्षा होती है। अतः मैं वालिके स्थान

---

१ 'क्षणं च वीरसंवाद-'। २ तदयम्'। ३ 'मन्त्रोत्साहशक्ति-'।

स्थाने [1]सुग्रीवमभिषिच्य तत्कोषदण्डाभ्यां समग्रशक्तिर्वैरपारं गन्तुमिच्छामि।

लक्ष्मणः—(सस्मितम्।) यद्येवमुपयुज्यमानमिन्द्रसूनुमुपेक्ष्य सुग्रीवेणोपयोक्ष्यमाणेन सन्धिरिति वक्रः खल्वयं पन्थाः।

रामः—(सस्मितम्।) वत्स, [2]साध्वेव भणसि। किं तु।

दृप्यत्पौलस्त्यकण्डूभिदुरभुजभरोष्मायमाणः कपीन्द्रो
नायं नः संदधीत क्वचिदपि हि विधौ नैष साहाय्यकामः।
सोऽहं [3]सुग्रीवमेतद्दमनदृढतरं मित्रमिच्छामि पश्चात्

तदा सिद्धिः सुलभा निश्चिता चेति। वालिस्थाने वालिनाऽधिष्ठिते राज्ये। तत्कोषदण्डाभ्याम्–सुग्रीवस्य धनेन सैन्येन च। समग्रशक्तिः पूर्णशक्तिः, मन्त्रोत्साहप्रभावाख्यशक्तित्रययुक्तः। वैरपारं गन्तुमिच्छामि वैरं शोधयितुं कामये।

यद्येवम्—यदि भवान् प्रभुशक्तिं लब्धुं सुग्रीवेण सन्धिं करोति तदा। उपयुज्यमानम् सम्प्रत्येव प्रभुशक्तिं समर्पयितुं क्षममाणम्। इन्द्रसूनुम्–वालिनम्। उपयोक्ष्यमाणेन लब्धे राज्ये प्रभुशक्तिं दातुं समर्थीभविष्यता। वक्रः कुटिलः। वाली सम्प्रति सहायतां कर्तुं प्रभुः, तं विहाय पश्चात्सहायतां कर्तुं क्षमिष्यमाणेन सुग्रीवेण सन्धिः कुटिलो मार्गः चिरेण लभ्यप्रायत्वादिति भावः।

दृप्यदिति। दृप्यतः सगर्वस्य पौलस्त्यस्य रावणस्य कण्डूतिभिदुरः रणकण्डूतिविनाशकारी यो भुजभरः बाहुबलम् तेन ऊष्मायमाणः तेजःशाली अयं कपीन्द्रो वाली नः अस्मान् न सन्दधीत न सन्धिना गृह्णीयात्, हि यतः वाली क्वचिदपि विधौ कुत्रापि कार्ये नैव साहाय्यकामः सहायतां नापेक्षते, सोऽहं वालिनः साहाय्यनिरपेक्षतया सन्धातुमशक्यत्वेन एतस्य वालिनो दमनेन विनाशनेन दृढतरं बलवत्तमं सुग्रीवम् मित्रमिच्छामि मित्रं कर्तुमिच्छामि,

पर सुग्रीवका अभिषेक करके सुग्रीवके कोष तथा दण्डसे पूर्ण शक्ति बनकर वैरका पार पाना चाहता हूँ।

लक्ष्मण—यदि यही बात है तो वर्तमानमें सहायक हो सकने वाले बालीको छोड़कर भविष्यमें सहायक हो सकने वाले सुग्रीवके साथ सन्धि करना तो टेढ़ा रास्ता है।

राम—(हँसकर) वत्स तुम भी ठीक ही कहते हो, किन्तु—

दर्पपूर्ण पौलस्त्यकी खुजलाहटको दूर करनेवाले भुजोंसे युक्त यह बालि हमसे सन्धि

1 'आधाय'। 2 'साध्वेव'। 3 'दृढतरम्'।

पारस्त्रैणेयपुत्रव्ययशिथिलशुचं शक्रमाराधयामि ॥ ३२ ॥

लक्ष्मण—'साधुदर्शिनी बुद्धिरार्यस्य । किं च विधूतशापेन दनुनापि देवभूयं गतिमभिलम्भितेन सन्दिष्टमार्यस्य यथा 'अस्य निषादपतेर्वचसि देवेनावधातव्यम्' इति ।

राम—तद्गुहोऽपि प्रतिदूत्यमर्हति ।

लक्ष्मण—(गुहं प्रति ।) वयस्य, एवमस्मद्गिरा सुग्रीवो वक्तव्यः—

पश्चात् सुग्रीवमैत्रीद्वारा स्वकार्ये साधिते सति पारस्त्रैणेयस्य परकीयस्त्रिया लब्धजन्मनः पुत्रस्य व्ययेन विनाशेन शिथिलशुचं शिथिलशोकं शक्रम् इन्द्रम् आराधयामि परमार्थबोधनद्वारा प्रसादयामि । रावणविजयसगर्वस्यास्य वालिनः स्वापि विषये मत्साहाय्यानपेक्षतया सन्धातुमशक्यतया वालिनिग्रहं कृत्वा तत्त्वत्तरी कृतं कृत्वा प्रभुशक्तिसम्पत्तिमवाप्याहं सम्प्रति रावणेन सह जातं वैरं निर्यातयितुमिच्छामि, पश्चाच्च वास्तविकपरिस्थितिबोधनद्वारा परस्त्रीगृहीतजन्मनः पुत्रस्य वालिनो वधेन किञ्चित् कुपितं शक्रं प्रसादयिष्यामीति भावः, 'पारस्त्रैणेयस्तु परस्त्रियाः' इत्यमरः ॥ ३२ ॥

साधुदर्शिनी यथावद्वस्तुसाक्षात्कारकरी । आर्यस्य रामस्य बुद्धिः । विधूतशापेन लक्ष्मणाद्वारा निवृत्तशापेन । दनुना तन्नाम्ना राक्षसेन देवभूयम् देवत्वम् । गतिमभिलम्भितेन मरणोत्तरकालभाविस्वरूपं गतिं तां प्रापितेन । आर्यस्य भवतो रामस्य सन्दिष्टम् वाचिकमुक्तम् । अवधातव्यम् ध्यानं दातव्यम् ।

प्रतिदूत्यं प्रतिदूतकर्म । यथा सुग्रीवम् इमं दूतभावेन प्रेषितवान्, तथाऽहमपि इममत्र सुग्रीवं प्रति प्रतिदूतभावेन प्रेषयामीत्यर्थः ।

नहीं करना चाहेगा, क्योंकि उसको हमारी सहायता अपेक्षित नहीं है। अतः मैं चाहता हूँ कि इसके दमनसे दुःखी हो जानेवाले सुग्रीवको मित्र बना लूँ, पीछे परस्त्री गर्भोत्पन्न पुत्रके मरणसे दुःखी इन्द्रको प्रसन्न कर लूँगा ॥ ३२ ॥

लक्ष्मण—आर्य, आपकी बुद्धि ठीक सोचती है। शापके समाप्त हो जाने पर देवत्वको प्राप्त करके उस दनुराक्षसने भी आपको सवाद कहा था कि आपको निषादपतिकी बातोंपर ध्यान देते रहना चाहिये।

राम—तब हमको गुहको प्रतिदूतके रूपमें भेजना चाहिये।

लक्ष्मण—(गुहसे) वयस्य, हमारी ओरसे तुम सुग्रीवसे यह कहना—

---

१ 'आराधयाव,' 'आराधयाम'। २ 'साधुदर्शीया'। ३ 'गतिं लम्भितेन'।

'पिताऽय रेतोधास्तव तरणिरस्मत्कुलगुरु-
मनुर्वैमात्रेयस्तदपि सहज मित्रमसि न ।
अथापि ज्ञातेय शिथिलयसि 'कापेयचपल
शरास्तन्मे वालिक्षतजरसलोला प्रतिभुव' ॥ ३३ ॥

राम —(विहस्य ।) वत्स 'गुह, एष खलु पौलस्त्यगतेनामर्षेण धूमायमानो यथा कयाचिद्वाचा सौमित्रिरभिदधातु नाम । सततसमिध्यमानजानकीविरहवैश्वानरेण रामचेतसा पुनरभिसाक्षिकमेव सुग्रीवो मित्रमभ्युपगत ।

पिताऽयमिति । अस्माक कुलगुरु अस्मद्वशप्रवर्त्तक अय तरणि सूर्यस्तव रेतोधा वीर्याधानकर्त्ता पिता, मनु अस्मत्पूर्वपुरुष तव वैमात्रेय विमातृगर्भजो भ्राता, तत् त्व न अस्माक सहज स्वाभाविक मित्रम् बन्धु असि, समानवशजातस्य तव मया सह स्वाभाविक बन्धुत्वमस्तीति मम कार्यविषये त्वया सम्यगुपक्रियमाणे नावश्यमवधातव्यमित्यर्थ । अथापि कापेयचपल कपिस्वभावचञ्चल सन् यदि ज्ञातेय ज्ञातिभाव सम्बन्धिकर्त्तव्य शिथिलयसि त्यजसि तत् तदा मे मम वालिक्षतजस्य शोणितस्य रसे आस्वादे लोला लुब्धा शरा प्रतिभुवो लग्नका । यदि सवश्यो मया सम्यगुपकृतश्च त्व कपिस्वभावोपनतचापल्येनास्मत्कार्येऽनवधानमाचरसि तदा वालिशोणितपानलुब्धा मम शरास्तवापि दशा वालिनो दशामिव विधास्यन्तीति भाव । 'सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजना समा । ज्ञातेय बन्धुता तेषा क्रमाद् भावसमूहयो ' इत्यमर ॥ शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३३ ॥

पौलस्त्यगतेन—रावणविषयकेण । अमर्षेण कोपेन । धूमायमान –धूममुद्वमन्, कोपवशादुद्भ्रित्तभाव, विवेकपर्यास्तभावितच्युति । यथा कयाचिद्वाचा—किमपि वक्तव्यमनक्त्य वा । अभिदधातु कथयतु । सततम् अनवरतम्, समिध्यमान –प्रज्वलन्, जानकीविरह सीतावियोग एव वैश्वानर अग्निर्यत्र तथाभूतेन । राम चेतसा रामस्य हृदयेन, लक्ष्मणो रावणे कोपेन यथा तथा भूता नाम परमहन्तु

तुम्हारे वीर्यदाता पिता हमारे कुलगुरु हैं, मनु तुम्हारे वैमात्रेय भाई हुए, अत तुम हमारे सहज मित्रोंमें हो । फिर भी यदि कपि-स्वभाव चापल्यसे तुम ज्ञातिभावको शिथिल करोगे तो वालिके रुधिरमे रञ्जित हमारे शर इसके न्यायकर्त्ता होंगे ॥ ३३ ॥

राम—(हसकर) वत्स गुह रावणविषयक कोपसे प्रज्वलित हृदय यह लक्ष्मण

१ 'तरल'। २ 'वयस्य'।

गुह —(सहर्षम् ।) परमनुगृहीतोऽसौ देवेन विकर्तनतनयः । (सपरिहासस्मितं च ।)

सुग्रीवे यदि पक्षपातमधुरं देव त्वदीयं मनः
    किं नस्तेन विदांकरोतु भगवानम्भोजिनीवल्लभः ।
नव्येनात्मजराज्यलाभरभसोद्भूतेन यस्तेजसा
    पूर्वस्मादधिकेन दुःसहतरो लोकेषु वर्तिष्यते ॥ ३४ ॥

लक्ष्मण —(विहस्य ।) कथं तपनतनयस्य राज्यमङ्गीकारिता वयं वयस्येन ।

सीतावियोगाग्निं मनसि प्रज्वलन्तं साक्षिणं कृत्वा सुग्रीवं मित्रं स्वीकृतवानित्यर्थः । परमनुगृहीतः अत्यनुकम्पितः । विकर्तनतनयः सूर्यपुत्रः सुग्रीवः ।

सुग्रीव इति । हे देव, त्वदीयं मनो यदि सुग्रीवे पक्षपातमधुरम् स्नेहशालि, नः अस्माकम् तेन किम्-तत्र किमस्माभिः कर्तव्यम्, सत् तव सुग्रीवस्नेहम् भगवान् सर्वसमर्थः अम्भोजिनीवल्लभः कमलिनीकुलप्रियः सूर्यः विदांकरोतु जानातु । यः सूर्यः नव्येन अभिनवेन आत्मजस्य पुत्रस्य राज्यलाभरभसेन राजपदप्राप्तिजन्यानन्देन उद्भूतेन सञ्जातेन पूर्वस्मात् अधिकेन पूर्वतः समधिकेन तेजसा दुःसहतरः अतितीव्रः लोकेषु वर्तिष्यते जायते । यदि त्वं सुग्रीवे स्निग्धमन्तःकरणं बिभर्षि, तत्रास्माकं किमपि नास्ति कर्तव्यमिदं तु पश्यतु स भास्करः पुत्रस्य राज्यलाभेन द्विगुणिततेजाः सन् सम्प्रति दीपिष्यते, इत्यर्थः, एतेन रामसुग्रीवमैत्र्ये सूर्यस्य साक्षिभावस्तत्र च सुग्रीवराज्यलाभः फलमिति वस्तु व्यञ्जितं बोध्यम् ॥ ३४ ॥

तपनतनयस्य सूर्यपुत्रस्य सुग्रीवस्य । अङ्गीकारिता प्रतिज्ञापिता । सुग्रीवाय

चाहे जिन शब्दोंमें कहें, हमने तो अपने हृदयमें समत ज्वलित सीता-विरहानलको साक्षी करके सुग्रीवको मित्र बना लिया ।

गुह—(सहर्ष) आपने सूर्यपुत्रके साथ बड़ी कृपा की । (परिहासकी हँसीके साथ)

यदि आपका हृदय सुग्रीवके ऊपर प्रेमसे भरा है तो इससे हमको क्या, जानें भगवान् सूर्य जो पुत्रके नवीनराज्य लाभसे समृद्ध तेजके द्वारा पहलेकी अपेक्षया अधिक उग्ररूपमें अब तपा करेंगे ॥ ३४ ॥

लक्ष्मण—(हँसकर) हमारे इस मित्रने किस प्रकार सुग्रीवके राज्यलाभकी स्वीकृति हमसे ले ली ।

राम —(सस्मितम् ।) वत्स गुह, न तावत्प्रकाशमेव प्रतिशुश्रूषति मे हृदयम् ।

गुह —(सप्रश्रयस्मितम् ।) स्वामिन्, इयमेव [1]महतां शैली ।

सन्तो मनसि[2]कृत्यैव प्रवृत्ताः कृत्यवस्तुनि ।
कस्य प्रतिशृणोति स्म कमलेभ्यः श्रियं रविः ॥ ३५ ॥

(नेपथ्ये ।)

भो भो वनौकसः, कथयन्तु भवन्तः । दुन्दुभिकङ्कविक्षेपसमाव्यमानगम्भीरावष्टम्भनिर्भरेण केनास्माकमिय चिरस्य भुजकाण्डकण्डूतिरपनेष्यते ।

राज्य दास्याम इति प्रतिज्ञा लम्भिता ॥

प्रकाशम् प्रकटम् । प्रतिशुश्रूषति प्रतिज्ञां कर्तुमिच्छति, मनसि सङ्कल्पितस्यार्थस्य प्रकटप्रतिज्ञां कर्तुं वैयर्थ्यान्नेच्छति।

सन्त इति। सन्तः साधवो जनाः मनसिकृत्य हृदये सङ्कल्प कृत्वा एव कृत्यवस्तुनि स्वकर्तव्ये प्रवृत्ताः तत्पराः भवन्ति, रविः कमलेभ्यः श्रियं लक्ष्मीं कस्य जनस्य पुरः प्रतिशृणोति अङ्गीकरोतिस्म। यथा सूर्यो विनैव प्रतिज्ञां कमलकुलाय लक्ष्मीं वितरति, तथैव भवानपि सुग्रीवाय विनैव प्रकटप्रतिज्ञां राज्यलक्ष्मीं वितरीष्यतीति भावः। विशेषेणात्र सामान्य समर्थितमित्यर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ३५ ॥

दुन्दुभीति। दुन्दुभेः दानवेन्द्रस्य करङ्कविक्षेपेण अस्थिकूटविपर्यासद्वारा गम्भीरः महान् अवष्टम्भनिर्भरः स्वपराक्रमविश्वस्तः तेन। भुजकाण्डकण्डूतिं भुजस्थिता

राम—(हसकर) वत्स गुह, हमारा हृदय प्रकट रूपमें इस तरहको प्रतिज्ञा नहीं करना चाहता है।

गुह—(नम्रताके साथ हसकर) स्वामिन्, यही तो बड़ोंकी शैली होती है,

सज्जन, अपने कर्तव्यको मनमें रखकर ही काममें लगते हैं, सूर्यने कमलोंको शोभा प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा किसके सामने की थी ? ॥ ३५ ॥

(नेपथ्यमें)

हे वनवासियो, आप कहें कि दुन्दुभि कङ्कालके विक्षेपसे समाव्यमान गम्भीर पराक्रमशाली कौन वीर हमारी चिरकालिक भुजकण्डूको दूर करेगा ?

---

१ 'वो महतां'। २ 'कृत्वैव'।

सुग्रीव—(स्वगतम् ।)

मन्ये दर्पामयाविभ्या नित्य दोर्भ्याममर्षण ।
[1]जाम्बवत्प्रेरणाद्दीप्त प्राप्तोऽय प्लवगेश्वर ॥ ३६ ॥

तदहमपि वीरयात्रादर्शनसुख मुहूर्तमनुभवामि ।

(प्रविश्य ।)

वाली—([2]पुरोऽवलोक्य ।) अये, प्रसन्नोज्ज्वलाकृती कावेतौ । नियतमाभ्यामेकेन दानवनाथकङ्कालोत्क्षेपनिमित्तेन भवितव्यम् । (स्मृतिमभिनीय । सवितर्कम् ।) आ सदिष्टमस्मासु प्रियसुहृदा लङ्केश्वरेण । यथा—

'प्रक्लृप्तकान्तारकुमारभक्तिर्दौर्भागिनेयो जनकेन मुक्त ।

रणलिप्सा । कोऽय दनुजकङ्काल विपर्यस्त कृत्वा स्वभुजसार प्रकाश्य मम युद्धाभिलाष पूरयितुमिच्छतीत्याशय ॥

मन्ये इति । दर्पामयाविभ्याम् अहङ्काररूपेण रोगेण ग्रस्ताभ्याम् दोर्भ्याम् निजबाहुभ्याम् नित्यम् सदा अमर्षण कृतकोप जाम्बवतो नाम मन्त्रिण प्रेरणया अनुशासनेन दीप्त प्रज्वलितश्च सन् अयम् प्लवगेश्वरो वाली प्राप्त समागत इति मन्ये सभावयामि ॥ ३६ ॥

वीरयात्रादर्शनसुखम् वीराणा युद्धप्रयाणावलोकनजन्यमानन्दम् ।

प्रसन्नोज्ज्वलाकृती सौम्यतेजस्विनौ । नियतम् निश्चयेन । दानवनाथकङ्कालोत्क्षेपनिमित्तेन दुन्दुभिकूटविपर्यासकारिणा । अनयोरेवैक कोऽपि तदस्थिकूट विपर्यस्त कृतवानिति निश्चितमिति भाव ।

प्रक्लृप्तेति । प्रक्लृप्ता मनसि धृता कान्तारे वने कुमारे सुग्रीवे च भक्ति अनुरागो येन तादृश वनवासप्रिय सुग्रीवानुरक्तश्चेत्यर्थ , दौर्भागिनेय दुर्भगाया पत्युर-

---

सुग्रीव—(स्वगत) मालूम पड़ता कि दर्प रोगके रोगी अपने भुजोंसे अमर्षण यह वानरराज जाम्बवान्‌से प्रेरित होकर यहाँ आ गया है ॥ ३६ ॥

बाली—(आगे देखकर) प्रसन्न उज्ज्वल आकारवाले यह दोनों कौन हैं ? निश्चय इन्हीं दोनोंमें से किसी एकने दनुकबन्धको उलटा होगा । (याद करके, वितर्कके साथ) आ, हमारे सुहृद् लङ्कापतिने सवाद दिया था, —

'जङ्गल तथा सुग्रीवकी भक्ति करनेवाला, अभागी माताका बेटा, पिता द्वारा त्यक्त,

---

१ प्रेरणात्' ।　　२ 'अवलोक्य च' ।

मनुष्यसामन्तसुतो निषङ्गी सहानुजस्तिष्ठति दण्डकायाम् ॥३७॥

तौ चास्माकं तत्र विहारिषु निशाचरेषु पाटच्चरीं वृत्तिमातिष्ठमानौ भवद्भिः प्रतिकर्तव्यौ' इति । [1]तत्किमयमयं च तौ स्याताम् ।

राम —वत्स लक्ष्मण, [2]शृणु । किमयं ब्रवीति । महावीर ।

लक्ष्मण —(किंचिदुपसृत्य ।) [3]इत आवाम् । इत इतो भवान् ।

वाली—[4]भो कावेतौ युवाम् ।

लक्ष्मण —महाभाग, राघवौ क्षत्रियावावाम् ।

वाली—आयुष्मन्, आकारविशेषा एव [5]गमयन्ति जातिविशेषान् । तद्विशेषं ब्रूहि ।

प्रियाया कौसल्याया पुत्र जनकेन पित्रा दशरथेन मुक्त परित्यक्त, मनुष्याणा सामन्तस्य राज्ञो दशरथस्य सुत पुत्र निषङ्गी धनुर्धर सन् सहानुज कनिष्ठभ्रात्रा सहित दण्डकाया तदाख्ये कानने तिष्ठति । एतत्सन्देशवचनम् ॥ ३७ ॥

तत्र दण्डकायाम् । विहारिषु यथारुचि व्यवहर्तृषु । पाटच्चरीम् दास्यनीम् वृत्तिम् । आतिष्ठमानौ कुर्वन्तौ । प्रतिकर्त्तव्यौ प्रतिविधेयौ, हन्तव्यौ ।

दशरथसुतौ दण्डकावनवासिनो राक्षसानुत्पीडयिष्यतस्तौ त्वया मन्मित्रेण वालिना दमनीयावित्ययमर्थो रावणेन मयि वालिनि सन्दिष्टमासीदिति भाव ॥

राघवौ-रघुवंशजातौ ।

आकारविशेषा -विशिष्टा आकारा । गमयन्ति-बोधयन्ति, अतो भवदीयजाते राकारेणैव मया प्रतिपन्नतया न तदुक्तिर्युक्ता तव, विशेष पृष्टस्त ब्रूहि इत्याशय ।

धनुर्धर, नरराजका पुत्र अपने छोटे भाइके साथ दण्डका वनमें वास कर रहा है ॥ ३७ ॥

वे दोनों वहाँ रहनेवाले हमारे राक्षसोंके प्रति लुटेरेकी वृत्ति धारण करेंगे, अत तुम उनका प्रतिकार करना' । तो क्या वे दोनों यही हैं ॥

राम—वत्स लक्ष्मण, सुनो तो, यह वीर क्या बोल रहा है ।

लक्ष्मण—(थोडा समीप जाकर) हम दोनों इधर हैं, आप इधर आइये ।

वाली—अजी, तुम दोनों कौन हो ?

लक्ष्मण—महाभाग, हम दोनों रघुवंशी क्षत्रिय हैं ॥

वाली—आयुष्मन् , आकार विशेष ही जाति विशेषका ज्ञान करा देते हैं, विशेष कहो

---

१ 'अनयो' । २ 'शृणु' इति क्वचिन्नास्ति ।
३ 'इत इत' । ४ 'भो भो' । ५ 'अवगमयन्ति' ।

लक्ष्मणः—ननूक्तमेव राघवावावाम् ।

वाली—(साभ्यसूयमिव ।) आः,

वपुरपि विवृणोति क्षत्त्रतां को विशेषो
रघुषु यदभिधत्से राघवावित्यभीक्ष्णम् ।
परिकलयितुमिष्टं नाम सांस्कारिकं वा
महदहमथ पत्यप्रत्ययान्निश्चिनोमि ॥ ३८ ॥

लक्ष्मणः—(सधैर्यसंरम्भम् ।) भोः, आवां तौ रामलक्ष्मणौ ।

वाली—(सविमर्शमात्मगतम् ।) कथं 'तौ' इति सर्वनामपदेन प्रसिद्धावित्याह । तत्किमनयोरेवान्यतरः पिनाकधन्वनो दमयिता । सोऽपि रामभद्रो रामः स्यात् । भवतु । एवं तावत् । (प्रकाशं विहस्य ।)

वपुरपीति । वपुः अपि शरीरमेव क्षत्त्रतां क्षत्त्रियजातिसमुचिताम् विवृणोति प्रकाशयति, तदेव क्षत्त्रियत्वबोधकमित्यर्थः । यत् अभीक्ष्णम् सततम् 'राघवौ' इति अभिधत्से कथयसि तत् पृच्छामि रघुषु को विशेषः कीदृशी विलक्षणताऽस्ति ? रघुषु वैलक्षण्यविरहेण तदभिधानमपि ममाग्रे न विशेषाधायकमित्यलं तदुक्त्यापीत्यर्थ । वाम् युवयो सांस्कारिकं पित्रा नामकरणसंस्कारकाले गृहीतं नाम परिकलयितुं मया ज्ञातुमिष्टम् अभिलषितम्, अहमेति वेदे, अपत्यप्रत्ययात् रघोरपत्य भवानित्युक्तिमात्रेण कथं निश्चिनोमि अवधारयामि । विशेषप्रतिपित्सायां सामान्योत्तरशब्दश्रवणेन न शान्ता मम जिज्ञासेति भावः, मालिनीवृत्तम् ॥ ३८ ॥

तौ प्रसिद्धौ ।

पिनाकधन्वनः—पिनाकाख्यस्य हरधनुषो, दमयिता—भञ्जकः, अथवा पिनाक

लक्ष्मण—कह तो दिया कि हम रघुवंशी हैं ।

वाली—(क्रोधसे) आः, देहही क्षत्रियत्व बता रही है, रघुओंमें क्या विशेषता है कि बार बार अपनेको राघव कह रहे हो ? तुम्हारे संस्कार द्वारा दत्त नाम जानना चाहता हूँ, उसको अपत्य प्रत्ययसे कैसे निश्चित कर सकता हूँ ॥ ३८ ॥

लक्ष्मण—(धैर्यपूर्वक) हम दोनों वेही राम-लक्ष्मण हैं ?

वाली—(सविचार स्वगत) क्यों, सर्वनामपदके द्वारा प्रसिद्ध व्यक्त कर रहा है तो क्या इन दोनोंमें से ही एक पिनाक धनुषका भञ्जनकर्ता है ? वही रामभद्र राम हैं क्या ? अस्तु (प्रकट हँसता हुआ)

---

१ 'संभ्रमम्' ।   २ 'एव' इति क्वचिन्नास्ति ।

एको वेषपरिग्रहः परिकरः साधारणः कर्मणा-
माकृत्योर्मधुरत्वमेव सदृशं तुल्यैव गम्भीरता ।
तद् द्रष्टुं चिरमुत्सुकोऽस्मि कतरो वा रामभद्रः पुनः
सर्वक्षत्रवधव्रती भृगुपतिर्येनावकीर्णीकृतः ॥ ३९ ॥

लक्ष्मणः—(सविनयमिव ।) आर्य [1]साक्रन्दने, लक्ष्मणस्तावदहम् ।
वाली—[2]अयमप्यपरो दाशरथिः कौशिकान्तेवासी रामः ।
लक्ष्मणः—अथ किम् ।
वाली—(सहर्षोल्लासम् । किंचिदुच्चैः ।) भो रामभद्र,
एष त्रैवर्ण्यमाग्रस्यजसितजगतो भार्गवस्यास्त्रगर्भो-

धनुर्यस्य तस्य शिवस्य दमयिता अवमन्ता तद्धनुर्भञ्जनमत एवाहमनन्म ।

एक इति । वेषस्य जटावल्कलादेः परिग्रहः ग्रहणं धारणम् एकः तुल्यः, कर्मणां धनुर्धारणादीनाम् परिकरः सन्नाहः साधारणः अविभिन्नरूपः, आकृत्योः शरीरावयवसमुदाययोः मधुरत्वम् मनोहरत्वम् सदृशम् तुल्यमेव, गम्भीरता दुरवगाहप्रकृतिता तुल्या समाना एव, पुनः किन्तु येन रामेण सर्वक्षत्रवधव्रती सर्वक्षत्रियवधव्रतधरः भृगुपतिः परशुरामः अवकीर्णी भ्रष्टव्रतः कृतः स रामभद्रः वा युवयोर्मध्ये कतरः कः ? तद् द्रष्टुं विविच्य ज्ञातुम् चिरम् बहुकालात् उत्सुकः उत्कण्ठितोऽस्मि सर्वथा समयोर्युवयोः परशुरामविजेता रामः कतर इति विविच्य ज्ञातुमुत्सुकस्य ममौत्सुक्यं शमयेति भावः । 'अवकीर्णी क्षतव्रतः' इत्यमरः ॥ ३९ ॥
साङ्क्रन्दने सङ्क्रन्दनस्य इन्द्रस्य पुत्र ।
एष त्रैवर्ण्येति । त्रयाणां ब्राह्मणवैश्यशूद्राणां वर्णानां समाहारस्त्रैवर्ण्यं तत्र

तुम दोनोंके वेष, कार्य, आकृतिगत माधुर्य, गम्भीरता आदि सब एक-सा ही है, अतः मैं यह जाननेको आतुर हो रहा हूँ कि तुम दोनोंमें राम कौन है जिसने सर्वक्षत्रिय संहारव्रती परशुरामको क्षतव्रत बना दिया ॥ ३९ ॥
लक्ष्मण—(नम्रताके साथ) आर्य इन्द्रपुत्र, मैं लक्ष्मण हूँ ।
वाली—तो यह रहा कौशिकका चेला राम ।
लक्ष्मण—और क्या ?
वाली—(हर्षोल्लासके साथ, कुछ उच्च स्वरसे) अजी रामभद्र,
मेरा आज सुप्रभात है कि संसारसे क्षत्रियजातिका लोप कर देने वाले भार्गवके अस्त्र

१ 'सांक्रन्दनेय' । २ 'अथायमपर' ।

दारुत्क्षत्रजातिस्त्वमसि पथि गिरामद्य न सुप्रभातम् ।
कक्षोष्मस्वेदसद्य शमितदशमुखास्फोटकण्डूविकारो
[1]वीरश्राद्धो भुजस्त्वा परिचरतु चिरं चक्षुषी नन्दतां च ॥४०॥

राम —(दृष्ट्वा सहर्षम् ।) स एष महाबाहु सङ्क्रन्दनसूनु ।

येन वीरेण गुप्तायां किष्किन्धायामियं मही ।
रावणाभिभवक्रान्ता [2]शश्वदुच्छ्वासमश्नुते ॥ ४१ ॥

व्यवसित व्यवस्थापित जगद् येन तादृशस्य क्षत्रियजातिसमापनेन भुवन वर्णत्रय मात्राश्रय कृतवत , भार्गवस्य परशुरामस्य अन्तर्गर्भात् कुठाररूपास्त्रभागाभ्यन्तर भागात् आकृष्य बहिर्निस्सारिता क्षत्रजाति येन तादृश भार्गवपरशुनिर्लीनक्षत्र जातिसमुद्धर्ता एव राम गिरा वचसा पथि मार्गे वचसा सबोधयितु योग्य समीप स्थ असि, अद्य न अस्माक सुप्रभातम् सुष्ठु दिन जात यत्त्व मिलित इत्यर्थ । कक्षस्य भुजमूलस्य उष्मस्वेद ऊष्मप्रवृत्त घर्मजल तेन उपशमित शान्ति गमित दशमुखस्य रावणस्य आस्फोटकण्डूविकार युद्धार्थकण्डूनिरूपा विक्रिया येन तादृश रावण स्वकक्षे निक्षिप्य प्रशमिततद्युद्धाभिलाष वीरश्राद्ध वीरेषु श्रद्धाशाली भुजो मम बाहु त्वा चिर,परिचरतु युद्धद्वारा सेवता, चक्षुषी नयने नन्दतां प्रसन्नता माप्नुता च । यो भवान् भुव निःक्षत्रिया कृतवतो भार्गवस्य कुठारधारानिमग्ना क्षत्रियजातिमुद्धृतवान् स मम पुरो जात इत्यद्य मम सुप्रभातम्, सम्प्रति रावण भुजगर्वसर्वङ्कषोऽयं वीरश्रद्धाशाली मम बाहुस्त्वा युद्धचर्यया सेवता नयने च त्वा निरीक्ष्य प्रमोदमनुभवतामित्याशय ॥ ४० ॥

येन वीरेणेति । रावणाभिभवेन रावणकृतानेकविधावमानक्रियया क्लान्ता खिन्ना इय मही पृथ्वी येन वीरेण वालिना गुप्ताया पालिताया किष्किन्धाया शश्वत्

गर्भसे क्षत्रियजातिको बाहर निकालनेवाले तुमसे बातें करनेका अवसर मिला है, (मेरा इच्छा है कि) भुजमूलकी धर्मबिन्दुओंसे तत्काल दशमुखके कण्डू विकारको शमित कर देनेवाला और वीरोंपर श्रद्धा रखनेवाला यह हमारा भुज तुम्हारी परिचर्या करे और आँखें आनन्दित हों ॥ ४० ॥

राम—(देखकर सहर्ष) यही है वह महाबाहु इन्द्रपुत्र वाली ।

जिस वीरके द्वारा पालित किष्किन्धामें रावणके अपमानोंसे पीडिता यह पृथ्वी निरन्तर आश्वस्तभावको पाती है ॥ ४१ ॥

१ 'वीरश्रद्ध'।　　२ 'किञ्चित्'।

(इति परिक्रामति ।)

लक्ष्मण —महाभाग, अयमार्य । इत इतो भवान् ।

बाली—(उपसृत्य ।) रामभद्र,

> सुरासुराणामसुभिर्दीव्यता सभिको मुनि ।
> अद्य मे नारदस्तुष्टो येनासि भुजगोचर ॥ ४२ ॥

राम —महावीर, किमुच्यते । मूर्धाभिषिक्तोऽसि [1]समरशौण्डानाम् । तथा हि ।

> देव स त्वामसूत द्विषदुपमृदितस्वर्वधूवेणिबन्ध-
> प्रेक्षाधारालवैरप्रसृमरसमरोड्डामरौजा बिडौजा ।

सततम् उच्छ्वासम् सुखनि श्वासम् अश्नुते प्राप्नोति । अन्यदेशावच्छेदेन रावणखेदितापीय धरा किष्किन्धाऽवच्छेदेन रावणभयाभावात्सुखमुच्छ्वसितीति भाव ॥४१॥

सुरासुराणामिति । असुभि प्राणैर्दीव्यताम् क्रीडताम् सततयुद्धरतानामित्यर्थं सुरासुराणां देवानां दानवानाञ्च सभिक युद्धरूपद्यूतक्रियाध्यक्ष मुनि नारद अद्य मे मम तुष्ट प्रसन्नो येन मे भुजगोचर बाहुविषय असि । सदा युद्धे प्राणैर्दीव्यतां देवासुराणां सभिको द्यूतकलाप्रवर्तक देवानसुरांश्च योधयन् नारदोऽद्य मद्भुजगोचर भवन्त ज्ञात्वाऽऽवयोर्युद्धमवश्यभावि पश्यन्नानन्दमनुभविष्यतीति भाव ॥ ४२ ॥

मूर्धाभिषिक्त शिरोमणीभूत प्रधानमित्यर्थं । सग्रामशौण्डानाम् रणप्रियवीराणाम् ।

देव स त्वामिति । य इन्द्र द्विषद्भि शत्रुभि राक्षसै उपमृदितस्य कृष्टस्य स्वर्वधूवेणिबन्धस्य देवाङ्गनाकेशपाशस्य प्रेक्षया दर्शनेन धाराल प्रवृद्ध यद् वैर

(चलता है)

लक्ष्मण—महाभाग, यही हैं आर्य राम, आप इधर आवें ।

बाली—(समीप जाकर) रामभद्र, देवों तथा दानवोंके प्राणोंसे खेलनेकी इच्छा रखनेकी इच्छा रखनेवाले नारद आज मुझपर प्रसन्न हुए हैं जिससे तुम हमारे भुजगोचर हुए हो ॥ ४२ ॥

राम—महावीर, क्या कहा जाय, समरशूरोंके लिए तुम अग्रगण्य हो ।

शत्रुओंद्वारा देवाङ्गनाओंके मृदित वेणीबन्धको देखकर बढनेवाले धारा प्रवाह वैरके कारण समरमें अद्वितीय ओज प्रकट करनेवाले उस इन्द्रने तुम्हें जन्म दिया है जो चुमाकर

---

१ शौण्डोऽसि ।

यो विद्धोत्खातबाणव्रणनिवहनिभं निर्भरोद्भ्रुरभ्रू-
भीमः श्रीमद्भिरङ्गैरुदवहत रुषा रज्यदक्ष्णां सहस्रम् ॥४३॥

अपि च—

वन्दीकृत्य जगद्विजित्वरभुजस्तम्भौघदुःसञ्चरं
रक्षोराजमपि त्वया विदधता सन्ध्यासमाधिव्रतम् ।
प्रत्यक्षीकृतकार्तवीर्यचरितामुन्मुच्य रेवां समं
सर्वाभिर्महिषीभिरम्बुनिधयो विश्वेऽपि विस्मापिताः ॥४४॥

तेन प्रसमरं प्रसरणशीलं तथा समरे युद्धे उड्डामरम् उत्कटं च ओजः तेजो यस्य तथोक्तः अत एव रुषा कोपेन निर्भरम् अत्यर्थम् उद्भ्रुरया कुटिलया भ्रुवा भीमः भीषणः सन् श्रीमद्भिः स्वाभाविकशोभाशालिभिः अङ्गैः शरीरावयवैः पूर्वं विद्धाः पश्चादुत्खाता ये बाणाः शराः शत्रुप्रयुक्तास्तेषां व्रणनिवहनिभं क्षतसमूहतुल्यं रज्यत् रक्तीभवत् अक्ष्णां सहस्रम् नयनसहस्रम् उदवहत दधार, स बिडौजा इन्द्रस्त्वां जगद्विदितशौर्यशालिनमसूत जनयामास । अयमाशयः—राक्षसकृष्टस्वर्गरमणीकेशपाशालोकनवर्द्धमानवैरसमेधितयुद्धोत्कटौजोयुक्तः अत्यर्थकुटिलभ्रूभीषणमुखश्च य इन्द्रः स्वाङ्गवर्त्ति विद्धनिस्सारितबाणसमुदयव्रणोपमं कोपरक्तं निजनयनसहस्रमवहत स इन्द्रस्तव जनक इति युज्यत एव तव समरशौण्डत्वमिति । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ४३ ॥

वन्दीकृत्येति । त्वया वालिना जगतां निर्जित्वरैः विजयिभिः भुजस्तम्भौघैः स्तम्भोपमैर्भुजनिवहैः दुःसञ्चरं निःस्पन्दीकृततया चलितुमशक्तं रक्षोराजं रावणमपि वन्दीकृत्य स्वकारायां निरुद्धं विधाय सन्ध्यासमाधिव्रतम् सन्ध्योपासनकालिकं प्राणायामनियमं विदधता सम्पादयता सता प्रत्यक्षीकृतं दृष्टं कार्त्तवीर्यस्य सहस्रार्जुनस्य चरितं बाहुभिर्धारानिरोधरूपं यया तादृशीं रेवां नाम नदीमुन्मुच्य परित्यज्य सर्वाभिः महिषीभिः समं विश्वे सर्वेऽपि अम्बुनिधयः सागराः विस्मापिताः आश्चर्ये निमज्जिताः । वाली पुरा रावणं स्वकक्षे विधाय सप्तस्वपि सागरेषु

निकाले गये अस्त्रोंके घावके समान रक्त तथा सहस्र-सख्यक नयनोंको अपने सुन्दर सर्वाङ्गपर धारण करते हैं, तथा जो भ्रूभङ्गके कारण भीषण प्रतीत होते हैं ॥ ४३ ॥

विश्वविजयी रावणको भी अपने भुजस्तम्भोंमें वन्दी बनाकर तुमने सन्ध्यावन्दनकालिक समाधि धारण की, कार्त्तवीर्यके चरितको प्रत्यक्ष देखनेवाली रेवाको छोड़कर समुद्रकी सभी स्त्री नदियाँ तथा सारा संसार तुम्हारे द्वारा किये गये उस सन्ध्या समाधिके दर्शनसे विस्मित हो उठे ॥ ४४ ॥

वाली—(विहस्य ।)

चिराय रात्रिंचरवीरचक्रमाराङ्कवैज्ञानिक पश्यतस्त्वाम् ।
सुधासधर्माणमिमां च वाचं न शृण्वतस्तृप्यति मानसं मे ॥ ४५ ॥

किं तु—

येनाच्छिद्य समस्तपार्थिवकुलप्राणान्तकं कार्मुकं
राम संप्रति लम्भितो भृगुभुवामुत्सर्गसिद्धां स्रुचम् ।
द्रष्टुं धीर चिराय धाम भवतस्तद्भूर्भुवःस्वस्त्रयी
[1]हृन्मर्मव्रणरोपणौषधमिमौ बाहू बहूत्ताम्यतः ॥ ४६ ॥

सन्ध्यामन्वतिष्ठत्तत्र संसारविजयगर्वितैरपि भुजे रावणो न सञ्चरितुमशक्त इति रावणो वन्दीभूत इव तत्कक्षेऽतिष्ठत्, तदित्थं रावणमपि वन्दीकृत्य वाली सर्वानपि सागरान्विस्मयसागरनिमग्नानकार्षीत्, न केवलं सागरा व्यस्मयन्त किन्तु सागरगृहस्थिताः सर्वा अपि नद्यो व्यस्मयन्त, केवलं रेवा न व्यस्मयत यतोऽसौ कार्त्तवीर्यस्यापि भुवनाद्भुतं चरितं पूर्वं दृष्टवती, सोऽपि भुवनाद्भुतमेव कृत्यं कृतवानतो न व्यस्मयत रेवा तत्रेति भावः ॥ ४४ ॥

चिरायेति । रात्रिञ्चरवीरचक्राणाम् राक्षसवीरसमूहानाम् मारो वध एव अङ्कः चिह्नं यस्य तादृशराक्षसवीरवधचिह्नशालिन् वैज्ञानिकयुद्धविद्याविशारद रामभद्र, त्वां चिराय चिरात् पश्यतः साक्षात्कुर्वतस्तथा तवेमां सुधासधर्माणममृतसमानां वाचं शृण्वतः निशामयतश्च मे मम वालिनः मानसं न तृप्यति न संतुष्यति ॥४५॥

येनाच्छिद्येति । येन तव धाम्ना समस्तपार्थिवकुलप्राणान्तकं समस्तक्षत्रियजातिवधकरं कार्मुकं चापम् आच्छिद्य (परशुरामहस्ताद् दूरीकृत्य) त्याजयित्वा राम परशुरामः भृगुभुवाम् भृगुवंशीयानाम् उत्सर्गसिद्धाम् स्वभावप्राप्तां स्रुचं यज्ञपात्रभेदं लम्भितः ग्राहितः । (यत् तव तेजः सकलक्षत्रसंहारकं चापं परशुरामकरादपनीय परशुरामं पुनरपि स्ववंशक्रमागतां स्रुचं ग्राहयामास), हे वीर, भूर्भुवःस्वस्त्रय्या-

---

वाली—(हँसकर) बहुत देर तक राक्षसमण्डलके वीर समुदायको मारनेकी कलामें निपुण तुमको देखकर तथा अमृतोपम तुम्हारी बातोंको सुनकर मेरा मन तृप्त नहीं हो रहा है ॥ ४५ ॥

किन्तु—तुम्हारे जिस पराक्रमने सकलक्षत्रियसंहारक परशुरामको धनुष छुड़ाकर भार्गववंशका स्वभावसिद्ध स्रुच ग्रहण करवा दिया, लोकत्रयके हार्दिक दुःखको मिटानेमें औषधके तुल्य तुम्हारे उसी पराक्रमको देखनेके लिये हमारे ये दो हाथ तड़फड़ा रहे हैं ॥४६॥

---

१ 'शोषणौषध-' ।

राम —(सस्मितम् ।)

नन्वेतदधिमौर्वीकं युद्धसर्वस्वदक्षिणम् ।
[1]सज्जमस्त्येव मे रक्षोलक्ष्मीमूलहरं धनुः ॥ ४७ ॥

तन्महाभागोऽपि शस्त्रमादत्ताम् ।

वाली—(विहस्य ।) साधु भो महाक्षत्रिय, यथाधर्ममभिदधासि । कि[2] तु ।

नयो हि साङ्ग्रामिक एष दोष्मतां यदात्मजातिप्रतिबद्धमायुधम् ।
अयःकुशीभिः कपयो न शस्त्रिणस्तलं च मुष्टिश्च नखाश्च सन्ति नः ॥४८॥

लोकत्रय्याः हस्तसंधारणारोपणोपधि लोकत्रयवासिलोकहृदयव्यथानिवारकम् तत् प्रसिद्धं भवतो धाम तेजः द्रष्टुम् इमौ मम बाहू चिराय बहो कालात् उत्ताम्यतः उत्सुकीभवतः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४६ ॥

नन्वेतदिति । एतत् अधिमौर्वीकम् आरोपितज्यम् युद्धसर्वस्वदक्षिणम् युद्धे सर्वस्वं दक्षिणा देया यस्मै तादृशम् अथवा युद्धमेव सर्वस्वदक्षिणा यस्य तादृशम्, यथा प्रसन्नो नृपः कर्मचारिभ्यः सर्वस्वं दक्षिणारूपेण दत्ते, तथा धनुरिदं प्रसद्य युद्धं ददातीत्यर्थः । रक्षोलक्ष्मीमूलहरं रक्षसां श्रियाः समूलविनाशकम् मम धनुः सज्जम् अस्त्येव, यथा त्वमभिलाषस्तथाहमपि युद्धोद्यत एवास्मीति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥

आदत्ताम् गृह्णातु । यथाधर्मम् धर्मानिरुद्धम् । अभिदधासि कथयसि ।

नयो हीति । एष हि साङ्ग्रामिकः युद्धसम्बन्धी नयः नीतिः नियमो वा यत् दोष्मताम् बाहुबलशालिनाम् आत्मजातिप्रतिबद्धम् स्वजातिनियतम् यथाजातीयकम् आयुधं प्रहरणं भवेदिति । अतो मयाऽपि स्वजात्युपयुक्तं शस्त्रमेव धार्यमिति, कपयो वानराः अयःकुशीभिः लौहविकारैः युष्माभिर्बाणमध्यया व्यवह्रियमाणैर्भिर्लौह- काण्डैः शस्त्रिणो न भवन्ति, नः अस्माकं कपीनाम् तलम् करतलम् मुष्टिः नखाश्च शस्त्राणि सन्ति ॥ ४८ ॥

राम—(सस्मित) प्रत्यञ्चा चढाये हुये तथा युद्धरूप सर्वस्वका दान देने वाला यह धनुष तैयार है, जिसने राक्षसोंकी लक्ष्मीकी जड काट दी है ॥ ४७ ॥

अतः आप भी शस्त्र ग्रहण करें ।

बाली—(हसकर) महाक्षत्रिय, तुमने धर्मानुसार ठीक ही कहा । किन्तु—

युद्धका यही नियम है कि वीर अपनी जातिके लिए नियत अस्त्रग्रहण करते हैं, वानर लोहेकी अङ्कुशोंसे अस्त्र वाले नहीं बनते, उनके अस्त्र हैं हस्ततल, नख तथा मुष्टि ॥ ४८ ॥

१ 'सज्यम्' । २ 'किं पुन' ।

लक्ष्मण —आर्य, साधूक्तं महाभागेन । नित्योपनतस्वाङ्गशस्त्रैव तैरश्ची जातिः ।

राम —(विहस्य । धनुरास्फालयन् ।) अहह ।

स्वर्विघ्नप्रसरेण रावणिरसौ यद्दुर्यशोभागिनं
चक्रे गौतमशापयन्त्रित[1]भुजस्थामानमाखण्डलम् ।
[2]कक्षागर्तकुलीरतां गमयता वीर त्वया रावणं
तत्संमृष्टमहो विशल्यकरणी जागर्ति सत्पुत्रता ॥ ४९ ॥

सोऽपि त्वमस्माकमधुना दैवेन [3]शरव्यीकृतोऽसि ।

नित्योपनतस्वाङ्गशस्त्रा सततसन्निहितस्वशरीरावयवप्रहरणा । तैरश्ची जातिः पशुजातिः ।

स्वर्विघ्नप्रसरेणेति । असौ रावणिः रावणपुत्रो मेघनादः स्वर्विघ्नप्रसरेण स्वर्गोपद्रवसम्पादनद्वारा गौतमशापेन यन्त्रितं कुण्ठीकृतं भुजयोः स्थाम स्थैर्यं बलं वा यस्य तथाभूतम् आखण्डलम् इन्द्रम् यत् दुर्यशोभागिनम् अपकीर्त्तिपात्रं चक्रे, हे वीर, त्वया बालिना रावणं कक्षा भुजमूलमेव गर्तः खातं तत्र कुलीरताम् बहुभुजशालितया कर्कटसादृश्यं गमयता प्रापयता त्वया तत् अयशः शक्रस्य संमृष्टम् अपसार्य दूरीकृतम्, अहो सत्पुत्रता सुपुत्रप्राप्तिः विशल्यकरणी सकलखेदहरी जागर्त्ति भवतीति शेषः । 'इन्द्रजिता तव पिता शक्रो जितः' इति त्वया तस्य पिता रावणः कक्षे स्थापयित्वा पराभूत इति पितृपमन्तुर्वैरनिर्यातनात्सुपुत्रत्वं त्वया प्रकटीकृतमित्याशयः । पुराऽहल्यागामिनमिन्द्रं गौतमः 'तव बाहुबलं संग्रामे नश्यतु' इति शप्तवानिति पुराणविदः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४९ ॥

सोऽपि एतादृशो वीरः शक्रपुत्रोऽपि । दैवेन भाग्यवशेन । शरव्यीकृतः लक्ष्यतां गतः । भाग्यदोषादेवैतादृशमपि त्वां हन्तुमहं बाधितो भूत्वा प्रवृत्त इत्यर्थः ।

लक्ष्मण—आर्य, आपने ठीक कहा, सदा सन्निहित स्वाङ्ग ही तिर्यग् जातिके अस्त्र रहते हैं ।

राम—(हसते हुए धनुष चढ़ाकर) स्वर्गको सविघ्न करके मेघनादने गौतम शापसे नष्टबल भुज इन्द्रको जो अयशोभागी बना दिया था, उसका बदला तुमने रावणको अपने कांखरूप गड्ढेका केकड़ा बनाकर चुका लिया, सत्पुत्र होनेपर सभी मनोदुःख दूर हो जाते हैं, यह बात ठीक ही है ॥ ४९ ॥

भाग्यवश आज हमें तुम बालीको भी बाणका लक्ष्य बनाना पड़ रहा है ।

---

१ 'निजस्थामानम्' । २ 'कक्षागत–' । ३ 'शरव्यम्' ।

वाली—(सरोषम् ।) आ काकुत्स्थ,

अस्मद्दोर्मूलकूलकषविषमभुजग्रन्थिभङ्गप्रसङ्ग-
कोशल्लङ्केशदत्तत्रिभुवनविजयख्यातिसर्वस्वदाय ।
य कश्चिद्विक्रमोऽय स खलु करचुलिक्षत्रसाधारणत्वा
दन्तर्मन्दायमानो विजितभृगुपति त्वामजित्वा दुनोति ॥५०॥

तदेहि । विमर्दक्षमा भुवमवतराव ।

अस्मद्दोर्मूलेति । अस्माक दोर्मूल भुजमूल कक्षदेशस्तदेव कूल तत्कषति अभिभवतीति तथोक्तो यो विषमभुजग्रन्थिरतिभीषणभुजसमुदयरूपो यो ग्रन्थि तस्य भङ्गप्रसङ्गेन कक्षया सर्वत आच्छादनेन क्रोशता चीत्कुर्वता लङ्केशेन रावणेन दत्त त्रिभुवनविजयख्याति एव सर्वस्वदाय सर्वसम्पत्तिरूपदेय यस्मै तथाविध य कश्चित् अय विक्रम पराक्रम (योऽय मम पराक्रम दोर्मूले न्यस्तस्य रावणस्य पिष्यमाणेषु सर्वेषु भुजभारेषु चीत्कुर्वता रावणेन ममर्पितभुवनत्रयविजयख्यातिसर्वस्व, रावणो यदा मया भुजमूले धृतस्तदा पिष्यमाणेषु तद्धस्तेषु स चीत्कारमारब्धवान्, तथाभूतश्चासौ मह्य निजा त्रिभुवनविजयख्याति समर्पितवान् एतादृशस्यापि मम पराक्रम इत्यर्थ) करचुलिक्षत्रसाधारणत्वात् कार्त्तवीर्यपूर्वक्षत्रियसाधारणत्वात् कार्त्तवीर्येणापि रावणो जितो मयापि स जित इति समत्वात् विशेषाभावात् तस्मन्दायमान मनसि लज्जमान विजितभृगुपतिं पराजितपरशुराम त्वाम् अजित्वा अविजित्य दुनोति मा परितापयति । रावणविषये कृतेऽपि मम पराक्रमो न तुष्यति तज्जयस्य कार्त्तवीर्येणापि कृतत्वात्, अतो यावत्परशुरामविजयिन भवन्त न जयति तावदुत्कृष्टताभावान्न मम सन्तोष इत्यर्थ, शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५० ॥

विमर्दक्षमाम् समा युद्धोपयुक्ताम् ।

फलितम् सिद्धम् ।

वाली—(सरोष) आ काकुत्स्थ, हमारे भुजमूलमें वर्तमान रावणने अपने बाहुओंके टूटनेके डरसे चिल्लाकर जिसे त्रिभुवनविजयी होनेकी प्रतिष्ठा प्रदानकी, वह हमारा विक्रम करचुलिक्षत्रिय-कार्त्तवीर्य साधारण होनेसे भीतरसे मन्द पड गया, जब तक परशुरामके जेता तुमको मैंने नहीं जीत लिया है, तब तक मुझे वह अपना पराक्रम सन्ताप ही देता है ॥ ५० ॥

अत चलो, युद्धोपयुक्त भूमिमें चलें ।

गुह —(स्वगतम् ।) दिष्ट्या [1]फलितमस्माकं मनोरथेन ।

लक्ष्मण —(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।) इदमन्यतो वानरद्वयमार्यस्य पार्ष्णिग्राहमिव [2]सम्भ्रमादनुप्लवते । तदहमपि धनुरारोपयामि ।

गुह —(दृष्ट्वा । सहर्षम् ।) कुमार कुमार, अलमावेगेन । नन्वयं सुग्रीवो [3]रामभद्रगुणानुरागेण वालिमत्सरेण च द्विगुणितोत्साहः समरसीमानमापतति ।

लक्ष्मण —दिष्ट्या स एष वैकर्तनिः । अथापरः कः ।

गुह —अयमपि किष्किन्धेश्वरस्कन्धावारैकवीरो भगवतः प्रभञ्जनस्य पारस्त्रैणेयः पुत्रो हनूमान् ।

लक्ष्मण —(सहर्षम् ।) कथमयमसावाञ्जनेयः । अयं हि

पार्ष्णिग्राहम् शत्रुभावेन पृष्ठानुधावि । सम्भ्रमात् वेगात् । अनुप्लवते अनुसरति ।

आवेगेन भयेन । समरसीमानम् युद्धक्षेत्रम् ।

वैकर्तनिः सूर्यपुत्रः सुग्रीवः ।

किष्किन्धेश्वरस्कन्धावारैकवीरः किष्किन्धेश्वरस्य वालिनः स्कन्धावारे सैन्ये तत्र एकवीरः अद्वितीयपराक्रमी । प्रभञ्जनस्य वायोः । पारस्त्रैणेयः परकीयस्त्रियाः जातः । केसरिणः स्त्रियामञ्जनायां वायोरुत्पन्न इत्यर्थः ।

आञ्जनेयः अञ्जनापुत्रो हनुमान् ।

गुह—(स्वगत) भाग्यवश आज हमारा मनोरथ सफल हुआ ।

लक्ष्मण—(नेपथ्यकी ओर देखकर) यह दो वानर रामको बगलसे घेरनेके लिए तेजीसे आ रहा है अतः मैं भी धनुष चढाता हूं ।

गुह—(देखकर) कुमार, कुमार, शीघ्रता मत करें, यह सुग्रीव रामके गुणों तथा बालीके द्वेषसे दुगुने उत्साहके साथ युद्धक्षेत्रकी ओर बढ रहे हैं ।

लक्ष्मण—भाग्यवश यही हैं वह सूर्यपुत्र, और दूसरा वह कौन है ?

गुह—यह है किष्किन्धेश्वरकी सेनामें प्रधान योद्धा, वायुदेवका परस्त्री जातपुत्र हनूमान् ।

लक्ष्मण—(सहर्ष) क्यों, यही हैं अञ्जनाके पुत्र । यह महात्मा शापसे अपने पराक्रम

---

१ 'अस्म मनोरथेन' । २ 'अनुवतते' । ३ 'रामदेवगुणानुरोधेन' ।

ब्रह्मशापपरिक्लिष्टस्ववीर्यज्ञानयन्त्रित ।
अन्यैरपि भुवं वीरैः कीर्यमाणामुपेक्षते ॥ ५१ ॥

नियतमनेन सख्या हृदयशल्यमस्माकमुद्धरिष्यते । इह तु वर्तमान-[1]मेकतुलायुद्धमार्यस्य । [2]जयलक्ष्मीपरिग्रहयौतुके यशसि वयमय [3]वा सुग्रीवो वा न केचिदंशाधिकारिणः ।

गुहः—(ससम्भ्रमम् ।) कुमार, पश्य पश्य ।
सप्त तालानयं भित्त्वा वालिप्रहरणीकृतान् ।
हत्वा च वालिनं बाणो रामतूणीरमागतः[4] ॥ ५२ ॥

ब्रह्मशापेति । ब्रह्मणः शापेन परिक्लिष्टः व्याहतः यत् स्ववीर्यज्ञानं तेन यन्त्रितः अवरुद्धः सन् अन्यैरपि वीरैः कीर्यमाणाम् व्याप्ताम् भुवम् उपेक्षते दृष्ट्वापि नालोकते । 'पुरा हनुमतो वीर्यातिशयं दृष्ट्वा समुद्विग्नो ब्रह्माऽनेन वीर्येणासौ मम सृष्टिं संहरेदिति शङ्कमानस्तं 'स्वनस्ते पराक्रमज्ञानं न भवेदि'ति शप्तवान्' इति कथात्र बोध्या । तेन शापेन हनूमान् विना परोद्बोधनं न पराक्रमं प्रकाशयतीति भावः ॥ ५१ ॥

सख्या मित्रेण । हृदयशल्यम् मनोदुःखम् । उद्धरिष्यते दूरीकरिष्यते । एकतुलायुद्धम् द्वयोरेव धर्मयुद्धम्, अत्र कस्यापि साहाय्यं नापेक्ष्यत इति । जयलक्ष्मीपरिग्रहयौतुके-विजयलक्ष्मीवरणलभ्ये, यौतुके श्वशुरादिभिः प्रीतिदत्ते धने, अंशाधिकारिणः भागभाजः, जयलभ्ये यशसि, न कस्यापि भागः 'विद्याप्राप्तं शौर्यधनं यच्च सौदायिकं भवेत् । मैत्रमौद्वाहिकं चैव दायादानां न तद् भवेत्' इत्युक्तेः ।

सप्ततालानिति । अयम् रामप्रहितः बाणः वालिप्रहरणीकृतान् वालिना रामं प्रहर्तुमादीयमानान् सप्ततालान् तालवृक्षान् भित्त्वा विदार्य वालिनं च हत्वा मारयित्वा रामतूणीरम् निषङ्गम् आगतः परावृत्तः ॥ ५२ ॥

का ज्ञान नहीं होनेके कारण पृथ्वीको और वीरोंसे भी व्याप्त समझा करते हैं ॥ ५१ ॥

निश्चय इस मित्रके द्वारा हमारे हृदयका काँटा निकाला जा सकेगा । आर्यका द्वन्द्व युद्ध प्रारम्भ हो गया । जयलक्ष्मी परिग्रहमें यौतुकके रूपमें मिलनेवाले यशमें हमारा तथा सुग्रीवका अंशाधिकार नहीं होगा ।

गुह—(घबड़ाकर) कुमार, देखिये देखिये ।

वालि द्वारा प्रहरण बनाये गये सात ताल वृक्षोंको छेदकर तथा वालीको मार करके रामका यह बाण पुनः रामके तूणीरमें आ गया ॥ ५२ ॥

---

१ 'युत-' । २ 'पाणिपरिग्रह' । ३ 'वा' इति क्वचिन्नास्ति । ४ 'आगमत्' ।

अहह—

प्राणैः समं कनकपुष्करकण्ठमाला-
सूत्रेण दाशरथये विहितातिथेयः ।
दिक्कूलमुद्वहयशःसरिदादिशैलः
शेते स वीरशयने कपिचक्रवर्ती ॥ ५३ ॥

लक्ष्मणः—(सखेदम् ।) हा देव संक्रन्दन, क्व पुनरीदृशं महावीरप्रकाण्डमात्मजं सहस्रेणापि [1]लोचनैरालोकयिष्यसि ।

(नेपथ्ये दुन्दुभिध्वनिर्मङ्गलगीतिश्च ।)

गुहः—(सहर्षम् ।) कथमयमार्यजाम्बवदभिमन्त्रितैः [2]शातकुम्भकलशैर्नीलः कुमारसुग्रीवमभिषिञ्चति । स्वयं चास्य देवो दाशरथिः कार्तस्वरपुण्डरीकमालया [3]कण्ठमलंकरोति ।

प्राणैः सममिति । ■ कपिचक्रवर्ती वानरराजो वाली प्राणैः समं निजजीवितैः सह कनकपुष्करकण्ठमालासूत्रेण काञ्चनकमलरचितकण्ठमाल्येन दाशरथये रामाय विहितातिथेयः कृतातिथिसत्कारः दिक्कूलम् दिशारूपस्तटं तदुद्वहा तत्प्रवाहिणी या यशःसरित् तस्या आदिशैलः उद्गमपर्वतः वीरशयने रणभूमौ शेते । अयं वाली यो निजैः प्राणैः सहैव रामाय स्वकण्ठस्थसुवर्णमाल्यमपि दत्त्वा तस्यातिथ्यं कृतवान्, यश्च दिगन्तविस्तारियशोरूपनद्या आदिशैल इव प्रभवभूमिः, स एव यत्र रणभूमौ निहतः शेते इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

महावीरप्रकाण्डम् वीरश्रेष्ठम् । आत्मजं पुत्रं वालिनम् ।

शातकुम्भकलशैः सुवर्णघटैः । कार्तस्वरपुण्डरीकमालया स्वर्णकमलस्रजा,

---

अहह ! रामके आतिथ्यमें वालिने स्वर्णकमलकी मालाके साथ ही अपने प्राण भी समर्पित कर दिये, दिगन्त विस्तृत यशरूप नदीका मूलपर्वत वही वालि इस समय वीर शयन रणभूमिमें सो रहा है ॥ ५३ ॥

लक्ष्मण—हा देव, इन्द्र, फिर कहाँ आप ऐसे वीरश्रेष्ठ पुत्रको सहस्रनेत्रोंसे देखेंगे ।

(नेपथ्यमें दुन्दुभि बजती है मङ्गल-गान होता है)

गुह—(सहर्ष) क्यों, यह नील जाम्बवान् द्वारा अभिमन्त्रित स्वर्णकलशोंसे कुमार

---

१ 'अवलोकयिष्यसि' । २ 'शातकुम्भकुम्भसलिलैः' । ३ 'कण्ठकाण्डम्' ।

लक्ष्मण —[1]प्रियतरं न ।

(नेपथ्ये ।)

भो भो [2]वानराच्छभल्लगोलाङ्गूलयूथपतयः, सर्वानेव वो महाराजः सुग्रीवः समाज्ञापयति—"[3]सज्जयन्तु भवन्तः सर्वाणि यौवराज्योपकरणानि । अयमहं सीतादेव्याः प्रवृत्तिमन्वेष्टुं प्रहित्य [4]हनूमन्तमूर्ध्वमौहूर्तिके लग्ने कुमारमङ्गदमभिषेक्ष्यामि इति ।

लक्ष्मण —

उत्सवः सोऽयमस्माकं सर्वथा हृदयंगमः ।
किं तु वाली विलीनोऽयं व्यथयिष्यति वासवम् ॥ ५४ ॥

सज्जयन्तु प्रस्तुतीकुर्वन्तु । यौवराज्योपकरणानि यौवराज्याभिषेकसाधनवस्तूनि, प्रवृत्तिमन्वेष्टुम्-वृत्तान्तं ज्ञातुम् । और्ध्वमौहूर्तिके मुहूर्तादूर्ध्वं जायमाने किञ्चित् कालानन्तरभाविनि, लग्ने शुभसमये ।

उत्सव इति । अयम् स अङ्गदयौवराज्याभिषेकनिबन्धन उत्सव इत्यावसरः अस्माकं सर्वथा सर्वैः प्रकारैः हृदयङ्गमः मनोरमः, किन्तु विलीनः मृतः अयं वाली वासवं स्वपितरमिन्द्रम् व्यथयिष्यति पीडयिष्यति । इन्द्रस्य पुत्रवधजन्मा खेदः स्यात्परं वस्तु अङ्गदयौवराज्यदर्शनेन प्रमोदाय इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

सुग्रीवका अभिषेक कर रहे हैं । स्वयं राम सुग्रीवके गलेको स्वर्णकमलकी मालासे अलङ्कृत कर रहे हैं ॥

लक्ष्मण—यह हमारे लिये और खुशीकी बात है ।

(नेपथ्यमें)

हे वानर, भच्छभल्लूक, गोलाङ्गूल, सेनापतियों, आप सभीको महाराज सुग्रीव आदेश दे रहे हैं कि आप सारे यौवराज्योपकरण प्रस्तुत करें । मैं सीताकी खोज करनेके लिए हनूमान्को भेजकर अगले मुहूर्त वाले शुभ समयमें कुमार अङ्गदको युवराजपदपर अभिषिक्त करूंगा ।

लक्ष्मण—यह उत्सव हम लोगोंको अतिप्रिय है, किन्तु यह मरा हुआ वाली इन्द्रको व्यथित बना देगा ॥ ५४ ॥

---

१ 'प्रियात्प्रियतरम्' 'प्रियम्' ।   २ 'गोलाङ्गूलप्रभृतयो यूथपतयः' ।
३ 'सज्जयन्तु सज्जयन्तु' ।   ४ 'और्ध्वमौहूर्तिके काले' ।

(अन्तरिक्षे पुष्पवृष्ट्यनन्तरम् ।) जय जय जगत्पते रामभद्र,

लक्ष्म्या वालिनिबर्हणप्रशमितद्वैराज्यवैराग्यया
किष्किन्धायतनैकदैवतमयं तारापतिर्दीप्यते ।
नप्तारं युवराजमङ्गदमपि श्रुत्वातिहर्षोदभू-
द्वाष्पाम्भःपृषतौघमौक्तिकमयो गुम्फः सहस्रेक्षणः ॥ ५५ ॥

लक्ष्मणः—प्रियात्प्रियतरं नः । वयस्य गुह, तदेहि । आवामपि महोत्सवसंविभागिनौ भवावः । (इति निष्क्रान्तौ ।)

इति सुग्रीवाभिषेको नाम पञ्चमोऽङ्कः ।

लक्ष्म्येति । वालिनः निबर्हणेन विनाशेन प्रशमितं शान्तिं नीतं द्वैराज्येन वालिसुग्रीवरूपराजद्वयेन वैराग्यम् विरागो यस्यास्तथाभूतया लक्ष्म्या राजश्रिया किष्किन्धायतनैकदैवतम् किष्किन्धारूपस्थानस्याप्रतिद्वन्द्वी प्रभुः अयं तारापतिः सुग्रीवः दीप्यते समधिकं प्रकाशते । सहस्रेक्षणः इन्द्रः अपि नप्तारं स्वपौत्रम् अङ्गदम् अपि युवराजं यौवराज्याभिषिक्तं[1] श्रुत्वा निशम्य अतिहर्षात् आनन्दातिशयात् वाष्पाम्भसाम् अश्रुजलानाम् पृषतौघः बिन्दुनिवहः स एव मौक्तिकानि तन्मयः गुम्फः ग्रथनम् आनन्दाश्रुमुक्ताखचितशरीरः अभूत् । वालिनिहते राजद्वयाकर्षणप्रशमनेन स्वस्थीभूता लक्ष्मी किष्किन्धाप्रभुस्तारापतिः सुग्रीवोऽधिकं प्रकाशते, युवराजमङ्गदं श्रुत्वा हर्षाश्रुपूर्णसहस्रनेत्रतया अश्रुबिन्दूनां मुक्तारूपतया च मौक्तिकगुम्फ इवाभाति भगवान् शक्र इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते अनर्घराघव 'प्रकाशे' पञ्चमाङ्क 'प्रकाश'

(आकाशमें पुष्पवृष्टिके बाद)

जय हो जगत्पति रामभद्रकी ।

वालीके मारे जानेसे जिस लक्ष्मीका द्वैराज्य समाप्त हो गया, ऐसी लक्ष्मीको प्राप्त करके किष्किन्धाका एक छत्र सम्राट् यह तारापति सुग्रीव अधिक प्रकाशित हो रहा है, और इन्द्र भी अपने पौत्र अङ्गदके यौवराज्याभिषेकका वार्ता सुनकर अतिहर्षसे आनन्दाश्रु रूप मौक्तिक माल्य समान बन गये हैं ॥ ५५ ॥

लक्ष्मण—यह हमारे लिये प्रियसे भी प्रियतर है, मित्र गुह, चलो, हम भी उस उत्सवके समभागी बनें। (दोनों जाते हैं)

पञ्चम अङ्क समाप्त ॥

[1] 'उपशमित–'।

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति माल्यवान् ।)

माल्यवान्—(सर्वतोऽवलोक्य सखेदम् ।) अहह कष्टम् ।

> दग्धा प्रदीप्तपावकपरिचयपिण्डस्थहेमवेश्मानः ।
> क्षणमुत्पुच्छयमाने हनुमति लङ्कापुरोद्देशाः ॥ १ ॥

अपि च—

> निजकिरणौघप्रमुषितनिम्नोन्नतरूपकर्मभेदेषु ।
> मणिभवनेषु कृशानुज्वालाः फलतोऽनुमीयन्ते ॥ २ ॥

दग्धा इति । हनुमति तन्नामके रामदूते वानरे क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम् उत्पुच्छयमाने स्वपुच्छं चालयति सति लङ्कापुरोद्देशाः लङ्कानगर्याः सर्वेऽपि प्रदेशाः प्रदीप्तस्य प्रज्वलितस्य पावकस्य वह्नेः परिचयेन सम्बन्धेन पिण्डीभावमुपगतानि हेमवेश्मानि काञ्चनगृहाणि यत्र तथाभूताः सन्तो दग्धाः भस्मीभूताः । हनुमतीव देव स्वपुच्छं चालयति सति समस्तापि लङ्कापुरी तत्पुच्छनिर्गतपावकसम्बन्धाद्दग्धा, स्वर्णभवनानि यस्याः पिण्डाकारमलभन्तेति महतः खेदस्य विषय इत्याशयः । आर्यावृत्तम् ॥ १ ॥

निजकिरणौघेति । निजकिरणौघेन स्वकान्तिसमुदयेन प्रमुषिताः सर्वथा लुप्ताः निम्नोन्नतरूपाः उच्चावचाः कर्मभेदाः शिल्पविशेषा येषां तादृशेषु मणिप्रभाभरान्तर्हितशिल्पकार्यसमुदयेषु मणिभवनेषु लङ्कानगरस्थमणिमयगृहेषु कृशानुज्वालाः वह्निदीधितयः फलतः दाहभस्मादिकार्यवशात् अनुमीयन्ते, न तु स्वरूपतस्तदवगमः, मणिकिरणानां वह्निसमप्रभत्वात् । मणिभवनेषु वर्तमानो वह्निः प्रभासाम्येन पृथक् प्रतीतिविषयो न भवति, किन्तु सन्तापभस्मविकिरणादिफलैः प्रतीतिविषयः क्रियते इति भावः ॥ पूर्वोक्ताविपरीत वृत्तम् ॥ २ ॥

(अनन्तर माल्यवान्का प्रवेश)

माल्यवान्—(चारों ओर देखकर सखेद) अहा, खेद है,

प्रज्वलित वह्निके सम्पर्कमें हेम प्रासाद पिण्डाकार होकर जल रहे हैं, लङ्काको पूछकी आगमें हनुमान्ने क्षणभरमें जला दिया ॥ १ ॥

और निजकिरण समुदायसे निम्नोन्नतरूप कर्मभेदोंके छिप जानेसे मणिमय भवनोंमें लगी [illegible] आगकी ज्वाला फलसे ही अनुमित होती है ॥ २ ॥

(विमृश्य ।) अहो दुर्निवारता भवितव्यतायाः ।

दो संदोहवशंवदत्रिभुवनश्रीगर्वसर्वंकष
कैलासोद्धरणप्रचण्डचरितो वीरः कुबेरानुजः ।
यत्रायं स्वयमस्ति सेयममरावत्यापि वन्द्या पुरी
नीता मर्कटकेन कामपि दशां धिग्दैवमावश्यकम् ॥ ३ ॥

[1]न किंचिदेतद्वा रावणदुर्नयेन । (सखेदमाकाशे ।) आः पौलस्त्य,

भवितव्यतायाः—भाविवस्तुनः दैवस्य वा, दुर्निवारता अप्रतिरोध्यता, भाविवस्तु निश्चितं भवत्येवेति भावः । यद्यपि भवितव्यमिति तव्यप्रत्ययस्य भावविहिततया ततस्तल् न प्राप्नोति, समानार्थकप्रत्ययद्वयनिषेधात्तथापि भवितव्यमित्यत्र कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते इति नियमेन धर्मिपरत्वमास्थाय तल्प्रत्ययः कृतो बोध्यः, अत एव भवभूतिरपि प्राहुदक्—'प्रायः शुभं च विदधात्यशुभं च जन्तोः सर्वंकषा भगवती भवितव्यतैव' ॥

दो संदोहेन दोः सन्दोहेन भुजसमुदायेन वशंवदाया वशीभूतायाः त्रिभुवनश्रियः त्रैलोक्यसमृद्धेः गर्वस्य सर्वंकषः स्ववशीकारविषया गर्वापहारी, कैलासोद्धरणप्रचण्डचरितः कैलासाचलधारणप्रकटीकृतभीषणकृत्यः अयम् वीरः कुबेरानुजो यत्र लङ्कायाम् स्वयमस्ति आत्मना वासं करोति, अमरावत्या इन्द्रनगर्या अपि वन्द्या स्वापेक्षया गौरवशालितया प्रशंसनीया पुरी लङ्कानगरी मर्कटकेन एकेन लघुना वानरेण कामपि वर्णयितुमशक्यां दशां परिस्थितिं नीता, आवश्यकं निश्चयेन भावि अवश्यम्भावि दैवम् भाग्यम् धिक् । यत्र रावणो वसति सा लङ्कापि एकेन लघुना वानरेणेमां दशां गमितेति भाग्यायत्तं सर्वम् इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

न किंचिदेतद्वा रावणदुर्नयेन रावणकृतदुराचारस्य पुरतो नेदं किंचित्, इतोऽपि भीषणामापदं रावणस्य दुराचारः फलिष्यतीति भावः ।

(विचार करके) अहो, भवितव्यता बड़ी दुर्निवार होती है ।

बाहु समुदायसे वशीकृत त्रिभुवनकी सम्पत्तिसे गर्वित, कैलासको उठाकर प्रचण्ड चरित प्रकट करनेवाला यह वीर कुबेरानुज रावण, जहाँ पर स्वयं वर्तमान है, ऐसी तथा अमरावतीसे भी वन्दनीय यह लङ्कापुरी एक मर्कटके द्वारा इस दशाको पहुँचा दी गई, अवश्य भावी दैवको धिक्कार है ॥ ३ ॥

रावणकी दुर्नीतिके आगे यह कुछ नहीं है । (सखेद आकाशमें) आः पौलस्त्य,

१ 'न किंचिदेतद्रावणस्य दुर्नयेन', 'न किंचिदेव तावद्रावणस्य दुर्नयेन' ।

विद्याश्चतुर्दश चतुर्षु निजाननेषु
सव्याधदुस्थितजनीरवलोक्य वेधाः ।
[1]ताभ्योऽपराणि नियतं दश ते मुखानि
त्वस्य नप्तुरकरोत्स कथं जडोऽसि ॥ ४ ॥

(क्षणं च ध्यात्वा [2]सव्यथम् ।) [3]कथमेव विशीर्यतीव न कुलमिदम् ।
खराद्रीन्रामोऽक्षमोऽ मरुत्सुतश्च मारुति ।
स्वयं निष्कासयामास दशास्यश्च विभीषणम् ॥ ५ ॥

विद्या इति । वेधा ब्रह्मा चतुर्षु चतुःसंख्यकेषु निजाननेषु स्वमुखेषु चतुर्दश विद्या सव्याधदुस्थितजनीः सङ्कीर्णदुःखावस्थानकष्टमनुभवन्तीः अवलोक्य दृष्ट्वा ताभ्य विद्याभ्य ता विद्या सुखं वासयितुम् नियतं निश्चयेन प्राप्तुं स्वपौत्रस्य ते रावणस्य दश मुखानि अकरोत् स त्वं कथं जडः स्वहितचिन्तनविषये मूर्खः असि । ब्रह्मा स्वस्य चतुर्षु मुखेषु चतुर्दशानां विद्यानां वासं तासां विद्यानां सङ्कीर्णदेशावस्थान कष्टं दृष्ट्वा तासां पृथक् पृथक् सुखवासाय स्वप्रपौत्रस्य रावणस्य तव दशमुखानि कृतवान् , एतादृशस्यापि तव दुर्विनीततामाश्रय पराभव एव जायत इति शोच्य मेति भाव , उत्प्रेक्षाऽलङ्कार , 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तर । धर्म शास्त्रं पुराणं च विद्या एताश्चतुर्दश' इति विद्या । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४ ॥

विशीर्यतीव नश्यतीव ।

खरादीन् इति । राम खरादीन् राक्षसान् मारुति हनुमांश्च वानरम् अक्षनाम रावणस्य पुत्रम् कनीयांसं हतवान् , दशास्य रावणश्च स्वयम् आत्मना विभीषणम् निष्कासयामास नगरात् बहि प्रेषितवान् । तद्विधं न कुलं जीवत इति भाव ॥ ५ ॥

चौदह विद्याओंको अपने चारमानमुख में कष्टपूर्वक वास करते देखकर ब्रह्माने और अपने पौत्र रावणके दशमुख बना दिये जिससे सभी विद्यायें अलग अलग मुखोंमें आराम भावसे रह सकें, वही रावण इस समय क्यों जड हो रहा है ॥ ४ ॥

(थोड़ी देर सोचकर, सपीड़) हमारा यह कुल क्यों इस तरह छिन्न भिन्न होता जा रहा है ? ।

खरादिको रामने और वन्य अक्षको हनुमान्ने मार दिया , स्वयं रावणने भी विभीषणको निकाल दिया । ५ ॥

---

१ 'अस्य' । २ 'सव्यथम्' इति क्वचिन्नास्ति ।

३ 'कथमेव शीर्यतीव न कुलम्' ।

अलं वा [1]दुर्विहितमतीतमुपालभ्य। [2]सम्प्रति सिन्धोरुदीचि तीरे निवेशितस्कन्धावारो दाशरथिः [3]किमारम्भ इति कथं प्रतीमः। (पुरो दृष्ट्वा।) कथं राघवचरितानि चरितुं प्रहितयोः शुकसारणयोः सारणः।

(प्रविश्य।)

सारणः—जयतु जयतु सनिष्ठमातामहः।

माल्यवान्—(अभिनन्द्य समीपमुपवेश्य च।) वत्स सारण, अपि इदमुनैव पदेन सुवेलस्कन्धादागतोऽसि।

सारणः—अथ किम्।

माल्यवान्—तद्यथानुभवमभिधीयतां तावत्।

सारणः—सारसख्ये वनौकसामस्मन्मुखेनैव शतशः प्रणीते मातामह

दुर्विहितम् अनौचित्यनाचरितम्। अतीतम् भूतम्। उपालभ्य दूषयित्वा। उदीचि तीरे उत्तरतटे। निवेशितस्कन्धावारः स्थापितकटकः। किमारम्भः किंकर्मा कुत्र कार्ये लग्नः। चरितुम् चरभावेन ज्ञातुम्। प्रहितयोः प्रेषितयोः।

अमुनैव पदेन सम्प्रत्येव।

यथानुभवम् यथाज्ञातम्।

सारसख्ये बल गणना च। वनौकसाम् वानराणाम्। शतशः अनेकधा।

बुरी तरह उत्पन्न होनेवाले अतीतका शिकायत करना व्यर्थ है, इस समय समुद्रके उत्तर तटपर सेनाका पड़ाव किये राम क्या कर रहा है यह कैसे जाना जाय? (आगे देखकर) क्यों रामकी स्थिति जाननेके लिये भेजे गये शुक और सारणमेंसे सारण है।

(प्रवेश करके)

सारण—जय हो, छोटे मातामहकी जय हो।

माल्यवान्—(अभिनन्दन करके समीपमें बैठाकर) वत्स सारण, अभी अभी सुवेल कटकसे आ रहे हो क्या?

सारण—और क्या?

माल्यवान्—तब अपना अनुभव कहो।

सारण—वानरोंके बल तथा संख्याके विषयमें आपने मेरे मुखसे सैकड़ों बार सुना है

---

१ 'दुर्दैवम्'। २ 'सम्प्रति' इति क्वचिन्नास्ति। ३ 'किमारम्भते'।

महेनालमुक्त्वा । अधुना तु सेतुग्रथनाय मिलितेषु वानरसैनिकेषु [1]वानरमूर्तिधरोऽप्यहं महाराजविभीषणेन—(इत्यर्धोक्ते सभयम् ।) आर्य, चिरसंवासेन रामराजधानीप्रवादो मामनुबध्नाति ।

माल्यवान्—(साकूतम् ।) किमभिषिक्तः कनिष्ठवत्सो राघवेण ।

सारणः—अथ किम् ।

माल्यवान्—(क्षणमिव [2]स्तब्धः स्थित्वा निःश्वस्य ।) वत्स, निःशङ्कमभिधेहि ।

सारणः—कुमारविभीषणेन ज्ञात्वा सयत्य चाहं रामस्य दर्शितः ।

माल्यवान्—(साशङ्कम् ।) ततस्ततः ।

सारणः—ततश्च राघवेण निजसचिवनिर्विशेषमुपगृह्य[3] पुरस्कृत्य च प्रहितोऽस्मि ।

प्रतीते भवता ज्ञाते । सेतुग्रथनाय समुद्रे सेतुबन्धाय चिरसंवासेन बहुकालं निवासेन । यतोऽहं वानररूपमास्थाय चिरं रामकटके न्यवसं तेन तत्र यथा विभीषणं विशेषणतया महाराजपदमुच्चारयामि स्म, तथात्रापि तदभ्यासवशादुच्चारितवानिति भावः । रामराजधानीप्रवादः रामकटके कृतोऽभ्यासः । अनुबध्नाति अनुवर्तते । अभिषिक्तः अभिषेकं प्रापितः ।

ज्ञात्वा मां परिचित्य । सयत्य बद्ध्वा ।

निजसचिवनिर्विशेषम् स्वमन्त्रिसमानभावेन । उपगृह्य स्वसमीपे उपवेश्य । पुरस्कृत्य सत्कारं कृत्वा । प्रहितः राजनगरं प्रेषितः ।

अब उसे दुहराना व्यर्थ है । इस समय सेतु बाँधनेके लिए एकत्रित वानरोंके साथ वानरमूर्ति धारण करके मैं काम करने लगा कि महाराज विभीषणने—(इतना कहकर सभय) आर्य, राम राजधानीमें चिरकाल तक रहनेसे मैंने ऐसा कह दिया है ।

माल्यवान्—(साभिप्राय) क्या विभीषणको रामने अभिषिक्त भी कर दिया ?

सारण—और क्या ?

माल्यवान्—(थोड़ा देर स्तब्ध रहकर, निःश्वास छोड़कर) निडर होकर कहो बेटा,

सारण—कुमार विभीषणने मुझे पहचान लिया और बाँधकर रामके पास पहुँचाया ।

माल्यवान्—(आशङ्काके साथ) इसके बाद ?

सारण—इसके बाद रामने अपने मन्त्रीकी तरह बैठाया, आदर किया और भेज दिया ।

---

१ 'मायावानरमूर्तिधरोऽपि महाराज–' । २ 'स्तब्धवत्' । ३ 'उपसगृह्य' ।

माल्यवान्—(सहर्षम् ।) किमुच्यते यावद्द्रव्यभावी [1]गुणो हि विजिगीषूणामुदात्तता । विशेषेण [2]पुनरयं रामभद्रः । [3]यतः ।

अभेदेनोपास्ते कुमुदमुदरे वा स्थितवतो
विपक्षादम्भोजादुपगतवतो वा मधुलिहः ।
अपर्याप्तः कोऽपि स्वपरपरिचर्यापरिचय
प्रबन्धः साधूनामयमनभिसंधानमधुरः ॥ ६ ॥

अथ शुकः किमासीत् ।

सारणः—अहमपि न जानामि ।

यावद्द्रव्यभावी सर्वेषु द्रव्येषु स्थितः व्यापी, विजिगीषूणाम् विजयं कामयमानानाम् । ये विजयेच्छवस्ते सर्वेऽप्युदात्ता भवन्त्येवेति रामस्योदात्तता स्वाभाविकीति भावः । 'न विकारं विकारस्य हेतौ यदवगाहते, तदुदात्तं गुणः' इति दण्डी । पुनरयं रामभद्रः अयं रामः पुनर्विशेषेणोदात्त इति त्वदुक्तं सत्यमेव स्यादिति भावः ।

अभेदेनेति । कुमुदम् उदरे स्वाभ्यन्तरभागे स्थितवतः वर्त्तमानान् विपक्षात् कुमुदशत्रो अम्भोजात् पद्मात् वा उपगतवतः समायातान् मधुलिहो भ्रमरान् अभेदेन समभावेन उपास्ते परिचरति । अयम् एतादृशः साधूनाम् अनभिसन्धानमधुरः उपकारानुपकारपर्यालोचनशून्यतया हृद्यः कोऽपि स्वपरपरिचर्यापरिचयप्रबन्धः आत्मपरोपासनाप्रकारः अपर्याप्तः असीम इति । कुमुदं यस्स्वोदरवर्त्तिनः स्वशत्रुपद्मप्रकाशादागतान्वा भ्रमरान्समभावेनाराधयति, तत् । साधुजनानाम् उपकारादिविचाररहितेयम् हृद्यः स्वपरोपासनाप्रकारो निस्सीमः स्थितो बोध्यः ॥६॥

माल्यवान्—(हर्ष के साथ) विजिगीषु जनमें उदारता सदा रहा करती है, खास करके रामके विषयमें क्या कहना है, क्योंकि —

कुमुद अपने उदरमें बैठे हुए तथा शत्रुभूत कमलके पाससे आये हुए भ्रमरोंको एक भावसे सत्कार करता है । साधुजन बिना किसी कपटके निज परकी पहचान बिना किये ही आदर करते हैं, यह बात साधुजनोंमें पूरा मात्रामें रहती है ॥ ६ ॥

और शुक क्या हुआ ?

सारण—यह मैं भी नहीं जानता हूं ।

---

१ 'हि गुणो' । २ 'असौ' । ३ 'किं च' ।

माल्यवान्—(विमृश्य ।) वत्सविभीषणस्य रामोपश्लेषेण मनुष्य व्यसनमिति प्रमुग्धोऽस्मि ।

सारण —आर्य, तथा [1]धर्मवृत्तिरार्यमन्तानश्च कुमारः कथं ज्यायांसं भ्रातरमवधूय [2]प्रतिपक्षवर्ती प्रवृत्तः ।

माल्यवान्—वत्स, दशग्रीवं पृच्छ । (निःश्वस्य ।) [3]अथवा दैवम् ।

सारण —आर्य, यदि श्रवणार्होऽस्मि तदा निवेदय ।

माल्यवान्—वत्स, केसरिकलत्रसम्भवेन प्रभञ्जनसूनुना विलुण्ठितामशोकवनिकामवलोक्य [4]राजा तदा विभीषणमवोचत् । यथा—वत्स, पश्य मनुष्यपोतद्वयावष्टम्भेन [5] दुरात्मना कपिकीटेन कथं विजृम्भितम्' इति ।

मनुष्य व्यसनम् स्वकुलोत्पन्नजनोत्पन्नं दुःखम् । प्रमुग्धः किङ्कर्तव्यविमूढः, धर्मवृत्तिः धर्मनिष्ठः । आर्यमन्तानः भद्रवंशोद्भवः । कुमारः विभीषणः । ज्यायांसम् ज्येष्ठम् । अवधूय तिरस्कृत्य, विहाय । प्रतिपक्षवर्ती शत्रुसङ्गतः ।

दशग्रीवं पृच्छ केन हेतुना विभीषणो रावणं विहाय राममाश्रित इति रावण एव वक्तुमर्हति तस्यैव तत्र कारणत्वादित्यर्थः । अथवा दैवम् भाग्यवशादेव रावणो विभीषणस्य वाक्यमपमानयामास इति भाग्यमेवात्र प्रष्टव्यं न रावण इति भावः । श्रवणार्हः श्रोतुमधिकारी विश्वासपात्रं च । निवेदय कथय ।

केसरिकलत्रसम्भवेन केसरिणो वानरभेदस्य । कलत्रे स्त्रियामञ्जनाभिधायाम्, सम्भवः उत्पत्तिर्यस्य तेन प्रभञ्जनसूनुना वायुसुतेन हनुमता । विलुण्ठिताम् विना

माल्यवान्—(विचार कर) वत्स विभीषणका राममें मिल जाना स्वकुलोत्पन्न व्यसन है, मैं इससे किङ्कर्तव्यविमूढ हो रहा हूं ।

सारण—उस तरहके धर्मात्मा तथा कुलीन आचारवाले विभीषण अपने बड़े भाईको छोड़कर शत्रुसे जा मिले ।

माल्यवान्—वत्स, यह बात रावणसे पूछो (सांस छोड़कर) अथवा भाग्यसे,

सारण—यदि मैं सुनने के योग्य होऊँ, तो कहा दीजिये ।

माल्यवान्—केसरीकी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न वायुके पुत्र हनूमान्‌के द्वारा उजाड़ दी गई अशोकवाटिकाको देखकर तुम्हारे राजा रावणने विभीषणसे कहा कि वत्स विभीषण, देखो तो मनुष्य बालकोंके आश्रयमें रहनेवाले इस कपि कीटका करतब तो देखो ।

---

१ 'धर्मप्रवृत्तिः' । २ 'प्रतिपक्षवृत्तिं सम्पन्नः', 'विपक्षवर्ती सम्प्रति संवृत्तः' ।
३ 'यदि वा' । ४ 'राजा ते दशास्यो', 'राजा वनायम्' । ५ 'अवष्टम्भेन' ।

सारण — ततस्ततः ।

माल्यवान्—ततो विभीषणः प्रणम्य व्यजिज्ञपत्—'देव,

जातिं मानय मानुषीमभिमुखो दृष्टस्त्वया हैहयः
स्मृत्वा वालिभुजौ न सांप्रतमवज्ञातुं च ते 'वानराः ।
तत्पौलस्त्यमहाग्निहोत्रिणमहं त्वामेतदभ्यर्थये
सीतामर्पय मुञ्च च क्रतुभुजः काराकुटुम्बीकृतान् ॥ ७ ॥

सारणः—(सबहुमानाश्चर्यम् ।) अहह, 'वालिभुजौ' इति ब्रुवता मातामहेन किमपि[2] स्मारितोऽस्मि । आर्य

शिताम् । तथाप राजा रावणः । मनुष्यपोतद्वयानष्टम्भेन मनुष्यबालकद्वयबलेन । कपिकीटेन वानराधमेन । विजृम्भितम् आचरितम् ।

व्यजिज्ञपत् रावणं विज्ञापितवान् ।

जातिमिति । मानुषीं जातिम् मनुष्यान् मानय आदरेण पश्य, त्वया अभिमुखः समामे सम्मुखीभूतः हैहयः कार्तवीर्यः दृष्टः स्वयमेव साक्षात्कृतः, (मनुष्यजातिरेव कार्तवीर्यस्त्वां समामे दुरवस्थमकरोदतस्त्वया मनुष्यजातौ हीनताबुद्धिर्न कार्या) वालिभुजौ स्वपराभवितुर्वालिनो वानरभेदस्य भुजौ स्मृत्वा ध्याने कृत्वा सम्प्रति ते वानरा अवज्ञातुं न तिरस्कर्तुं न योग्या इत्यर्थः । तत् तस्मात् मनुष्यवानरयो रादरणीयत्वात् हे पौलस्त्य, अहं तव भ्राता महाग्निहोत्रिणम् अग्निहोत्रपरायणं त्वाम् अभ्यर्थये प्रार्थये सीताम् अर्पय रामाय प्रत्यर्पय, काराकुटुम्बीकृतान् कारागारनिवेशितान् क्रतुभुजो देवांश्च मुञ्च मुक्तबन्धनान् कुरु, आभ्यामेव कर्तव्याभ्यां कृताभ्यां तव सर्वथा सौख्यं नान्यथेति भावः ॥ ७ ॥

सारण—इसके बाद ?

माल्यवान्—इसके बाद विभीषणने हाथ जोड़कर कहा—

मनुष्य जातिका आदर कीजिये क्योंकि आपने स्वयं हैहयको देखा है, बालिके बाहुओंको याद करके अब वानरोंका अपमान करना ठीक नहीं होगा। अतः पौलस्त्यके पुत्र तथा महान् अग्निहोत्री आपसे मेरी प्रार्थना है कि सीता रामको लौटाएँ और बन्दी किये गये देवोंको मुक्त कर दें ॥ ७ ॥

सारण—अहा ! 'बालिभुजौ' कहकर आपने कुछ याद करा दिया है आर्य

---

१ 'वानराः' । २ 'किमपि' इति क्वचिन्नास्ति ।

किमाचक्षे सेतुक्षितिधरशिरःश्रेणिघर्षणे
　　प्रकोष्ठे नीरोम्णः कपिभटभुजस्तम्भनिवहान् ।
सुमेरोर्मात्सर्यादनतिचिरसरूढमृदुभिः
　　शिरोभिर्विन्ध्यो यद्भरमपि न सोढुं परिवृढः ॥ ८ ॥

(साशङ्कम् ।) ततस्ततः ।

माल्यवान्—ततश्च रोषान्धतामिस्रे[1] मज्जता राक्षसराजेन तथा चेष्टितं यथा विपक्षमप्याश्रितः ।

किमाचक्षे इति । सेतवे समुद्रे सेतुं रचयितुम् क्षितिधराणां पर्वतानां शिरःश्रेणयः शृङ्गसमूहास्तासां कषणे सङ्घर्षमानयने प्रकोष्ठे कूर्पराद्धोभागे नीरोम्णः रोमरहितान् पर्वतशृङ्गसङ्घर्षणेन च्युतकेशान् कपिभटभुजस्तम्भनिवहान् वानरगणहस्तसमूहान् किम् आचक्षे कथयामि सुमेरोर्मात्सर्यात् स्पर्धावशात् अनतिचिरम् नूतनम् सरूढैः सञ्जातैः अत एव मृदुभिः सुकुमारैः शिरोभिः शृङ्गैः विन्ध्योऽपि यद्भरम् येषां कपिभटभुजस्तम्भनिवहानां भरम् अपि सोढुं न परिवृढः क्षमः । अयमाशयः—समुद्रे सेतुनिर्माणार्थं पर्वतशृङ्गाहरणेन प्रकोष्ठदेशे घृष्टरोम्णः कपिभटभुजस्तम्भनिवहानां विषये किं कथयामि, तेषां भारमपि केवलं विन्ध्योऽपि सुमेरुस्पर्धया समुन्नावितैर्नूतनैः शिरोभिः सोढुं न क्षमते किमुत तद्बलं सहेत, इत्याशयः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ८ ॥

रोषान्धतामिस्रे कोपरूपे गाढान्धकारे, नरके च, कोपस्य नरकत्वमपि दुःखमूलतया । विपक्षमप्याश्रितः विभीषणः शत्रुणा सन्धाय समाश्रितः, कुपितरावणदुर्व्यवहारवशादेव राममाश्रित इत्यर्थः ।

सेतुके लिये लाये गये पर्वतोंके सघर्षणसे कोहनीपर रोमरहित वानरभुजस्तम्भोंके विषयमें क्या कहूँ, सुमेरुकी डाहसे तत्काल बढनेवाले अपने नवीन मस्तकशिखरोंसे विन्ध्याचल जिनके भारको भी सहन नहीं कर सका ॥ ८ ॥

(साशङ्क) इसके बाद ?

माल्यवान्—इसके बाद रोषरूप अन्धकारमें डूबते हुए राक्षसराजने ऐसा किया कि विभीषण शत्रुसे भी जा मिला ॥

१ 'तमसि' ।

सारण—(सखेदमाकाशे ।) हा देव पुलस्त्यनन्दन, कथं भवतैव वैधर्म्यदृष्टान्तेन 'मानतो मूलोच्छेदनिमित्तान्निवर्तिष्यते लोकः । (साम्यर्थनं च।)

अरिषड्वर्ग एवायमस्यास्तात पदानि षट् ।
तेषामेकमपि च्छिन्दन्नक्षय ²भ्रमरीं श्रियम् ॥ ९ ॥

(मन्त्रिणं प्रति ।) आर्य, यदनया राघवेण व्यूढां वानरवरूथिनीमुत्प्रेक्ष्य शङ्के—विभीषण ³एव यदस्माकं कुलतन्तुरवशिष्येत ।

माल्यवान्—(निःश्वस्य ।) वत्स, द्वयोरपि कटकयोस्तत्त्वज्ञोऽसि । तत्किमिदानीमुचितम् ।

वैधर्म्यदृष्टान्तेन विपक्षे दृष्टान्तभूतेन, यो मानं रचति स विपद्यते यथा रावण इति दृष्टान्तेन लोको मूलोच्छेदे समूलविनाशे निमित्तात् कारणतां गतात् मानतोऽभिमानात् निवर्तिष्यते, यद्वा विगतो धर्मो विधर्मः स एव वैधर्म्यं तेन दृष्टोऽन्तो यस्य तादृशेन भवतेति प्रतिपाद्योऽर्थः ।

अरिषड्वर्ग इति । हे तात अरिषड्वर्गः कामक्रोधलोभमोहमदमानरूपः षड्वर्गः एव अरयः लक्ष्म्याः षट् पदानि प्रयाणसाधनानि सन्ति, तेषां पदानाम् एकमपि पदम् छिन्दन् परित्यज्य खण्डयन् भ्रमरीं चञ्चलस्वभावां श्रियम् लक्ष्मीं यत्नेऽक्षमां स्थिरां कुरु । अभिमाने त्यक्ते तव लक्ष्मी स्थिरा भवेदिति तथा कुर्वित्यर्थः । भ्रमर्या अपि षट् पादाः लक्ष्म्या अपि कामादयः षट् सञ्चरणसाधनानीति लक्ष्मीर्भ्रमरीत्वेन रूप्यते ॥ ९ ॥

व्यूढाम् व्यूहं निर्माय स्थापिताम् । वरूथिनीम् सेनाम् । उत्प्रेक्ष्य दृष्ट्वा । शङ्के सम्भावयामि । कुलतन्तुः वंशसूत्रम् । तन्तुरिव तन्तुर्वंशधरः सन्तानशेष इत्यर्थः ।

सारण—(खेद प्रकाशकर) हा देव पुलस्त्यपुत्र क्या आपको ही विपक्ष दृष्टान्त बनाकर समूलोच्छेदमूल अभिमानसे लोग निवृत्त होंगे ।

काम क्रोधादि अरिषड्वर्ग ही इस भ्रमरीकी तरह चञ्चल लक्ष्मीके छः चरण हैं, इनमें से किसी एकको भी काटकर आप लक्ष्मीको स्थिर बनावें ॥ ९ ॥

(मन्त्रिवरके प्रति) आर्य ! रामने वानरसेनाका जो व्यूह रचा है उसे देखकर मैं समझता हूँ कि विभीषणही हमारे कुलके प्रवर्तक रूपमें बच सकेंगे ।

माल्यवान्—(निःश्वास छोड़कर) वत्स, तुम दोनों सैन्योंके तत्त्वज्ञ हो, बताओ अब क्या करना उचित है ? ।

---

१ 'अनुमानत' । २ 'भ्रामरीम्' । ३ 'एवास्य' ।

सारण—आर्य, नन्वेव ब्रवीमि—राजपुत्रोऽङ्गदोऽसौ [1]बालो नव[2]बुद्धिरामपात्रमिव यद्यदाधीयते तत्तदाशु चूषति ।

माल्यवान्—ततः किम् ।

सारण—ततश्च भवत पितृवैरिणा रामसुग्रीवौ व्यापाद्य किष्किन्धाया भवन्तमभिषिच्य वालिसोहृदस्यात्मानम[3]नृणमिच्छामि इति [4]गूढप्रणिधिमुखेन दशकन्धरादेशमभिधाय सुग्रीवान्तिकादपवाह्यते । तस्मिन्नपक्रान्ते तु[5] स्वगृहमहिभयोपजापजर्जरमपश्यमाणो वानरपति शिथिलितरामप्रयोजन स्यात् ।

कदक्षयो रामरावणसेनासन्निवेशयो । तथ्यम् यथार्थस्थितिवक्ता । आमपात्रम् अपक्व शरावादिभाण्डम् । आधीयते स्थाप्यते । आशु चूषति पिबति, आशु गृह्णाति, यथा आमपात्रे मज्जलादि दीयते तत्पात्र तदाशु गृह्णाति तथैव बाले राजपुत्रेऽङ्गदे यदुपदेच्यते भेदबुद्धिजनक तत्सर्वमसौ स्वीकरिष्यति, तदङ्गद एव भेदनीति प्रयुज्यापरञ्जनीय इत्याशय । आशुचूषतीति शुद्ध रूप वा प्राचीनम् । भवत अङ्गदस्य । पितृवैरिणो वालिघातू । व्यापाद्य हत्वा । अनृणमिच्छामि वालिना सह मम या मैत्री आसीत्तत्प्रत्युपकार कृत्वा मुक्तो भवितु कामये । गूढप्रणिधिमुखेन गुप्तचरद्वारा । अपवाह्यते अन्यत्र नीयते । तस्मिन् अङ्गदे । अपक्रान्ते भिन्नेऽन्यत्र गतेऽपरक्ते सति । अहिभयोपजापजर्जरम् स्वपक्षप्रभवभयेन उपजापेन भेदेन च जर्जरम् आकुलम् । 'महीभुजामहिभय स्वपक्षप्रभव भयम्', 'समौ भेदोपजापौ च' इत्युभयत्रामर । शिथिलितरामप्रयोजन । परित्यक्तरामकार्य ।

सारण—आर्य, मैं यह कहता हूँ कि राजकुमार अङ्गद अभी नवबुद्धिवाला है, उसे जो समझाया जायगा वही समझेगा, जैसे कच्चे पात्रमें जो चीज रखी जाती है उसेको वह चूसता है ।

माल्यवान्—आप वालिपुत्रके पास गुप्तचर भेजकर यह कहलायें कि रावणने कहा है—'तुम्हारे पितृवैरी राम लक्ष्मणको समाप्त करके किष्किन्धामें राजा बनाकर तुमको बैठाकर मैं वालिके सौहृदका ऋण चुकाना चाहता हूँ' ऐसा कहलाकर अङ्गदको सुग्रीवशिविरसे निकाल लिया जाय, उसके चले जानेपर अपने घरमें फूटसे जर्जर होकर सुग्रीव रामके प्रयोजनके प्रति शिथिल हो जायगा ।

सारण—उसके बाद ।

---

१ 'बालोऽसौ'। २ आममिव पात्रम्'। ३ 'अनृणमात्मानम्', 'आनृण्यमात्मन'। ४ 'निरूढ'। ५ 'च'।

([1]विमृश्य ।) वत्स सारण, वालिवधविशुद्धपार्ष्णिरनेकवानरानीकनायकेन साक्षादुपकृतेन सख्या सुग्रीवेण महापक्षस्य हनुमच्चरितज्ञातास्मदीयवृत्तेरयमेव सुविहितसकलाभियास्यत्कर्मणस्तस्याभियोगसमयः ।

सारणः—[2]आर्य, अयमेवात्मद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुरिति प्रथमोदाहरणं दाशरथिः ।

दित सूर्ये स्वकरस्थं कमलं विकासयिष्यति, किंच चन्द्रः प्राग्ग्रहणभयाल्लीन आसीत् ततस्तत्रस्थामृतस्य स्वल्पतया स्वादो नासीत्, सम्प्रति तद्भयविगमे पुनरागतस्वादस्य तस्य करा दयेभ्यः स्वदन्ते इत्याशयः । अमृतभुजामिति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११ ॥

वालिवधविशुद्धपार्ष्णिः वालिनो वधेन समासन्नपृष्ठदेशस्थशत्रुः । अनेकवानरानीकनायकेन बहुवानरसैन्यसनाथेन । साक्षादुपकृतेन वालिवधद्वारा सम्यगेवोपकृतेन । महापक्षस्य प्रबलपक्षस्य । हनूमच्चरितेन ज्ञाता अस्मदीयवृत्तिः अस्माकं स्थितिर्येन तथोक्तस्य । सुविहितं सर्वाङ्गसम्पन्नं सकलम् अभियास्यत्कर्म विपक्षोपरि आक्रमणात् पूर्वतनं कर्तव्यं येन तथाभूतस्य । अयमेव अभियोगसमयः आक्रमणकालः । वालिवधेन तस्य पृष्ठशत्रोरभावो जातः, सुग्रीवस्य सहायतां कृत्वा तत्सङ्गिनं विधाय स तदीयसैन्यसहायतया सपक्षोऽभूत्, हनूमन्तं प्रेष्य तद्द्वारा सोऽस्मदीयां स्थितिं ज्ञातवान्, तदित्थं सर्वाणि युद्धपूर्वकर्तव्यानि कृत्वा सन्नद्धस्य रामस्यायमेवाक्रमणोचितः काल इति बोध्यम् ।

आत्मद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नः आत्मद्रव्याणि प्रकृतयश्च तत्सम्पन्नः, आत्मद्रव्याणि सम्पदः, ता उक्ता यथा 'बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा । भावशुद्धिर्दया सत्यं नियमश्चात्मसम्पदः'। प्रकृतयश्चोक्ता यथा 'अमात्यराष्ट्रदुर्गाणि कोषो दण्डश्च पञ्चमः । एताः प्रकृतयः पञ्च विजिगीषोरुदाहृताः'। 'एताः पञ्च तथा मित्रं सप्तम

(विचार करके) वत्स सारण, वालिके मारे जानेसे रामको पृष्ठभय नहीं रह गया, साक्षात् उपकृत तथा अनेकविध वानर सैन्यवाले सुग्रीवके साथ मित्रता हो जानेसे रामका पक्ष मजबूत हो गया, हनुमानके आचरणसे उसने हमारे सारे वृत्तान्त जान लिये, इसतरह उसने आक्रमणकी सारी तैयारी कर ली है, अतः रामके द्वारा आक्रमणका यही उपयुक्त समय है ॥

सारण—आर्य, विजिगीषुको स्वयं गुणवान् नीतिनिपुण होना चाहिये इसके प्रथम उदाहरण राम ही हैं ।

---

१ 'विमृश्य च'। २ 'आर्य, एवमेतत्'।

माल्यवान्—(स्तम्भं नाटयित्वा ।)

यत्तस्मिन्निहतेऽपि वालिनि वयं क्षुद्रास्तथैवास्महे
तद्युक्तं भुजयोर्बलादपि बलं दुर्गस्य दुर्निग्रहम् ।
मर्त्येनापि जगद्विलक्षणगुणग्रामेण रामेण तु
द्वे गव्यूतिशते हि नाम कियती तीर्णोऽयमर्णोनिधिः ॥ १२ ॥

(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य । आकाशे ।)

तर्षोत्तिष्ठत्तिलेलिहानरसनारम्यैर्मुखैरग्रिम

पृथिवीपतिः । सप्तप्रकृतिकं राज्यमित्युवाच बृहस्पतिः[1]। नयस्य नीतिशास्त्रस्य । अधिष्ठानम् आश्रयो जातः । प्रथमोदाहरणम् आद्यो दृष्टान्तः । दाशरथिः रामः ।

यत्तस्मिन्निति । तस्मिन् प्रसिद्धपराक्रमे वालिनि निहते रामेण मारितेऽपि वयं क्षुद्रा नीचप्रकृतयः तथैव उदासीना एव आस्महे तिष्ठामः, तत् अस्माकमुदासीनतयासनं युक्तम्, यतः भुजयोर्बलात् बाहुद्वयपराक्रमापेक्षया दुर्गस्य बलं दुर्निग्रहम् अतिक्रमितुं कठिनम् । दुर्गस्य सागरस्य दुरतिक्रमतया वयं यद् वालिनिहतेऽपि तथा अतिष्ठाम तदस्माकमाचरणं युक्तमेवासीदित्यर्थः ।

तु किन्तु मर्त्येनापि मनुष्यमात्रेणापि जगद्विलक्षणगुणग्रामेण लोकातिशायिगुणसमूहशालिना रामेण द्वे गव्यूतिशते चतुःशतक्रोशाः नाम कियती कियद्दूरं नाम अयम् अर्णोनिधिः सागरः तीर्णः तीरं प्राप्य पारं गतः । सागरं तीर्णवता रामस्य कृते द्वे गव्यूतिशते कियती स्वल्पपरिमाणे अतितुच्छे इत्यर्थः, अस्मात् सम्प्रति सोऽयं रामो यत्सागरं शतयोजनविस्तीर्णमपि लङ्घितः, तदधुना चिन्ताविषय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

तर्षोत्तीति । हे वत्से कैकसि निकषायाः पुत्रि रावणमातः वत्सस्य रावणस्य

माल्यवान्—(ठिठक कर) उस बालिके मारे जाने पर भी हम क्षुद्र उसी तरह उदासीन बने बैठे रहे, फिर भी हमपर आक्रमण नहीं हुआ था इसका कारण तो यह था कि बाहुके बलसे भी दुर्गका बल अधिक दुर्जय होता है अतः सागर मध्यस्थ होनेसे हमपर अबतक आक्रमण नहीं हुआ। जगद्विलक्षणगुणशाली राम मानव होकर भी दो सौ योजन विस्तीर्ण इस सागरको पारकर लिया, अब आक्रमण होना ही चाहिए ॥ १२ ॥

(दीर्घ तथा उष्ण श्वास लेकर आकाशकी ओर) रावणके दशमुखोंमेंसे दो ही मुख

---

१ 'तद्युक्तम्'। २ 'विजितर'।

क्रन्दन्ती क्रमशः पपौ दशमुखी वत्सस्य यस्याः स्तनौ ।
वत्से नकषि[1] विश्ववीरजननी सीमन्तमुक्तामणिः
सा तादृग्भवती कथं गुणवतः पुत्रस्य किं द्रक्ष्यति ॥ १३ ॥

सारणः—[2]शान्तं शान्तम् । प्रतिहतममङ्गलम् । अनर्थशङ्कीनि बन्धुहृदयानि भवन्ति । किं च आर्ये,

भुजनिवहविहङ्गिकावलम्बी निबिडगुणौघधृतोऽपि राज्यभारः ।

दशमुखी दशानां मुखानां समाहारः तर्षेण पिपासया या आर्त्तिः पीडा तया व्यतिलेलिहानाः पुनः पुनः स्तनपानाभिलाषिण्यो रसना जिह्वा ताभिः रम्यैः सुन्दरैः अष्टभिः मुखैः क्रन्दन्ती सती यस्यास्तव स्तनौ क्रमशः पर्यायेण पपौ पीतवती (हे रावणमातः बाल्यस्य रावणस्य दशमुखानि युगपदेव मातुः स्तनद्वयं पातुमिच्छन्तिस्म, तत्र द्वयोरेव मुखयोः पानेऽवसरलाभसंभवः, शेषाणि मुखानि तृष्णया जिह्वा प्रसार्य रोदितुं प्रावर्त्तन्त) एतादृशस्यालौकिकस्य पुत्रस्य जननी भूत्वा विश्ववीरजननीसीमन्तमुक्तामणिः लोकैकवीरसुतजनकतया सकलवीरप्रसूवन्दनीया सा तादृक् भवती गुणवतः पुत्रस्य रावणस्य किं मरणरूपमनिष्टं कथं द्रक्ष्यति ? एतादृशस्य पुत्रस्य मरणरूपमनिष्टं भवत्या द्रष्टव्यमिति महत्कष्टमिति भावः ॥ १३ ॥

अनर्थशङ्कीनि अनिष्टसम्भावनापराणि, अतिस्नेहस्य पापशङ्कितया बन्धवः स्वबन्धूनामनिष्टमेव शङ्कन्तेऽत एव भवत्याऽपीत्थमाशङ्क्यते, वस्तुतस्तु वयमहितमापतद्वारयिष्याम एवेत्याशयः ॥

भुजनिवहेति । भुजनिवहो बाहुसमूह एव विहङ्गिका भारवहनसाधनकाष्ठम् (यत्र शिक्यद्वारा भारं आलम्ब्य तिष्ठति 'बहँगी' इति भाषायां प्रसिद्धा) तदवलम्बी

स्तन पी सकते थे, क्योंकि तेरे दो ही स्तन थे, शेष आठ मुख तृष्णाते उत्पन्न आर्त्तिके कारण रसन्याती आँखोंसे सुन्दर बन गये थे, रो रहे थे, इस प्रकार तुम्हारा वह पुत्र क्यामें क्या होने जा रहा है, हे त्रिभुवनवीरजननी शिरोमणि वत्से नैकषि ! तुम इस दशाको किस प्रकार देख सकोगी ? ॥ १३ ॥

सारण—शान्त शान्त, अमङ्गलका नाश हो, बन्धुजनके हृदय अनर्थकी शङ्का किया करते हैं । आर्य,

बाहुसमुदायरूप बहँगीपर लटकता हुआ निबिडगुणराशियुक्त होकर भी यह राज,

---

[1] कैकसि' । [2] 'शान्तं पापम्' ।

स्वयमपि दशकन्धरे धुरीणे स्खलति यदि [1]स्खलनं तदास्य रूपम् ॥१४॥

मास्यवान्—(अश्रूणि स्तम्भयन् ।) वत्स,

विद्वानपावृत्तमिव [2]स्वभाग्यं न तावदात्मानमहं ब्रवीमि ।
महामुनेर्विश्रवसस्तपोभिर्निवापबीजं यदि न स्म कुले स्यात् ॥ १५ ॥

(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तः शुकः)

तदाश्रितः, निबिडगुणौघः घनतया स्थितो रज्जुभरः शिक्यरूपः तेन दृढम् अवष्टब्धोऽपि राज्यभारः स्वयं दशकन्धरे रावणे धुरीणे धूर्वहे सत्यपि यदि स्खलति पतति तदाऽस्य राज्यभारस्य स्खलनं पतनं रूपम् प्रकृतिः (एवमिति मन्तव्यं स्यात्) भारपतने कारणत्रयं विहङ्गिकादोषः, शिक्यदोषः, वाहकदोषश्च तदत्र राज्यभारे रावणस्य विंशतिर्भुजा एव विहङ्गिकारूपा इति न तद्दोषः, शिक्यदोषोऽपि नास्ति रावणीयघनगुणभाररूपशिक्योत्तम्भितत्वादस्य भारस्य, वाहकदोषस्तु वक्तुम् शक्य एव स्वयं दशकन्धरस्य रावणस्य धूर्वहत्वादयापि यद्यपि राज्यभारो नश्यति तदाऽस्य राज्यस्य पतनं स्वाभाविकमेव न कारणसापेक्षमिति मन्तव्यं भवतीति तात्पर्यम् । एककन्धरेण धृतो भारः कदाचित्स्खलत्यपि दशकन्धरधृते तु भारे न तत्सम्भव इत्यपि व्यज्यते ॥ १४ ॥

विद्वानिति । स्वभाग्यम् निजशुभादृष्टम् अपावृत्तम् अपगतम् इव विद्वान् जानन् अहम् तावत् आत्मानं न ब्रवीमि स्वभाग्यविपर्ययं जानन्नप्यहं समर्थं स्वमात्मानं नाभिदधे, स्वात्मनोऽपि निजभाग्यविपर्ययमहं गोपयामीत्यर्थः । महामुनेर्विश्रवसो रावणपितुः तपोभिः यदि न कुले निवापबीजं जलाञ्जलिदाननिमित्तं स्यात्, विश्रवसस्तपःप्रभावादेव न कुले कोपि जलाञ्जलिदानायावशिष्येत, न त्वस्माकं भाग्येनेत्यर्थः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १५ ॥

यदि स्वयं दशकन्धररूप भारवाहक स्खलित हो जायेंगे तो स्खलित होकर रहेगा ॥ १४ ॥

माल्यवान्—(आँसूको रोककर) वत्स, अपने भाग्यको अपगत जानता हुआ भी मैं इस बातको सबसे नहीं कहता हूँ, यदि इस वंशमें कोई पानी देनेवाला शेष रह जायगा तो इसे विश्रवा मुनिके तपका माहात्म्य समझना ॥ १५ ॥

(पर्दा हटाकर घबराये हुए शुकका प्रवेश)

---

1 'स्खलितम्' । 2 'स्वभाग्यात्' ।

शुकः—

प्रहस्तधूम्राक्षमहोदरादीन्व्यापाद्य सेनाधिपतीनमात्यान् ।
स एष लङ्कामुपरुध्य रामः शाखामृगैरर्णवमातनोति ॥ १६ ॥

माल्यवान्—(सविषादम् ।) पुरस्तादेव दृष्टमिदमस्माभिः । देशकालव्यवहितस्यापि प्रमेयग्रामस्य [1]यथामुखीनमादर्शतलं हि स्थविरबुद्धिः । (निरूप्य । आकाशे ।) साधु रामभद्र, साधु । विजिगीषोरमोघसूनृता हि कार्यसिद्धेरवश्यम्भावः ।

प्रहस्तेति— स एष रामः प्रहस्तधूम्राक्षमहोदरादीन् तत्तन्नामकान् सेनापतीन् अमात्यान् सेनानायकान्मन्त्रिणः व्यापाद्य हत्वा शाखामृगैः वानरैः लङ्काम् उपरुध्य समन्ततो वेष्टयित्वा अर्णवम् समुद्रम् आतनोति विस्तारयति, रामसैनिकेषु वानरेषु सत्सु तरङ्गेषु तैरवरुद्धः सागरः स्वल्प इव सङ्कुचित इव सञ्जातवस्म, सम्प्रति तेषु सैनिकवानरेषु लङ्कां परितो वेष्टयित्वा स्थितेषु सागरस्य विस्तारः प्रकटीभूत इति मन्ये रामो वानरैर्लङ्कामुपरुध्य सागरं विस्तारयतीवेत्यर्थः ॥ १६ ॥

पुरस्तात् पूर्वम् । दृष्टम् ध्यानदृष्ट्याऽवगतम् । देशकालव्यवहितस्य दूरदेशे कालान्तरे च स्थितस्य, देशान्तरहितस्य कालव्यवहितस्य च । प्रमेयग्रामस्य वस्तुसमुदायस्य । यथामुखीनम् सम्मुखस्थवस्तुग्राहि । आदर्शतलम् दर्पणतलम्, यथा दर्पणे सत् सम्मुखीनं प्रतिफलति तथा स्थविरबुद्धावपि सर्वमेव दूरस्थितं भूतं भविष्यच्च वस्तुजातं प्रतिफलतीत्यर्थः । स्थविरबुद्धिः वृद्धजनप्रज्ञा । एतेन पुरस्तादेव दृष्टमिदमस्माभिरिति समर्थितम् । विजिगीषोः विजयकामयमानस्य । अमोघसूनृता क्षिप्रकारिता । कार्यसिद्धेः प्रारिप्सितविजयसिद्धेः, अवश्यभावः निश्चयेन सिद्धिः, विजिगीषुर्यदि क्षिप्रमारभते कार्यं तदा तस्य कार्यमवश्यमाप्नोतीति भावः ।

शुक—प्रहस्त, धूम्राक्ष, महोदर प्रभृति सेनापति मन्त्रियोंको मारकर रामने लङ्काको घेर लिया है और वानरोंसे सागरको व्याप्त कर दिया है ॥ १६ ॥

माल्यवान्—(विषाद से) मैंने यह पहले ही समझ लिया था । वृद्धजनोंकी बुद्धिमें देश काल व्यवहित रहनेवाले भी पदार्थ स्पष्ट झलका करते हैं । (विचारकर, आकाशमें) साधु रामभद्र, साधु, विजिगीषुमें क्षिप्रकारिताका कार्यसिद्धिका अवश्य होना समझना चाहिये ।

---

[1] 'समुखीनम्'।

सारण —सखे शुक, अथ किं विधानो यातुधानेश्वरः ।

शुकः —(सखेदस्मितम् ।) सखे, किं नाम्य विधानम् ।

श्रुत्वा दाशरथी सुवेलकटके साटोपमर्धं धनु-
　　ष्टङ्कारैः [1]परिपूरयन्ति ककुभः प्रोञ्छन्ति कौक्षेयकान् ।
अभ्यस्यन्ति तथैव चित्रफलके लङ्कापतेस्तत्पुन-
　　र्वैदेहीकुचपत्त्रवल्लिरचनाचातुर्यमर्धं कराः ॥ १७ ॥

माल्यवान्—(निःश्वस्य ।) हा वत्स रावण, कथमद्यापि सैव[2] हृद-

किंविधानः किमाचारः, यातुधानेश्वरः राक्षसराजो रावणः । रावणः किमाचरति इति प्रश्नाशयः ।

तस्य किं विधानम् न किमपि विशिष्याचरति राक्षस इत्युत्तरम् ।

श्रुत्वा दाशरथी इति । लङ्कापतेः रावणस्य अर्धं कराः विंशतिमध्यवर्तिषु भुजेषु दशभुजाः सुवेलकटके सुवेलनामकपर्वतस्य नितम्बभागे (समागतौ) दाशरथी रामलक्ष्मणौ श्रुत्वा तत्प्रत्यागमं वाञ्छिशम्य धनुष्टङ्कारैः ककुभः दिशः परिपूरयन्ति भरन्ति, कौक्षेयकान् खड्गान् प्रोञ्छन्ति मार्जनादिना मलं दूरयन्ति । पुनः अर्धं अवशिष्टाश्च रावणस्य दशकराः चित्रफलके सीतायाः सम्मुखावस्थापिते चित्रे तत् पूर्वाभ्यस्तम् वैदेही सीता तस्याः कुचयोः स्तनयोः पत्त्रवल्ल्याः पत्त्रावल्याः रचनायाः निर्माणस्य चातुर्यम् पाण्डित्यम् अभ्यस्यन्ति गुणयन्ति । सीतायाः कुचयोः कर्तुमिष्यमाणस्य पत्त्रावलीविरचनस्याभ्यासं कुर्वन्तीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १७ ॥

हृदयपरिस्पन्दमुद्रा मनसस्तव चपला गतिदशा, सम्प्रत्यपि यथ पूर्वं दर

सारण—सखे शुक, अब रावण क्या कर रहे हैं ?

शुक—(खेदके हँसीके साथ) सखे, उनके करनेका क्या पूछ रहे हो ?

राम-लक्ष्मणको सुवेल तटमें आये सुनकर रावणके आधे हाथ घमण्डके साथ धनुष्टङ्कारसे दिशाओंको निनादित कर रहे हैं, तलवारको पोंछ रहे हैं और आधे हाथ पूर्वकी तरह चित्रफलक पर वैदेही कुचकुम्भों पर पत्ररचना चातुर्यका अभ्यास कर रहे हैं ॥ १७ ॥

माल्यवान्—(निःश्वास छोडकर) हा वत्स, क्यों, आज भी तुम्हारे हृदयको चलि

---

१ प्रविदारयन्ति'। 　 २ सैव ते हृदयपरिपन्थिनी परिस्पन्दमुद्रा'।

यपरिस्पन्दमुद्रा। (शुकं प्रति।) वत्स, अथ गोपुरगौल्मिकबलाध्यक्षेण वत्सेन नरान्तकेन किं प्रतिपन्नम्।

शुक—(निःश्वस्य।) [1]मातामह, कृतैव कुमारेण द्वारमर्यादा। परमङ्गदेन [2]सोऽपि। (इत्यर्धोक्ते सास्रमधोमुखस्तिष्ठति।)

माल्यवान्—हा वत्स दशग्रीवनन्दन, कथमिदं [3]तव द्रष्टुमेतावन्तं कालमस्माकमायुः।

(नेपथ्ये।)

भो भो महापार्श्वप्रभृतयः सैनिकाः,

व्यावर्तध्वमुपाध्वमुद्धुरशरज्वालामुखीं मातरं
देवीमक्षमयीं प्लवङ्गपशवः पश्यन्ति पृष्ठानि वः।

प्रपरं हृदयं वहसीति तात्पर्यम्।

गोपुरे पुरद्वारे यानि गौल्मिकबलानि सैनिकवीरास्तदध्यक्षेण पुरद्वारावस्थितसैन्यसमुदयप्रधानेन। प्रतिपन्नम् आचरितम्।

द्वारमर्यादा द्वारप्रतिष्ठा, द्वाररक्षकोचितं युद्धमित्यर्थः, अङ्गदेन सोऽपि नरान्तकोऽपि हत इति शेषः। दशग्रीवनन्दन रावणतनय नरान्तक। इदं तव मरणम्। एतावती मम दीर्घजीविता कथं तव मरणं द्रष्टुमेव सृष्टा विधात्रेति खेदध्वनिः।

व्यावर्तध्वमिति। व्यावर्तध्वम् निवर्तध्वम् युद्धान्मा पलायध्वम्, उद्धुरा उत्कटा या शरज्वालामुखीम् उत्कटशस्त्रज्वालाप्रकटनसमर्थाम् अक्षमयीम् देवीं मातरम् उपाध्वम् आराधयत, प्लवङ्गपशवः नीचा अमी वानरा वः युष्माकं

पुरानी ही है। (शुकसे) वत्स, गोपुरस्थित सेनाकी टुकड़ीके अध्यक्ष नरान्तककी क्या स्थिति है?

शुक—(निश्वास छोड़कर) मातामह, कुमार नरान्तकने द्वारकी प्रतिष्ठा रखी, परन्तु अङ्गदने उसे भी (इतना ही कहकर रोता हुआ सिर झुका लेता है)

माल्यवान्—वत्स रावणपुत्र, क्यों तुम्हारी यही दशा देखनेके लिये मेरी इतनी बड़ी आयु हुई।

(नेपथ्यमें)

अये महापार्श्व प्रभृति सैनिको,

लौटो, रणों मुख्य बाणज्वालामुखी देवी माताकी उपासना करो–ये अभागे वानर

---

१ 'मातामह' इति क्वचिन्नास्ति। २ 'सोऽपीत्यम्'। ३ 'तव' इति क्वचिन्नास्ति।

चेत् शक्रजितोऽपि लक्ष्मणवधे वक्षोत्सवं मध्यम
पौलस्त्यः स्वयमायुधं विधृतवानद्यापि रामाद्भयम् ॥१८॥

सारणः—(श्रुत्वा सहर्षम् ।) आर्य, जातं जातमवलम्बनम्[1] । यद्य प्रतिबुध्य कुमारकुम्भकर्णः पुरस्कृत्य च मेघनादमभ्यमित्रीणः संवृत्तः ।

माल्यवान्—(निःश्वस्य ।) स्वस्ति विजयेतां रामलक्ष्मणौ कुम्भकर्णमेघनादौ[2] ।

शुकः—(सविषादमात्मगतम् ।) शान्तं शान्तम् । कथमविशिष्टकर्तृकर्मभावमुभयत्र द्विवचनं प्रयुक्तमार्येण ।

युद्धात्पलायमानानां पृष्ठानि दृष्टानि परयन्ति नैतद्युक्तमतो निवर्तध्वमिति भावः । शक्रजितः मेघनादस्यापि चेत् लक्ष्मणवधे वक्षोत्सवम् धृतमहोत्साहम्, मध्यमः पौलस्त्यः पुलस्त्यस्य मध्यमः पुत्रः, कुम्भकर्णः स्वयम् आयुधम् अस्त्रं धृतवान् युद्धोद्यतः जातः, अद्यापि रामात् भयम् । लक्ष्मणवधायेन्द्रजिति धृतव्रते कुम्भकर्णे च रणोन्मुखे रामाद् भयस्यानुचितत्वेन भवतां युद्धात्पलायनं नितरां निरर्थकं दुरर्थकं चेति भावः ॥ १८ ॥

प्रतिबुध्य निद्रां त्यक्त्वा । पुरस्कृत्य अग्रेकृत्वा, प्रशंसावचनैः सत्कृत्य वा । अभ्यमित्रीणः शत्रुसम्मुखीनः ।

अविशिष्टकर्तृकर्मभावम् विशिष्य कर्तारं कर्म वाऽबोधयत् । 'विजयेतां रामलक्ष्मणौ कुम्भकर्णमेघनादौ' इत्यत्र रामलक्ष्मणौ कुम्भकर्णमेघनादौ च' इत्युभयो पदयुगलयोः द्विवचनान्ततोक्ता, कर्तरि कर्मणि च सा समा, तत्र कस्य कर्तृता कस्य वा कर्मतेति कथं ज्ञायतामित्याशयः ।

परन्तु तुम्हारा पीठ देख रहे हैं, इन्द्रजित्का हृदय भी लक्ष्मणको मारनेके लिये उत्साहित हो रहा है, और कुम्भकर्णने भी स्वयम् अस्त्र पकड़ लिया है, आज भी रामसे भय ? ॥१८॥

सारण—(सुनकर सहर्ष) आर्य, हम लोगोंको अवलम्बन मिल गया, अब कुम्भकर्णकी नींद खुल गई है और वह इन्द्रजित्को आगे करके शत्रुओंसे भिड़ने चले हैं।

माल्यवान्—(साँस लेकर) राम लक्ष्मण (पर) कुम्भकर्ण मेघनाद (के ऊपर) विजयी हों।

शुक—(सविषाद स्वगत) शान्त शान्त, आपने कर्त्ताकर्मका भेद नहीं करके सामान्यतः द्विवचनका प्रयोग कैसे कर दिया ।

---

1 'जातम्' इत्येकवारमेव क्वचित् ।　　2 'मेघनादौ च' ।

माल्यवान्—(सखेदम् ।) वत्सौ शुकसारणौ, [1]अद्य राक्षस-लक्ष्मीः सर्वथा कुम्भकर्णमवलम्ब्य[2] वर्तते । इदं तु न विद्म ।

अग्रजं वा दशग्रीवमनुजं वा विभीषणम् ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वीरः कमभिषेक्ष्यति ॥ १९ ॥

(नेपथ्ये ।)

मा भैष्ट कमठेन्द्रपन्नगपती कश्चिन्न वैशेषिको
भूमेरद्य भरः पतिः पलभुजामाज्ञापयत्येष वाम् ।

शुकः—(सहर्षम् ।) नूनमस्मदीयैर्विशेषेण, किमपि विक्रान्तम् ।

(माल्यवानवधत्ते ।)

कुम्भकर्णमवलम्ब्य वर्तते तदधीना, यदि कुम्भकर्णो जयति तदा राजलक्ष्मी रक्ष्यतेऽन्यथा गतेयमिति तात्पर्यम् ।

अग्रजमिति । वीरः कुम्भकर्णः अग्रजं ज्येष्ठम् दशग्रीवं वा अनुजं कनिष्ठं विभीषणं वा कम् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् विजयपराजयाभ्याम् अभिषेक्ष्यति योजयिष्यति ? स्वजये दशग्रीवं स्वपराजये विभीषणं वा कमयं वीरो युध्यमानः कुम्भकर्णो योजयिष्यति विजयश्रियेति न निश्चिनोमीत्यर्थः ॥ १९ ॥

मा भैष्टमिति । हे कमठेन्द्र कूर्मराज पन्नगपति शेषनागश्च तौ !, एष पलभुजां रक्षसां पतिः रावणः वाम् युवाम् आज्ञापयति, युवाम् मा भैष्टम् भयं कुरुतम् , अद्य भूमेः पृथिव्याः भरः भारः कश्चित् वैशेषिकः अधिकः न, कुम्भकर्णशरीरपातेन

माल्यवान्—(सखेद) वत्स शुक और सारण, आज राक्षस लक्ष्मी सर्वथा कुम्भकर्णपर अवलम्बित हो रही है। यह नहीं समझमें आ रहा है कि—

वीर कुम्भकर्ण अपनी विजयके द्वारा अग्रज रावणको अभिषिक्त करेंगे या अपने पराजयके द्वारा अपने अनुज विभीषणको गद्दीपर बैठायेंगे ॥ १९ ॥

(नेपथ्यमें)

हे कूर्मराज तथा शेषनाग, आप भय न करें, पृथ्वीपर अब (राक्षसोंका) अधिक भार नहीं रहा, तुम्हारे मालिकका यही आदेश है।

शुक—(हर्षके साथ) निश्चय हमारे सैनिकोंने कुछ विशेष विक्रम प्रदर्शन किया है।

(माल्यवान् मनोयोग देता है)

---

१ 'राजलक्ष्मी'। २ 'अवलम्बते'।

(पुनर्नेपथ्ये ।)

दोःशैलौ हरता पृथक्पृथगथो मूर्धानमुत्क्षिप्नुना
रामेणापि लघूकृतं पतति यत्तत्कौम्भकर्णं वपुः ॥ २० ॥

माल्यवान्—हा वत्स । (इति मूर्च्छितः पतति ।)

उभौ—(सास्रम् ।) आर्य, समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

माल्यवान्—(आश्वस्य ।) [1]वत्सौ, जीवतो रामभद्रस्य मैथिलीहरणादेतदस्माभिरान्तरेण चक्षुषा विषयीकृतमेव । किमिदानीं [2]समाश्वसितव्यमस्ति ।

शुकः—धिक्कष्टम् । 'कौम्भकर्णं वपुः पतति' एतदपि देवेनाज्ञापयितव्यम् ।

नाधिको भारः स्यादिति युवाभ्यां न भेतव्यमिति भावः, भाराधिक्याभावे कारणमाह—दोःशैलाविति । यत् यस्मात् पृथक् दोःशैलौ पर्वतोपमौ कुम्भकर्णस्य भुजौ अथो पृथक् मूर्धानम् शिरः उत्क्षिप्नुना ऊर्ध्वं क्षिपता रामेण अपि लघूकृतम् अल्पभारतां नीतम् तत् कौम्भकर्णं वपुः शरीरं पतति । पृथिव्या भारस्तदा वर्धेत यदि समग्रं कुम्भकर्णशरीरं पतेत्, तदत्र नास्ति, कुम्भकर्णस्य बाहू शिरश्च रामः पृथक् पृथक् उपरि क्षिप्तवान्, अतश्च भारवृद्धेरसम्भवात् भवतोर्भयं नेति तात्पर्यम् ॥२०॥

जीवतो रामभद्रस्य जीवन्तं रामभद्रमनादृत्य । मैथिलीहरणात् सीतापहारात् । आन्तरेण चक्षुषा भावनादृष्ट्या । विषयीकृतम् ज्ञातम् ।

देवेन महाराजरावणेन । आज्ञापयितव्यम् आदेष्टव्यम् । रावणः कुम्भकर्णशरीरपातविषये कथमादेष्टुमशक्यतामिदं सहतयाऽस्य दुःखभारस्येति भावः,

---

(फिर नेपथ्यमें) बाहुरूप पर्वतोंको पृथक् तथा मस्तकको पृथक् फेंकनेवाले रामने जिसको हल्का बना दिया है वह कुम्भकर्णका शरीर गिर रहा है ॥ २० ॥

माल्यवान्—हा वत्स, (कहकर मूर्च्छित होकर गिरता है)

दोनों—(रोते हुए) आर्य, धीरज धरिये, धीरज धरिये ।

माल्यवान्—(आश्वस्त होकर) रामके जीते रहनेपर रावणने जब सीताका अपहरण किया उसी समय मैंने मनमें यह बात जान ली थी, अब क्या धीरज धरना है ? ॥

शुक—हाय, कष्ट, कुम्भकर्णका शरीर गिर रहा है, यह आज्ञा भी रावणको देनी पड़ गई ।

---

१ 'वत्स शुक' । २ समाश्वसितम्' । ३ 'आज्ञापितव्यम्', 'अज्ञायि' ।

माल्यवान्—वत्स, अद्यापि [1]रावणस्याज्ञा। नूनमन्योन्येषां वैहासिकाः कपयो दशकण्ठमुल्लुण्ठयन्ति[2]।

सारणः—आः क्षुद्राः,

यद्यस्ति वीर्यमस्त्येव तत्कर्म कथयिष्यति।
मेघनादम[3]जित्वैव धिक्प्रहासविभीषिकाम्॥ २१॥

(नेपथ्ये।)

भो भो यूथपतयः, विलुम्पन्तु भवन्तो लङ्कागोपुरप्राकारतोरणानि।
संनद्धेन्द्रायुधमविरलारम्भिगीर्वाणवाण

अन्योन्येषाम् परस्परेषाम्। वैहासिकाः उपहासपरायणाः। उल्लुण्ठयन्ति उपहसन्ति, केचन वानरा आकाशे स्थिताः पक्षप्रतिपक्षभावमास्थाय रामपक्षगा रावणमेव रावणपक्षगाश्च राममुपहसन्तः क्रीडन्ति, तेषामेव रामपक्षगा रावणपक्षोपहासायेत्थमाद्यमुद्धोषयन्ति इति तात्पर्यम्।

यद्यस्तीति। यदि वीर्यम् अस्ति अस्ति एव, तत् वीर्यं कर्म क्रियमाणं पराक्रमातिशयं कथयिष्यति प्रकटं प्रत्याययिष्यति, अलमुपहस्य, यदि अस्मासु पराक्रमोऽस्ति तदा तं पराक्रममस्माकं कार्यं प्रकाशयिष्यत्येव, कृतमुपहासादिनेति भावः। मेघनादमजित्वा अपराभूय एव प्रहासविभीषिकाम् उपहासद्वारकं भयप्रदर्शनम् धिक्। यावन्मेघनादो न जीयते तावद् भयप्रदर्शनं नितान्तमनवसरदुःस्थं तस्य सर्वविधाशास्थानत्वादिति॥ २१॥

सन्नद्धेन्द्रेति। येन दुष्टग्रहेण शनैश्चरादिना दुष्टः ग्रहो ज्ञानं यस्य तादृशेन

माल्यवान्—वत्स, अब रावणकी आज्ञा क्या? आकाशमें उड़नेवाले कपिगण परस्पर रावणका मजाक कर रहे हैं।

सारण—धिक्कार है तुम क्षुद्रोंको,

यदि वीर्य है तो है हा, कर्तव्य ही उसे कहेगा, जब तक मेघनाद विजित नहीं होता है तब तक हँसना तथा डराना ठीक नहीं है॥ २१॥

(नेपथ्यमें)

हे सेनापतियो, लङ्काके गोपुरद्वार-तोरणोंको उखाड़ लें,

जिस दुष्टग्रहरूप मेघनादने इन्द्रायुधसे प्रसूत अनारत वधारम्भ करनेवाले देवगणोंकी

---

१ 'रावणाज्ञा'। २ 'उल्लुठन्ति' 'उल्लुठयन्ति'। ३ 'अजित्वापि' 'अजित्वा तु'।

श्रेणीवर्षं तदवजगृहे येन दुष्टग्रहेण ।

माल्यवान्—(सोद्वेगम् ।) आ, किमनेन श्रावयितव्योऽस्मि । (इति कर्णौ पिदधाति ।)

(पुनर्नेपथ्ये ।)

इष्ट्वा काचित्प्रहरणमयीं वीरयज्वानमिष्टिं
दिष्ट्या सोऽय समुपशमितः शक्रजिल्लक्ष्मणेन ॥ २२ ॥

माल्यवान्—सत्योऽयम् 'अतिदुःखो निर्दुःखः' इति लोकप्रवादः । यदस्मिन्नपि समूलघातमभिघ्नति [1]व्यतिकरे तथैव [3]श्वसिमि ।

इन्द्रजिता च तत् सन्नद्धन्द्रायुधम् समुद्यतशक्रचापम् अविरलारम्भि सततसक्रियम् गीर्वाणश्रेणीवर्षं देवानां बाणवृष्टिं अवजगृहे प्रत्यरुध्यत, यथा शनैश्चरादिदुष्टग्रहेण सशक्रचापं सक्रियं च वर्षं प्रतिबध्यते तथा येन दुष्टग्रहेण इन्द्रजिता शक्रचापे उद्यते सक्रिये च सत्यपि अमराः देवाना बाणवृष्टिं प्रतिबध्यते, यत्पुरतः सेन्द्रा अपि देवा बाणवृष्टिं कर्तुं न प्रभवन्ति इति भावः । इष्ट्वेति । सोऽयं समस्तभुवनख्यातः शक्रजित् काञ्चित् प्रहरणमयीम् अस्त्रस्वरूपाम् वीरयज्वानम् शूरयाज्ञिकाम् इष्टिं यागम् इष्ट्वा कृत्वा दिष्ट्या भाग्येन उपशमितः शमितः, यथा वृष्टिप्रतिबन्धकस्य दुष्टग्रहस्य यागेन उपशमनं क्रियते तथा वीरयाज्ञिकाम् शस्त्रमयीं काञ्चिद् इष्टिं कृत्वा लक्ष्मणेनासौ मेघनादः शान्तिं नीतो हत इति हृदयम् ॥ २२ ॥

अतिदुःखः अतिदुःखभाक् । निर्दुःखः दुःखशून्यः, सततदुःखेऽनुभूयमाने दुःखसात्म्यतयाऽनतिव्यथकत्वापत्तेरिति भावः । समूलघातमभिघ्नति मूलमुच्छिद्य

बाणवृष्टिको प्रतिबद्ध कर दिया था,

माल्यवान्—(उद्वेगसे) हाय यह क्या सुनाता है ?

(कान बन्द करता है)

(फिर नेपथ्यमें)

बाणप्रहारमय कुछ यज्ञ करके वीरयाज्ञिक लक्ष्मणने उस प्रतिबन्धक मेघनादको प्रशमित कर दिया ॥ २२ ॥

माल्यवान्—अतिदुःखी निर्दुःख हो जाता है यह लोगोंका कहना सत्य [illegible] क्योंकि समूलविनाश करनेवाली इस विपत्तिमें भी मैं जी रहा हूँ ।

---

१ 'अतिदुःखोऽनिर्दुःखः'। २ 'व्यतिरेके'। ३ 'विश्वसिमि'।

शुक —(ऊर्ध्वमवलोक्य ।) यथा [1]समन्तादम्बरचरविमानवीथय ककुभो मुखानि [2]पर्यवष्टभ्नन्ति तथा शङ्के दुर्वारदारुणकोपवडवानल निपीयमानशोकसमुद्रो दाशरथिविजयाय सनह्यते देव ।

सारण —(सविषादमात्मगतम्) [3]कष्टम् । कथं दाशरथिविजयाय त्यविशिष्टोपपत्तिककर्तृकर्मकारकार्थविषय वयस्यवचनम् ।

माल्यवान्—(उत्थाय ।) तदस्माभिरपि जरसा दूषितस्यात्मनः प्रक्षालनाय प्राप्तं शस्त्रधारातीर्थम् । ([4]इति मशुकसारणो निष्क्रान्तः ।)

विनाशकरे । व्यतिकरे विपत्तौ, इन्द्रजिद्वियनरूपायामित्यर्थः । समन्तात् सर्वतः । अम्बरचरविमानवीथयः देवयानपङ्क्तयः । ककुभो मुखानि दिगन्तरालानि । पर्यवष्टभ्नन्ति आवृण्वन्ति । दुर्वारः वारयितुमशक्यो यो दारुणः भीषणः क्रोध एव वडवानलः और्वाग्निस्तेन निपीयमानः शोष्यमाणः शोकसमुद्रो यस्य तथोक्तः दुर्वारकोपप्रशान्तिभितपुत्रमृत्युजन्यदुःखावेग इत्यर्थः । दाशरथिविजयाय रामजयाय सनह्यते परिकरं बध्नाति ।

'दाशरथिविजयाय' इत्यत्र दाशरथेर्विजयायेति षष्ठीसमासः । सा च षष्ठी कर्त्तरि कर्मणि चोभयत्र सम्भवति, तथा च दाशरथिकर्मको विजयः दाशरथिकर्तृको वा विजय इत्युभयथार्थः शक्यः वक्तुम्, अविशिष्टा सामान्या उपपत्तिः युक्तिः यत्र तादृशम्, कर्तृकारकविषयं कर्मकारकविषयं च वयस्यवचनम्, अत्र वयस्यवचने कर्त्तरि षष्ठी विवक्षिता कर्मणि वेति विशिष्योपपत्तिर्नोक्ताऽतो रामस्य जयो रावणेन रामेण वा रावणस्य जयो विवक्षित इति सन्दिग्धत इत्यर्थः ।

जरसा वृद्धावस्थया । दूषितस्य अनेकान् दोषान् प्रापितस्य । प्रक्षालनाय मार्जनाय । शस्त्रधारातीर्थम् अस्त्रधारास्वरूपम् जलाशयात्मकम् पुण्यस्थानम्, यथा

शुक—(ऊपर देखकर) यह जो आकाशचारियोंके विमानगण दिशाओंको आवृत कर रहे हैं उससे सम्भावना करता हूँ कि दुःसह क्रोधाग्निकी ज्वालासे रावणका शोकसागर शुष्क हो गया है और वह राम विजयके लिए तैयार हो रहे हैं ॥

सारण—(सविषाद स्वगत) हाय, 'राम विजयके लिये' इस कर्ता कर्मका स्पष्टीकरण विना किये ही वयस्यने यह शब्द कैसे कह दिया ।

माल्यवान्—(उठकर) इसलिए हम भी वार्धक्यदूषित इस आत्माकी शुद्धिके लिये शस्त्रधारा तीर्थ पा गये हैं । (शुक सारणके साथ प्रस्थान)

---

१ 'अम्बरान्तरचर्यो' । २ 'पर्यवस्तम्भन्ति', पर्यवरुन्धन्ति' । ३ 'कष्टं कष्टं दाशरथि—' 'कथं दाशरथि—' । ४ 'इति निष्क्रान्ताः' ।

विष्कम्भक ।

(ततः प्रविशति [1]विद्याधरद्वयमाकाशयानेन ।)

एक:—अहो, चिरात् कालादनया गगनवीथ्या निरातङ्कमिह सञ्चरामहे । ([2]अधोऽवलोक्य ।)

देवेन्द्रोपनिवेश्यनन्दनवनस्रक्तोरणश्लाघिनी
　　लङ्केयं दशकण्ठविक्रमसखी यस्याः समन्तादिमाः ।
युद्धालोकनकौतुकोन्मुखवधूसंकीर्णकर्णीरथा
　　रथ्याः किं कथयामि यान्ति यदमी न व्योम्नि वैमानिकाः ॥

दुर्जनस्य यथादे शुद्धय कश्चन तीर्थे मज्जनं क्रियते तथाऽहमस्य याधवयद्दूषित स्यात्मनोऽत्र युद्धे प्राणत्यागेन शुद्धिं करोमीत्यर्थ ।

अहो कालात् चिरकालानन्तरम् । अनया गगनवीथ्या अनेनाकाशमार्गेण । निरातङ्कम् निर्भयम् । इतः पूर्वं तु रावणभयाद् भीतभीता अत्र वर्त्मनि सञ्चराम इत्यर्थः ।

देवेन्द्रोपनिवेश्येति । देवेन्द्रेण शक्रेण उपनिवेश्या रावणप्रसादनाय समर्पणीया या नन्दनवनस्रक् नन्दनवनप्रसूनमाला तन्मयतोरणेन तन्निर्मितशोभितेन बहिर्द्वारेण श्लाघिनी आत्मनि श्लाघाशालिनी दशकण्ठविक्रमसखी रावणपराक्रमसङ्गिनी इयं पुरोवर्तिनी लङ्का, यस्याः लङ्कायाः समन्तात् सर्वतः इमाः युद्धालोकनकौतुकेन युद्धदर्शनोत्कण्ठया उन्मुखीभिः वधूभिः राक्षसवनिताभिः सङ्कीर्णाः व्याप्ताः कर्णीरथाः स्त्रीरथा यासु तथोक्ताः रथ्याः प्रतोलीः किं कथयामि ? यत् अमी वैमानिकाः व्योम्नि

(विष्कम्भक)

(आकाशमार्गमें विद्याधर युगलका प्रवेश)

एक—अहा बहुत दिनोंके बाद इस आकाशमार्गमें निर्भय होकर चल रहा हूँ ।

(नीचे देखकर) [3]देवेन्द्रद्वारा निवेदित नन्दनवनके पुष्पोंकी तोरणमाला धारण करके फूली न समानेवाली तथा रावणकी विक्रमसखी यही लङ्का है, जिसमें युद्धदर्शनोत्कण्ठित वनिताओंके रथोंसे गलियाँ भरी हुई हैं किससे कहूँ, देवगण अभी भी रावणके भयमे युद्धको देखने आकाशमें नहीं आ रहे हैं ॥ २३ ॥

---

१ 'आकाशयानेन विद्याधरद्वयम्' ।　　२ 'अधस्तादवलोक्य' ।

(सखेदाद्भुतम् ।) सखे हेमाङ्गद,

> एताः पश्य पलादपत्तनभुवः सौत्रामणीनां दृशां
> ¹अस्राम्भोभिरदेवमातृकगृहारामाभिरामश्रियः ।
> एतासु ²प्रतिघातिविक्रमकथोपालम्भवैतण्डिकैः
> कलसेन्द्रध्वजिनीजयानुकृतिभिर्डिम्भैरपि क्रीडितम् ॥२४॥

द्वितीयः—सखे रत्नचूड, किमुच्यते ।

न यान्ति, रावणं प्रसादयितुमिन्द्रो याः पुष्पवृष्टीरर्पयति ताभिरेव लङ्कायास्तोरणो गुम्फ्यते, रावणस्य पराक्रमाणां चेयं सन्निर्माति लङ्कापुरी नितान्तविलक्षणाऽस्ति, अस्याः हि पुर्यां रथ्यासु युद्धदर्शनोत्का राक्षसवधूना रथा व्याप्ताः, अतस्तेषु रथेषु स्थिता राक्षसस्त्रियोऽस्मान् दृष्ट्वा कुपिताः स्युरिति भयेन वैमानिका अपि न निर्भयं व्योम्नि चरन्तीति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

एता इति । एता सौत्रामणीनाम् इन्द्रसम्बन्धिनीम् दृशां नेत्रसहस्रस्य अस्राम्भोभिः अश्रुजलैः अदेवमातृकं नद्यम्बुसिक्तं गृहारामैः अभिरामश्रियः रम्यशोभाः पलादपत्तनभुवः राक्षसनगरीभूमीः पश्य एताः राक्षसनगरीस्थलीरालोकय यासु मन्दद्विन्द्रनयनसहस्रस्यवदम्भःप्रवाहैः सिच्यमाना गृहारामाः रमणीयाः श्रियः धारयन्तीत्यर्थः । एतासु राक्षसनगरीस्थलीषु डिम्भैः बालकैः अपि कलसे इन्द्रध्वजिनीजयानुकृतिभिः कृत्रिमेन्द्रसैन्यविजयानुकरणैः अत एव प्रतिघातिनां विपक्षाणां विक्रमकथासु उपालम्भे अधिक्षेपे वैतण्डिकैः विवादपरैः क्रीडितम् खेलितम् । यत्र राक्षसपुरीस्थलीषु बाला अपि कृत्रिमेन्द्रसैन्यविजयानुकृत्या शत्रुपराक्रमकथानिन्दया च क्रीडन्ति स्मेति भावः । एतेन रावणस्य पुर्या लोकोत्तरत्वमुक्तम् ॥ २४ ॥

(खेद तथा आश्चर्यसे) सखे हेमाङ्गद,

इन्द्रकी दृष्टियोंसे बराबर गिरते हुए अश्रुप्रवाहसे अदेवमातृक होकर सतत सिक्त होते रहनेसे रमणीय उद्यानवाली इन रावणपुरी भूमियोंको देखो, इन भूमियोंमें परस्पर आक्रमणकी कथामें निपुण इन्द्रसेना विजयकी अनुकृतिमें दक्ष राक्षस बालक खेला करते रहे हैं ॥ २४ ॥

दूसरा—सखे रत्नचूड, क्या कहा जाय,

---

१ 'बाष्पाम्भोभि'। २ 'प्रतिपक्ष–'।

रक्षांसीति पुरापि संशृणुमहे वीरस्तु कस्तादृशो
जागर्ति स्म जगत्त्रयीविपदलङ्कर्मीणदोर्विक्रमः ।
शश्वद्द्वारभुवि प्रशस्तिरचनावर्ण्यमानेक्षण
श्रेणीसंभृतगोत्रभिन्मयजयस्तम्भो यथा रावणः ॥ २५ ॥

रत्नचूड—सखे हेमाङ्गद, पश्य पश्य । पौलस्त्यपत्तनप्रतोलीषु दीयमाने सन्नाहपटहे

दिग्दन्तावलदन्तमौक्तिकमयद्वारस्तोरणस्रग्विणी
गीर्वाणाधिपतिप्रतीष्टनिगडोन्मृष्टान्यवन्दीशुचः ।

रक्षांसीति । पुराऽपि पूर्वमपि रक्षांसि सन्तीति संशृणुमहे परस्परमाकर्णयामः तु किन्तु जगत्त्रय्याः लोकत्रयस्य विपदि पराभवरूपापत्तौ अलङ्कर्मीणः समर्थः दोर्विक्रमः बाहुबलं यस्य स तथोक्तः लोकत्रयविजयिवीर्यः कः तादृशो वीरो यथा यादृशः शश्वत् सर्वदा द्वारभुवि रावणभवनद्वारदेशे प्रशस्तिरचनायां प्रशस्तिपद्धतौ वर्ण्यमाना अक्षरभावं गता या ईक्षणश्रेणी नयनपङ्क्तिः तया सम्भृतः युक्तः यः गोत्रभित् इन्द्रः स एव तत्स्वरूपः विजयस्तम्भो यस्य तथोक्तः रावणः अस्ति । अयमाशयः—राक्षसाः सन्तीति पूर्वमपि श्रुतं परं लोकत्रयपराभवकरदोर्विक्रमशाली तादृशो वीरः को यथाऽयम्, स्वद्वारस्थितस्येन्द्रस्य नयनैरक्षररूपैर्लिखितप्रशस्तिरचनम् तमेवेन्द्रं विजयस्तम्भतां नयन् रावणो वीरोऽस्तीति । राक्षसेषु रावणसमो वीरो न कदापि जात इति भावः ॥ २५ ॥

पौलस्त्यपत्तनप्रतोलीषु रावणनगररथ्यासु । सन्नाहपटहे संग्रामवादित्रभेदे । दीयमाने वाद्यमाने सति ।

दिग्दन्तावलेति । दिग्दन्तावलानां दिग्गजानां दन्ताः कुम्भोत्थितानि मौक्तिकानि गजमुक्ताश्च तन्मयं तन्निर्मितम् द्वारम् तोरणस्रक् बहिर्द्वारमाल्यं च तद्वन्ति दिग्गजदन्तरचितद्वारा दिग्गजकुम्भमुक्तारचिततोरणस्रजश्चेत्यर्थः, गीर्वाणाधिपतिना देवेन्द्रेण प्रतीष्टा सोढा निगडोन्मृष्टानाम् शृङ्खलानियन्त्रितानाम् अन्यवन्दीनाम्

राक्षसोंके विषयमें तो पहले ही सुनता रहा हूं, परन्तु त्रिलोकको विपदमें डाल देने वाले विक्रान्त बाहुओंसे युक्त रावणके समान कौन हुआ है, द्वारदेशपर प्रशस्तिवर्णावलीके समान नयनोंको धारण करनेवाले इन्द्रको ही जिसने विजयस्तम्भका रूप दे डाला था ॥२५॥

रत्नचूड—सखे हेमाङ्गद, देखो देखो, रावण नगरीकी गलियोंमें मारू बाजेके बजाये जाने पर

दिग्गजोंके मस्तकोंसे निकले मौक्तिकोंकी वन्दनवारको धारण करनेवाले तथा इन्द्रके

वीरश्रीसहपांसुकेलिसुहृदो मन्दोदरीबन्धुता
 [1]शौटीरासुरसुन्दरीसुरभयः क्षुभ्यन्ति रक्षोगृहाः ॥२६॥

हेमाङ्गदः—(विहस्य ।) [2]नूनमिदानीमत्र

दृष्ट्वा [3]राघवमेकराक्षसवनस्वच्छन्ददावानलं
 जानक्या निजवल्लभस्य परमं प्रेमाणमालोक्य च ।
काङ्क्षन्ती मुहुरात्मपक्षविजयं भङ्गं च मुग्धा मुहु-
 र्ध्यायन्ती [4]ध्रुवमन्तरालपतिता मन्दोदरी वर्तते ॥ २७ ॥

स्वातिरिक्तहठहृतस्त्रीणाम् शुचः शोकोच्छ्वासा येषु तथोक्ताः, देवेन्द्रोऽपि वन्दीभूतः अन्या अपि हठहृताः स्त्रियो वन्दीभूतास्तत्र अन्याः स्त्रियो यच्छोकोच्छ्वासमुत्सृजन्ति तत्तत्र स्थितेनेन्द्रेण श्रूयते सह्यते अर्थात् देवेन्द्रेण समं यत्र बहवोऽन्या वन्दीस्त्रियः सीदन्तीत्याशयेनेदं विशेषणम् । वीरश्रिया वीरलक्ष्म्या सह पांसुकेलिः धूलिक्रीडा तत्सुहृदः नित्यानुरक्तवीरलक्ष्मीका इत्यर्थः, मन्दोदरी नाम रावणमहिषी तया बन्धुता सखीभावस्तया शौटीरः गर्वो यासां तथाभूता या असुरसुन्दर्यः राक्षसस्त्रियः ताभिः सुरभयो रमणीया रक्षोगृहाः राक्षसभवनानि क्षुभ्यन्ति चञ्चलतां यान्ति । रणवाद्ये वाद्यमाने सति रक्षोगृहाः सञ्चरद्वीरराक्षसपादचारैश्चञ्चलतां गच्छन्तीत्यर्थः । 'शौटीरस्तु मतो गर्वे' इति शाश्वतकोषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २६ ॥

दृष्ट्वेति मन्दोदरी रावणमहिषी राघवम् रामम् एके अद्वितीया राक्षसा एव वनानि तेषां कृते स्वच्छन्ददावानलः निरर्गलः वनवह्निः दृष्ट्वा निजवल्लभस्य स्वप्रियस्य रावणस्य जानक्याः सीताविषये परमं प्रेमाणम् अतिप्रवृद्धामासक्तिं च आलोक्य दृष्ट्वा मुहुः आत्मपक्षस्य स्वीयराक्षसपक्षस्य विजयं काङ्क्षन्ती मुहुश्च भङ्गं राक्षसपक्षपराजयं ध्यायन्ती चिन्तयन्ती सती मुग्धा मूढबुद्धिः ध्रुवम् अन्तराले

लिए देवोंको देकर अन्य वन्दीजनके बेड़ी कष्टको छुड़ानेवाले, वीरलक्ष्मीके साथ धूलि क्रीडा करनेवाले, तथा मन्दोदरीके साथ स्नेह होनेसे गर्वयुत राक्षसियोंसे पूर्ण राक्षसोंके गृह क्षुभित हो रहे हैं ॥ २६ ॥

हेमाङ्गद—(हँसकर) निश्चय ही इस समय यहाँ,

राक्षसरूप वनके लिए स्वच्छन्द दावानल सदृश रामको देखकर तथा जानकी के लिए अपने पति रावणके हृदयमें परम प्रेम देखकर अपने पक्षका विजय चाहनेवाली तथा पराजय भी चाहनेवाली मन्दोदरी बीचमें पड़ी होगी ॥ २७ ॥

१ शौण्डीर-'। २ 'इदानीम्' इति क्वचिन्नास्ति। ३ 'एव'। ४ 'मुहुः'।

रत्नचूड —(सकरुणस्मितम् ।) वयस्य, विबुधराजविजयविक्रमक्रीतचेतसा वृद्धपितामहेन स्वयं परमेष्ठिना [1]प्रतिष्ठितेन्द्रजिन्नामधेयशेषस्य तावकस्य तनूजस्य शुचा विचेष्टमानामरातिगृहिणीमपि नैवमुपक्रोष्टुमर्हसि । (पुरोऽवलोक्य च ।) हस्तदक्षिणेन [2]कथमयं द्विधा विभज्यते महाजनः । (निरूप्य च समहाकौतुकम् ।) सखे, पश्य पश्य ।

न्यञ्चन्न्यञ्चद्धरित्रीकृतचरणभरश्चन्द्रहासैक[3]दृष्टि

पतिता द्विधाभावमाश्रयन्ती वर्त्तते । रामस्य राक्षसवधप्रवृत्ततया स्वपक्षस्य जयमिच्छति, रामस्य पराजये रावणेन सीताया लब्धाया मा परित्यज्य रावणः सीतावश एव भविष्यतीति मा स्तु रवेति स्वपक्षपराजयमिच्छति, तदित्थं रामजये राक्षसवधनाशः रावणजये स्वीयसापत्न्यदुःखं चेति सम्भवतः क्लिष्टां दशामनुभवन्ती मन्दोदरी नितरां सचिन्ता विद्यत इत्याशयः । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दम्' इत्यमरः ॥२०॥

विबुधराजेति । विबुधराजविजये इन्द्रविजये यो विक्रमः पराक्रमातिशयस्तेन क्रीतं वशीकृतं चेतो यस्य तथोक्तेन, इन्द्रजिता शक्रपराभवकाले प्रदर्शितेन पराक्रमेण वशीभूतेनेत्यर्थः । परमेष्ठिना ब्रह्मणा । प्रतिष्ठितेन्द्रजिन्नामधेयशेषस्य ब्रह्मविहितेन्द्रजिदित्यभिधानमात्रावशिष्टस्य नाममात्रशेषस्य मृतस्येन्द्रजित इत्यर्थः । तनूजस्य शुचा पुत्रशोकेन । विचेष्टमानाम् व्याकुलीभवन्तीम् । अरातिगृहिणीम् विपक्षस्त्रियम् । उपक्रोष्टुम् निन्दितुम् । शत्रोरपि स्त्रिया पुत्रविपत्तौ विह्वलता गताया निन्दा न सद्भिराचरणीया भाग्यदोषोपनतत्वात्सहानुभूतियोग्यत्वाच्चेति भावः ।

हस्तदक्षिणेन दक्षिणहस्तदिग्विभागेन । विभज्यते विभागवान् भवति । दक्षिणहस्तभागदिगवस्थितो लोकः कथं भागद्वये विभक्तो भवतीत्याशयः ।

न्यञ्चदिति । न्यञ्चन्ती पुनः पुनर्निम्नतां भजन्ती या धरित्री पृथ्वी तस्याः कृत-

रत्नचूड—(करुणा तथा हासके साथ) मित्र, इन्द्रको जीत लेनेवाले पराक्रमसे जीत हृदय वृद्ध पितामह ब्रह्माने स्वयं जिसका नाम इन्द्रजित् रखा उस पुत्रके शोकमें अधीर होकर रोनेवाली शत्रु स्त्रीकी भी इस तरह उपहास करना उचित नहीं है, (आगे देखकर) दाहिने हाथकी ओर जन-समुदाय क्यों दो भागोंमें विभक्त होता जा रहा है ? (देखकर आश्चर्यके साथ) देखो देखो—

नीचे जाती हुई पृथ्वीपर चरण रखकर चन्द्रहासको एकटक देखता हुआ, एक मात्र

१ 'प्रतिष्ठापित-'　२ 'कथमत्र'।　३ 'चित्त'।

हेमाङ्गद —(सभयम् ।) कथमय परापतित एवासमसमर[1]हर्षहेषमाणघनायुजवाजिनिवहवितीर्णकीनाशकासरकर्णज्वरेण प्रजविना रथेन कार्मुकपाणिर्महावीर[2] ।

रत्नचूड —(सभयाद्भुतम् ।)

कल्पान्तक्रूरसूरोत्करविकटमुखो मानुषद्वन्द्वयुद्ध-
क्रीडाकण्डूयदूर्जस्वलसकलभुजालोकभूयोविलक्ष ।

रावणाय स्कन्धोपनेयान् स्कन्धवाह्यान् अतिस्थूलान् मलीन् रत्नानि परिशोधयति समर्पयति । इन्द्रोऽस्मै रावणाय कल्पतरूद्भवानि माल्यादिभूषणानि (येषु परपुष्पमाल्यादिसमर्पणद्वारा स्वल्पमपि कर्तुमशक्यन्ताद्दशानि) समुद्रोऽपि कदाचिदितोऽपि प्रवरं दण्डं दद्यादिति दीनः सन् स्थूलान् नगीनर्पयति, सूचयति च यदितोऽधिका मणयो न मदाकरेषु सन्तीति अनुसन्धेर्नायाशोऽस्य रावण इत्यर्थः ॥३०॥

परापतित समागत । असमे अनुपमे समरे संग्रामे यो हर्ष उत्साहातिशय तेन हेषमाणै हेषाशब्दं कुर्वन् यो घनायुजवाजिनिवह वनायुदेशोत्पन्नाश्वसमूह तेन वितीर्ण कीनाशकासरस्य यमराजमहिषस्य कर्णज्वर श्रवणसन्तापो येन तथोक्तेन प्रजविना अतिशीघ्रगामिना । कार्मुकपाणि चापहस्त । अत्राश्वशब्देन यममहिषकर्णज्वरोत्प्रेक्षया यमराजस्य तत्र रणक्षेत्रे सन्निधानं तेन च रणस्यातिभीषणत्वमुक्तम् ।

कल्पान्तेति । कल्पान्ते प्रलयकाले क्रूर अतिप्रचण्डो य सूरोत्कर सूर्यनिवह तद्वद्विकटानि मुखानि यस्य तथाविध मानुषेण मर्त्येन रामेण यद् द्वन्द्वयुद्धं परस्परसमसंग्राम सैव क्रीडा तया कण्डूयन्त वर्तुला ऊर्जस्वला बलवन्तो ये सकला भुजा विंशतिबाहव तेषाम् आलोकेन भूयोविलक्ष अधिकलज्जित , गीर्वाणगोष्ठीनामुल्लसमानानाम् गुरुमदान् च मदो गर्वं तस्य निकष परीक्षास्थानभूत नैकषेय

हेमाङ्गद—(भयसे) अद्वितीय युद्धरसहर्षसे शब्द करनेवाले अरबी घोड़ों द्वारा यमराजके भैंसोंका कर्णज्वर उत्पन्न करनेवाले वेग रथपर आरूढ धनुर्धर यह रावण आ ही गया ।

रत्नचूड—(भय तथा आश्चर्यके साथ)

प्रलयकालिक प्रखर सूर्य सदृश मुखवाला, मानुष युगलसे युद्ध क्रीडाकी इच्छा रखने वाले हाथोंको देखकर अति लज्जित देवगणके मदको दूर करनेवाला यह रावण युद्ध

---

१ 'सहर्ष–'। २ 'महारथ'।

सम्भूयोत्तिष्ठमानस्वपरबलमहाशस्त्रसम्पातभीमा
मुर्वी गीर्वाणगोष्ठीगुरु[1]मदनिकषो [2]नैकषेयः पिधत्ते ॥ ३१ ॥

हेमाङ्गदः—(सकौतुकम् ।) सखे, दक्षिणतः पश्य तावत् ।

अगस्त्याज्ञासद्यःशमितविपुलोच्छ्रायविषमा
नुदस्यन्तः सेतावलगितवतो विन्ध्यशिखरान् ।
शिरःसत्यासत्याकृतदशमुखालोकरभसा
दुपेत्यातित्रस्ताश्चपलमपसर्पन्ति कपयः ॥ ३२ ॥

निकषागर्भसम्भवो रावणः सम्भूय मिलित्वा उत्तिष्ठमानानाम् उद्यमं कुर्वताम् स्वपरबलानाम् निजस्य विपक्षस्य च सेनानाम् महद्भिः शस्त्रसम्पातैः भीमाम् भीषणाम् उर्वी पृथ्वीं पिधत्ते आच्छादयति । प्रलयकालिकप्रचण्डसूर्यवद् भीषणमुखो द्विभुजेन मानवेन सहाहं कथं विंशत्या भुजैर्युद्धये इति बाहून् सलज्जं वीक्षमाणोऽयं रावणः स्वपराक्रमेण देवानां भुजदर्पं शमयन् स्वपरबलयोश्चोत्तिष्ठमानानां सैन्यानां शस्त्रसम्पातैर्धरणीमावृणोतीति भावः ॥ ३१ ॥

अगस्त्येति । अगस्त्यस्य मुनेः आज्ञया सद्यःशमिताः तत्कालसमाप्ताः विपुलोच्छ्राया महोन्नतयो येषां ते तथोक्ताः अत एव विषमाः तीक्ष्णमुखाः तान् सेतौ रामनिर्मितसमुद्रसेतौ अलगितवतः अलग्नान् समुद्रे सेतुं निर्मातुमानीतानपि प्रयोजनाभावात्परित्यक्तान् विन्ध्यशिखरान् विन्ध्याद्रिशृङ्गाणि उदस्यन्तः रावणसैन्योपरि क्षिपन्तः शिरःसत्यया मस्तकगगनया सत्याकृतस्य रावणोऽयमिति निश्चयितस्य दशमुखस्य आलोके दर्शने यो रभसः औत्सुक्यं ततः तस्मात् उपेत्य समीपं गत्वा तद्दर्शनादतित्रस्ताः सातिशयभीताः कपयः चपलम् सत्वरम् अपसर्पन्ति पलायन्ते । ये विन्ध्यशिखराः अगस्त्याज्ञया तत्कालमेव स्वमुन्नतत्वं परिहृतवन्तः तेऽत्र सेतुनिर्माणार्थमानीताः परं कपिभिरेव सेतौ सम्पन्नतया अव

स्वको एक साथ सन्नद्ध स्वपक्ष तथा परपक्षके द्वारा महाशस्त्रपात किये जानेसे भीषण बना रहा है ॥ ३१ ॥

हेमाङ्गद—(उत्कण्ठासे) सखे, दक्षिणकी ओर देखो—

अगस्त्यकी आज्ञासे जिन्होंने अपने उन्नयनको तत्काल रोक लिया ऐसे तथा सेतुमें नहीं काम आये विन्ध्य शिखरोंको प्रक्षेपके रूपमें फेंकनेवाले वानर सैनिक शिरको सामने प्रमाणित दशमुखोंको देखकर अतिशय भयभीत हो वेगसे दूर भाग जाते हैं ॥ ३२ ॥

---

१ 'मदनिकष'। २ 'कैकसेयो विधत्ते'।

रत्नचूड —(दृष्ट्वा सहासम् ।)

> शस्त्रीकृतान्कपिभिरापततो मुदैव
> विक्रम्य चन्दनतरूञ्छ्रयते पलादाः ।
> तत्सङ्गिनस्तु भुजगाः क्षणपाशबन्ध
> दुःखासिकामवयवेषु दिशन्त्यमीषाम् ॥ ३३ ॥

हेमाङ्गद —(विहस्य[२] ।) इतोऽपि तावत् ।

> रक्षः स्वयंवरविडम्बपराङ्मुखीभिः
> पुष्पोत्करे सुरवधूभिरनुज्झितेऽपि ।

क्षिप्तान् विन्ध्यगिरिशिखरान् रावणमेवमुद्दिश्य क्षिपन्तो वानराः शिरांसि गणयित्वा रावणोऽयमिति निश्चित्य तद्दिदृक्षया राज्ञामन्तिकमपि गत्वा अतिभ्रान्ताः सन्तः सत्वरं ततो दूरमपसरन्तीति तात्पर्यम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३२ ॥

शस्त्रीकृतानिति । पलादाः राक्षसाः कपिभिः वानरैः शस्त्रीकृतान् प्रहरणभावना नीयमानान् आपततः सम्मुखागतान् चन्दनतरून् विक्रम्य उत्प्लुत्य मुदैव हर्षेणैव श्रयते धारयन्ति, तु किन्तु तत्सङ्गिनः चन्दनतरुस्थिताः भुजगाः सर्पाः अमीषां राक्षसानाम् अवयवेषु अङ्गेषु क्षणं पाशबन्धेन दुःखासिकाम् दुःखस्थितिं दिशन्ति जनयन्ति, यद्यपि वानरक्षिप्तैश्चन्दनतरुभिः कपीनां क्लेशो न जायते तेषां कपिभि-रुत्प्लुत्य धारणात्तथापि चन्दनतरुवर्तिभिर्भुजगैः कण्ठपाशीभवद्भिः पलादानामङ्गेषु दुःखस्य स्थानं क्रियते इत्याशयः । 'आसिका' पदं भावयुडन्तम्, स्थितिरर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३३ ॥

रक्षः स्वयंवरेति । रक्षसाम् स्वयंवर एव विडम्बः गर्हितो व्यापारस्तत्र पराङ्मुखीभिः विमुखतां गताभिः सुरवधूभिः सुराङ्गनाभिः पुष्पोत्करे पुष्पसमूहे अनुज्झिते अवृष्टेऽपि (संग्रामहतानां रक्षसां वरणे लज्जामनुभवन्तीभिर्देवबालाभिस्तेषां

रत्नचूड—(देखकर सहास)

वानरों द्वारा शस्त्रके रूपमें प्रयुक्त चन्दन तरुओंको यह राक्षस आनन्दसे ऊपर ही लोक लेते हैं, उन चन्दन तरुओंमें छिपटे हुए सर्प इन राक्षसोंको पाशबन्धका कष्ट कुछ देर तक अवश्य देते हैं ॥ ३३ ॥

हेमाङ्गद—(हसकर) इधर भी—

राक्षसोंके स्वयं वरणसे पराङ्मुख सुराङ्गनायें यद्यपि पुष्पवृष्टि नहीं करती हैं तथापि

---

१ 'मुदैवम्' । २ 'सहासम्' ।

शस्त्रीकृतेन तरुणा हरिणा हतोऽसौ
नक्तञ्चरः स्वपिति तत्कुसुमावकीर्णः ॥ ३४ ॥

रत्नचूड —(चिरं विभाव्य ।) सखे, पश्य पश्य ।

स्वतनुरुचिभिर्दीर्घाह्नीं द्यामितः सृजतां निजै-
रध[2] विदधतः कायाभोगैरकाण्डतमस्विनीम् ।
दधति नितरामुद्दीप्राणाम्[1] अधश्छिदुरश्रियो
हरिहुतभुजां धूमच्छायाममी रजनीचराः ॥ ३५ ॥

सत्काराय पुष्पवृष्टिर्मय्यक्रियमाणेऽपि) हरिणा वानरेण शस्त्रीकृतेन प्रहरणतां प्रापितेन तरुणा वृक्षेण हतः ताडितोऽसौ नक्तञ्चरो राक्षसः कुसुमावकीर्णः पुष्पाच्छन्नः स्वपिति रणभूमौ शेते । देवबालाभिः पुष्पवृष्ट्यावकृतायामपि वानरप्रहरणीकृततरुच्युतकुसुमानि रणे हतं राक्षसमाच्छादयन्तीत्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥३४॥

स्वतनुभिरिति । छिदुरा भङ्गुरा पराजयेन विनश्वरा श्रीः कान्तिर्येषां तादृशा अमी रजनीचरा राक्षसा निजैः स्वकीयैः कायाभोगैः देहविस्तारैः अकाण्डे असमये एव तमस्विनीं रात्रिं विदधतः कुर्वन्तः, स्वतनुरुचिभिः निजदेहकान्तिभिः इतः अत्र देशे दीर्घाह्नीम् चिरस्थायिदिवसाम् द्याम् आकाशं सृजताम् कुर्वताम् अधः निम्नदेशे भुवि नितरामुद्दीप्राणाम् अत्यर्थं दीप्यमानानाम् हरिहुतभुजाम् वानररूपाग्नीनाम् धूमच्छायां धूमकान्तिं दधति धारयन्ति । वानराः स्वदीप्तिप्रभयाऽधो वियत दीर्घदिवसं कुर्वते नक्तञ्चराश्च स्वायतकायाः स्वस्थस्थतयोपरि विजन समये रात्रि मुपस्थापयन्ति, तदित्थं प्रतीयते यदीप्रकान्तीनां वानराग्नीनामुपरि राक्षसानां वह्न्युत्थितधूमरेखा विद्यत इति । उपमाऽलङ्कारः ॥ ३५ ॥

वानरोंद्वारा फेंके गये चन्दन वृक्षोंसे आहत राक्षस उस चन्दनतरुके फूलसे ढका हुआ युद्धक्षेत्रमें सो रहा है ॥ ३४ ॥

रत्नचूड—(देर तक विचार कर) सखे, देखो देखो,

वानरगण आकाशमें उड़कर अपनी देहद्युतिसे आकाशको आलोकित कर रहे हैं उनके नीचे राक्षस अपनी देहोंके विस्तारसे अन्धकार फैला रहे हैं, इस तरह उन प्रभासित वानरोंके नीचे अप्रकाशमय यह राक्षसगण वानररूप अग्निकी धूमराशिके समान प्रतीत होते हैं ॥ ३५ ॥

१ 'उद्दीप्तानाम्' ।   २ 'अथ' ।

हेमाङ्गद —(सस्मितम् ।) सखे, पश्य पश्य ।

किमपि कपयः कर्माश्चर्यं महातरुशस्त्रिणो
विदधति यथा दिक्कूलेभ्यस्तथापसरन्त्यमूः ।
ध्रुवमवपतद्रक्षःश्रेणीविमुक्तनभोन्तर-
प्रतिभरणिकानिःस्थामानो दशाननकीर्तयः ॥ ३६ ॥

रत्नचूड —(ससम्भ्रमम् ।) अहह, दारुणमुपस्थितम् ।

रक्षोनिपिष्टकपिमुक्तमहीध्रचूर्ण-
पूर्णान्तराभिरिषुवृष्टिभिरुज्जिहानः ।
[1]रोषाट्टहासदहनप्रसरैस्तडिद्वा-
[2]लङ्काधिपः किमपि सन्तमसं तनोति ॥ ३७ ॥

किमपीति । महानस्त्रशस्त्रिणः विशालवृक्षप्रहरणाः कपयः किमपि विशिष्य वक्तुमनर्हम् आश्चर्यं विस्मयजनकं कर्म यथा विदधति कुर्वते तथा अमूः दशाननकीर्तयः रावणयशांसि अवपतन्तीभिः भूमौ निपतन्तीभिः रक्षसां श्रेणीभिः समुदायैः विमुक्तं त्यक्तम् यत् नभोऽन्तरम् आकाशमध्यं तस्य प्रतिभरणिकया पूर्त्या निःस्थामानो निर्बलाः दिक्कूलेभ्यो दिगन्तेभ्योऽपसरन्ति । रावणस्य कीर्त्तयो नभोमध्यस्य राक्षसव्याप्तत्वात् दिशामन्ते स्थिताः, वानरैर्महातरुप्रहारिभिर्निपातितेषु व्योमचारिषु राक्षसेषु पुनः शून्यस्य नभोदेशस्य पूर्तिं कर्तुं बाधिताः सत्यो रावणकीर्तयो दिगन्तेभ्योऽपसृत्य नभोमध्यं श्रयन्तीत्यर्थः । स्थाम बलम् । ध्रुवपदमुत्प्रेक्षामाह ॥ ३६ ॥

रक्षोनिपिष्टेति । रक्षोभिः निपिष्टाः निरशेषचूर्णीकृताः कपिभिर्मुक्ताः महान्तो ये महीध्राः पर्वताः तेषां चूर्णेन रजोरूपेण पूर्णं व्याप्तम् अन्तरं यासां ताभिरिषुवृष्टिभिः बाणवर्षणैः उज्जिहानः उद्यन् लङ्काधिपो रावणः रोषेण ये अट्टहासाः घोरहसितानि त एव दहनप्रसराः अग्निविस्तारास्तैस्तडिद्वान् विद्युद्युक्तो मेघः किमपि

हेमाङ्गद—महान् वृक्षरूपी शस्त्र धारण करनेवाले ये वानरगण कुछ ऐसा आश्चर्यजनक कार्य कर रहे हैं जिससे गिरते हुए राक्षसोंके द्वारा त्यक्त आकाशदेशको भरनेमें व्यस्त रावणकी कीर्तियाँ दिगन्तसे अपसृत हो रही हैं ॥ ३६ ॥

रत्नचूड—(घबराकर) अहह ! बड़ा दारुण युद्ध हो रहा है ।

राक्षसद्वारा चूर्ण किये गये वृक्षोंके चूर्णसे पूर्ण अन्तरालवाली बाणवर्षाके साथ आता हुआ यह रावण कोपजन्य अट्टहासरूप अग्निके प्रसारसे एक प्रकारका गाढान्धकार फैला रहा है ॥ ३७ ॥

---

१ 'दशन–' । २ 'लङ्काधिपः' ।

हेमाङ्गदः—(सभयं निर्वर्ण्य ।) अहो, क्षुद्रैरपि सम्भूय भूयोभिरेको महानसुकरः कदर्थयितुम् । यतः ।

दृप्यद्दिक्पालदन्तावलबहलमदावग्रहोग्राभिरक्ष्णां
ताराभिर्दीप्यमानं दिशि विदिशि दशग्रीवमुद्ग्रीवयन्तः ।
एते निःशेषसेतुग्रथनसमधिकैः शाखिनः शैलपादै-
रुह्यमानाः कपीन्द्रा रजनिचरपुरीमुत्तरेण प्लवन्ते ॥ ३८ ॥

रत्नचूडः—(सविषादम् ।) हन्त महद्भयमिव पश्यामि । यन्मी

अवर्णनीयम् सन्तमसं गाढान्धकारं तनोति विस्तारयति । अन्यो मेघो यथा वृष्टिमातनोति तडित्वान् भवति तमश्च विस्तारयति तथाऽयं रावणो बाणवृष्टिं करोति कोपाट्टहासदहनैर्विद्युद्दीपितः, तमश्च विस्तारयतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

क्षुद्रैरिति । क्षुद्रैरपि भूयोभिः सम्भूय एको महान् कदर्थयितुं सुकर इति योजना । महान्तमप्येकं मिलिता बहवः क्षुद्रा अपि क्लेशयितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः ।

दृप्यदिति । निःशेषं समाप्तं यत्सेतुग्रथनं सेतुबन्धनं तस्मात् समधिकैः अवशिष्टैः शैलपादैः पर्वतखण्डैः शाखिनः आयुधवन्तः सेतुर्वरितशिलाखण्डप्रहारिणः एते उह्यमानाः वीर्योद्धताः कपीन्द्राः महाकपयः दृप्यता दर्पशालिना दिग्दन्तावलानां दिग्गजानाम् बहलः प्रभूतो यो मदः दानवारि तस्य अवग्रहे वृष्टिप्रतिबन्धे उग्राभिः क्रूराभिः अक्ष्णां नेत्राणां ताराभिः कनीनिकाभिः दिशि विदिशि दीप्यमानम् दशग्रीवं रावणम् उद्ग्रीवम् उत्थापितकन्धरं कुर्वन्तः लङ्कामुत्तरेण लङ्काया उत्तरदिशि प्लवन्ते उत्पतन्ति । समुद्रसेतूर्वरितशिलाखण्डप्रहरणा अमी वानरा लङ्काया उत्तरभागं परापतन्ति तान् द्रष्टुं रावण उद्ग्रीवो भूत्वा कुपितानि स्वनेत्राणि दिशि दिशि व्यापारयति रक्तवर्णतद्दृष्टितारावीक्षणेन दिग्गजा बिभ्यति येन तेषां दानवारि मदः शुष्यतीत्यर्थः । रजनिचरपुरीमुत्तरेण इत्यत्र 'एनपा द्वितीया' इति द्वितीया, स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३८ ॥

हेमाङ्गद—(थोड़ा देर देखकर) बहुतसे क्षुद्र भी मिलकर एक महान्‌को दण्डित कर सकते हैं, क्योंकि—

दर्पशाली दिग्गजोंके मदको सुखा देनेवाली आँखोंकी पुतलियोंसे दिशाओंमें प्रकाशित होनेवाले रावणको उद्ग्रीव बना देनेवाले यह सेतुबन्धसे बचे हुए पर्वतखण्डोंको हाथमें प्रयुक्त करनेवाले उद्दण्ड वानरगण लङ्कापुरीके उत्तरमार्गमें दौड़ मचा रहे हैं ॥ ३८ ॥

रत्नचूड—(थोड़ा देर देखकर) हन्त, बड़ा भयङ्कर मालूम पड़ रहा है, यह राक्षस

[1]निष्कृपकृपाणपाट्यमानप्रतिभटनिकटोर कपाटकण्टकितकपोलभित्तय [2]सन्तानपातिनीभिरनीकरुधिरधाराभिरतिप्रवृद्धवीरपानगोष्ठीमहोत्सवा समन्तादभिद्रवन्ति यातुधाना [3]प्लवङ्गमयूथपतीन् ।

हेमाङ्गद —(सहर्षम् ।) सखे, कृत विषादेन । यदेष —

दशमुखशरपीडितापयानोद्यमपरिपुच्छयमानवानराणि ।
सरभसमभिसान्त्वयन्बलानि द्विपमभियोधयति प्लवङ्गराज ॥३९॥

रत्नचूड —(दृष्ट्वा सखेदहासाद्भुतम् ।) अहह,

निष्कृपेति । निष्कृपै कठोरै कृपाणै खड्गै पाट्यमाना विदार्यमाणा प्रतिभटाना विपक्षाणा निकटा य उर कपाटा कपाटवद् विस्तीर्णान्युर स्थलानि तैः दृश्यमानैस्तै कण्टकिता सरोमाञ्चा कपोलभित्तय गण्डस्थलानि येषा तथोक्ता, सन्तानपातिनीभि प्रवाहरूपेण स्यन्दमानाभि । अनीकरुधिरधाराभि सैन्यशोणितप्रवाहै अतिप्रवृद्ध बहुलीभवन् वीरपाणगोष्ठीमहोत्सवो येषा ते तथोक्ता, 'युद्धे यत् क्रियते पान वीरपान तदुच्यते' समन्तात् सर्वत । अभिद्रवन्ति आक्रमन्ति । प्लवङ्गमयूथपतीन् वानरसैन्यमुख्यान् । कृत विषादेन खेदो मा कारि ।

दशमुखेति । प्लवङ्गराज सुग्रीव दशमुखस्य रावणस्य शरै पीडिता आहता अपयाने युद्धक्षेत्रा पलायने य उद्यम उद्योगस्तेन उत्पुच्छयमाना स्वान् पुच्छानुपरि क्षिपन्तो वानरा येषु तादृशानि बलानि स्वसैन्यानि सरभसम् त्वरया अभिसान्त्वयन् समयोचितवचनैरुत्साहयन् द्विपम् शत्रुम् अभियोधयति शत्रोरभिमुखं युद्धाय गच्छति । रावणबाणाहततया पलायनायोत्क्षिप्यमाणपुच्छान् वानरान् सान्त्वनवचनै साहयन् सुग्रीवो रावणेनाभिमुखयुद्धमारभते इत्यर्थ ॥ ३९ ॥

निर्दय खड्ग उत्थित शत्रुपक्षी दशना देखकर कपोलको रोमाञ्चित करते हुए धारा प्रवाह रूपमें बहनेवाली सेना रुधिर धारासे वीरपान गोष्ठीको आयोजित करके वानर राजको आक्रमणका लक्ष्य बना रहे हैं ।

हेमाङ्गद—(सहर्ष) सखे विषाद करना व्यर्थ है, यह वानरराज रावणके शरोंसे आहत होकर भाग खड़े होनेके लिये पूँछ उठाये हुए वानर सैनिकोंको सान्त्वना देते हुए शत्रुसे लड़ रहे हैं ॥ ३९ ॥

रत्नचूड—(देखकर खेद हास तथा आश्चर्यके साथ) अहह !!

---

१ 'प्रतिभटोर', 'प्रतिभटविकटोर'। २ सन्तत'। ३ 'प्रधानयूथपतीन्'।

[1]अस्त्राणि प्लवगाधिपेन विहिता पौलस्त्यवक्ष[2]स्थली
सङ्घट्टानलदत्तदावविपदः सीदन्ति भूमीरुहाः ।
उत्पाट्य प्रहितश्च शैलशिखरो लङ्केन्द्रहस्तावली-
निष्पिष्टो निजकुञ्जनिर्झरजलैर्जम्बालपिण्डायते ॥ ४० ॥

हेमाङ्गदः—(विहस्य ।) सखे, दशकन्धरमधिकृत्य न किंचिदेतत् ।
तथैतेनोद्धृत्य स्फटिकशिखरी सोऽपि विदधे
समन्तादामूलत्रुटितवसुधाबन्धविधुरः ।

अस्त्राणीति । प्लवगाधिपेन वानरराजेन सुग्रीवेण अस्त्राणि विहिता अस्त्रत्वेन व्यवहृता भूमीरुहा वृक्षाः पौलस्त्यस्य रावणस्य वक्ष स्थल्या हृदयदेशे सङ्घट्टेन सङ्घर्षणेन (उत्थितो योऽ) नल तेन दत्ता उत्पादिता दावविपद् वनाग्निसम्पन्न येषां तथोक्ता सन्त सीदन्ति अवसन्नतां यान्ति, प्लवगाधिपेन उत्पाट्य प्रहित रावण प्रति निक्षिप्तश्च शैलशिखर पर्वतशृङ्गम् लङ्केन्द्रस्य हस्तावलीभि भुजसमुदयै निष्पिष्ट निरवशेष चूर्णीकृत सन् निजस्य पर्वतशिखरस्य यत् कुञ्ज तत्र ये निर्झरा जलप्रवाहास्तै जम्बालपिण्डायते कर्दमपिण्डस्वरूप भवते। रावणमुद्दिश्य सुग्रीवेण क्षिप्ता वृक्षास्तदुरःशिलापट्टे सङ्घर्षं प्राप्य तदुत्थितदावानलेनावसीदन्ति पर्वतशिखराश्च तद्भुजयन्त्रनिष्पिष्टा स्वकुञ्जप्रवाहिनिर्झरजलैः कर्दमपिण्डाकारं दधतीत्यर्थः । जम्बाल कर्दम । निजशब्देनात्र शिखरो गृह्यते। शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ४० ॥

दशकन्धरमधिकृत्य दशकन्धरविषये । न किञ्चिदेतत् त्वयोच्यमानमतितुच्छम्, स हि सर्वं त्वदुक्तं कर्तुं ततोऽप्यधिकं च बलं दर्शयितुं क्षम इत्यर्थः ।

तथैतेनेति । एतेन रावणेन सोऽपि स्फटिकशिखरी कैलासपर्वत उद्धृत्य उत्थाप्य तथा समन्तात् सर्वत आमूल त्रुटितेन छिन्नेन वसुधाबन्धेन पृथ्वीसम्बन्धेन विधुर विरहित विदधे कृत येन अद्यापि सम्भ्रयपि त्रिपुरहरनृत्यपनिकर

वानरराजके द्वारा अस्त्र बनाये गये वृक्ष रावणकी छातीसे टकराकर दावानलकी विपत्ति प्राप्त करके सादित हो उठते हैं उखाड़कर चलाये गये शैलशिखर रावणके हाथोंसे चूर्णित होकर निकुञ्जस्थित निर्झर-जलसे कर्दम पिण्ड बन जाता है ॥ ४० ॥

हेमाङ्गद—(हँसकर) सखे रावणके लिये यह कुछ नहीं है,

इस रावणने कैलास पर्वतको उठाकर इस प्रकारसे सर्वांशतः पृथ्वीसम्बन्ध रहित

१ 'शस्त्राणि' । २ 'तटी' ।

अमुं येनाद्यापि त्रिपुरहरनृत्यव्यतिकर
पुरस्तादन्येषामपि शिखरिणामुल्ललयति ॥ ४१ ॥

किं च तर्कयामि ।

शस्त्रीकृतस्तरुवरो हरिपुङ्गवेन लङ्केन्द्रवक्षसि मृणालमृदु पपात ।
तत्र स्थितैस्तु कुसुमैः कुसुमेषुरेनं सीतावियोगविधुरं दृढमाजघान ॥४२॥

रत्नचूड —(विहस्य ।) सखे, किमुच्यते 'महासत्त्ववतामुपरि रत्नसौ रावणः । तथा हि ।

शङ्करस्य नृत्यलीला अन्येषां शिखरिणां पर्वतानां पुरस्तात् पूर्वम् अमुं कैलासम् उल्ललयति चालयति । अयं रावणः कैलासपर्वतं समुत्थाप्य तथा पृथ्वीसम्बन्धहीनमकरोद्यथाऽद्यापि शिवस्य नृत्यलीलायां प्रारब्धायां सर्वेषु पर्वतेषु स्थिरेषु पृथ्वीसम्बन्धस्य रावणेन शिथिलीकृततयाऽयं कैलास एव चलितुं प्रारभत इत्यर्थः, शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४१ ॥

शस्त्रीकृत इति । हरिपुङ्गवेन वानरप्रधानेन सुग्रीवेण शस्त्रीकृतः प्रहरणतां प्रापितः तरुवरो महावृक्षः लङ्केन्द्रवक्षसि रावणस्योरसि मृणालमृदु कमलनालकोमलं पपात पतितः, तत्र स्थितैः प्रहरणीकृततरुवर्त्तिभिः कुसुमैः पुष्पैः कुसुमेषुः कन्दर्पस्तु एनम् सीतावियोगविधुरं सीताऽप्राप्तिव्यथितं रावणं दृढम् आजघान बलवत् पीडयामास । वृक्षप्रहारजन्यव्यथाऽभावेऽपि पुष्पबाणव्यथा समधिकाऽभूदिति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

महासत्त्ववताम् बलशालिषु मूर्धन्यानाम् । उपरि ऊर्ध्वम् । बलशालिष्वपि महाबलशाली रावण इत्यर्थः ।

बना दिया है कि अभी भी शिवजी अपने नृत्यके समय सभी पर्वतोंके सामने इसी पर्वतको नचाते हैं ॥ ४१ ॥

मैं तर्क करता हूँ,

वानरराज द्वारा शस्त्र बनाया गया तरुवर रावणकी छाती पर कमल कोमल बनकर गिरता है, परन्तु सीताके वियोगमें दुःखी इस रावणको कामदेव उसी वृक्षपरके फूलोंसे पूर्ण आहत कर देता है ॥ ४२ ॥

रत्नचूड—(हँसकर) सखे क्या कहा जाय रावण सभी बलवानोंमे बढ़कर है ।

---

१ महासत्त्वानां रावण स्वयम्', 'महासत्त्ववतामुपरि रावण स्त्वमौ' ।

स्वेपूत्कृत्य हुतेषु मूर्धसु जवाद्वह्नौ स्फुटित्वा बहि-
र्व्याकीर्णेष्वलिकेषु दैवलिपिभिर्दृष्ट्वाऽपि रामायणम् ।
चित्तेनास्खलितेन यस्तदधिकं ब्रह्माणमप्रीणय-
त्कस्तस्मै प्रथमाय मानिषु महावीराय वैरायते ॥ ४२ ॥

हेमाङ्गद —सखे पश्य पश्य भयानकमद्भुतं च वर्तते ।
विशिखोघविकीर्णगण्डशैले नरसंचूर्णितशक्तितोमरे च ।

स्वयूत्कृत्येति । स्वेषु शिरस्सु निजमस्तकेषु उत्कृत्य हुतेषु छिन्नाग्नौ मन्त्र संस्कारपूर्वकं दत्तेषु मूर्धसु जवात् वेगात् स्फुटित्वा विदीर्य बहिर्व्याकीर्णेषु इतस्ततो विकीर्णेषु अलिकेषु स्वकपालेषु दैवलिपिभिः भाग्याक्षरैः रामायणं रामकर्तृकरावणवधान्तं रामचरितं दृष्ट्वा प्रत्यक्षमालोक्यापि अस्खलितेन उत्साहभङ्गमनासादयता चित्तेन तदधिकं पूर्वापेक्षयाऽधिकरूपेण यो रावणो ब्रह्माणं स्वाराध्यं देवम् अप्रीणयत् तोषितवान्, मानिषु अभिमानशालिषु प्रथमाय श्रेष्ठाय महावीराय रावणाय कः वैरायते शत्रुवमाचरति ? यो रावणः स्वानि शिरांसि हुत्वा ब्रह्माणं प्रसादयितुमारभत, छिन्नहुतेषु शिरस्सु वह्निसन्तापाद्विदीर्य बहिर्विकीर्यमाणेषु यदा ऽसौ स्वभाललिप्या रामकर्तृकं भाविनं स्ववधं पठितवांस्तदाप्यस्खलितधैर्यः पूर्वापेक्षयाऽप्यधिकतोत्साहेन ब्रह्माणं प्रीणयितुं प्रवृत्तस्तेन रावणेन सह कः स्पर्धितुमर्हति ? न कोऽपि वीरस्तत्स्पर्द्धामधिकुरुते इत्याशयः । 'रामेण रावणवधो रामायणमिति स्मृतम्' इति त्रिकाण्डशेषः । 'ललाटमलिकं गोधिः' इत्यमरः ॥ ४२ ॥

विशिखौघेति । विशिखौघेन शरसमूहेन रावणेन विकीर्णाः निराकृताः गण्डशैलाः सुग्रीवप्रहृताः पर्वतशिलाः यत्र तादृशे, अथ च तरुणा सञ्चूर्णिताः शक्तयः तोमराः राक्षसाधमेन यत्र तादृशे च सुग्रीवप्रहिततरुद्वारा यत्र रावणप्रहृतयोः शक्ति

रावणने अपने सभी मस्तक काटकर होम कर दिये, वे मस्तक फूटकर आगसे बाहर आकर बिखर गये, रावणने अपने ललाटों पर भाग्यलिपिके रूपमें लिखी सारी रामकथा देख ली, फिर भी अविचलित चित्तसे ब्रह्माकी आराधना करता रहा, उस अभिमानी वीर रावणके साथ कौन वैर करेगा ॥ ४२ ॥

हेमाङ्गद—सखे देखो देखो, भयानक तथा आश्चर्यजनक दृश्य हो रहा है।

रावणने सुग्रीव द्वारा प्रहृत शिलाखण्डको बाणोंसे विकीर्ण कर दिया और सुग्रीवने रावण द्वारा प्रहृत शक्ति, तोमर नामक अस्त्रोंको वृक्षाघातसे चूर्ण कर दिया, इस दोनोंने

कपिराक्षसराजयोरजस्रं तुमुले भान्ति तलातलिप्रपञ्चाः[1] ॥ ४४ ॥

नूनमिदानीं

श्वासोर्मिप्रतिबन्धतुन्दिलगलप्रच्छिन्नहारावली-
रत्नैरापतयालुभिः कृतफणप्राग्भारभङ्गभ्रमः ।
श्रोत्राभावनिरन्तरालमिलितैः स्तब्धैः शिरोभिर्भुवं
धत्ते वानरवीरविक्रमभराक्रान्तैर्भुजङ्गाधिपः ॥ ४५ ॥

तोमरयोः चूर्णने जियते ताडने च, कपिराजराक्षसराजयोः तुमुले भीषणे युद्धे अजस्रं बहुलीभवन्तः तलातलिप्रपञ्चाः परस्परचपेटापातविस्ताराः भान्ति शोभन्ते । यदा युद्धे सुग्रीवमहिताः पर्वतशिलाः रावणो बाणैर्व्यर्थयच्च रावणप्रहितयोः शक्तितोमरयोः सुग्रीवस्तरुद्वारा चूर्णं कृतवान्, तदा तौ परस्परं तलातलियुद्धमारब्धवन्तावित्यर्थः, तलैश्च तलैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तमिति तलातलि, तस्य प्रपञ्चाः विस्ताराः ॥ ४४ ॥

श्वासोर्मीति । भुजङ्गाधिपः सर्पराजः वानरवीरस्य सुग्रीवस्य विक्रमभरात् पादविन्यासभारवशात् आपतयालुभिः पुनः पुनर्भूमौ पतद्भिः, श्वासोर्मीणां निःश्वासतरङ्गाणां प्रतिबन्धेन तुन्दिलात् स्थूलतां गतात् गलात् कण्ठनालात् प्रच्छिन्नायाः छित्वा स्खलितायाः हारावल्याः रत्नैः कृतः फणप्राग्भारस्य सहस्रसंख्यकफणसमुदयस्य भङ्गस्य त्रुटनस्य भ्रमो भ्रान्तिर्यस्य तथाभूतः सन्, श्रोत्राभावेन कर्णच्छिद्ररहितत्वेन निरन्तरालम् अव्यवधानेन मिलितैः स्तब्धैः भाराधिक्यनिश्चलैः भुग्नैः अवनतैश्च शिरोभिः भुवं धत्ते धारयति । वानरराजे युद्धे पादप्रक्षेपेण चलति सति तदीयभारेण पृथ्वी गुर्वी जायते, तां धारयन् शेषस्य फणाः अवनमन्ति, धारणप्रयासाय श्वासनिरोधे कृते गलस्योच्छूनतया त्रुटिता रत्नावली भूमौ विकीर्णा भवति येन लोकः शङ्कते यदस्य फणा एव त्रुटिताः पतिताश्च, चक्षुःश्रवस्त्वया श्रोत्राभावेन शिरांस्यव्यवधानेन मिलितानि सन्ति स्तब्धानि च, तदित्थं महता श्रमेण फणिनायको भुवं धारयति ॥ ४५ ॥

तलाघात द्वारा भयङ्कर युद्ध करना आरम्भ कर दिया है ॥ ४४ ॥

निश्चय ही इस समय,

वानर वीरोंके विक्रमभारसे झुके हुए शेषनागके श्वास रुकनेसे मोटे गलेसे हारके रत्न टूटकर बिखर जाते हैं जिससे ऐसा भ्रम होता है मानो फणादि गिर गई हों, कानके नहीं रहनेसे शेषनागके सिर निरन्तराल आपसमें सट जाते हैं ॥ ४५ ॥

१ प्रहाराः । २ 'विक्रमभरानुग्नैः' ।

(सविषादम् ।) अहह, बाहुयन्त्रेणापीड्य[1] वानरराज सुग्रीव किमाह [2]रावण ।

[3]अस्मद्बाहुघनान्दोलसुलभं फलमाप्नुवन् ।
नियुद्धलाघवक्लान्त शाखामृग सुखी भव ॥ ४६ ॥

रत्नचूड —(सहर्षम् ।) सखे, करणकौशलमोचितात्मा विपक्ष-दुर्वचनक्षुभ्यमानहृदयो हृदयङ्गममभिदधाति वानरेन्द्र ।

विंशत्या युगपत्क्षमैरपि भुजैराकर्षणच्छेदयो
[4]रच्छिन्नं दशमं शिरः कथयति च्छिन्नानि यानि क्रमात् ।

बाहुयन्त्रेण बाहुबन्धनेन । आपीड्य बलात्स्निग्धविधया पीडयित्वा ।

अस्मदिति । हे शाखामृग वानर, नियुद्धे बाहुयुद्धे क्लान्त सञ्जातश्रम, अस्माकं बाहुघनेन भुजनिग्रहेण य आन्दोलः कम्पनं तेन सुलभं फलं मृत्युरूपम् आप्नुवन् एभमानः सुखी भव । अन्योऽपि श्रान्तो वृक्षारोहणाक्षमो वानरः घनं कम्पयित्वा प्राप्तेन फलेन सुखीभवति, अयमपि युद्धश्रान्तो रावणबाहुनिपीडनसुलभेन फलेन मृत्युरूपेण शाश्वतं सुखमश्नुतामित्याशयः ॥ ४६ ॥

करणकौशलेन क्रियालाघवेन करपादादीन्द्रियचेष्टया । मोचितः रावणभुज-पीडनान्मुक्तीकृतः आत्मा स्वदेहो येन तथोक्तः । विपक्षस्य शत्रो रावणस्य वचनेन क्षुभ्यमानं खिद्यमानं हृदयं यस्य तथोक्तश्च । हृदयङ्गमम् अतिमनोहरम् ।

विंशत्येति । तव विंशत्या भुजैः विंशतिसंख्यैर्बाहुभिः युगपत् एककाले आकर्षण-च्छेदयोः दशानां तव शिरसामाकर्षणे छेदने च क्षमैः समर्थैर्भवद्भिरपि अच्छिन्नम्

(सविषाद) अहह " बाहुयन्त्रसे पीडित करके रावणने सुग्रीवसे क्या कहा ?

हमारे बाहुबनके आन्दोलनसे सुलभ फलको प्राप्त करके तुम सुखी हो जाओ, क्योंकि तुम लड़ते लड़ते थक गये हो ॥ ४६ ॥

रत्नचूड—(सहर्ष) सखे अपनी चतुराईसे अपनेको मुक्त करके शत्रुके वचनोंसे क्षुभित हृदय वानरेन्द्र बहुत अच्छा कह रहा है ।

आपके बीस हाथ एक ही साथ आपके मस्तकोंको खींच खींचकर काट रहे थे, तथापि जो दशम सिर अच्छिन्न ही बना रह गया, आपके शिरारोपक उन दस मस्तकोंको

---

१ 'वानरराजन्' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'दशग्रीव' ।
३ 'अस्मद्बाहु' इत्यादिश्लोकात्पूर्वं क्वचित् 'अनुवदति' इत्यधिकमस्ति । ४ 'अच्छिद्यन्' ।

तान्याराद्धमहेश्वराणि भवतः शीर्षाणि तुल्यं दृढ-
च्छिन्दानो दशभिर्निमेषैर्यदि पुनः शाखामृगेन्द्रः सुखी ॥४७॥

अपि च रे रे राक्षस,

दशमुखवधनाट्यसूत्रधारो रघुपतिरस्य च पारिपार्श्वकोऽहम्।
प्रकरणफलबीजनायकानाममृतभुजां [1]समनुपास्महे समाजम् ॥ ४८ ॥

अथ च हे तव राक्षसस्य दशानन शिरः तानि नव नव शिरांसि अवशिष्टानि कथयति, आराद्धमहेश्वराणि आराधितशिवानि तानि सर्वाणि दशापि तव शीर्षाणि तुल्यम् समकालम् दशभिर्निमेषैः छिन्दान खण्डयन् शाखामृगेन्द्रो वानरराजो यद्यहं सुखी स्याम्। तव चितानिर्मुक्ता एकैकं तव दशानां शिरसां छेदे आकर्षण च कृता आसन्, परन्तु ते नवैव शिरांसि अच्छिद्यन्त, इह तन्तु भवानपि स्व मागं दशम शिरः कथयति, अन्ततः यदि तव दशापि शिरांसि समकालमेव निमेषैर्दशभिर्निकृन्तनु समर्थस्य तदैव सुखी स्यामिति दर्पः। दशन शिरो तानि छिन्नानि कथयति तानि दशसंख्याणीति कथ दातव्य कथयितुम्, नवशीर्षाणीति वक्तव्यम्, तदत्र ग्रन्थकृत प्रमाद इव प्रतीयते इति जीवानन्दटीका। दशम शिरो यानि छिन्नानि कथयसि तानि नव, कथयितुं च दशम शिर इति दशापि तव शीर्षाणि त्वमेव विलिष्ट व्याख्यानमपि ग्रन्थकारस्य कर्तुं शक्यते ॥ ४७ ॥

दशमुखेति। रघुपतिः रामः दशमुखवधस्य नाट्यस्य अभिनेयवस्तुनः सूत्रधारः प्रधाननटः, अहं सुग्रीवश्च अस्य रघुपतेः सूत्रधारस्य पारिपार्श्वकः "सूत्रधारस्य" भवति व्यापारं करोति यः। सूत्रधारसमो बाति स भवेत्पारिपार्श्वकः" इत्युक्तलक्षणयुक्तः, तौ आवाम् प्रकरणं नाट्यम् तस्य फलं प्रतिपाद्य वस्तुबीजं तत्कारणं तयो नायका अनुमनितारो देवा अमृतभुजो देवास्तेषां समाजम् परिषदम् समुपास्महे आराधयावः। अभिनवे प्रकरणबीजफले नानाविकाराधनकेन सूत्रधारपारि- पार्श्वकयोः कर्तव्य तदत्र दशमुखवधे नाटकेऽभिनेतव्ये रामसुग्रीवौ सूत्रधारपारि

एक ही साथ करके इस लौटेंगे बड़ बार सकूंगा, तभी मैं वानरराज प्रसन्नता अनुभव कर सकूंगा ॥ ४७।

अरे राक्षस,

रामचन्द्र रावण वध रूप नाटकके सूत्रधार हैं, और मैं उनका पारिपार्श्वक हूँ, हम दोनों प्रकरण फल बीजके अनुभव करनेवाले देवोंके समाज की उपासना कर रहे हैं ।४८॥

---

१ 'मनुपास्महे'।

[1]इत्यभिदधानेनैवोत्प्लुत्य निर्दयं शिरसि ताडितो रथध्वजदण्डाव लम्बी कथंचिदाश्वसिति रावणः । (सर्वतोऽवलोक्य सहर्षम् ।) सखे, पश्य पश्य ।

यन्माल्यग्रथनावशेषविकलैः सन्तानकैर्नाकिनां
भर्त्रे [2]गर्भगमेव दाम [3]निभृतं स्वर्मालिकैर्गुम्फितम् ।
तस्मिन्नद्य दशास्यमूर्धनि नवप्रस्तावनामापदां
पश्यन्तो रभसौघमर्त्सितमिव क्रोशन्ति नः स्यन्दनाः ॥ ४९॥

पार्श्वकौ रावणवधः फलम्, तदन्यायादिर्बीजम्, तत्सर्वमुपाहार्य प्रकरणं देवाश्च तदानन्दोपभोगिनः सामाजिका इति बोध्यम् ॥ ४८ ॥

यन्माल्येति । यस्य रावणस्य मूर्ध्नः शिरसो माल्यं दाम तस्य ग्रथनात् गुम्फनात् अवशेषाणि उर्वरितानि विकलानि त्रुटितपत्राणि विगतसौरभ्याणि च यानि सन्तानकानि देवतरुकुसुमानि तैः नाकिनां भर्त्रे शक्राय स्वर्मालिकैः देवलोकमालाकारैः गर्भगम् केशपाशान्तरगम् एव दाम माल्यम् निभृतं प्रच्छन्नभावेन गुम्फितम् रचितम्, तस्मिन् दशास्यमूर्द्धनि अद्य सम्प्रति आपदां विपत्तीनां नवप्रस्तावनां नवीनमवतरणं पश्यन्तो नोऽस्माकं स्यन्दना रथाः रभसौघमर्त्सितमिव आनन्दातिरेकनिर्भराः सन्तः क्रोशन्ति घर्घरशब्दं कुर्वते । पूर्वं रावणमाल्यनिर्माणावशिष्टकुसुमैर्देवमालाकारा इन्द्रस्य कृते स्वल्पपरिमाणं माल्यं प्रच्छन्नमानेन निर्मान्तिस्म यतस्तदा यस्य रावणस्य विभीषिकाऽऽसीत्, सम्प्रति तमेव रावणमापद्गतं पश्यन्तो हर्षातिरेकापसारितभियोऽस्माकममी रथा आनन्दमयाभावादिद्योतकं घर्घरशब्दं कुर्वन्ति इत्यर्थः । 'केशमध्ये तु गर्भकम्' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४९ ॥

यह कहते हुए वानरराजने कूदकर रावणके सिरपर निर्दय प्रहार किया, जिससे आहत होकर रावणने रथध्वज दण्डका अवलम्बन करके किसी प्रकार अपनेको सम्हाला । (चारों ओर देखकर) सखे देखो देखो,

पहले रावणके लिये माल्य बनानेसे कल्पवृक्षके सभी फूल म्लान हो जाते थे, तब देवमालाकार गण चुपके चुपके कलियोंकी माला इन्द्रको अर्पित करते थे उसी रावणके सिर पर नवीन आपत्तिकी प्रस्तावनाको देखनेवाले हमारे रथ उस विषयमें निन्दा कर रहे हैं ॥ ४९ ॥

१. 'इत्यभिदधानेन' । २ 'गर्भकम्' । ३ 'निभृतैः' ।

हेमाङ्गद —(सविषादम् ।) अहह, ^१सोऽप्याश्वस्य दशकण्ठेनापि मुष्टिना ताडितो मूर्च्छित कपीन्द्रो नीलहनूमद्भ्यामाश्वास्यमानोऽप सार्यते ।

रत्नचूड —सखे, प्रधनस्य ^२हि प्रथमे पर्वणि शतकृत्वो जिज यन्ते पराजीयन्ते च ^३वीरा । तत्र को विषाद ।

हेमाङ्गद —(अन्यतोऽवलोक्य ।) सखे रत्नचूड, दिष्ट्या वर्धसे यदय मनुप्राप्त

कुशिकसुतसपर्यादृष्टदिव्यास्त्रतन्त्रो
भृगुपतिसहयुध्वा वीरभोगीणवाहु ।
दिनकरकुलकेतु कौतुकोत्तानचक्षु
र्बहुमतरिपुकर्मा कार्मुकी ^४रामभद्र ॥ ५० ॥

आश्वास्यमान धैर्यं प्राप्यमाण । अपसार्यतेऽन्यत्र नीयते ।

कुशिकसुतेति । कुशिकसुतस्य विश्वामित्रस्य सपर्यया आराधनेन दृष्ट साक्षात् कृत दिव्यास्त्रतन्त्रम् जृम्भकादिप्रयोगशास्त्र येन तादृश , भृगुपतिना परशुरामेण सह युध्वा सह युद्ध कृतवान्, वीरभोगीणवाहु वीरोचितभोगार्हभुजशाली दिन करकुलकेतु सूर्यवंशपताकास्वरूप , कौतुकोत्तानचक्षु युद्धदर्शनोत्सुक्यविस्तारित नेत्र बहुमतरिपुकर्मा आदृतशत्रुरणकौशल कार्मुकी धनुर्धरश्च रामभद्र उपगत इति पूर्वोक्तेनान्वय । 'केतुश्चिह्नपताकयो ' इत्यमर ॥ ५० ॥

हेमाङ्गद—(सविषाद) रावणने आश्वस्त होकर वानरराजपर मुष्टि प्रहार किया, वानरराज उस प्रहारसे मूर्छित हो गये, उनको नील तथा हनूमान् सभाल रहे हैं ।

रत्नचूड—युद्धके प्रथम पर्वमें वीर हजार बार हारते जीतते हैं, उसमें विषाद कैसा ।

हेमाङ्गद—(दूसरी ओर देखकर) तुम्हारे सौभाग्यसे यह आ गये,

विश्वामित्रके चरणोंमें जिन्होंने अस्त्र विद्या सीखी, जो परशुरामसे लडे, जिनके बाहुओंको वीर भोग प्राप्त है वह उत्सुक नयनोंवाले तथा रावणके युद्धकी प्रशसा करनेवाले सूर्यकुलकेतु धनुर्धर राम ॥ ५० ॥

---

१ 'सोऽपि' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'हि' इति क्वचिन्नास्ति ।
३ 'महावीरा '। ४ 'रामदेव '।

रत्नचूड —(सहर्षं राममवलोक्य रावणं प्रति ।) [1]राक्षसराज,

बालेनापि विलूनधूर्जटिधनुःस्तम्भेन बाहूष्मभि-
र्येन स्वेदयता मनोहरमृजूचक्रे मुनिर्भार्गवः ।
सम्प्राप्तो रघुनन्दनः किमपरं तेनाधुना नेष्यते
धन्यो वालिसमानकर्तृकवधश्लाघातिभूमिं[2] भवान् ॥५१॥

हेमाङ्गद —(सकौतुकम् ।) सखे, [3]तूष्णीमास्महे तावत् । शृणुमः किं ब्रवीति रावणः । (कर्णं दत्त्वा ।) कथमेवमाह । साधु रे क्षत्रियडिम्भ, साधु ।

यत्कन्यामभिलष्यता निमिपतेर्नैं स्थाणवीयं मया

बालेनेति । येन बालेन अनासयौवनावस्थेनापि विलूनः खण्डितो धूर्जटेः शिवस्य धनुःस्तम्भो येन तादृशेन हरधनुर्भञ्जकेन बाहूष्मभिः भुजशौर्योष्मणा स्वेदयता स्वेदाक्तीकुर्वता मुनिर्भार्गवः परशुरामो मनोहरं रम्यं यथा स्यात्तथा ऋजूचक्रे सरलतां प्रापितः, स रघुनन्दनः सम्प्राप्तः समागतः, अपरं किम् अन्यत् किमुच्यताम्, तेन रघुनन्दनेन धन्यः श्लाघ्यजनानामग्रगण्यो भवान् रावणो वालिनो वधस्य कर्त्रा समानः कर्ता यस्य तादृशेन वधेन श्लाघातिभूमिं प्रतिष्ठातिशयं नेष्यते प्रापयिष्यते, यो बाल एव हरधनुरभञ्जयत्, यश्च यथा वंशादिकमृजु वह्निस्वेदनादृजू क्रियते तथा स्वभुजवीर्योष्मणा स्वेदयित्वा भगवन्तं परशुराममृजूचकार, असौ रामो युद्धभूमिमागतः, असौ भवन्तं वालिनमिव हत्वा 'वालिवधकर्त्रा रावणो हतः' इति प्रतिष्ठातिशयं प्रापयिष्यतीत्यर्थः । अत्र रावणस्तुत्या रामप्रकर्षो व्यञ्जितः, विजेतव्योत्कर्षप्रकाशनस्य विजेतुरुत्कर्षप्रकाशनस्वाभाव्यादिति बोध्यम् ॥ ५१ ॥

तूष्णीम् आस्महे मौनमाश्रयाम । क्षत्रियडिम्भ क्षत्रियशिशो ।

यत्कन्यामिति । यत् निमिपतेः जनकस्य कन्या सीता नाम अभिलष्यता काम

रत्नचूड—(सहर्ष रामको देखकर रावणसे) बालक होकर भी जिसने शिवधनुष तोड़ा, जिसने अपने बाहु वीर्यकी गर्मीसे स्वेदित करके—परशुरामको सीधा कर दिया, वही राम आगया है और क्या कहें, वह तुमको भी वालिके हन्ता द्वारा मारे जानेका गौरव प्राप्त करावेगा ॥ ५१ ॥

हेमाङ्गद—(कौतुकसे) मित्र अब हम चुप हो जाय। सुनेंकी यह रावण क्या कहता है। (कान देकर) क्यों, यहां तो वह कह रहा है—साधु रे क्षत्रिय बालक, साधु,

बाहुकी लीलासे तोड़ कर नीचे रख दिया है कैलासको जिसने ऐसा मने निमिपतिकी

---

१ 'रे राक्षसराज'। २ 'श्लाघ्यातिभूमिम्'। ३ 'आस्व'।

दोर्लीलातुलितावतारितहरग्राव्णापि रुग्णं धनुः ।
तदद्रक्ष्यन्त्यधुना कियन्तमवधिं यावद्भवानित्यमी
देवेन्द्रद्विपदानदुर्दिनभिदो रौद्रार्चिषो मार्गणाः ॥ ५२ ॥

(सविस्मयम् ।) कथमद्यापि तृणीकृतजगत्त्रय स एवास्य तावदहङ्कारग्रन्थिः ।

रत्नचूडः —(सोपहासस्मितम् ।) [1]सखे कथमिदमेव भवन्तं विस्मापयते।
मानाध्मातः स्वयं किलोत्कृत्य तावन्मूर्धश्रेणीमेकशेषोत्तमाङ्गः ।

यमानेन मया रावणेन दोर्लीलया भुजविलासेन तुलितः भारमवधारयितुमुत्थापितः पश्चादवतारितः हरग्रावा कैलासपर्वतो येन तथाभूतेनापि कैलासोत्थापनक्षमेणापि त्र्यम्बकीयं धनुर्हरधनुर्न रुग्णम् न भग्नम्, मत् तस्मात् अधुना देवेन्द्रद्विपस्य ऐरावतस्य दानं मदवारि तस्य दुर्दिनं वृष्टिं तद्भिदः तच्छोषिणः रौद्रार्चिषः तीव्रप्रतापाः अमी मार्गणाः मम शराः कियन्तम् अवधिं कालं यावत् भवानिति द्रक्ष्यन्ति । सीतेच्छया मया कैलासोत्तोलनसमर्थेनापि शाम्भवं धनुर्यन्न खण्डितं तदधुना मम सुरगजदानवारिशोषणपटिष्ठा अमी तीव्रज्वालावर्षिणो बाणा भवान् कियन्तं कालं यावन्मम पुरस्तिष्ठतीति द्रष्टुमिच्छन्ति, अचिरेणैव भवन्तमिमे मम बाणाः संहरिष्यन्तीति यावत् । 'ग्रावाणौ शैलपाषाणौ' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥ ५२ ॥

तृणीकृतजगत्त्रयः लोकत्रयीमपि तृणाय मन्यमानः । अहङ्कारग्रन्थिः अभिमानबन्धः । विस्मापयते आश्चर्ये निमज्जयति ।

मानाध्मात इति । मानेन आध्मातः पूर्णः अतिमानी अयं रावणः किल स्वयं निजां मूर्धश्रेणीं शिरःपरम्पराम् उत्कृत्य छित्त्वा एकशेषोत्तमाङ्गः अवशिष्टैकमस्तकः

कन्याको नाश करके भी शिवधनुर्भङ्ग नहीं किया, सो आज हमारे यह इन्द्र द्विपके मदवारिको शुष्क कर देनेवाले यह हमारे बाण देखेंगे कि तुम कितनी दूर तक इस दिशामें आगके हो, कितना शस्त्र-कौशल तुमने हासिल किया है ? ॥ ५२ ॥

(सविस्मय) क्यों अभी भी त्रिजगत् तृण समझनेवाला इसका अभिमान पूर्ववत् है ।

रत्नचूड—(सहास उल्लाइनके स्वरमें) क्यों आप इतनेहीमें विस्मित हो गये ?

इस अभिमानी रावणने अपने सभी मस्तकोंको काटकर जब एक मस्तक शेष रह

१ 'सखे' इति क्वचिन्नास्ति ।

स्त्रीमर्धाङ्गे वञ्चयित्वा मुखेन प्रीतः शम्भोरेकपादे पपात ॥ ५३ ॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य च सवितर्कम् ।) भगवतो दिवस्पतेरिव रथो दाशरथिमुपतिष्ठते ।

हेमाङ्गदः—(दृष्ट्वा सहर्षम् ।) सखे, स एवायं किं न पश्यसि । लोचनमार्गसहस्रचन्द्रकस्तबकितमाहेन्द्रकवचहस्तो मातलिः । (क्षणं निर्वर्ण्य विहस्य च ।)

विविधमणिमयूखमञ्जरीभिः कृतसुरचापसहस्रसंनिपाते ।
अधिसमरमहारयद्विमाने निजमपि कार्मुकमत्र देवराजः ॥ ५४ ॥

छिन्नावशिराः, अथ हरगौरीकण्ठस्य शिवस्यार्धभागे स्त्रीम् गौरीम् वञ्चयित्वा त्यक्त्वा प्रीतः प्रसन्नः सन् शम्भोः एकपादे दक्षिणचरणे मुखेन निपपात मस्तकेन प्रणतवान् रावणेन दशसु नव शिरांसि छिन्नानि, एकेन शिरसा अर्धनारीश्वरस्य शम्भोः पादद्वयप्रणामस्य युगपदशक्यक्रियतया पार्वत्याः पादम् विहाय महादेवस्य पादे एव शिरः स्थापयामास तेन च प्रमादमन्वभूदित्यर्थः ॥ ५३ ॥

दिवस्पतेः इन्द्रस्य ।

लोचनेति । लोचनानां नेत्राणां मार्गसहस्रे सहस्रसंख्यकानामिन्द्रनेत्राणां सहस्रमार्गे चन्द्रके रन्ध्रे स्तबकितः गुच्छीकृतः माहेन्द्रकवचो हस्ते यस्य तादृशः । मातलिः इन्द्रसूतः ।

विविधेति । देवराजः इन्द्रः अधिसमरं युद्धस्थले विविधानां विचित्राणां मणीनां मयूखमञ्जरीभिः किरणनिवहैः कृतः आरोपितः सुरचापसहस्रस्य सहस्रसंख्यकेन्द्रधनुषां संनिपातः समावेशो यत्र तादृशे अत्र विमाने निजं कार्मुकं धनुरपि अहार्षीत् प्रेषयामास । इन्द्रोऽत्र रथं स्वं चापमपि प्रेषयति न कवचमात्रमिति यावत् ॥ ५४ ॥

गया तब मन्दाङ्कके अर्धाङ्गमें वर्तमान पार्वतीको वञ्चित करके रावणने अपना दशम मस्तक शिवके चरणोंपर रख दिया ॥ ५३ ॥

(ऊपरकी ओर देखकर वितर्कके साथ) मालूम पड़ता है इन्द्रका रथ रामके पास आरहा है।

हेमाङ्गद—(देखकर सहर्ष) सखे, वही तो है क्या तुम नहीं देख रहे हो? मातलि अपने हाथोंमें इन्द्रके हजार नेत्रोंके लिये बनाये गये हजार छिद्रोंसे युक्त इन्द्रका कवच लिये हुए हैं। (थोड़ीदेर देखकर सहास)

नानाप्रकार की मणिमयूखमञ्जरियोंसे सहस्र इन्द्रचापोंसे युक्त प्रतीत होने वाले अपने इस रथ पर इन्द्रने अपना धनुष भी युद्धमें भेजा है ॥ ५४ ॥

(आकाशे कर्णं दत्वा ।) किमाह रावणप्रतीहारः—[1]'अरेरे पुरुहूतसूत

दर्पोऽयं भवतः सुरासुरचमूदोर्दण्डकण्डूविष-
ज्वालाजाङ्गलिकेन जङ्गलभुजा पत्यापि न त्याजितः ।
येनैन्द्रे रथवर्मणी रघुशिशोरभ्योपनीते त्वया
राजद्वेषमिदं विधाय स कथं शक्रोऽपि वर्तिष्यते ॥ ५५ ॥

रत्नचूडः—(श्रुतिमभिनीय ।) किमाह रामः—[2]'सत्यमिदं भो ! यच्छील[3] स्वामी तच्छीलास्तस्य मन्त्रिणः । [4]यदेनमपि स्वामिनो [5]मूलोच्छेदिना दुर्नयेन विकत्थन्ते ।

राजप्रतीहारः—रावणद्वारपालो रावणभृत्यो वा । पुरुहूतसूत—देवेन्द्रसारथे ।
दर्पोऽयमिति । सुरासुराणां देवदानवानां याश्चम्वः सेनास्तासां ये दोर्दण्डा भुजदण्डास्तेषां कण्डूः एव विषज्वाला तस्या जाङ्गलिकेन विषशमनविद्याविदा जङ्गलभुजा मांसाशिना पत्या रावणेन अपि अयं भवतो दर्पः अहङ्कारः न त्याजितः न शमितः, येन त्वया ऐन्द्रे रथवर्मणी स्यन्दनं कवचं च अस्य रघुशिशोः रामस्य उपनीते उपायनीकृते, इदं राजद्विष्टम् राजद्रोहं रावणस्य शत्रवे रथवर्मप्रदानरूपं विधाय शक्रोऽपि कथं वर्तिष्यते जीविष्यति, देवदानवसैन्यभुजवीर्यदर्पशमनपरेण राक्षसराजेनापि तव दर्पो न शान्तिं नीतो यदत्र रामाय स्वामिद्रव्यं रथं कवचं चानीतवानसि, आस्तां नाम तव कथा, एतादृशं राजद्वेषं विधाय शक्रोऽपि कथं स्वात्मानं रक्षिष्यतीति भावः । 'जाङ्गली विषविद्यायाम्' इति मेदिनी । 'जङ्गलं पिशितेऽस्त्रियाम्' इति च ॥ ५५ ॥

यच्छीलः याद्दशस्वभावः । तच्छीलाः ताद्दशस्वभावाः । प्रकृतयः प्रजाः । मूलो-

---

(आकाशमें कान देकर) रावणका द्वारपाल क्या कहरहा है ? अरे इन्द्रसूत,

देवदानव सैन्यके बाहु-दण्डके विषकी दवा करने वाले वैद्य राक्षसराजसे भी तुम्हारा यह दर्प शान्त नहीं हुआ, कि तुमने यह इन्द्रके रथ, कवच इस राघवशिशुके पास लाकर भेंट किया है, इस राजद्वेषको करके तुम्हारा मालिक शक्र किस प्रकार रह सकेगा ? ॥ ५५ ॥

रत्नचूड—(सुननेका अभिनय करके) रामने क्या कहा ? ठीक है यह, जिस स्वभावके राजा हों—उनके भृत्य भी उसी स्वभावके होते हैं, जिससे यह रावणके द्वारपाल स्वामीकी जड़ काटनेवाले दुर्नयसे अभिमान दिखा रहे हैं ।

---

१ 'अरर' इत्यस्मात्पूर्वं क्वचित् 'अनुवदति' इत्यधिकमस्ति ।
२ 'सत्यम्' इत्यस्मात्पूर्वं क्वचिन्नास्ति 'अनुवदति' इत्यधिकमस्ति पदमप्येऽपि ।
३ 'प्रभु' । ४ 'तदेवम्' । ५ 'मूलोच्छेदेन' ।

हेमाङ्गद —(आकाशे कर्णं दत्त्वा ।) किमाह रावण —अरे तापसबटो,

क्रोधेन [1]ज्वलिता मुहूर्तमनु[2] च स्वैरेव निर्वापिता
ह्रीवैरश्रुमहोर्मिभिर्मखभुजः पत्युः सहस्रं दृशः ।
यैर्दृष्टा भुवनत्रयीविजयिभिः सर्वंकषाः सन्त्यमी
ते सम्प्रत्यपि मे नयापनययोर्निर्वाहमूलं भुजाः ॥ ५६ ॥

रत्नचूड —(कर्णं दत्त्वा विहस्य ।) किमाह राम —
छित्त्वा मूर्ध्नः किमिति स वृतो धूर्जटिर्न्यग्रमीषा
दो स्तम्भाना त्रिभुवनजयश्रीरियं वास्तवी ते ।
मूर्धानो वा न खलु भवता दुर्लभा स्तम्भनेषु

च्छेदिना समूलविनाशकारिणा । निकृष्यन्ते आत्मश्लाघा कुर्वते ।

क्रोधेनेति । भुवनत्रयीविजयिभिः त्रिभुवनविजेतृभिः च भुजैः मुहूर्तं क्षणम् क्रोधेन ज्वलिता दीपिता, अनु तत्पश्चात् स्वैरेव निजैः एव व्रीडैः फलानुत्पादक तया स्वस्य अश्रुमहोर्मिभिः नयनवारिधाराभिः निर्वापिता निरूष्मीकृता इन्द्रस्य सहस्रं दृश नेत्राणि दृष्टा, सर्वंकषा सर्वविद्रावणा तस्मी मम भुजा नयापनययो सुनीतिदुर्नीत्यो निर्वाहे सम्पादने मूल कारणम् इदानीमपि सन्ति । ये मम बाहवो ऽपमाने क्रुद्धः वारि किमपि कर्तुमशक्ततया रुदन्तमिन्द्रं दृष्टवन्त, सर्वविद्रावणा ममामी ते भुजा नीत्याऽनीत्या वा वर्तितु क्षममाणा सन्त्येव, तदैव त्वा हनिष्यामीति भाव ॥ ५६ ॥

छित्त्वेति । अमोघा ते तव रावणस्य दो स्तम्भानाम् बाहुदण्डानाम् इयं त्रिभुवनजयश्री वास्तवी सत्या स्वसामर्थ्यसिद्धा, तदा मूर्ध्नः स्वशिरांसि छित्त्वा स धूर्जटि किमिति वृत किमर्थं प्रार्थितो वरदानार्थमिति शेष, भवतो रावणस्य मूर्धानो

हेमाङ्गद—(आकाशमें कान देकर) रावण क्या कहता है —रे तापसबटु

जिन्होंने इन्द्रके हजार नयनोंको कोपसे प्रज्वलित होते तथा अपने अकार्य साधक अश्रुजलसे बुझते भी देखा है वे हमारे त्रिभुवनविजयी तथा नीति अनीतिके मूल यह हाथ अभी तक अक्षुण्ण हैं ॥ ५६ ॥

रत्नचूड—(कान लगाकर सहास) रामने क्या कहा ?

यदि तुम्हारे हाथोंमें वस्तुतः यह विजयश्री थी तो तुमने शिवकी आराधनामें अपने सिर चढाकर क्यों वर माँगा था ? अथवा सिर तो तुम्हारे लिए दुर्लभ होते नहीं हैं

---

१ 'ज्वलिता'। २ 'अपि च'।

यद्देवस्य त्वमसि जगतां शिल्पिनोऽपि प्रपौत्रः ॥ ५७ ॥

यत्पुनर्मयोपि 'सम्प्रत्यपि ते भुजा सन्ति' इति तदधुनैव ज्ञास्यन्ते ।

हेमाङ्गद —(कर्णं दत्त्वा ।) किमाह रावण —अरेरे राजन्यडिम्भ, भवत्पुराणपितामहेन बहु तावदनरण्येनैव ज्ञातम् । इदानीं भवानपि ज्ञास्यति ।

रत्नचूड —(कर्णं दत्त्वा विहस्य¹ ।) किमाह राम 'अरेरे राक्षसीपुत्र,

न दूये न पूर्वं नृपतिमनरण्यं यदवधीः
जयो वा मृत्युर्वा युधि भुजभृतां क परिभवः ।

मस्तकानि वा न दुर्लभा दुरापा समभवेयुः खलु, यद् यस्मात् त्वं धाता शिल्पिनो जगत्स्रष्टुर्ब्रह्मणः प्रपौत्रोऽसि । यदि तवैव त्रिभुवनविजयलक्ष्मीर्यथार्था स्वसामर्थ्यसिद्धा वास्ति तत्किमर्थं स्वशिरांसि शिवायोपहृत्य वरमयाचथाः, स्वसामर्थ्येनैव प्रार्थ्यमानार्थप्राप्तेः सम्भवात्, अथवा तवात्र शिरश्छेदनव्यापारो न साहसिकतामूलो यतस्तव शिरांसि अनायासलभ्यानि सन्ति यतः ब्रह्मप्रपौत्रो भवसीत्यर्थः । महादेवार्थं तव न त्वया शिरांसि छिन्नानि, किन्तु शिरसां सुलभतयेति सोल्लुण्ठोक्तिः । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ५७ ॥

राजन्यडिम्भ क्षत्रियशिशो । पुराणपितामहेन वृद्धवृद्धपितामहेन पूर्वजेन । बहु ज्ञातम् मम भुजबलं साधुपरिचितम् । अनरण्यो नाम रामपूर्वजो रावणेन हत इति प्राचीनवार्ता ।

न दूये न इति । न अस्माकं पूर्वं पूर्वपुरुषं नृपतिम् अनरण्यं तन्नामानं राजानम् यत् त्वम् अवधीः हतवान्, तत् ततो न दूये न सन्तापमनुभवामि, जयो वा मृत्युर्वा युधि युद्धे भुजभृतां बाहुबलशालिनां क परिभवः कीदृशोऽपमानः युद्धे जये मृत्यौ वा न परिभवस्य स्थानं तत्रान्यतरनिश्चयात्, अतोऽनरण्यवधो न मम

क्यों कि तुम विश्वनिर्माता ब्रह्माके ही प्रपौत्र ठहरे ॥ ५७ ॥

हेमाङ्गद—(कान लगाकर) रावणने क्या कहा ? अरे क्षत्रियकुमार तुम्हारे पुराण पितामह अनरण्यने बहुत कुछ समझा था, अब तू भी समझ जायगा ।

रत्नचूड—(कान लगाकर सहास) रामने क्या कहा ? अरे राक्षसीपुत्र,

मुझे इसका ताप नहीं है कि तुमने हमारे पूर्वज अनरण्य नामक नृपका वध किया, युद्धमें जय हो अथवा मृत्यु वीरोंका इसमें अनादर नहीं होता है । मुझे इसका खेद

---

१ 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति । २ ' ' ।

जित्वा तु त्वां कारागृहविनिहितं हैहयपते
पुलस्त्यो यद्भिक्षामकृत कृपणस्तद् व्यथयति ॥५८॥

हेमाङ्गद —(कर्णं दत्त्वा ।) किमाह रावण —आः क्षत्रियबटो वाचाट, त्वमपूर्वशिल्पी रजनीचरेन्द्रचरितचन्द्रेऽपि लाञ्छनं लिखसि ! तन्न न भवसि । (ससम्भ्रममवलोक्य ।) कथमुपक्रान्तमेव शरसहस्रदुर्दिनं मन्दोदरीदयितेन ।

रत्नचूड —कथं मैथिलीवल्लभेनापि [1]प्रत्युपक्रान्तमेव । (विमृश्य ।)
पतन्ति [2]रामभद्रेण खण्डिता रावणेषवः ।
पूर्वार्धं फलिभिर्वेगात् पश्चार्धं [3]पुङ्खिभिश्चिरात् ॥ ५९ ॥

परितापमूलमित्यर्थः । तु किन्तु पुलस्त्यः तव पितामहः कृपणो दीनः सन् हैहयपते कार्तवीर्यस्य कारागृहविनिहितं कारागारनिक्षिप्तं त्वां जित्वा पराभूतं त्वां भिक्षाम् कृत भिक्षया याचितवान् तत् पुलस्त्यकृतं तव भिक्षणं स्मर्यमाणं सन्मम परितापं जनयतीति सोल्लुण्ठनं वचनम् ॥ ५८ ॥

वाचाट, बहुगर्ह्यभाषिन् । अपूर्वशिल्पी—नूतनचित्रनिर्माता । रजनिचरेन्द्रचरितचन्द्रे राक्षसराजरावणकीर्तिशशिनि ।

शरसहस्रदुर्दिनम् शरसहस्रवर्षणम् ।

पतन्तीति रामभद्रेण खण्डिता रावणस्य रावणस्य शरा फलिभिः लोहाग्रवद्भिः पूर्वार्द्धैः वेगात् त्वरात् पतन्ति पश्चार्धैश्च चिरात् विलम्बात् पतन्ति । यो भागो गुरुतरः भारवान् स शीघ्रं लघुश्च पश्चात्पततीति, बाणस्य खण्डितं तयोः तत्तद्भागानां पृथक्पतनमिति भावः ॥ ५९ ॥

हे हैहयपते ! तुमको जीतकर कारागारमें डाल दिया था तब तुम्हारे पितामह पुलस्त्यने भिक्षारूपमें तुम्हें माँगा था ॥ ५८ ॥

हेमाङ्गद—(कान लगाकर) रावण क्या कहा ? ओ क्षत्रियबटु, वाचाल क्यों, तू तो अपूर्व शिल्पी है जो रावण के कीर्तिचन्द्रमें भी कलङ्क चित्रित कर रहा है ? अब तुम अब जीवित नहीं रह सकोगे (घबड़ाहटके साथ देखकर) क्यों, इस रावणने बाण वृष्टि करना प्रारम्भ कर दिया ।

रत्नचूड—क्यों रामने भी जवाब देना प्रारम्भ कर दिया ।

राम द्वारा खण्डित रावणके बाण पूर्व अग्रभाग पहले गिरते हैं और पिछले पङ्ख भागमें बादमें गिर रहे हैं ॥ ५९ ॥

1 प्रक्रान्तमेव । 2 रामचन्द्रेण । 3 पत्रिभिः ।

किं च—

अक्षेपु केतुदण्डे च सारथौ च हयेपु च ।
[1]खेलन्ति राक्षसेन्द्रस्य स्यन्दने रामपत्त्रिणः ॥ ६० ॥

हेमाङ्गद —(सभयम् ।) अहह ।

अन्धकारीकृतव्योमा बाणवर्षेण रावण ।
रामारूढं तिरोधत्ते शताङ्गं शातमन्यवम् ॥ ६१ ॥

(चिरं दृष्ट्वा सविस्मयम् ।) सखे

नानाविधानि शस्त्राणि शस्त्रैर्नानाविधैरपि ।
इमौ हि प्रतिकुर्वाते न कश्चिदतिरिच्यते ॥ ६२ ॥

रत्नचूड —एवमेतत् ।

अक्षेष्विति अक्षेपु चक्रेपु, केतुदण्डे ध्वजवंशे, सारथौ सूते, हयेपु अश्वेपु च राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य स्यन्दने रथे रामपत्त्रिणो रामस्य बाणा खेलन्ति, रामबाणा रावणस्य स्यन्दनं सर्वतः आवृण्वन्तीत्यर्थः ॥६० ॥

अन्धकारेति । बाणवर्षेण शरासारवर्षेण अन्धकारीकृतव्योमा आच्छादिताकाश रावण रामारूढं रामवाहनतां गतम् शातमन्यवं शक्रसम्बन्धिशताङ्गं रथं तिरोधत्ते आच्छादयति, 'शताङ्गः स्यन्दनो रथ ' इत्यमर । शातमन्योरिदं शातमन्यवम् , 'शतमन्युर्दिवस्पति ' इति चामर ॥ ६१ ॥

नानाविधानीति इमौ रामरावणौ नानाविधानि बहुप्रकाराणि शस्त्राणि नानाविधै शस्त्रै प्रतिकुर्वाते निवारयत कश्चित् तयोरेक कश्चन न अतिरिच्यते न विशिष्यते ॥ ६२ ॥

और—रावण रथके धुरा, ध्वजदण्ड, सारथि तथा अश्वों पर रामके बाण खेल रहे हैं ॥ ६० ॥

हेमाङ्गद—(भयके साथ) अहह ॥ अपनी बाणवृष्टिसे आकाशको अन्धकाराकीर्ण बनानेवाला यह रावण रामाध्यासित इन्द्र रथको छिपा दे रहा है ॥ ६१ ॥

(बड़ी देर तक देखकर साश्चर्य) सखे,

ये दोनों नानाविध शस्त्रोंका उत्तर नानाविध शस्त्रोंसे दे रहे हैं, इनमें कोई भी घट बढ नहीं रहा है ॥ ६२ ॥

रत्नचूड—यह ऐसी बात है ।

१ पतन्ति' ।

यद्रावणो बहुभिरेष भुजैः करोति
तद्राघवः प्रतिकरोति भुजद्वयेन।
कर्म द्वयोर्यदपि तुल्यफलं तथापि
रक्षोभटाद्दशगुणं नरवीरशिल्पम् ॥ ६३ ॥

हेमाङ्गदः—([1]विहस्य।) सखे

विंशत्यापि भुजैरेष द्वौ भुजावभियोधयन्।
अदूषितद्वन्द्वयुद्धमर्यादो दशकन्धरः ॥ ६४ ॥

(सखेदभयं च।) कथमयं रावणो माहेन्द्रस्यन्दनात्
तस्यारिजनभीमस्य[2] ध्वजदण्डस्य लाञ्छनम्।

यद्रावण इति। एष रावणः बहुभिः भुजैः विंशत्या भुजैः यत् करोति अस्त्रप्रहारादि निवर्त्ते रामः तत् सर्वमपि रावणकृतं भुजद्वयेन प्रतिकरोति निवारयति। यद्यपि द्वयो रामरावणयोः कर्म व्यापारः तुल्यफलं समानफलम्, तथापि रक्षोभटात् रावणात् नरवीरशिल्पम् रामस्य युद्धकौशलम् दशगुणम्। रामस्य द्वौ बाहू, रावणस्य च विंशतिस्ते, रावणो यद्विंशत्या भुजैः करोति रामस्तदेव द्वाभ्यां भुजाभ्यामिति सिद्धमेव रावणशिल्पापेक्षया रामशिल्पस्य दशगुणत्वमिति भावः ॥ ६३ ॥

विंशत्यापीति। एष दशकन्धरो रावणः विंशत्यापि भुजैः रामस्य द्वौ भुजौ अभियोधयन् युद्धे प्रवर्त्तयन् अदूषितद्वन्द्वयुद्धमर्यादः अक्षतद्वन्द्वयुद्धमतिष्ठः दशकन्धरो वर्त्तत इति शेषः। द्विभुजो रामो विंशतिभुजश्च रावण इति द्विभुजेन विंशतिभुजस्य युद्धं कथं द्वन्द्वयुद्धं कथयितुं शक्यं, तथापि स्वं युद्धं द्वन्द्वयुद्धं कथयन् रावणो न लज्जत इति चित्रमित्यर्थः, परिहासोक्तिरियम् ॥ ६४ ॥

माहेन्द्रस्यन्दनात् इन्द्ररथात्।

तस्यारिजनेति। दर्पदाम अभिमानसमिद्धः रावणः क्षुरप्रेण तदाख्येन शल्येन

रावण जो कार्य बीस हाथोंसे करता है राम उसका उत्तर दो हाथोंसे देते हैं, इस प्रकार यद्यपि दोनोंके फल तुल्य हैं तथापि रावणकी रणकुशलतासे रामकी रणकुशलता दशगुनी प्रमाणित हो रही है ॥ ६३ ॥

हेमाङ्गद—(सहास) सखे,

रावण अपने बीस हाथोंसे द्विभुज रामके साथ युद्ध करता है फिर भी उसने द्वन्द्व युद्धकी मर्यादा नहीं नष्ट की है ॥ ६४ ॥

(खेद तथा भयके साथ) शत्रु-सैन्यको भयभीत करनेवाले रामके ध्वजदण्ड पर

---

१ 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति। २ 'अरिभयभीमस्य' 'अरिभयभूतस्य'।

दर्पदीप्तः क्षुरप्रेण मायूरं पिच्छमच्छिनत् ॥ ६५ ॥

रत्नचूड —(सहर्षम् ।) सखे, पश्य पश्य कुलिशकेतुकेतनविमा[1]ननाविलक्षक्रुद्धेन—

दिक्पालद्विपदर्पदानलहरीसौरभ्यगर्भानिलैः
पक्षैरेव समस्तराक्षसकथाकल्पान्तकर्णेजपाः ।
दीयन्ते रघुपुङ्गवेन कतिचित्पौलस्त्यमौलिष्वमी
पौलोमीनयनाम्बुसीकरकणावग्रहिणो मार्गणाः ॥ ६६ ॥

तस्य प्रसिद्धस्य अतिबलभीमस्य शत्रुसैन्यभयङ्करस्य रामस्यन्दनस्य ध्वजदण्डस्य लाञ्छनम् चिह्नम् मायूरं पिच्छम् बर्हम् अच्छिनत् खण्डितवान् ॥ ६५ ॥

कुलिशेति कुलिशकेतोः इन्द्रस्य केतनं ध्वजदण्डस्तस्य विमानना लाञ्छनमयूरपिच्छच्छेदनात्मकोऽपमानस्तया विलक्षः लज्जितः क्रुद्धश्च तेन ।

दिक्पालेति । रघुपुङ्गवेन रामेण दिक्पालद्विपानाम् ऐरावतादिदिग्गजानां दर्पेण बलगर्वेण या दानलहरी मदवारिधारा तस्याः सौरभ्यं सुगन्धो गर्भे अभ्यन्तरे गर्भे येषां तादृशा अनिला वायवो येषां ते तथोक्ताः (येषां बाणपक्षाणां प्रयोगे जाते दिग्गजानां चिरशुष्काणि दानवारीणि प्रवर्त्तितानि भविष्यन्ति, तस्मात्ते मद्बाणपक्षेषु दिग्गजदानवारिसुगन्धपूर्णा वायवो निहिताः स्युः) तादृशैः पक्षैः पुङ्खैः समस्तराक्षसकथाकल्पान्तकर्णेजपाः सम्पूर्णराक्षसेतिहासावसानसूचकाः समस्तरक्षोविलयं सूचयन्तः पौलोमीनयनानां शचीनेत्राणां येऽम्बुसीकरकणा अश्रुबिन्दवस्तेषामवग्राहिणः प्रतिबन्धकाः राक्षसविनाशेन पौलोमीरुदननिवर्त्तकाः कतिचित् मार्गणाः बाणाः रघुपुङ्गवेन रामेण पौलस्त्यमौलिषु रावणशिरस्सु दीयन्ते निक्षिप्यन्ते । रामेण रावणस्य मस्तकेषु कतिचिद् बाणास्तादृशाः पात्यन्ते ये दिक्पालगजदानवारिसुगन्धानिलपूर्णान् धारयन्ति, ये च 'राक्षसकुलप्रलयस्य सूचनामिव ददति, ये च पौलोमीनयनाम्बुवृष्टिं प्रतिबध्नन्ति इत्याशयः ।

बलमान मयूरपिच्छ रूप चिह्नको उस दर्पी रावणने क्षुरप्र नामक अस्त्रसे काट डाला ॥६५॥

रत्नचूड —(सहर्ष) सखे, देखो, इन्द्रके ध्वजदण्डके अपमानसे लज्जित तथा कुपित—

रघुनायकने रावणके मस्तकोंपर कुछ ऐसे बाण रख दिये जो बाण दिक्पालस्थ दिग्गजोंके दानवारिसे सुगन्धिपूर्ण एवं समस्त राक्षस समूहके प्रलयकी सूचना अपने पक्षोंमें देनेवाले हैं तथा जिन बाणोंने इन्द्राणीके नयनोंके अश्रु प्रवाहको बन्द कर डाला है ॥६६॥

---

१ 'अवमानवैलक्ष्य-' 'अवमाननाविलक्ष-' ।

हेमाङ्गदः — (सखेदाद्भुतम् ।) कथं किरीटपरम्परापरिभवममृष्यमाणेन बाणवर्षाद्वैतमातन्वता राक्षसराजेन

विदेहकन्याकुचकुम्भकोटिकठोरतासाक्षिणि सायकोऽयम् ।
रामस्य जन्मान्तरमेलकारश्रीकौस्तुभे वक्षसि हा निखातः ॥६७॥

(सम्यगवलोक्य ।) सखे,

एकेनैव निशातकङ्कटभिदा लङ्कापतेः पत्रिणा
विद्धोऽयं यदि नाम कोऽपि जगतामुल्लाघनो राघवः ।
चक्षुर्वर्त्मसहस्राणि सरदसृग्धारौघमाद्धारिणा'

कवचः सूचकः स्यात्' इत्यमरः । 'मालिर्मूर्धकिरीटयोः' इति धरणिः । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ६६ ॥

किरीटेति किरीटानां मुकुटानां परम्परा श्रेणिस्तस्याः परिभवं मानमहाररूपमनादरम् । अमृष्यमाणेन असहमानेन । बाणवर्षाद्वैतम् सर्वतो बाणवृष्टिम् ॥

विदेहकन्येति विदेहकन्यायाः सीतायाः कुचौ स्तनौ कुम्भौ इव तयोः कोटेः अग्रभागस्य साक्षिणि प्रत्यक्षानुभविनि जन्मान्तरे विष्णुरूपजन्मनि मेलकारौ मिलितौ श्रीकौस्तुभौ लक्ष्मीकौस्तुभमणी यस्य तादृशे विष्णुरूपजन्मनि श्रिया कौस्तुभेन च युक्ते रामस्य वक्षसि हृदये (रावणेन) अयम् सायकः बाणो निखातः निक्षिप्तः । हा खेदे ॥ ६७ ॥

एकेनैवेति एकेनैव निशातकङ्कटभिदा अतितीक्ष्णकवचभेदिना लङ्कापतेः पत्रिणा बाणेन जगतामुल्लाघनः राक्षसादिराक्षसविनाशद्वारा लोकत्रयनैरुज्यकारी कोऽपि राघवोऽयं यदि नाम विद्धः, तु किन्तु चक्षुषां वर्त्मसहस्रात् इन्द्रस्य दृशाम् अवाधप्रयत्नं जायतामिति विचार्य तद्वर्मणि निर्मिताक्षमहस्रात् निःसरन् निर्गच्छन् य

हेमाङ्गद — (खेद तथा आश्चर्य) क्यों, किरीट समुदायके अपमानसे कुपित तथा अनवरत बाणवृष्टि करनेवाले राक्षसराजने —

हाय, विदेहकन्याके कुचकुम्भोंकी कठोरताके साक्षी तथा जन्मान्तरमें लक्ष्मी तथा कौस्तुभसे मिलन करनेवाले रामके हृदय पर अपना बाण रोप दिया ॥ ६७ ॥

(अच्छी तरह देखकर) सखे कवचभेदी रावणके एक ही बाणसे यदि जगत्को नीरोग बनानेवाले राम विद्ध होगये तब वह इन्द्रके कवचमें बने सहस्र नेत्र मार्गोंसे खूनकी धार बहाकर हजार व्रणोंको चित्रित कर रहे हैं ॥ ६८ ॥

---

१ सारकारिणा' ।

माहेन्द्रेण तु वर्मणा विवृणुते वीरः सहस्रं व्रणान् ॥ ६८ ॥

रत्नचूड —(सहर्षम् ।) राघवेणापि

सीतास्तनस्तबककुङ्कुमपङ्कलोप[1]-
सङ्कल्पपातकिनि वक्षसि रावणस्य ।
न्यस्तः शरो विबुध[2]कुञ्जर[3]दन्तघात
रूढव्रणार्बुदचतुष्टयमध्यवर्ती ॥ ६९ ॥

हेमाङ्गद —(कर्णं दत्त्वा सविस्मयम् ।) [4]एकेन सव्यपाणिना निशिखमुत्खाय किमाह रावणः —साधु रे मनुष्यडिम्भ साधु ।

असृग्धारौघः रक्तप्रवाहसमुदायस्तेन झाङ्कारिणा झाङ्कारशब्दकरेण माहेन्द्रेण वर्मणा कवचेन वीरो रामः सहस्रं व्रणान् विवृणुते प्रकाशयति । [यद्यपि रावणबाणेन रामः एकत्रैव विद्ध इत्येकमेवासौ व्रणं धत्ते परन्तु रामवर्मणः सहस्रच्छिद्रतया प्रतिच्छिद्रं रक्तं वहतीति रक्ताक्तच्छिद्रसहस्रयुक्ततनुरयं रामः सहस्रं व्रणान् प्रकाशयतीत्युक्तम् । 'उरश्छदः कङ्कटकः', 'अस्रावो निर्गतो गदात्' इत्युभयत्रामरः ॥ ६८ ॥

सीतास्तनेति । सीतायाः स्तनौ स्तवकाविव पुष्पगुच्छाविव तयोः कुङ्कुमपङ्कस्य काश्मीरद्रवस्य लोपे अपसारणे रामवधद्वारा वैधव्यं विधाय तामालिङ्ग्य वा तत्कुचस्थ कुङ्कुमपङ्कापसारणे यः सङ्कल्पः इच्छा तत्पातकिनि मनसा पापपरे रावणस्य वक्षसि (राघवेणापि) त्रिबुधकुञ्जरः ऐरावतस्तस्य चतुर्भिर्दन्तैः घातः प्रहारस्तेन रूढस्य जातस्य व्रणार्बुदानाम् व्रणचिह्नमांसपिण्डानाम् चतुष्टयं तन्मध्यवर्ती मध्यस्थः शरो न्यस्तः क्षिप्तः । रामोऽपि रावणस्य हृदये बाणं क्षिप्तवान्, यत्र हृदये सीतामालिङ्गितुं रामं हत्वा सीता विधवा कर्तुं वा सङ्कल्पेन पापं सञ्जातम्, यत्र चैरावतदन्तचतुष्टयप्रहारकृतव्रणार्बुदचतुष्टयं विद्यमानं तत्रेति बोध्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ६९ ॥

रत्नचूड—(सहर्ष) राघवने भी—

सीताके स्तनों पर किये गये कुङ्कुमपङ्कको लुप्त करनेके सङ्कल्पसे पातकयुक्त रावणके हृदय पर देवगजके दन्तघातसे उत्पन्न व्रणचिह्न चतुष्टयके मध्यमें बाण रख दिया ॥ ६९ ॥

हेमाङ्गद—(कान लगाकर) एक ही वामहस्तसे बाण उखाड़कर रावणने क्या कहा ? साधु अरे नरशिशु, साधु,

१ 'लेप-' । २ 'वारण-' । ३ 'दन्तपात-' ।
४ 'एकेनापि स येन पाणिना' 'एकेन सव्येन' 'एकेन सव्यपाणिना समुत्खाय' ।

त्रैविक्रम सकलदानवजीवितव्य-
विद्यासमाप्तिलिपिरेष सुदर्शनो मे ।
यस्मिन्निपत्य हृदये दलितारजाल-
ज्योतिस्तुषारमयमाभरणं बभूव ॥ ७० ॥

तस्मिन्नपि रुधिरदर्शनं कुर्वाणेन भवता दर्शितेयं सुरासुरवीरातिशायिनी हस्तवत्ता ।

रत्नचूड —अहह, विपक्षगिरामुद्गारेण सर्वग्रन्थिगुरुणा दूरं दीप्यमानस्य—

सुविनिहितचन्द्रहासव्रणकिणवलयोपहसितक्षारेषु ।

त्रैविक्रम इति । सकलानां दानवानां जीवितव्यं जीवनम् एव विद्या तस्याः समाप्तिलिपिः अवसानलेखरूप एव त्रैविक्रम विष्णुसम्बन्धी सुदर्शनं चक्रं नाम यस्मिन् मम हृदये निपत्य पतित्वा दलितं खण्डशो भूतं मदीयवक्षोर सङ्घर्षेण त्रुटितम् आरजालं चक्रस्था तत्समूहो यस्य तथाभूतम् सत् एव ज्योतिस्तुषारमयं भास्वरशीतलम् आभरणं बभूव । यच्चक्रं राक्षसजीवनसमापकं प्रथते तदपि वैष्णवं सुदर्शनाभिधं चक्रं ममोरसि प्रहृतं सत् वक्षोर सङ्घर्षेण त्रुटितारजालं भूत्वा यत्र मम हृदये भास्वरवर्णमतिशीतलं चाभरणं जातं तत्रापीत्यग्रिमेण सम्बन्धः ॥७०॥

रुधिरदर्शनं कुर्वाणेन—शोणितं प्रकटयता । सुरासुरवीरातिशायिनी देवदानवातिक्रमणी । हस्तवत्ता-प्रशस्तहस्तशालिता ।

विपक्षगिराम्—शत्रुवचसाम् । उद्गारेण उच्चारणेन । सर्वग्रन्थिगुरुणा-सर्वग्रन्थिभिर्महता । दूरम्-अतिमात्रम् । दीप्यमानस्य-प्रकाशमानस्य ।

सुविनिहितेति । सुविनिहित शिवाराधनावसरे स्वशिरश्छेदनार्थं सुष्ठु धृतो यश्चन्द्रहासो नाम निजखड्गस्तस्य व्रणकिणवलयेन शुष्कव्रणचिह्नसमुदयेन उप

सकल दानवोंके जीवन लेखको समाप्त करनेवाला विष्णुका सुदर्शन चक्र जिस हमारे वक्षपर गिरकर सकल दानोंके टूट जानेसे तेजपूर्ण शीतल आभरण बन गया था ॥ ७० ॥

उसीपर तुमने रक्तदर्शन कराकर सकल देवदानवजयिनी वीरता प्रकट की है ।

रत्नचूड—अहह ! शत्रुके वचनोंसे अत्यन्त कुपित—

रामके बाण-समुदाय अच्छी तरह विन्यस्त चन्द्रहास व्रणचिह्नोंसे द्वारका उपहास

---

१ 'वाहिनी' ।   २ 'दह्यमानस्य' 'कम्पमानस्य' ।

रामस्य मार्गणगणाः पतन्ति दशकण्ठकण्ठेषु ॥ ७१ ॥

हेमाङ्गदः—(सचमत्कारम् ।) सखे, पश्य पश्य—अनुरूपवीररसास्वादप्रमोदभरद्विगुणितावष्टम्भसंक्षोभितभुवनत्रयस्य निरन्तरप्रहीयमाणबाणपञ्जरमध्यवर्तिना रामभद्रेण क्रीडाशकुन्तकौतुकं पूर्यते राक्षसराजस्य । नूनमिदानीम्

उदञ्चन्न्यञ्चद्भूविवृतनिभृतानामनुफणं
मणीनां त्विड्भिः क्षणमुषितपातालतिमिरः ।

हसित स्वरूपशोभया निन्दितो हारो येषु तादृशेषु—शिरश्छेदक्षतचन्द्रहासक्षतसमुत्पन्नमणिशोणितलयतिरस्कृतहारशोभेषु—दशकण्ठकण्ठेषु रावणगलेषु रामस्य मार्गणगणाः बाणसमूहाः पतन्ति ॥ ७१ ॥

अनुरूपेति । अनुरूपो योग्यो यो वीररसस्वादः सुभटमिलनं तेन च प्रमोदभर आनन्दातिशयः तेन द्विगुणितः द्विगुणीभूतः योऽवष्टम्भः गर्वः तेन संक्षोभितं सञ्चालितं भुवनत्रयं येन तथोक्तस्य । राक्षसराजस्य रावणस्य । निरन्तरप्रहीयमाणानाम् अनवरतं क्षिप्यमाणानाम् बाणानां पञ्जरस्य मध्ये वर्तते तच्छीलेन—रावणमुक्तबाणगणरूपपञ्जरमध्यस्थितेन । क्रीडाशकुन्तकौतुकम्-क्रीडापक्षिविनोदः । पूर्यते-सम्पाद्यते । यथोऽपि क्रीडापक्षी पञ्जरमध्ये तिष्ठति, तद्वद् रामोऽपि बाणपञ्जरमध्यस्थतया रावणस्य क्रीडाशकुनिविनोदं करोतीत्यर्थः ।

उदञ्चदिति । भुजगानामधिपतिः शेषनागः उदञ्चति रावणे स्थिरे तत्पदन्यास जनितभाराधिक्यविरहे उपरि गच्छन्ती न्यञ्चन्ती रावणकृते पदन्यासे भाराधिक्येन अधोगच्छन्ती च या भूः पृथिवी तया विवृतानाम् प्रकाशितानां च उन्नमने प्रकाशितानां तथाऽधोनमने निभृतानाञ्चेत्यर्थः । अनुफणं प्रतिभोगं मणीनां भूरत्नानां त्विड्भिः प्रभाभिः क्षणमुषितपातालतिमिरः कियत्कालापहृतान्धे

मरनेवाले रावणके कण्ठमें गिर रहे हैं ।

हेमाङ्गद—(चमत्कृत होकर) सखे देखो देखो, अनुरूप वीर सत्कार आनन्दसे दुगुन उत्साह द्वारा भुवनको संक्षोभित करनेवाले रावणके निरन्तर क्षिप्त बाणोंसे राम पिंजरगत पक्षी की तरह मालूम पड़ रहे हैं । निश्चय ही इस समय—

ऊपर नीचे होती हुई पृथ्वीके द्वारा प्रकाशित तथा गोपित फणशाली भुजगोंके

१ 'प्रमोदद्विगुणित-' । २ 'पञ्जरवर्तिना' । ३ 'आपूर्यते' ।

भुजक्रीडावल्गद्दशमुखपदन्यासगरिम
प्रगल्भैर्निश्वासैरजनि भुजगानामधिपतिः ॥ ७२ ॥

रत्नचूड —(सभयमवलोक्य ।) सखे, एवमेतत् ।

रक्षोविक्षोभवेगोच्छलितजलनिधिव्यक्तमातङ्गचक्र-
क्रुध्यद्दिङ्नागमुक्तोद्धरण'गुरुभरामद्य नागाधिराजः ।
अङ्गैरङ्गेषु मग्नैरविरलवलिना वामनेनातिपीना

भुवनाधस्तात्, भुजक्रीडया बाहुलीलया वल्गन् सञ्चरिष्णुः दशमुखो रावणस्तस्य पदन्यासगरिम्णा पादन्यासभवगौरवेण प्रगल्भैर्दीर्घैः निःश्वासैः अजनि जातः । अयमाशयः—रावणे बाहुलीलाप्रदर्शनरसिके तत्पदन्यासजनितगौरवेण यदा पृथ्वी नमति तदा शेषफणामणयः पृथ्व्या सन्निहितया निह्नूयन्ते तदा शेषः स्वफणामणिप्रभाभिः पातालवर्त्तितमोऽपाकर्त्तुं न प्रभुर्भवति, यदा च रावणः स्थिरीभवति तदा पृथिव्यामुन्नतायां शेषफणामणयो विवृता भवन्ति तदा शेषस्तत्प्रभाभिः पातालस्थितं तमो नाशयति, तदित्थं शेषनागो रावणपदन्यासगौरवप्रसूतनिःश्वासानुसारं पातालवर्त्तितमः कदाचिन्नाशयति कदाचिन्न नाशयतीत्यनिश्चप्रकाशतां गत इति ॥ ७२ ॥

रक्षोविक्षोभेति—अद्य अधुना नागाधिराजो वासुकिः रक्षसा निशाचरेण चलनजन्यवेगेनोच्छलित उच्छितजलराशिः अत एव च क्षुब्धीभूतो यो जलनिधिः सागरस्तत्र व्यक्ताः प्रकटीभूताः ये मातङ्गचक्राः गजसमूहाः तेभ्यो विपक्षशङ्कया क्रुध्यन्तो ये दिङ्नागाः दिग्गजास्तैर्मुक्त्वा त्यक्तमुद्धरणमुपरिधारणं तेन गुरुभरामतिभारवतीम् उर्वीम् पृथ्वीम् अविरलवलिना निरन्तरमांससङ्कोचरूपत्रिवलीसंयुक्तेन वामनेन खर्वेण अतिपीना अतिस्थूलेन देहेन फणाफलकदर्शनात् फणामूर्ध्निस्तारम् अपह्नुवानः गोपयन् अङ्गेषु लग्नैः निलीनैः अङ्गैः बिभर्ति धारयति । युद्धे चलत्सु

फणमणियों द्वारा पातालके अन्धकारको शेषनाग दूर करते हैं, क्योंकि बाहुलीलाका गर्वित रावण अपने पदन्याससे गौरवसे उनके श्वासकी वृद्धि कर रहा है ॥ ७२ ॥

रत्नचूड—(सभय देखकर) सखे, ठीक कहते हो,

रावण पक्षगत राक्षसोंके सञ्चरण वेगसे उछलने हुए सागरमें मातङ्ग समुदाय प्रकट होता है जिससे कुपित होकर दिग्गज पृथ्वीका भार छोड़ देते हैं, तब केवल शापके ही ऊपर पृथ्वीका सारा भार आ पड़ता है अत उनके अङ्ग अङ्गोंमें समाने लगते हैं, वलियाँ निकल आती हैं गर्दन वामन तथा मोटी हो रहती है, इस प्रकार किसी तरह

---

१ 'गुरुतराम्' ।

देहेनापह्नुवान फणफलकपरीणाहमुर्वीं बिभर्ति ॥ ७३ ॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य ।) कथमितस्ततो वैमानिकैरपक्रम्यते[1] गगनतलात् ।

हेमाङ्गद — (सचमत्कारम् ।) अहो त्रिभुवन[2]भयङ्करमायोधनमुपक्रान्तं महावीराभ्याम् । तथा हि ।

ध्यायत्यथ गाधिसुनादधीतान्दिव्यास्त्रमन्त्रान्मनुवंशवीर ।
ब्रह्मोपदिष्टामिह [3]शस्त्रविद्यामसौ [4]तदाकाङ्क्षति राक्षसेन्द्र ॥७४॥

[5]तदावामप्यपसराव । (इत्यपक्रामतः ।)

रावणस्तु समुच्छलति सागरजले प्रवासीभवत्सु मातङ्गचक्रेषु प्रतिपक्षशङ्कया क्रुध्य द्भिर्दिङ्नागैः परित्यक्ते उपरिधारणव्यापारे प्रवृद्धभारायां भुवि भारोऽधिको नेति बोधयितुं भाराधिक्येन विस्तीर्यमाणमपि फणसमूहं निरन्तरवलियुक्तेन स्वेन स्थूलेन च देहेन गोपयन् अयं शेषनागोऽङ्गेषु स्वाङ्गानि मज्जयन्महता क्लेशेन पृथ्वीं धारयतीत्यर्थः । 'पीवा च स्थूलपीवरे' इत्यमरः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ७३ ॥

वैमानिकैः व्योमयानस्थितैः । अपक्रम्यते अपस्रियते ।

त्रिभुवनभयङ्करम् लोकत्रयभयजनकम् । आयोधनं युद्धम् । उपक्रान्तम् प्रारब्धम् ।

ध्यायत्ययमिति । अथ मनुवंशवीरः मनुवंशश्रेष्ठः रामः गाधिसुतात् विश्वामित्रात् अधीतान् शिक्षितान् दिव्यास्त्रमन्त्रान् जृम्भकादिप्रयोगोपनिषदः ध्यायति स्मरति, असौ राक्षसेन्द्रः इह रणक्षेत्रे तदा रामेण दिव्यास्त्रमन्त्रेषु स्मर्यमाणेषु ब्रह्मोपदिष्टाम् ब्रह्मणा पूर्वं शिक्षिताम् शस्त्रविद्याम् आकाङ्क्षति आलोचयितुमिच्छति, तदित्थं उभावपि भीषणं युद्धं प्रक्रमेते इत्याशयः ॥ ७४ ॥

फणमण्डलको विस्तारित करके यह पृथ्वीका धारण करते हैं ॥ ७३ ॥

(ऊपरकी ओर देखकर) क्यों, वैमानिकगण आकाशसे इधर उधर भाग रहे हैं ।

हेमाङ्गद—(चमत्कृत होकर) दोनों महावीरोंने त्रिभुवन भयङ्कर युद्ध प्रारम्भ कर दिया है । क्योंकि—

रामचन्द्र विश्वामित्रके पास पढ़े गये दिव्यास्त्र मन्त्रोंका ध्यान कर रहे हैं, और रावण ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट शस्त्रविद्याका स्मरण करता है ॥ ७४ ॥

अतः हमलोग भी यहाँ से चलें । (हटकर खड़े हो जाते हैं)

१ 'आक्रम्यते गगनतलम्', 'अपाक्रम्यते' । २ 'भङ्कभयङ्करमुपक्रान्तम्' ।
३ 'शास्त्रविद्याम्' । ४ 'तदाभ्यस्यति' । ५ 'तदावामुपसृत्यास्वहे' ।

हेमाङ्गदः—(समन्तादवलोक्य ।) सखे, [1]यथा भुवनसंक्षोभस्तथा तर्कयामि—तामिस्रं भानवीयेन, भानवीयं राहवीयेण, राहवीयं वैष्णवीयेन, वैष्णवीयं पौष्पकेतवेन, पौष्पकेतवं च[2] पाशुपतेनास्त्रमस्त्रेण प्रतिकुर्वाणयोः [3]पुलस्त्यकुकुत्स्थकुलैकवीरयोस्तुमुलमायोधनं वर्तते ।

रत्नचूडः—[4]सखे, कृतिप्रतिकृतीनामविशेषेऽपि जेतव्यमिति रामस्य मर्तव्यमिति रावणस्य निर्णयनिर्भरोऽयं सर्वास्त्रमोक्षः । विशिखमुखोपस्थायिनीनां च [5]पुनर्देवतानामबलीयानाटोपः [6]कल्प्यते । तथा हि ।

यद्दैवतं क्षिपति पत्रिषु राक्षसेन्द्रः

भुवनसंक्षोभः भुवनानां संभ्रमः । तामिस्रम् रात्रिदेवताकम् । भानवीयेन सूर्यदेवतेन । राहवीयेण राहुदेवतेन । पौष्पकेतवेन कन्दर्पदेवताकेन, विष्णुः स्वपुत्रे मदन इति च गवाक्षप्रतीकाराय कामदेवताकमस्त्रं प्रयुज्यते । प्रतिकुर्वाणयोः प्रतिप्रहरतोः । पुलस्त्यकुलैकवीरो रावणः, ककुत्स्थकुलैकवीरो रामश्च तयोः । तुमुलम् अतिभीषणम् ।

कृतिप्रतिकृतीनाम् अस्त्रप्रयोगप्रत्यस्त्रप्रयोगाणाम् । अविशेषे साम्ये निर्णयनिर्भरः निश्चयाधीनः । सर्वास्त्रमोक्षः सर्वप्रहरणप्रयोगः, रामो जेतव्यमिति निश्चित्य शस्त्राणि प्रयुङ्क्ते, रावणश्च अत्र रणे रामेण मर्तव्यमिति निश्चयेन तथाचारीत्याशयः । विशिखमुखोपस्थायिनीनाम् शरसंपाताग्रवर्तिनीनाम् अबलीयान् दुर्बलः । आटोपः गर्वो रोषो वा ।

यद्दैवतमिति । राक्षसेन्द्रो रावणः पत्रिषु शरेषु मध्ये यद्दैवतमस्त्रं क्षिपति

हेमाङ्गद—(चारों ओर देखकर) मित्र, भुवनके संक्षोभको देखकर मैं सोचता हूँ तामिस्र अस्त्र भानवीय अस्त्रसे भानवीय राहवीयसे राहवीय वैष्णवीयसे, वैष्णवीय पौष्पकेतवीयसे, पौष्पकेतवीय पाशुपत अस्त्रसे, इस प्रकार अस्त्रसे अस्त्रका प्रतीकार करनेवाले रावण तथा रामका भीषण युद्ध हो रहा है ।

रत्नचूड—अस्त्र प्रयोग तथा प्रति प्रयोगके समान होने पर राम जीतनेका निश्चय करके सर्वास्त्र प्रयोग कर रहे हैं और रावण इसलिये सर्वास्त्र प्रयोग कर रहा है कि मरना है । बाणके आगे चलनेवाले अधिष्ठातृदेवोंमें किसी प्रकार का गर्व भी नहीं देखा जाता है । क्योंकि—

जिस देवताके बाणका प्रयोग रावण करता है वह देवता स्नेहसे रामके पास धीरेसे

१ 'यथायम्'।　२ 'च' इति क्वचिन्नास्ति।　३ 'पौलस्त्यकाकुत्स्थकुलजयोः'।
४ 'सखे' इति क्वचिन्नास्ति।　५ 'देवतानां पुनः'।　६ 'कथ्यते'।

स्नेहेन तद्रघुपतेर्मृदु सन्निधत्ते ।
या देवतामुपदधाति च रामभद्र-
स्तामादमा दशमुखस्य शनैरुपैति ॥ ७५ ॥

(नेपथ्ये ।)

यद्यत्कृत्तं दशमुखशिरस्तस्य तस्यैव कान्ती
समामन्त्यामतिशयवती शेषवक्त्रेषु लक्ष्मीः ।
यो य कृत्तो दशमुखभुजस्तस्य तस्यैव वीर्यं
लब्ध्या दृप्यन्त्यधिकमधिकं बाहवः शिष्यमाणाः ॥ ७६ ॥

(नेपथ्ये कलकलः ।)

उभौ—(सहर्षरोमाञ्चमाकर्ण्य ।) अये, शब्दोपलम्भसवर्तकेन[3] कर्मणा निर्मितानि त्रिभुवनस्यैतस्य सोऽयमिन्द्रियाणि प्रीणयति ।

प्रयुङ्क्ते तत् रघुपतेः रामस्य स्नेहेन प्रेम्णा मृदु कोमलं सन्निधत्ते उपसरति । रामभद्रश्च या देवताम् उपदधाति बाणेऽभिमन्त्र्यति, असौ देवता त्रासात् रावणभयात् शनैर्मन्दम् उपैति रावणस्य समीपं याति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७५ ॥

यद्यदिति । यत् यत् दशमुखस्य रावणस्य शिरः कृत्तं रामबाणैश्छिन्नं तस्य तस्य एव छिन्नस्य शिरसः कान्ती शोभा समामन्त्या लब्धाया सत्याम् शेषवक्त्रेषु अवशिष्टेषु मुखेषु लक्ष्मीः शोभा अतिशयवती पूर्वापेक्षयाऽधिका दृश्यते इति शेषः, यो य दशमुखभुजः रावणबाहुः कृत्तः रामेण छिन्नस्तस्यैव वीर्यं बलं लब्ध्वा शिष्यमाणाः छिन्नावशिष्टाः बाहवः अधिकं दृप्यन्ति पूर्वापेक्षयाऽधिकं गर्वं प्रकटयन्ति । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ७६ ॥

शब्दोपलम्भेति । 'सोऽयं त्रिभुवनस्यैतस्य शब्दोपलम्भसवर्तकेन कर्मणा निर्मि

आता है और राम जिस देवताका बाणका प्रयोग करते हैं वह देवता डरसे रावणके पास धीरे धीरे पहुँचता है ॥ ७५ ॥ (नेपथ्यसे)

रावणके जो सिर कट गये उनकी कान्ति शेष सिरोंमें आजाती है अतः शेष सिरोंकी शोभा बढ़ जाती है । इसी प्रकार जो बाहु कट जाते हैं उनका बल शेष बाहुओंको मिल जाता है अतः शेष बाहु अधिक गर्वित हो उठते हैं ॥ ७६ ॥

दोनों—(हर्षकृत रोमाञ्चसे सुनकर) अये, शब्दज्ञानजनक अपने भीषण कर्मसे यह कौन त्रिभुवन श्रोत्रेन्द्रियको तृप्त कर रहा है ।

१ 'तस्यैव' । २ 'पथ्ये कलकलः' इति क्वचिन्नास्ति । ३ 'सवर्तकर्मणा' ।
४ 'सोऽयमिन्द्रियाणि प्रीणयति त्रिभुवनस्य' ।

(पुनर्नेपथ्ये कलकलः ।)

उभौ—(सभयाद्भुतम् ।) अये, कथमद्य कपटकण्ठीरववैकुण्ठकण्ठ-कठोरकोलाहलकाहलो महानिर्घोषः [1]प्रजाकोपभङ्गमपर्वणि [2]प्रक्रमते । नूनं चेदानीं कालकूटोपदिग्धैरिव कण्ठध्वनिभिरेव मूर्च्छयता भुवनानि भैरवस्य स्मरति सभयमद्य परमेष्ठी ।

(पुनर्नेपथ्ये ।)

दिव्यास्त्रैर्भूर्भुवःस्वस्त्रितयडमरणोड्डामरैर्योधयित्वा
लूनोत्क्षिप्तैः शिरोभिर्दशभिरभिनभो दर्शितैर्भाद्दशार्कः ।

तानीन्द्रियाणि प्रीणयति इत्येवमन्वयः, त्रिभुवनकोपस्य लोकजनस्य शब्दोपलम्भप्रवर्त्तकेन शब्दश्रवणकारणीभूतेन शब्दश्रवणशक्तिजनकेन कर्मणा प्रागाचरितेन शुभकर्मणा अदृष्टेन निर्मितानि इन्द्रियाणि श्रोत्राणि कोऽय प्रीणयति हर्षयति, यस्य शब्दश्रवणजनकमदृष्टं भवति तस्यैव श्रोत्रमुत्पद्यते इति श्रोत्रेन्द्रियस्य शब्दोपलम्भकर्मनिर्मितत्व कथितम् ।

कपटेति । कपटेन छलेन कण्ठीरवः सिंहः एतादृशो वैकुण्ठो नारायणस्तस्य कण्ठान्निर्गतः कठोरो महान् कोलाहलस्तद्रूप काहलः कटुध्वनिः, महानिर्घोषः प्रचण्डशब्दः अपर्वणि असमये प्रजाकोपभङ्गम् त्रिलोकसंहारम् प्रक्रमते आरभते । नूनं निश्चयेन अद्य सम्प्रति परमेष्ठी ब्रह्मा सभयं कालकूटोपदिग्धैः विषलिप्तैः इव कण्ठध्वनिभिः स्वकण्ठनादैः एव भुवनानि लोकान् मूर्च्छयतः मूर्च्छां प्रापयतः भैरवस्य संहारदेवस्य हरस्य स्मरति । ब्रह्मा संहाराय हरं स्मरति तन्यथाय कण्ठध्वनिराकर्ण्यते इत्याशयः ।

दिव्यास्त्रैरिति । काकुत्स्थेन रामेण भूर्भुवःस्वस्त्रितयस्य भूरादिसंज्ञकलोकत्रयस्य यत् डमरणं चमत्करणं तत्र उड्डामरैः अतितेजस्विभिः दिव्यास्त्रैः ब्राह्मादिभिरायुधैः

(फिर नेपथ्यमें कोलाहल)

दोनों—(भय तथा आश्चर्यके साथ) अये, क्यों यह कपटसिंह बने हुए नारायणके कण्ठकोलाहलकी तरह भीषण निर्घोष असमयमें प्रजाओंका प्रलय करनेको उद्यत होरहा है । निश्चय ब्रह्मा डरकर इस समय विषदिग्धकण्ठध्वनिसे जगत्को मूर्च्छित करनेवाले भैरवको यादकी है ।

(फिर नेपथ्यमें)

त्रिभुवनको कम्पित करनेवाले दिव्यास्त्रोंसे लड़कर उखाड़कर फेंकनेवाले अपने

---

1 'ब्रह्माण्डकोश—' ।　　2 'क्रमते', 'अद्यापि' ।

काकुत्स्थेनावकीर्णो निजविशिखशिखायोगपीठोपहूत
महास्त्रेणाधिशेते रजनिचरपतेर्वीरशय्यां कबन्धः ॥ ७७ ॥

उभौ—(श्रुत्वा सहर्षसम्भ्रममूर्ध्वमवलोक्य [1]सविस्मयमन्योन्यम् ।) पश्य पश्य प्रलयकालकरालकालानलज्वालापुञ्जपिञ्जराणि रावणशिरांसि । (सत्वरमुपसृत्य [2]चाधस्तात्पश्यतः ।)

हेमाङ्गदः—(सकरुणम् ।) हा महावीरप्रकाण्ड लङ्केश्वर, [3]पर्यवसितोऽसि ।

योधयित्वा युद्धं कारयित्वा निजविशिखशिखया स्वबाणाग्रभाग एव योगपीठं योगासनं तत्र उपहूतम् आमन्त्रितं यद् महास्त्रं तेन लूनोच्छिन्नैः खण्डितैः ऊर्ध्वं क्षिप्तैश्च दशभिः शिरोभिः अभितः आकाशे दर्शितैकादशार्कं प्रकटावलोकितैकादशभानु बिम्बं अवकीर्णं भूमौ पातितो रजनिचरपतेः रावणस्य कबन्धः छिन्नमस्तकः वपुः वीरशय्याम् रणभुवम् अधिशेते आश्रित्य स्वपिति । 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरः' इत्यमरः । दशरावणशिरांस्येकश्च प्राकृतः सूर्यं इत्येकादश सूर्यं दर्शनम् । रामो भूरादिलोकत्रितयचमत्कारकतेजोधारिभिस्तैस्तैरस्त्रैः चिरं योधयित्वा सम्प्रति स्वबाणाग्रभागरूपयोगासनामन्त्रितब्रह्मास्त्रो रावणस्य दशापि शिरांसि छित्त्वा वियत्सु दशवान्यैर्वियत्स्थैकादश (दशरावणशिरांसि एकश्च वास्तविकः सूर्यः) सूर्या अदृश्यन्त । एतादृशोऽयं छिन्नशिरा रावणकबन्धो रणभूमिमाश्रित्य शेते इति । स्रग्धरावृत्तमेतत् ॥ ७७ ॥

प्रलयकाले सृष्टिसंहारसमये करालो भीषणो यः कालानलः प्रचण्डाग्निः तस्य ज्वालापुञ्जवत् प्रभामण्डलवत् पिञ्जराणि पिङ्गलवर्णानि वीरप्रकाण्ड प्रशस्तवीर । 'प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ । प्रशस्तवाचकान्यमूनी'त्यमरः । पर्यवसितः समाप्तः ।

दस मस्तकोंसे आकाशमें एकादश सूर्यका दर्शन कराकर, अपने बाणके अग्रभागमें महास्त्रका आवाहन करनेवाले रामके द्वारा बिखेर दिया गया यह रावणका कबन्ध वीर शय्यापर पड़ा है ॥ ७७ ॥

दोनों—(सुनकर हर्ष सम्भ्रमके साथ ऊपर देखकर साश्चर्य परस्पर) देखो देखो, प्रलयकाल कराल कालाग्निकी ज्वालाकी तरह पीताभ रावणके सिर, (समीप आकर नीचे देखते हैं)

हेमाङ्गद—(करुण स्वरमें) हा महावीर लङ्केश्वर, समाप्त हो गये,

---

1 'सविस्मयम्' । 2 'च' इति क्वचिन्नास्ति । 3 'च' इति क्वचिन्नास्ति ।

भिन्नैरावणगन्धसिन्धुरशिरःसम्पातिभिर्मौक्तिकैः
शश्वत्त्रिभुवनजयप्रशस्तिरचनावर्णावलीलिपिने ।
नाकान्तःपुरिकाकपोलविलसत्काश्मीरपत्राङ्कुर
[1]श्रीविन्यासविलासभीषणभुजस्तम्भाय तुभ्यं नमः ॥७८॥

(निर्वर्ण्य ।) सखे रत्नचूड,

भुवः पतितपङ्क्तिकन्धरकबन्धपीडाभरा
न्निजावनमनक्रमोन्नमितचक्रवालाचलम् ।

भिन्नैरावणेति । (हे रावण,) भिन्नं युद्धे विदारितं यत् ऐरावणगन्धसिन्धुरस्य ऐरावताख्यगन्धगजस्य शिरो मस्तकं ततः सम्पातिभिः स्खलद्भिर्मौक्तिकैः मुक्ताफलैः शश्वत् सततं त्रिभुवनविजयस्य या प्रशस्तिरचना प्रशस्तिलिपि तस्या वर्णावलीनाम् अक्षरपङ्क्तीनाम् लिपिने निर्मात्रे नाकान्तःपुरिकाणां स्वर्गरमणीनां कपोलेषु विलसन् शोभमानः यः काश्मीरपत्राङ्कुरः कुङ्कुमद्रवकृतपत्रावलीप्ररोहः तस्य श्रीविन्यासेन शोभासमर्पणेन यो विलासः क्रीडा तस्य भीषणो भयङ्करो भुजस्तम्भो बाहुदण्डो यस्य तथाभूताय तुभ्यं नमः । अयमाशयः—ऐरावतकुम्भविदारणविकीर्णमुक्तावलिभिः निजत्रिभुवनविजयप्रशस्तिरचनायामक्षराणि लिखति, यश्च स्वर्गाङ्गनाकपोलेषु कृते काश्मीरपत्राङ्कुरे श्रियो विलासं भयजननेन निवर्त्तयति, अर्थात् यद्भयेन स्वर्गाङ्गनाः स्वकपोलेषु पत्रावलीर्न रचयन्ति, तादृशाय तुभ्यं रावणाय नमः । इति ॥ ७८ ॥

भुवमिति । कद्रो तदाख्याया दक्षकन्यायाः कश्यपस्त्रियः अपत्यानि काद्रवेयाः सर्पास्तेषामधिपः वासुकिः अर्धं कुण्डलितः सङ्कोचितः विग्रहो देह एव आधारकः आश्रयस्तेन प्रतीष्टम् अवलम्बितम् फणमण्डलं फणासहस्रं यस्य तथोक्तः सन् पतितः भूमौ गतः पङ्क्तिकन्धरस्य दशग्रीवस्य यः कबन्धः शिरःशून्यशरीरम् तेन पीडाभरात् व्यथातिशयात् निजेन स्वकीयेन अवनमनक्रमेण उन्नमिताः चक्रवाला

विदारित ऐरावत मस्तकसे गिरनेवाले मौक्तिकोंसे विश्वविजय प्रशस्तिकी रचना करनेवाले स्वर्ग रमणियोंके कपोलों पर विद्यमान काश्मीर पत्राङ्कुरकी शोभाविन्यासको भीषित करनेवाले भुजोंसे युक्त तुझ रावणको नमस्कार है ॥ ७८ ॥

(देखकर) सखे रत्नचूड,

पङ्क्तिक्रमसे पतित गर्दनवाली देहके भारसे पृथ्वी नीचे झुकती जारही है जिससे दिक् चक्रवाल उन्नत होते जारहे हैं इस प्रकार शेषनागके ऊपर पृथ्वीका भार बढ़ता

१ 'विनाश' ।

महीवलयमर्घकुण्डलितविग्रहाधारक
प्रतीष्टफणमण्डलो वहति काद्रवेयाधिप ॥ ७९ ॥

रत्नचूड —सखे, सर्वमतिशायि रावणस्य । पुरापि खलु
चलति [1]जगतीजैत्रे यत्र स्वभोगिचमूभटै
र्वलयितमहादेहस्तम्भो बिभर्ति भुवस्तलम् ।
प्रचलदखिलक्ष्माभृन्मूलोपलव्यतिघट्टितो
ल्वणमणिशिलाजल्पाकीभि फणाभिरहीश्वर ॥ ८० ॥

चला कुलपर्वता यस्मिन् तत् यथा तथा महीवलय भूमण्डल वहति धारयति। शेषनाग अर्धकुण्डलिते निजे देहे फणमण्डलमवलम्ब्य रावणशरीरपातेन भाराधिक्येन यथा यथा शेषस्य फणा नमन्ति तथा तथा कुलाचला ऊर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, पृथ्वीमण्डले शेषफणानमने सत्यधो मज्जति कुलाचला उपरि भवन्ति यत्र तादृश भूवलय धारयतीत्यर्थ । रावणभरभरेण महीवलयस्याधोगमने कुलपर्वताना मुच्छ्राय जातमिति भाव । पृथ्वीवृत्तम्-'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरु' इति तल्लक्षणम् ॥ ७९ ॥

अतिशायि लोकोत्तरम् ।

चलतीति । यत्र यस्मिन् जगतीजैत्र त्रिभुवनविजयिनि रावणे चलति स्थानात्स्थानान्तर गच्छति सति अहीश्वर सर्पराजो वासुकि स्वभोगिचमूभटै स्वीयसर्पसैनिकै वलयितमहादेहस्तम्भ वेष्टितविशालदेह सन् प्रचलतां रावणचरणविन्यासभरात् अधोगच्छताम् अखिलक्ष्माभृता सकलपर्वताना मूलोपलै मूलदेशस्थप्रस्तरै व्यतिघट्टिता सङ्घृष्टा अत एव उल्वणा तीव्रप्रकाशा मणिशिला फणस्थमणिरूप शिलास्तासां जल्पाकीभि कथयित्रीभि फणाभिर्भुवस्तल बिभर्ति । रावणे चलति सति भीता सर्पभटा स्वमधीश वासुकि परिवृत्य तिष्ठन्ति, किञ्च रावणचरणभारात्सर्वे पर्वता अधो गच्छन्ति, तन्मूलपर्वतशिलासङ्घर्षवशात् तीव्रप्रकाशा भवन्ति

जा रहा है जिसे वह अधकुण्डलित शरीर होकर फण मण्डलके द्वारा धारण करते है ॥७९॥

रत्नचूड—मित्र ! रावणका सब कुछ लोक विलक्षण ही रहा, पहले भी,

जब रावण विजय यात्रामें चलता था, तब शेषनाग अपने वीर नाग सैनिकोंसे अपने शरीरको वेष्टित करके पृथ्वीका भार वहन करते थे, उस समय उनकी फणायें प्रचलित समस्त पर्वतोंके मूल देशोंसे घर्षित होकर मणि शिलाकी तरह प्रतीत होने लगती थीं ॥८०॥

१ 'जगती जैत्रे'।

इदानीं ¹पुलस्त्यः उत्क्रान्तवायुरतिदुर्वहो देहबन्धः ।

हेमाङ्गदः—(अन्यतोऽवलोक्य ।) कथमियं दशकन्धरस्य कबन्धाभिमुखी शोकविह्वला मन्दोदरी निशाचरीभिरपकृष्यते । (कर्णं दत्त्वा । आकाशे ।) कष्टम् । चपलकपिकुलानुक्रियमाणकरुणकाकुप्रकार²कातरस्वरा ³मन्दोदरी किमाह महावीरवरवर्णिनी—

भूयिष्ठानि मुखानि चुम्बति भुजैर्भूयोभिरालिङ्ग्यते
चारित्रव्रतदेवतापि भवता कान्तेन मन्दोदरी ।

वासुकेः फणासमूहः, तादृक्तीव्रमणिधराभिः फणाभिरसौ वासुकिं पूर्वां विशति इति भावः ॥ ८० ॥

उत्क्रान्तवायुः देहविनिर्गतप्राणवायुः । देहबन्धः कबन्धः ।

कबन्धाभिमुखी शरीराभ्युषितदेशगामिनी । शोकविह्वला शोकविह्वला । अपकृष्यते अन्यतो नीयते ।

चपलेति । चपलेन स्वभावचञ्चलेन कपिकुलेन वानरसमूहेन अनुक्रियमाणः अनुकृत्यावर्त्यमानः करुणः दुःखोद्रेकशाली काकुप्रकारः अतिदीनरूपः कातरः आर्त्तिप्रकाशकश्च स्वरो यस्याः सा तथोक्ता । महावीरवरवर्णिनी महावीरस्य रावणस्य धर्मभार्या ।

भूयिष्ठानीति । हे लङ्केन्द्र रावण, चारित्रव्रतदेवता पातिव्रत्यनियमाधिष्ठात्री सती सत्यपि मन्दोदरी कान्तेन स्वपतिना दशमुखशालिना विंशतिभुजेन च भवता

इस समय तो प्राणवायुके निकल जानेसे रावणकी देह और भारी हो गई,

हेमाङ्गद—(दूसरी ओर देखकर) क्यों, यह शोकमग्ना मन्दोदरी रावणका लाशकी ओर बढ़ रही है। (कान लगाकर)

हा कष्ट ! चपलकपिगण मन्दोदरीके रुदनको नकल कर रहे हैं, महावीर भार्या मन्दोदरी क्या कहती है—

आपके कान्त होनेसे पतिव्रता रहकर भी मन्दोदरी बहुत बाहुने आलिङ्गन तथा बहुत मुखोंका चुम्बन प्राप्त करती थी आपने मुझ मन्दोदरीको वचन दिया था कि मैं

---

१ 'अपक्रान्तदेहवायुर्दुर्वहोऽयम्' ।　　२ 'कातरतरस्वरा' ।
३ 'मन्दोदरी' इति क्वचिन्नास्ति ।

हा लम्बोदरकुम्भमौक्तिकमणिस्तोमैर्ममैकावली
शिल्पे वाचमपर्णिकस्य भवतो लङ्केन्द्र निद्रारसः ॥ ८२ ॥

उभौ—(सखेदम् ।) इदमसह्यानुभवं चक्षुःश्रोत्रस्य । प्रतिहतानां विद्विषामपि व्यसनमतिमात्रं हृदयमर्माणि छिनत्ति । (सविमर्शम् ।) अहह न किंचिदनीपस्करं नाम कृतान्तस्य ।

वन्दारुवृन्दारकवृन्दबन्दीमन्दारमालामकरन्दबिन्दून् ।

हतुभूतेन भूयिष्ठानि बहूनि दशमुखानि चुम्बति भूयोभिः विंशत्या भुजैः आलिङ्ग्यते आश्लिष्यते । यद्यपि सत्या बहुमुखचुम्बनाद्यनेकभुजालिङ्गनस्य वा सुखं दुर्लभं तथापि दशमुखेन विंशतिभुजेन च पत्या त्वया सा स सुखं प्रापितेत्यर्थः । हा खेद, लम्बोदरस्य गजाननस्य कुम्भे ये मौक्तिकमणयस्तेषां स्तोमैः समूहैः मम एकावली एकसरं माल्यम् तस्याः शिल्पे निर्माणे वाचा वचनम् अघर्मणिकस्य ऋणं धारयतस्तव रावणस्य निद्रारसः निद्रायामनुरक्तिः कथमभूदिति शेषः । गजाननं विजित्य तत्कुम्भविनिर्गतमौक्तिकैः एकावलीं विरचय्य तव कण्ठे परिधापयिष्यामीति वचसा स्वीकृतैकावलीसमर्पणरूपमृणमपरिशोध्य तव निद्रानुरक्तिः निद्रारूपाऽयाग्नासक्तिर्वा खेदस्य विषयः । प्रिय बहुमुखचुम्बनं बहुबाहुकृतालिङ्गनं च दत्तवता त्वयैकमिदमेकावलीप्रदानं कथं विस्मर्यते इति खेदस्य विषय इत्याशयः । 'एकावल्येकयष्टिका' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८२ ॥

असह्यानुभवम् ज्ञातुमशक्यम् । चक्षुःश्रोत्रस्य चक्षुःश्रवणं । चक्षुषा द्रष्टुं श्रोतुं च न शक्यतेऽतोऽतीव व्यथकमिदमिति व्यज्यते ।

प्रतिहतानाम् पराजितानाम् । विद्विषाम् शत्रूणाम् । व्यसनम् विपत् । हृदयमर्माणि हृदयस्थकोमलतमभागान् । छिनत्ति विदारयति । अनीपस्करम् कष्टसाध्यम् ।

वन्दारुवृन्दारकेति । वन्दारवः चरणपतिता या वृन्दारकवृन्दवन्द्यः देवसमूहानां

तुमको गणेशके मस्तकस्थित मौक्तिकका एक सूत्रहार बना दूगा, उसे पूरा किये विना आप क्यों सो गये ॥ ८२ ॥

दोनों—(सखेद) आँखों तथा कानोंके लिए यह देखना तथा सुनना कठिन है। परास्त किये गये शत्रुओंके भी व्यसनसे हृदय छिद जाता है, अहह, यमराजके लिए कुछ भी करना कठिन नहीं है ।

यही म दोदरी चरणपर गिरनेवाली देवपत्नियोंके मस्तकस्थित मन्दारपुष्प सम्बन्धी

मन्दोदरीय चरणारविन्दरेणूत्करे कर्करतामनैषीत् ॥ ८२ ॥

(नेपथ्ये ।)

नीयन्ते वनदेवताभिरमरक्षोणीरुहो नन्दनं
नीतो [1]वल्लभपालकेन च निजामुच्चैःश्रवा मन्दुराम् ।
रक्षोभिश्च [2]विभीषणप्रणयिभिः कारागृहान्मोचित[3]
स्वर्वन्दीवदनावलोकनिविडव्रीडो बिडौजा इव ॥ ८३ ॥

उद्धृता अङ्गना तासां मन्दारमालाया चन्दारियितन्न्दारकुसुमरचितमाल्यस्य ये मकरन्दबिन्दव पुष्परसकणा तान् चरणारविन्दरेणूत्करे स्वपादपङ्कजधूलीपटले इव मन्दोदरी कर्करताम् कठोरताम् अनैषीत्, यस्या मन्दोदर्या पततीनां देवबालानां शिरोमन्दारमकरन्दबिन्दवो मन्दोदरीचरणकमलपरागमिलिता सन्त कठोरता नाति तादृश्यपीय मन्दोदरी कारघनेग क्लेण दिव्यपत्नीनि नास्त्य साध्य यमराजस्येति भाव । 'कर्कर कठिनेऽप्यवत्' इति मेदिनी ॥ इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ८२ ॥

नीयन्त इति । वनदेवताभिर्वनाधिष्ठातृदेवताभि अमरक्षोणीरुहो देवतरव नन्दनं देवोद्यानं नीयन्ते प्राप्यन्ते, वल्लभपालकेन प्रियमन्दुरापालेन उच्चैःश्रवा नाम इन्द्राश्व निजां मन्दुरां वाजिशाला नीत प्रापित , विभीषणप्रणयिभि विभीषणसुहृद्भि रक्षोभि बिडौजा इन्द्र कारागृहान्मोचितानाम् स्वर्वन्दीनाम् स्वर्गस्थहठहृतमहिलानाम् वदनावलोकनेन मुखवीक्षणेन निविडा अधिका व्रीडा लज्जा यस्य तथाभूत पुना मया न मोचिता इति लज्जायुत कृत इत्यर्थ ॥ ८३ ॥

मकरन्द बिन्दुओंको स्वचरणकमलकी धूलिसे कठोर बना दिया करती थी । ८२ ॥

(नेपथ्यमें)

वनदेवता देववृक्षोंको नन्दनवन लिये जा रहे हैं, इन्द्रकी अश्वशालाके अध्यक्षने उच्चै श्रवाको अपनी अश्वशालामें पहुँचा दिया है । विभीषणके पक्षपाती राक्षसगण देवबन्दियोंको कारावाससे मुक्त कर दिया है और अब वे स्वर्ग पहुँचे तब उनके मुँह देखकर इन्द्रको अपने पराक्रमरादित्यके स्मरणसे लाज लगने लगी ॥ ८३ ॥

---

१ वल्लव–' ।   २ प्रमुनिभि' ।   ३ 'मोचित ' ।

रत्नचूड — (सहर्षम् ।) सखे, तदेहि । [1]लङ्केश्वरकाराधिवासचिरप्रवास्तव्य बन्धुवर्गमीक्षावहे[2] । (इति [3]परिकामन्तौ विलोक्य सहर्षमन्योन्यम् ।)

सखे पश्य पश्य । [4]प्रहारजर्जरवलीमुखाच्छभल्लगोलाङ्गूल[5]ग्रामसवल्गनवलितसुग्रीवो लक्ष्मणनिहितधन्वा[6] विभीषणभुजावलम्बी विजयश्रिया किमपि प्रदीप्तरमणीयो [7]रामभद्र । अथ हि सम्प्रति

पौलस्त्यन्यस्तशक्तिव्रणकिणकणिकालक्ष्मणो लक्ष्मणोर
पीठान्निर्मुक्तलज्जो विबुधपुरवधूक्लृप्तपुष्पाभिषेक ।

लङ्केश्वरकाराधिवासचिरप्रवास्तव्यम् रावणस्य कारागृहे बहुकालान्निवसन्तम् । बन्धुवर्गम् स्वजनसमुदयम् । ईक्षावहे पश्याव ।

प्रहारेति प्रहारे रावणशराघातैर्जर्जरा अतिव्यथिता ये वलीमुखा वानरा अच्छभल्ला भल्लका गोलाङ्गूला वानरभेदा तेषा ग्रामस्य समूहस्य सवल्गने सान्त्वने वलित सचेष्ट सुग्रीवो यस्य तथोक्त , लक्ष्मणनिहितधन्वा लक्ष्मणार्पित कार्मुक । प्रदीप्तरमणीय प्रसरतेजा रम्यश्च ।

पौलस्त्येति । पौलस्त्येन रावणेन न्यस्ता प्रहृता या शक्ति अस्त्रभेद तया यो व्रण क्षत तस्य किणकणिका किणलेश लक्ष्म चिह्न यत्र तस्मात् लक्ष्मणोरपीठात् लक्ष्मणस्य वक्षःस्थलात् निर्मुक्तलज्ज अपगतत्रप (शक्तिविद्ध लक्ष्मणोरो विलोक्य लक्ष्मणोऽजीवनेऽपि रामस्य लज्जा न गता इदानीं रावणे हते सा लज्जा गतेति भाव) विबुधपुरवधूभि सुराङ्गनाभि क्लृप्त कृत पुष्पैरभिषेक स्नपन यस्य

रत्नचूड—मित्र, लो चलो रावणके कारागृहमें बहुत दिन रहकर आये हुए बन्धुओंको देखें। (चलते हुए देखकर सहर्ष) सखे देखो देखो,

प्रहारसे क्षतविक्षत वानर अच्छभल्ल गोलाङ्गूल समुदायसे युक्त सुग्रीवके साथ लक्ष्मणके हाथोंमें अपना धनुष देकर विभीषणका हाथ पकड़ हुए राम विजयलक्ष्मीसे कुछ अधिक रमणीय हो गये हैं, सम्प्रति यह—

पौलस्त्य प्रहृत शक्ति नामक अस्त्रके चिह्नसे चिह्नित लक्ष्मणकी छातीसे लज्जाको दूर

१ 'लङ्केश्वराधिवासचिरप्रवास यमम्' 'लङ्केश्वरकारागृहाधिवासचिरप्रवासवास्त यम्', 'लङ्केश्वरकाराधिवासचिरप्रवासन्यस्तबन्धुवर्गम्' । २ समीक्षावहे' ।

३ 'परिक्रामन्त' । ४ 'प्रहारविद्ध-' । ५ 'सवल्गनवलित' ।

६ 'विनिहित-' । ७ 'रामदेव' ।

सद्यो नक्तचारमन्यं रजनिचरपुरीभद्रपीठप्रतिष्ठं
दृष्ट्वा तुष्यत्पुलस्त्यो जगति विजयते जानकीजानिरेकः ॥८४॥

(इति [1]निष्क्रान्तौ ।)

इति [2]दशग्रीवनिग्रहो नाम षष्ठोऽङ्कः ।

तथोक्तः, अथ तत्सङ्गात् अन्यं नक्तचारं पौत्रं विभीषणम् रजनिचरपुर्यां लङ्कायां भद्रपीठे सिंहासने प्रतिष्ठा यस्य तादृशं लङ्काराज्याभिषिक्तं दृष्ट्वा हृष्यन् प्रसन्नः पुलस्त्यो यस्य तथोक्तश्च एकः अद्वितीयो जानकीजानिः जानकी जाया यस्य तादृशो रामो जगति विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । 'नृपासनं यत्तद् भद्रासनम्' इत्यमरः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ८४ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते अनर्घराघव 'प्रकाश'
षष्ठाङ्क'प्रकाश'

मिलाकर देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टिसे अभिषिक्त होकर, दूसरे नाती विभीषणको राक्षस पुरी राज्यपर प्रतिष्ठित हुए देखकर पुलस्त्यद्वारा प्रशंसित यह अद्वितीय वीर रामचन्द्र विजयश्री सम्पन्न हो रहे हैं ॥ ८४ ॥

षष्ठ अङ्क समाप्त ॥

---

१ 'निष्क्रान्ताः', 'निष्क्रान्ताः सर्वे'। २ 'दशास्यनिग्रहो नाम'।

सप्तमोऽङ्कः

(नेपथ्ये ।)

तमिस्रामूर्च्छालत्रिजगदगदङ्कारकिरणे
रघूणां गोत्रस्य प्रसवितरि देवे सवितरि ।
पुरःस्थे दिक्पालैः सह परगृहावासवचना-
त्प्रविष्टा वैदेही दहनमथ शुद्धा च निरगात् ॥ १ ॥

अयमपि—

एकैकानि शिरांसि राक्षसचमूचक्रस्य हुत्वा निजे

तमिस्रेति । तमिस्रा तामसी रात्रिरेव मूर्च्छा निष्क्रियत्वसम्पादिका तद्वत् यत् जगत् तस्य अगदङ्कारा नैष्क्रियसम्पादकाः किरणा यस्य तादृशे तामसीनिशानिष्क्रियजगन्निश्चेष्टताहर किरणैरुपेते रघूणां गोत्रस्य वंशस्य प्रसवितरि प्रवर्त्तके देवे सवितरि सूर्ये दिक्पालैः इन्द्रादिभिः सह पुरःस्थे अग्रवर्तिनि पश्यति सति परगृहे राक्षसराजभवने य आवासः कियन्तं कालं यावत् स्थितिः तद्वचनात् तन्निमित्तकनिन्दावाक्यात् हेतोः वैदेही सीता दहनम् अग्निं प्रविष्टा । अथ प्रवेशानन्तरं शुद्धा पवित्रा निरगात् बहिर्गता । यस्य सूर्यस्य करा तामसीरात्रिनिष्क्रियस्य जगत्त्रयस्य सक्रियतासम्पादनेन मूर्च्छामिव निवर्तयन्ति, यश्च सूर्यो रघुवंशस्यादिपुरुषः, तस्मिन् सूर्ये दिक्पालैः सह साक्षिणि सति परगृहावासप्रभवचरित्रनिन्दाकलङ्कं प्रक्षालयितुं सीता वह्निं प्रविष्टा तत्र शुद्धा च सती निरगादित्यर्थः । 'सिध्मादिभ्यश्चे'ति लचि मूर्च्छालपदम् । अगदङ्कारो भिषक्, 'कारे सत्यागदस्य' इति मुम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १ ॥

एकैकानीति । राघवो रामः राक्षसचमूचक्रस्य राक्षससेनासमुदायस्य एकैकानि

(नेपथ्यमें)

अन्धकारमें डूबे हुए लोकत्रयको प्रकाशित करनेवाली किरणोंसे युक्त भगवान् सूर्यके उदित होनेपर जो सूर्य रघुवंशके आदि पुरुष हैं उनके प्रकाशित होते ही, समस्त दिक्पालोंके सामने, सूर्यको साक्षी रखकर राक्षसगृहवासरूप निन्दा वचनसे मुक्ति पानेके लिये वैदेहीने आगमें प्रवेश किया और शुद्ध होकर निकल आई । अग्नि परीक्षामें अपनेको शुद्ध साबित करके प्रमाणित कर दिया कि उनके प्रति प्रचारित कलङ्ककी बात केवल कल्पनामात्र थी ॥ १ ॥

रामने राक्षसोंकी सेनाके मस्तकोंद्वारा एक एक करके प्रतापाग्निमें होम किया, जिसमें

तेजोऽग्नौ दशकण्ठमूर्धभिरथो निर्माय पूर्णाहुतिम् ।
अद्य स्वस्त्ययनं समाप्य जगतो [1]लङ्केन्द्रबन्दीकृतां
सीतामप्यवलोक्य शोकरभसव्रीडाजडो राघवः ॥ २ ॥

क्रमेण च—

सहैव सुग्रीवविभीषणाभ्यां सौमित्रिसीतापरिपूर्णपार्श्वः ।
उपैति वैवस्वतवंशवृत्तमेध्यामयोध्यामथ पुष्पकेण ॥ ३ ॥

शिरांसि निज भुजोऽग्नौ स्वप्रतापानले हुत्वा होमं कृत्वा अथ तदनन्तरं दशकण्ठ-मूर्धभिर्दशभी रावणशिरोभिः पूर्णाहुतिं पूर्णहोमं निर्माय समाप्तिरालिङ्गी पूर्णाहुतिं च कृत्वा जगतः स्वस्त्ययनं मङ्गलकृत्यं समाप्य लङ्केन्द्रबन्दीकृतां रावणेन कारागृहे स्थापिताम् सीताम् अपि अवलोक्य दृष्ट्वा अद्य सम्प्रति शोकेन—व्यर्थमिमे निरपराधा राक्षसा मया हता इति दुःखेन, रभसेन विशुद्धायाः सीतायाः लाभाजन्याभिमानेन प्रमोदेन, व्रीडया निष्करुणेन मया स्वतः शुद्धापि सीता जानतापि वह्निप्रवेशकष्टं प्रापितेति लज्जया च जडः विमुग्धः अस्तीति शेषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २ ॥

सहैवेति । अथ सीतावह्निप्रवेशकृतशुद्ध्यनन्तरम् एव सुग्रीवविभीषणाभ्याम् सह सौमित्रिलक्ष्मणः सीता च ताभ्यां परिपूर्णौ सम्भृतौ पार्श्वौ सव्येतरभागौ यस्य तथोक्तः रामः वैवस्वतवंशस्य सूर्यकुलस्य वृत्तेन चरित्रेण मेध्याम् पवित्री-कृताम् अयोध्याम् पुष्पकेण तदाख्येन कुबेरस्य वायुयानेन उपैति आगच्छति । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ३ ॥

रावणके दशमस्तकोंकी पूर्णाहुति पड़ी, आज उनका स्वस्त्ययन समाप्त हुआ, जिससे जगत्का कल्याण होगा, भगवान् रामने इस प्रकार सभी कार्य सम्पन्न करके रावण द्वारा बन्दी बनाई गई सीताको भी देखा, इस समय उनके हृदयमें शोक, आनन्द और लज्जाकी भावनासे जड़ता भी पैदा हो रही है। सकुल राक्षसोंके वधसे शोक, सीताप्राप्तिसे हर्ष तथा विशुद्धा सीताको भी अग्निप्रवेश करानेके कारण लज्जा हुई ॥ २ ॥

क्रमशः भगवान् रामचन्द्र सुग्रीव और विभीषणके साथ लक्ष्मण तथा सीतासे युक्त होकर सूर्यवंशी राजाओंके सुचरित्रोंसे पवित्र इस अयोध्यापुरीकी ओर पुष्पक विमान द्वारा आ रहे हैं ॥ ३ ॥

१ 'बन्दीकृता'।

(युग्मम्)

(ततः प्रविशन्ति विमानयानेन विजयश्रीभिरामो रामः सीतालक्ष्मणौ सुग्रीवविभीषणौ च ।)

सुग्रीवः—(रामं प्रति ।) देव,

किं कुर्वाणपयोधिसेवितगृहोद्यानाधुनालोक्यतां
लङ्केयं रघुवंशविक्रमकथाबीजप्ररोहस्थली ।
देवेनात्र दशाननस्य दशभिश्छिन्नैः शिरोभिः क्रमा-
देकैकेन शतं शतं शतमखस्यामोदिता दृष्टयः ॥ ४ ॥

रामः—देवि वैदेहि, दृश्यतामितो लङ्का पूर्वेण सुवेलः पश्चिमेन ।

किङ्कर्वाणेति । किङ्कुर्वाणः किङ्करः आज्ञानुवर्ती यः पयोधिः सागरस्तेन सेवितानि गृहोद्यानानि यस्याः तादृशी तथा रघुवंशविक्रमकथायाः रघुवंशपराक्रमगाथायाः प्ररोहस्थली उत्पत्तिक्षेत्रम् इयं लङ्का अधुना सम्प्रति देवेन भवता रामेणालोक्यतां दृश्यताम्, अत्र भवता छिन्नैर्दशाननस्य दशभिः शिरोभिः एकैकेन शिरसा शतमखस्य इन्द्रस्य शतं शतं दृष्टयः क्रमात् आमोदिताः प्रसन्नीकृताः । इन्द्रस्य प्रथमाः शतं दृष्टयः एकेन छिन्नेन शिरसा आनन्दिताः, तदनन्तरं द्वितीयाः शतं दृष्टयो द्वितीयेन शिरसा छिन्नेनेत्येवंक्रमेण सहस्रमपि दृष्टयो दशभिः शिरोभिः छिन्नैरामोदिता इति विवक्षितोऽर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४ ॥

लङ्का पूर्वेण—लङ्कातः पूर्वस्यां दिशि । सुवेलः पश्चिमेन सुवेलपर्वतात् पश्चिमायां च दिशि दृश्यतामित्यर्थः ।

(विजयश्रीसम्पन्न भगवान् राम, सीता, लक्ष्मण और सुग्रीव तथा विभीषणका विमानद्वारा प्रवेश)

सुग्रीव—(रामसे) देव,

यह सागर किङ्करकी तरह जिस लङ्काके गृहोद्यानकी सेवा किया करता है, जिस लङ्कामें रघुवंशके विक्रमका बीज अङ्कुरित हुआ, यह वही लङ्का है, आप कृपया देख लें । आपने इसी लङ्कामें रावणके एक एक शिरको काटकर प्रत्येक शिरसे इन्द्रकी सौ सौ आँखोंको आनन्दित किया ॥ ४ ॥

राम—देवि वैदेहि इधर देखो, लङ्काके पूर्व तथा सुवेल पर्वतके पश्चिममें तुम्हें चाहने

त्वदर्थीयक्रव्यात्कपिकुलकबन्धव्यतिकरै
करालेयं भूमिर्भुवनभयमद्यापि तनुते ।
अभूवन्नम्भोधेरिह रुधिरमय्यो युवतय
सहस्रं साहस्रास्त्रिदिवयुवतीनां च पतय ॥ ५ ॥

अपि च—

उद्यम्य दृष्टनिजपन्नगरत्नमात्रा
नस्त्राणि चन्दनतरूनुपरि भ्रमन्त. ।
द्यां ज्योतिरिङ्गणमयीमिह मेघनाद-

त्वदर्थीयेति । त्वम् सीता एव अर्थं प्रयोजन यस्य स त्वदर्थीयो रावण रामश्च तयोर्ये क्रव्यात्कपिकुले राक्षसवानरसमुदायौ तयो समुदाययो कबन्धव्यतिकरै छिन्नशिरोदेहराशिसम्मिश्रणै कराला भीषणा इय समरभूमि अद्यापि युद्धे निवृत्ते ऽपि भुवनभय त्रिलोकीभीति तनुते करोति, इह अत्र समरभूमौ रुधिरमय्य शोणितरचिता सहस्र सहस्रसंख्याका अम्भोधेर्युवतय सागरस्य स्त्रियोऽभूवन् अजायन्त, त्रिदिवयुवतीना देवाङ्गनाना च साहस्रा सहस्रपरिमाणा पतयोऽभूवन् । सीतामर्थयमानाना कपीना क्रव्यादानाञ्च मृताना समवोऽत्र युद्धक्षेत्रे सह मिलिता सन्तीति युद्धसमाप्तावपीद युद्धक्षेत्र त्रिभुवनभय जनयति, किञ्चात्र रणक्षेत्रे सहस्र शोणितनद्य सहस्र युद्धे मृता देवाङ्गनाभि पतित्वेन वृताश्चानाय स वीरा इत्यर्थ । 'शतमानविंशतिकसहस्रादण्' इति अण्प्रत्यये सहस्रमेव साहस्रा शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५ ॥

उद्यम्येति इह अस्मिन् समरक्षेत्रे कपयो वानरसैनिका मायातमोभि माया कल्पितान्धकारै अपलपिता छन्नाम् द्याम् आकाशम् दृष्टम् निज स्ववर्णिपन्नग रत्नमात्रम् सर्पफणामणिमात्रम् यत्र तादृशान् दृश्यमानमणिमात्रप्रकाशान् चन्दन-तरून् अस्त्राणि चन्दनवृक्षरूपप्रहरणानि उद्यम्य उत्थाप्य उपरि आकाशे भ्रमन्त सन्त ज्योतिरिङ्गणमयीम् खद्योतव्याप्ताम् वितेनु कृतवन्त । अत्र रणक्षेत्रे मेघनादेन

वाले रावण तथा रामके पक्षसे लड़नेवाले कपिगण एव राक्षसोंकी लाशोंके परस्पर सम्मिलित हो जानेसे अति भयङ्कर बनी यह भूमि अब भी संसारको भयभीत कर रही है, यहाँसे सैकड़ों रुधिर की नदियाँ प्रवाहित होती रही हैं, और देवबालाओं द्वारा वृत होनेवाले हजारों वीर यहाँ वीरगतिको प्राप्त हुए हैं ॥ ५ ॥

और—मेघनादने जब युद्धमें मायाद्वारा अन्धकार फैला दिया था, तब हमारे कपि गण चन्दनतरुरूप प्रहरण हाथमें ले लेते थे चन्दनतरु पर लिपटे हुए सर्पोंकी फणमणियाँ

[1]मायातमोपलपिता कपयो वितेनु ॥ ६ ॥

सीता—अज्जउत्त, अवि इध ज्जेव्व भुअङ्गपासबन्धनं सीदाए अणुहाविदा तुह्मे। [आर्यपुत्र, अपि इहैव भुजङ्गपाशबन्धनं सीतयानुभाविता यूयम्।]

राम—आ मैथिलि आम्।

चर्वितपीना[2]हिगणष्ठणिति[3] विनिष्ठ्यूतफणिमणिरभीक्ष्णम्।
घनबन्धनवैधुर्यं व्यधुनादिह [4]नौ स विहगेन्द्रः ॥ ७ ॥

मायातमसा व्योम्नि आवृते सति यदा किमपि कुत्रापि नादृश्यत तदा वानर सनिका चन्द्रातल्पाटीकृत्योपरि भ्रमितुमारभन्त, तत्र चन्द्रातल्पेषु स्थितानां सर्पाणां फणामणय एव केवलं व्यदृश्यन्त, तदित्थं व्योम्नि सर्पमणिप्रकाशा खद्योता इव प्रतीयन्ते स्मेति भाव। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ६ ॥

इहैव। अत्रेव समरक्षेत्रे। भुजङ्गपाशबन्धनम् नागपाशबन्धनम्, सीतया अनुभाविता सीताहेतुनैव यूयमपि नागपाशबद्धा अभवतेति भाव।

आमिति स्मरणस्वीकृत्योरभिव्यञ्जकमव्ययम्।

चर्वितेति। इह अत्र प्रदेशे चर्वित पीन स्थूलोऽहिगणो नागसमुदायो येन तथोक्त, अभीक्ष्णम् पुन पुन ठणितिशब्दानुकृति तादृशशब्दपूर्वकम् विनिष्ठ्यूत-फणिमणि उद्गीर्णसर्पफणरत्न स विहगेन्द्रो गरुड नौ आवयो रामलक्ष्मणयो घनबन्धनवैधुर्यं दृढनागपाशबन्धनजनितवैकल्यम् व्यधुनोत् दूरीकृतवान्। अत्रैवावयोर्नागपाशबद्धयोर्निरस्तसमस्तव्यापारयोश्च सतोर्विहङ्ग तामालोक्य सत्वर

ही केवल उस अन्धकारमें प्रकाश देती थीं, वह ऐसा लगता था मानों जुगुनुओंका प्रकाश मय हो, इन फणमणियोंके प्रकाशसे आकाश प्रकाश दीखने लगता था ॥ ६ ॥

सीता—आर्यपुत्र, क्या यहीं पर सीताके कारण आप लोगोंको नागपाशमें बँधना पड़ा था।

राम—हाँ सीते हाँ,

इस समय गरुडने हमारे बांधनेवाले साँपोंको मोटी देहोंको चबा डाला, उनके फण मणियोंको उगल दिया, इस प्रकार उस पक्षिराजने हमारे महान् बन्धन कष्टोंको दूर किया॥

---

१ 'तमोवलयिताम्'। * 'ठणिति'। ३ 'अहिबन्धन-'।
४ 'ना विहङ्गमो द्र' 'न स विहगेन्द्र'।

(विमृश्य [1]सस्मितम् ।) अहो वैचित्र्यमस्या जाते ।

द्वे तावत्करणे रसान्रसयितुं शब्दांश्च रूपाणि च
श्रोतुं द्रष्टुमथैकमिन्द्रियमुरोगत्यै निगूढं पदम् ।
अन्येष्वप्यशनेषु सत्सु जगतः प्राणाः स्वदन्तेतरां
मातः कद्रु यदि प्रसौति भवती भूयः सुतानीदृशान् ॥८॥

सुपर्णो गरुडो बन्धनरज्जुभारं गतान् सर्पान् चर्विं वा स्वदीयफणामणीन् भक्षयितुमयोग्यत्वेऽपीर्ष्याशा बन्धनमुक्तान् करोतीत्यर्थः । आर्यावृत्तम् ॥ ७ ॥

द्वे तावदिति रसान् रमणीयद्रव्याणि रसयितुमास्वादयितुं तावत् द्वे करणे जिह्वाद्वयरूपे साधने, अथ शब्दान् श्रोतुम् रूपाणि श्वेतपीतादीनि च द्रष्टुम् एकम् एकम् इन्द्रियम् चक्षूरूपम्, उरोगत्यै उरसा पुरः प्रसर्पणाय निगूढं प्रच्छन्नं गुप्तं पदम् चरणम्, अन्येषु अशनेषु भोज्यद्रव्येषु सत्स्वपि जगतः प्राणाः वायवः स्वदन्तेतराम् अतिशयादिष्टाः प्रतीयन्ते, मातः कद्रु, यदि भूयः पुनः भवती ईदृशान् सुतान् प्रसौति जनयति, (नान्या माता ईदृशान्सुतान् प्रसौति) धन्यासि मातः कद्रु, यदीदृशान् पुत्रान् प्रसूषे नान्या मातेदृशान्पुत्रान् प्रसोतुमर्हति, त्वया हि ये पुत्राः प्रसूतास्तेषां द्वे जिह्वे अन्येषामेकैव रसना, तव सुतानां सर्पाणां चक्षुःश्रवस्तया शब्दान् श्रोतुं रूपाणि द्रष्टुं चैकमेवेन्द्रियं चक्षूरूपम्, अन्येषां तु शब्दान् श्रोतुमपरं श्रोत्रम् रूपाणि द्रष्टुं चापरं चक्षुरिन्द्रियम्, अन्येषां गत्यै पादः प्रकटास्तव पुत्रास्तु प्रच्छन्नैः पादैरुरसा सर्पन्ति, अन्ये विविधानि द्रव्याण्यश्नन्ति तव पुत्रास्तु तानि तानि द्रव्याणि परित्यज्य जगत् प्राणमात्राशिनस्तदित्थं लोकविलक्षणास्तव सुतास्तेन त्वं धन्येति तात्पर्यम्, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८ ॥

(सोचकर मुस्कुराहटके साथ)

हे मातः कद्रु तुम ही ऐसे पुत्रोंको उत्पन्न कर सकती हो, दूसरी माता ऐसे पुत्रोंको नहीं उत्पन्न कर सकती है, संसारके सभी प्राणियोंका एक रसनेन्द्रिय होता है तुम्हारे पुत्रोंको दो रसनेन्द्रिय होते हैं, संसारके अन्यान्य प्राणी शब्द तथा रूपका प्रत्यक्ष अलग-अलग इन्द्रियों द्वारा किया करते हैं परन्तु तुम्हारे पुत्र शब्द और रूप दोनोंका प्रत्यक्ष चक्षुरूप एक इन्द्रियसे ही करते हैं। अन्यान्य भक्ष्य द्रव्योंके रहनेपर भी तुम्हारे पुत्रोंको जगत्प्राण (वायु) ही अच्छे लगते हैं इस तरह तुम्हारे पुत्र लोकविलक्षण हैं ॥ ८ ॥

१ 'सविस्मितम्'।

(सर्वे हसन्ति ।)

सीता—(सस्नेहस्मितं लक्ष्मणमवलोक्य रामं प्रति ।) अज्जउत्त, सोमित्तिकित्तिकन्दलीए उप्पत्तिखेत्तं कदरो उण सण्णिवेसो । [आर्यपुत्र, सौमित्रिकीर्तिकन्दल्या उत्पत्तिक्षेत्रं कतरः पुनः सन्निवेशः ।]

राम—(सहर्षरोमाञ्चम् ।) देवि मैथिलि अयमितो हस्तदक्षिणेन दशरथदशकन्धरस्कन्धावारैकवीरयोर्लक्ष्मणमेघनादयोर्द्वन्द्वयुद्धव्यतिकरसाक्षी सुवेलपादः ।

सीता—जहिं एव्व

अणुराअरोमकण्टअसेअजलेहिं णिसाअरी कावि ।
उद्दीविअणिव्वाविअदइदचिदाणलमनु मरेदि ॥ ९ ॥

[यत्रैव, अनुरागरोमकण्टकस्वेदजलैर्निशाचरी कापि ।

सौमित्रीति । सौमित्रेर्लक्ष्मणस्य कीर्तिर्यशस्तस्या या कन्दली अङ्कुरस्तस्या उत्पत्तिक्षेत्रम् उद्भवस्थानम् । सन्निवेशः स्थानम् । कुत्र स्थाने लक्ष्मणो मेघनादं विजित्य स्वयशः प्रसिद्धं चकारेत्यर्थः ।

हस्तदक्षिणेन दक्षिणहस्तदिशि । दशरथदशकन्धरस्कन्धावारैकवीरयोः दशरथस्कन्धावारो रामसैन्यम्, दशकन्धरस्कन्धावारश्च रावणसैन्यम्, तयोः एकवीरयोः अद्वितीयशूरयोः लक्ष्मणमेघनादयोः । द्वन्द्वयुद्धव्यतिकरसाक्षी द्वन्द्वयुद्धस्य साक्षाद् द्रष्टा । सुवेलपादः सुवेलाख्यपर्वतस्य प्रत्यन्तदेशः ।

अनुरागेति । कापि निशाचरी राक्षसी अनुरागात् प्रेमप्रकर्षात् यानि रोम॰

(सभी हँसते हैं)

सीता—(स्नेहपूर्वक मुस्कुराहटके साथ लक्ष्मणकी ओर देखकर रामसे) आर्यपुत्र लक्ष्मणकी कीर्तिलताका उत्पत्तिस्थान किधर पड़ता है ?

राम—(हर्षसे रोमाञ्चित होकर) देवि मैथिलि, इधर दायें हाथकी ओर दशरथ तथा रावणके सेना सन्निवेशोंके प्रधान वीर लक्ष्मण एवं मेघनादके द्वन्द्वयुद्धका साक्षी सुवेलगिरिकी यह उपत्यका है।

सीता—जहाँ पर,

एक राक्षसी अनुरागसे उत्पन्न रोमाञ्चोंसे चितानलको प्रज्वलित करती है और अश्रुजलसे बुझाती है इस प्रकार वह रावणकी उस चितानलमें घुटघुटकर जल रही है ॥ ९ ॥

---

१ 'व्यतिकरैक—' ।

उद्दीपितनिर्वापितदयितचितानलमनु म्रियते ।]

राम—आ जानकि, आम् । इदमेव तल्लक्ष्मणवीरलक्ष्मीस्वयंवरकौतुकागारम् । इह हि

आनीतद्रोणशैलेन सौमित्रेः शल्यहारिणा ।
अक्रियन्त जगन्त्येव निःशल्यानि हनूमता ॥ १० ॥

सीता—(स्मृतिमभिनीय सानुरागम् ।) अज्जउत्त, किक्किन्धेसरकन्धावारधुरन्धरो रहुउलकुडुम्बविहुरबन्धू सो कहिं हणुमन्तो । [आर्यपुत्र, किष्किन्धेश्वरस्कन्धावारधुरंधरो रघुकुलकुटुम्बविधुरबन्धुः स कुत्र हनूमान् ।]

कण्टकानि रोमाञ्चाः स्वेदजलानि सात्त्विकभावात्मकघर्मबिन्दवश्च तैः उद्दीपितो निर्वापितश्च यो दयितचितावह्निः तम् अनुम्रियते अनुप्रविश्य म्रियते इत्यर्थः । प्रेमप्रकर्षोद्भिन्नरोमाञ्चैश्चितानलो ज्वलति स्वेदजलेन च निर्वाति तादृशं चितानलमनुप्रविश्य म्रियत इत्यर्थः, पत्युः सह मरणमत्र विवक्षितम् ॥ ९ ॥

लक्ष्मणवीरलक्ष्मीस्वयंवरकौतुकागारम् लक्ष्मणेन यत्र विक्रम्य वीरलक्ष्मी परिगृहीता तत्स्थानम् ।

आनीतेति । आनीतः द्रोणशैलः पर्वतविशेषो येन तथोक्तेन सौमित्रेः लक्ष्मणस्य शल्यहारिणा शल्यात्मकव्यथा निवारितवता हनूमता जगन्ति त्रयो लोकाः पुनः निःशल्यानि उद्धृतदुःखशल्यानि अक्रियन्त कृतानि । लक्ष्मणस्य शल्यमुद्धृत्य जगत्त्रयमुज्जीवितं हनूमतेति भावः ॥ १० ॥

किष्किन्धेश्वरस्य सुग्रीवस्य स्कन्धावारधुरन्धरः सैनिकाग्रणीः । रघुकुलकुटुम्बे रघुवंशपरिवारे यो विधुरः विपन्नस्तस्य बन्धुः सुहृत् ॥

राम—हाँ जानकि, हाँ यही है वह स्थान जहाँपर लक्ष्मणने वीरलक्ष्मीका वरण किया था । यहाँपर,

हनूमान्ने द्रोणाद्रि नामक सञ्जीवनी औषधिका आधारपर्वत लाकर लक्ष्मणको अपनीतशल्य किया था, लक्ष्मणको अपनीतशल्य करके हनूमान्ने संसारको ही विशल्य कर दिया था ॥ १० ॥

सीता—(स्मरणका अभिनय करके) आर्यपुत्र, किष्किन्धानाथकी सेनाके नायक तथा रघुवंशके दुःखापहर्त्ता वह हनूमान् कहाँ है ?

राम —देवि [1]निमिराजनन्दिनि,

क्षुण्णे निशाचरपतौ रविबिम्बवर्ती
तातो मया दशरथ स्वयमेव दृष्ट ।
तस्याज्ञया रघुपुरीं प्रहित पुरैव
राज्याभिषेकविधिसभृतये हनूमान् ॥ ११ ॥

(विमानवेगनाटितकेन ।) [2]देवि, प्रणम्यतामयमितो भगवानम्बुराशि ।
लक्ष्मीरस्य हि याद क्ष्णोर स्थाऽपि सुभटभुजवसति ।
इन्दु स च मृडचूडामणिरपि जगतामलङ्कार ॥ १२ ॥

निमिराजनन्दिनि विदेहतनये ।

क्षुण्णे इति । निशाचरपतौ राक्षसेन्द्रे रावणे क्षुण्णे क्षय प्रापिते सति रविबिम्ब वर्ती सूर्यमण्डलस्थस्तातो दशरथो मया रामेण स्वयम् एव दृष्ट साक्षात्कृत, तस्य तातदशरथस्याज्ञया राज्याभिषेकविधिसभृतये राज्याभिषेकोपकरणसम्पाद नाय हनूमान् पुरा पूर्वम् एव रघुपुरीम् अयोध्या प्रहित प्रेषित । अतोऽसौ वर्णयितु न शक्य इत्यर्थ ॥ ११ ॥

लक्ष्मीरिति । कृष्णोर स्थापि कृष्णहृदयवासिनी अपि सुभटभुजवसति । वीरजनभुजदण्डनिवासिनी लक्ष्मी सम्पत्, स च मृडचूडामणि शङ्करशिरोभूप णम् अपि जगताम् अलङ्कारो भूषणम् इन्दुश्चन्द्रश्च अस्य सागरस्य यादो जलजन्तु । अत्र सागरे जलजन्तुसाधारण्येन वसन्तावेव लक्ष्मीचन्द्रौ लोके तावतीं प्रतिष्ठा गताविरयहो श्लाघ्यानुभावोऽय सागर इत्याशय ॥ १२ ॥

राक्षसराजके मारे जानेपर मैंने स्वय पूज्य पिताजीको रविबिम्बमें देखा, उनकी आज्ञासे राज्याभिषेककी सामग्रियोंको प्रस्तुत करनेके लिए हनुमान्को पहले ही अयोध्या भेज दिया गया है ॥ ११ ॥

(विमानकी गतिमें वेग देखकर) देवि, इधर देखो, यह सागर है, इसे प्रणाम करो, इस सागरकी कन्या लक्ष्मी भगवान्के हृदयमें रहकर भी वीरोंके भुजदण्डोंमें वास किया करती है, और इसका चन्द्रमा शिवशिरोभूषण होकर भी ससारको अलङ्कृत किया करता है ॥ १२ ॥

---

१ 'जानकि' । २ 'देवि पार्थिवि' ।

(सविमर्शं च ।)

> स्यादेव तोयममृतप्रकृतिर्यदि स्या
> न्नैकान्तमद्भुतमिद पुनरद्भुत न ।
> लक्ष्मीतुषारकरकौस्तुभपारिजात
> धन्वन्तरिप्रभृतयो यदपा विवर्त ॥ १३ ॥

अपि च देवि,

> आकण्ठदृष्टशिरसाप्यविभाव्यपृष्ठ
> पार्श्वोदरेण चिरमृग्भिरुपास्यमान ।
> नाभीसरोरुहजुषा चतुराननेन

स्यादेवेति । यदि तोय जलम् अमृतप्रकृति अमृतसमानगुणम् स्यात् स्यादेव युक्तमेव तस्यामृतसमानगुणत्वम्, इदम् जलस्यामृतप्रकृतित्वम् न एकान्तमद्भुतम् अत्याश्चर्यम्, पुन किन्तु न अस्माकमद्भुतम् , केवल वयमेव जलस्यामृतप्रकृतित्व माश्चर्यं मन्यामहे न पुनरिद वस्तुतस्तथेत्यर्थ । यत् यस्मात् लक्ष्मी श्री तुषारकरश्चन्द्र , कौस्तुभो मणिभेद , पारिजातो देवद्रुम , धन्वन्तरिर्वैद्यकविद्याप्रवर्तक , एतत्प्रभृतय अस्य सिन्धोरपा विवर्त जलस्य परिणाम , यदि लक्ष्म्यादीना जनक जल तदा तस्यामृतसमगुणत्व नायुक्तमिति भाव । 'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादि'ति विश्व ॥ वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ १३ ॥

आकण्ठेति । अत्र समुद्रे अरविन्दनाभ पद्मनाभो विष्णु आकण्ठदृष्टशिरसा कण्ठपर्यन्त दृष्टमस्तकेनापि अविभाव्यपृष्ठपार्श्वोदरेण चतुर्मुखतया शिरस्तु कण्ठ पर्यन्त दृश्यमानेष्वपि सकलशिरोऽनुरूपपृष्ठपार्श्वदेशोदराद्यवयवा यस्य न शक्यन्ते विभावयितु तादृशेन नाभीसरोरुहजुषा नाभिकमलस्थितेन चतुराननेन ब्रह्मणा चिरम् बहुकालपर्यन्तम् ऋग्भि वैदिकमन्त्रै उपास्यमान वन्द्यमान सन्

(थोडा सोचकर) पानी यदि अमृतके समान गुणवाला है तो वह वैसा हो सकता है, इसमें हमको आश्चर्य नहीं होता है, आश्चर्य तो हमको तब होता है जब हम देखते हैं कि लक्ष्मी, चन्द्रमा, कौस्तुभमणि, पारिजातवृक्ष तथा धन्वन्तरि आदि भी पानीसे ही पैदा हुए हैं ॥ १३ ॥

और, देवि सीते,

ब्रह्मा भगवान्के नाभिकमलमें रहते हैं भगवान् ब्रह्माकी गर्दन तक देख सकते हैं परन्तु पृष्ठ, पार्श्व, उदर आदि अङ्ग भगवान्की दृष्टिमें नहीं आते हैं, इस प्रकार अर्धदृष्ट

शेते किलात्र भगवानरविन्दनाभः ॥ १४ ॥

(सीता वन्दते ।)

लक्ष्मण —यत्सत्यमुत्सर्पिणी[1] धर्मोत्तराणां सिद्धिः
जरयतु जगत्कल्पोच्छित्तौ पिपर्तु पयोधरा-
न्वहतु वडवावक्त्रज्योतिर्दधातु सुधाभुजः ।
भवतु वपुषा यावांस्तावानगस्त्यरुषा पुन-
र्निविरयमपांनिधिरपानस्तपांसि नमोऽस्तु वः ॥ १५ ॥

शेते निद्राति । अस्मिन् सागरे ब्रह्मणा स्तूयमानो विष्णुः शेते, ब्रह्मा हि तन्नाभिस्थितः, विष्णुना ब्रह्मणो मुखानि दृश्यन्ते परं तदनुकूला अन्ये पृष्ठाद्यवयवा न दृश्यन्ते, तत्र कारणद्वयं सम्भवति, तत्रैकं तावत्तेषां पृथगभाव एव, भावेऽपि नाभिस्थितस्य वस्तुनः शयानो जनः केवलमुपरितनं भागमेव साक्षात्कर्तुमीष्टे नाधस्तनमपि भागमिति । शेषं सुगमम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १४ ॥

उत्सर्पिणी वर्धमाना । धर्मोत्तराणाम् धर्मप्रधानानाम् धर्मनिष्ठानाम् ॥

जरयत्विति । अयम् अपांनिधिः समुद्रः कल्पोच्छित्तौ सृष्टिसंहारसमये जगत् जरयतु पयसा प्लावयित्वा संहरतु, पयोधरान् पिपर्तु जलप्रदानेन पालयतु, वडवावक्त्रज्योतिः वडवानलम् वहतु धारयतु, सुधाभुजो देवान् दधातु अमृतप्रदानद्वारा पुष्णातु, वपुषा यावांस्तावान् यत्परिमाणस्तत्परिमाणो वा भवतु, पुनः किन्तु अगस्त्यरुषा अगस्त्यमुनिकोपेन अयं सागरः ईषत्पानः अनायासं पातुं शक्यः, हे तपांसि वः युष्मभ्यं नमः, तद् धन्यं तपो यत्प्रभावेण विस्तीर्णमपि जगत्संहारसमर्थमपि सागरमगस्त्यकोपः पातुमक्षमत, तदस्तु नमस्तपसे इत्यर्थः हरिणीवृत्तम् ॥ १५ ॥

ब्रह्मा जिन्हें ऋचाओं द्वारा आराधित किया करते हैं, वे पद्मनाभ भगवान् विष्णु इस सागरमें सोते हैं ॥ १४ ॥

(सीता प्रणाम करती है)

लक्ष्मण—यह ठीक बात है कि 'धार्मिक पुरुषोंकी सिद्धि उत्तरोत्तर बढ़ा करती है, यह सागर प्रलयकालमें जगत्को अपनेमें छिपाले, मेघोंको पूर्णकाम किया करे, वडवानलको पोसे, अमृत पिलाकर देवोंको पुष्ट करे, और चाहे जैसा आकार क्यों न बनाले, किन्तु कुपित होनेपर अगस्त्यने उसे सरलतासे पी लिया, हे तपस्ये तुम्हें नमस्कार है ॥ १५ ॥

१ 'उपसर्पिणी' ।

राम —(सबहुमानम् ।) [1]वत्स किमुच्यते—

मुने कलशजन्मनो जयति कापि गम्भीरता
यया चुलकमम्भसामपि निधिः समुत्पद्यते ।
अमुष्य पुनरीश्महे न विवरीतुमुत्तुङ्गतां
यया भवति नोच्चकैरहह सोऽपि विन्ध्याचलः ॥ १६ ॥

अपि च वत्स, दुरवगाहगम्भीरस्वभावानि महतां चरितानि । तथा हि ।

जगद्विगमघस्रघस्मरसहस्रभानुप्रभा-
परिक्वथितपिण्डितो लवणकूटमेवार्णवः ।

मुनेरिति । कलशात् कुम्भात् जन्म यस्य तथोक्तस्य मुनेरगस्त्यस्य कापि अनिर्वाच्या गम्भीरता जयति यया अगस्त्यगम्भीरतया अम्भसां निधिः सागरोऽपि चुलुकः गण्डूषमात्रं करपुतजलं समुत्पद्यते, अतिशायिनी गम्भीरताऽगस्त्यस्य यत्समीपे समुद्रोऽपि चुलुकमात्रस्वरूपो जात इत्यर्थः । पुनः अस्यागस्त्यस्य उत्तुङ्गतां विशालतां विवरीतुं वर्णयितुं न ईश्महे न प्रभवामः, यया उत्तुङ्गतया सोऽपि सुमेरुस्पर्धयोत्तिष्ठमानोऽपि विन्ध्याचलः उच्चकैः उन्नतो न भवति, यदीयोत्तुङ्गता विन्ध्यमपि नमयामासेत्यर्थः ॥ पृथ्वीवृत्तम् ॥ १६ ॥

जगदिति । अयम् अर्णवः सागरः जगतः संसारस्य विगमस्य नाशस्य घस्रः दिनं तत्र घस्मरः सर्वसंहारकः सहस्रभानुः सूर्यस्तस्य प्रभया तेजसा परिक्वथितः अतितरां पाकं प्रापितः ततश्च पिण्डितः पिण्डाकारतां नीतः सन् लवण

राम—(आदरके साथ) वत्स लक्ष्मण, क्या कहना है

कलशजन्मा अगस्त्यमुनिमें कुछ इस प्रकारकी गम्भीरता है जिससे उनके आगे समुद्र उनके गण्डूषके रूपमें हो गया, उनकी उत्तुङ्गताका भी वर्णन करनेमें हम असमर्थ हैं, जिसके आगे विन्ध्याचल भी ऊंचा नहीं हो सका ॥ १६ ॥

और भी देखो वत्स, महान् जनके चरितकी गम्भीरता स्वभावतः दुर्बोध हुआ करती है, क्योंकि—

प्रलयके दिनोंमें संसारको दग्ध करनेवाले हजार सूर्योंकी किरणोंसे पक्व होकर तथा क्वथित होकर समुद्र लवणका पहाड़ बन गया, और महादेवके भालनेत्रकी आग

१ 'वत्स' इति क्वचिन्नास्ति ।

अथ क्षणमभूदथ ज्वलति कालरुद्रानले
चटचटदिति स्फुटन्न भवति स्म यावत्क्षणात्[1] ॥ १७ ॥

सीता—अज्जउत्त, जलणिहिमज्झवट्टिणो लङ्कापोदअस्स जम्बूदीवोवअमजमणसिङ्खलेव्व को एसो पडिहासदे। [आर्यपुत्र, जलनिधिमध्यवर्तिनो लङ्कापोतस्य जम्बूद्वीपोपयमनशृङ्खलेव क एष प्रतिभासते।]

राम—देवि [2]मेदिनीनन्दिनि, पतितपौलस्त्यजगद्विजयकेतुदण्डानुकारी ककुत्स्थकुटुम्ब[3]दु समविभागदायादस्य [4]वानरपते कीर्तनमयोऽयं महासेतुः।

भूत्वा लवणराशिरेव क्षणमभूत् अथ कालरुद्रानले संहारकरुद्राग्नौ ज्वलति सति चटचटत् इति पृषोदरादिशब्दपूर्वकं स्फुटन् यावत् न भवतिस्म अदृश्यतां गतोऽभूत्। अथ सागरः प्रलयदिने प्रागद्युमसूर्यप्रभया वध्यमानः सन् लवणपिण्डाकारं लभते अथ सोऽपि लवणपिण्डो रुद्रनेत्राग्नौ ज्वलति सति चटचटशब्दं कृत्वा समाप्तिं याति, इत्यर्थः। पृथ्वीवृत्तम् ॥ १७ ॥

जलनिधिमध्यवर्तिनः सागरमध्यस्थस्य। लङ्कापोतस्य लङ्कारूपवहित्रस्य। जम्बूद्वीपेन भारतेन उपयमनं बन्धनं तत्र शृङ्खला लौहरज्जुः इव॥

मेदिनीनन्दिनि पृथ्वीतनये।

पतितपौलस्त्येति। पतितः भूमौ गतः यः पौलस्त्यस्य रावणस्य जगद्विजयकेतुदण्डः विश्वविजयपताका तदनुकारी तत्तुल्य यावत्पौलस्त्यो जीवतिस्म तावत्तस्य

जब जलने लगी तब वह लवणरूपमें परिणत समुद्र चटचट शब्द करके, न जाने, कहाँ चला गया, अदृश्य हो गया ॥ १७ ॥

सीता—समुद्रके बीचमें वर्तमान इस लङ्कारूप जहाजको जम्बूद्वीपके साथ बाँधनेकी कड़ीके समान लगनेवाला यह क्या दिखाई दे रहा है ?

राम—हे धरातनये गिरे हुए रावणविजयध्वजके समान प्रतीत होनेवाला, यह महासेतु है जो ककुत्स्थ वंशके दु खमें समान भाग लेनेवाले सुग्रीवकी कीर्ति है।

---

१ अस्माच्छ्लोकादग्रे क्वचित्पुस्तकेषु 'अपि च, अपि त्या पन्थानं किमपि महता मन्थकरिपोर्यदर्णोऽभूज्ज्योतिस्तदकृत कथामप्यमदनाम्। मुनेर्नेत्रादत्रेर्यदजनि पुनर्ज्योतिरदः प्रतेने तेनेदं मदनमयमेव त्रिभुवनम् ॥' अयं श्लोको वर्तते। २ 'धरित्रीनन्दिनि'।
३ 'दुःखविभाग-'। ४ 'वानरपतेः सुग्रीवस्य कीर्तिमयोऽयं'।

सीता—(सहर्षम् ।) दिट्ठिआ अज्जउत्तदंसणपच्चासाए वन्धप्परोहणमहोसह सेदुबन्धो दीसइ । (अञ्जलिं बद्ध्वा ।) भअव, णमो दे ।'
[दिष्ट्या आर्यपुनर्दर्शनप्रत्याशाया बन्धप्ररोहणमहौषध सेतुबन्धो दृश्यते ।]

राम —देवि विश्वम्भरासम्भवे, पश्य पश्य ।

यथा दूरापातित्रिदिव[1]युवतीनेत्रसुलभा
मपा भर्ता हारावलिवलयलक्ष्मीं वितनुते ।
तथाय माणिक्यस्फटिककनकग्रावशिखरै
रशून्यात्मा सेतु [2]प्रभवति महानायक इव ॥ १८ ॥

सेतुदण्डोऽप्युन्नत आसीन्मूले तस्मिन्नसौ पतित इत्याशयेनेद विशेषणम् । ककुत्स्थकुटुम्बो रघुकुलम् तस्य यद् दु ख सीताहरणज तस्य सविभागे तुल्यांशविभागे दायादस्य भागग्राहिण अशहरस्य । रघुवंशसमदु खस्य तन्मित्रतया सुग्रीवस्य विशेषणमिदम् । कीर्त्तनमय कीर्त्तिस्वरूप ।

बन्धप्ररोहणमहौषधम् स्थापनोत्पादकम् । अत्र सेतौ बध्यमान एव मम हृदये भवद्दर्शनप्रत्याशा जातेति भाव ।

विश्वम्भरासम्भवे धरातनये ।

यथा द्रेति । अपा भर्ता समुद्र यथा दूरापाति दूरागतम् यत् त्रिदशयुवती नेत्रम् व्योमचारिदेवाङ्गनानयनम् तेन सुलभा सुख प्रमेयाम् हारावलिवलय लक्ष्मीम् धरित्रीकण्ठगतस्रगुपमा वितनुते, तथा अय सेतु माणिक्यशिखरै स्फटिक शिखरै कनकग्रावशिखरैश्च अशून्यात्मा पूरितावयव महानायक मध्यमणिरिव प्रभवति । अयमाशय —यथामु सागर सुदूरव्योमदेशसञ्चारिण्यो देवनार्य दूर पातिना नेत्रेण पृथिव्या हारवल्लय प्रतियन्ति तथाऽय महासेतुरपि तत्तन्मणिमय

सीता—(खुश होकर) भाग्यवश आपको देखनेकी आशाको मजबूत बनानेमें महौषधिका काम करनेवाले इस सेतुके दर्शन हो रहे है । (हाथ जोडकर) भगवन्, आपको नमस्कार करती हूँ ।

राम—हे पृथ्वीपुत्रि, देवि, देखिये—

जैसे दूर देशमें रहनेवाली देवाङ्गनाओंकी आँखें सागरको हारके रूपमें देखती हैं, वैसी तरह यह सेतु माणिक्य, स्फटिक तथा सुवर्णके शिखरोंसे बना हुआ होनेके कारण उस हारका सुमेरु सा प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

१ 'त्रिदशयुवती'। २ 'विभवति'।

अपि चास्मिन्बध्यमाने

शैलप्रवेशात्प्रचलीभवद्भिः कल्लोलकूटैरभिताडितानाम्।
आसीन्निवृत्याचलगामिनीनामम्भोधिरेव प्रभवो नदीनाम् ॥ १९ ॥

(सुग्रीवं प्रति।) सखे,

तथा सेतुश्रद्धोत्कलितकपिनिक्षिप्तशिखरि-
प्रतिष्ठावर्धिष्णुः क्षणमथ नदीभिः प्रतिवहन्।

प्रस्तरघटितावयवतया हारवलयगतमध्यमणिरिव प्रतीयत इति। 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इत्यनेकार्थध्वनिमञ्जरी। शिखरिणीवृत्तम् ॥ १८ ॥

शैलप्रवेशादिति। शैलानां सेतुनिर्माणायाहृतानां पर्वतानां प्रवेशात् समुद्रवारिमध्ये प्रवेशात् प्रचलीभवद्भिः चञ्चलतां गतैः कल्लोलकूटैः तरङ्गराशिभिः अभिताडितानाम् आहतानाम् अत एव निवृत्य पराङ्मुखीभूय अचलगामिनीनाम् यत एव पर्वतादायातास्तत्पर्वताभिमुखमेव गच्छन्तीनाम् नदीनाम् पर्वतोद्भवानामपि अम्भोधिः सागर एव प्रभवः उद्गमस्थानम् आसीत्, नदीनां पर्वताः प्रभवाः समुद्रश्च गम्य इति नियमः, परमत्र सागरे शैलप्रपातात् कल्लोलताडनेन परावृत्य नद्यः सागरात्पर्वतानेव प्रस्थिता इति सागर एव उत्पत्तिस्थानतया प्रतीयत इत्यर्थः। इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ १९ ॥

तथेति। तथा सेतुश्रद्धया तादृशेन सेतुनिर्माणानुरागेण उत्कलितैः उत्कण्ठापरवशैः कपिभिर्नलादिभिर्वानरैः निक्षिप्तानां यतः कुतश्चिदानीय स्थितानां शिखरिणां पर्वतानाम् प्रतिष्ठया स्वान्तरवस्थानेन वर्धिष्णुः वर्धनशीलः, क्षणं किमन्तं कालं

जब समुद्र बाँधा जा रहा था तब,

पर्वतोंके गिरनेसे चञ्चल होनेवाले तरङ्गसमूहोंसे ताडित होकर उल्टा नदियाँ फिर पर्वतोंमुखी होकर बहने लगीं, उस समय वे नदियाँ ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों उनका उत्पत्तिस्थान समुद्र ही हो ॥ १९ ॥

(सुग्रीवके प्रति) सखे सुग्रीव,

वानरोंको समुद्रमें सेतु बाँधनेकी बड़ी उत्कण्ठा थी वे पर्वतोंको ला-लाकर सागरमें डालने लगे जिससे सागरका जल फूलने लगा, और सागर नदियोंके साथ उनकी धाराओंमें भी बहने लगा, इस प्रकार उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी, परन्तु जब उखाड़े गये पर्वतोंकी मूल

---

१ 'प्रचलीभवद्भिः'।

समुत्खातक्षोणीधरकुहरपूर्तिव्यतिकरः
प्रभृष्टाहङ्कारः स्मरति तदवस्थो निधिरपाम् ॥ २० ॥

सुग्रीवः—देव, भवच्चरितचित्रशालिकायामस्माकं चेतसि किं किं नाम न लिखितमस्ति । अपि च ।

[1]सेतूद्योगे सपदि [2]लवणादन्यमन्तस्तिमिभ्यः
कालेनापां मधुरमपि हि स्वादमुद्भेदयन्त्यः ।
शैलक्षेपोच्छलितसलिलव्यूहतुच्छे समन्ता-
द्वारां पत्यौ पटुतररयं निम्नगाः सन्निपेतुः ॥ २१ ॥

यावत् नदीभिः सह प्रतिवहन् प्रतिकूलदिशा गच्छन् अथ अनन्तरं समुत्खातानां समुत्करणाय उत्पाटितानां क्षोणीधराणां पर्वतानां विवराणां पूर्तेः व्यतिकरेण सम्बन्धेन प्रभृष्टाहङ्कारः अपगतजलवृद्धिगर्वः अपांनिधिः सागरः तदवस्थः प्राचीनां दशां गतः इति स्मरसीत्यर्थः । पर्वतागमेन जले वर्धमाने समुद्रो नदीभिः सहैव प्रतिकूलप्रवाहो जातः, परन्तु यदोत्पाटितपर्वतमूलस्थलविवरभरणे तदीयं जलं शोषितं तदासौ पुनरपि प्रकृतिं प्रपन्न इति स्मरसीत्यर्थः । वाक्यार्थः स्मरतेः कर्म । 'कुहरं सुषिरं बिलम्' इत्यमरः ॥ २० ॥

भवच्चरितचित्रशालिकायाम् भवत्कीर्त्या चित्रितायां भवच्चरितकथाभूतायामस्मच्चित्तवृत्तौ । भवत्कीर्तिकथापूरिते इत्यर्थः ।

सेतूद्योग इति । सेतोर्बन्धस्य उद्योगे उपक्रमे सपदि तत्क्षणात् शैलानाम् पर्वतानाम् क्षेपात् पातनात् उच्छलितैः सलिलव्यूहैः जलराशिभिः तुच्छे स्वल्पजले वारांपत्यौ सागरे निम्नगाः नद्यः कालेन उपयुक्तसमयेन अन्तस्तिमिभ्यः अन्तर्गतेभ्यस्तिमिमत्स्येभ्यः लवणादन्यम् क्षारभिन्नम् मधुरं मिष्टम् अपां स्वादमुद्भेदयन्त्यः प्रकटीकुर्वन्त्यः पटुतररयं महता वेगेन सन्निपेतुः पतिताः । सेतुनिर्माणपर्व

स्थली-रूप खाइयोंको पूर्ण करते करते उसका सारा जल खप गया तब उसका जलकृत अहङ्कार समाप्त हो गया और वह सागर फिर पूर्वदशाको प्राप्त हो गया ॥ २० ॥

सुग्रीव—देव, हमारे हृदय आपके चरितरूप चित्रोंकी चित्रशाला है, उसमें क्या-क्या न लिखा है ? और—

सेतु बाँधनेके सिलसिलेमें पानीका स्वाद खारा था, उसे जब पर्वतोंके डाले जानेपर समुद्रका सारा जल ऊपर उछल गया तब जगह खाली देखकर नदियाँ वेगसे आ गईं, और मत्स्योंको मधुर पानी चखनेका मौका दिया ॥ २१ ॥

१ 'सेतूद्योगात्' । २ 'अन्यमन्यं' । ३ 'पटुतरमम्' ।

विभीषण —देव मनुवंशमौक्तिकमणे,

सद्य पीत्वा दरीभिर्जलधिमथ चिराद्दृष्टमैनाकबन्धु
प्रीतिप्रौढाश्रुपूरद्विगुणमहिमभिर्निर्झरैः पूरयन्त ।
ये विन्यस्ता पुरस्तान्निशि निशि निवहैरोषधीनां ज्वलद्भि-
र्न्ते दृश्यन्ते तदात्वोषितकपिशिबिरस्मारिण सेतुशैला ॥२२॥

सीता—(सस्मितम् ।) अज्जउत्त, गोरीगुरुणो गिरिन्दस्स जुवराओ

सेतु क्षिप्यमाणेषूच्छलति जलराशौ सागरस्य स्वल्पावशिष्टजलतया तिमयो यावद्व घणमय जलस्वादमनुभवन्ति तावदेव हि तेभ्यो मधुर सागरजलस्वादमनुभवन्तो मत्स्या सागरे न्यपतन्नित्यर्थ । यावत्प्रभुरयशो दारिद्र्यकृत वर्धते तावत्सत्पुरुष स्वधर्मरक्षणप्रतिज्ञा रक्षन्तीति ध्वन्यते । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ २१ ॥

सद्य इति । पुरस्तात् सेतुनिर्माणप्रथमप्रहरे विन्यस्ता सागरे क्षिप्ता (सेतुशैला) सद्य पातसमकालम् दरीभि गुहाभि जलधि सागरजल पीत्वा अथ जलधिपाने कृते दृष्टे मैनाके नाम बन्धौ समुद्रगर्भस्थमैनाकरूपबन्धुसुहृद्दर्शनेन च प्रीतिप्रौढ आनन्दोत्थ अश्रुपूर नेत्रजलप्रवाहस्तेन द्विगुणितमहिमभि द्विगुणीभूतमहाप्रवाहशालिभिर्निर्झरै पूरयन्त सागर समेधयन्त सेतुशैला सेतुभूता पर्वता, ते निशि निशि प्रतिरात्र ज्वलद्भिर्दीप्यमाने ओषधीना निवह समूहे तदात्वे सेतुबन्धकाले उषितानां वास कृतवताम् कपीनां वानराणां शिबिरस्य सेनासन्निवेशस्य स्मारिण स्मारका दृश्यन्ते । ये पर्वता सेतवे समुद्रे क्षिप्यमाणास्तत्कालमेव सागरस्य जल स्वदरीभिर्निपीय तद्गर्भस्थितस्वसुहृन्मैनाकदर्शनजातानन्दाश्रुप्रवाहद्विगुणीभूतस्वनिर्झरजलै सागर पुनरप्यपूरयन्, निशि निशि ज्वलद्भि स्वावस्थितौषधिभिश्च ये तत्कालतत्रोषितवानरसैन्यस्मारण पिङ्गलवर्णस्य प्रभया कारयन्ति, ते पर्वता विलोक्यन्ताम् इत्यर्थ । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ २२ ॥

गौरीगुरो पार्वतीपितु । गिरीन्द्रस्य पर्वतराजस्य हिमालयस्य । युवराजो

विभीषण—हे देव मनुवंशभूषण,

समुद्रमें जो पर्वत डाले जाते थे वे समुद्रका पानी अपनी कन्दराओंमें भर लिया करते थे, फिर समुद्रकी उदरदरीमें जब उन्हें अपने मित्र मैनाकके दर्शन होते थे तब उनके आनन्दाश्रु प्रवाहकृत झरनोंके बहनसे समुद्र भर जाता था। उन पर्वतोंपर बहुत सी ओषधियां रातमें अभी भी प्रज्वलित होती हैं और उन्हें देखकर उस समय वहाँ रहनेवाले कपियोंकी याद हो आती है ॥ २२ ॥

सीता—आर्यपुत्र, गौरीके पिता पर्वतराजके युवराज मैनाकका पक्ष नहीं कटा फिर भी

१ जलनिधिमथ चिर'।

जलणिहिगब्भवसदी मेणाओ जाणामि पक्खच्छेअं पि विणा थावरीभूदो।
[आर्यपुत्र गौरीगुरोर्गिरीन्द्रस्य पुत्रको जलनिधिगर्भवसतिर्मैनाको, जानामि पक्षच्छेदमपि विना स्थावरीभूत इति।]

राम —([1]विहस्य।) आ जानकि, आम्।

क्रौञ्चं [2]विमुच्य पुत्रं च पितरं च हिमालयम्।
प्रविश्य जलधिं पक्षौ [3]रक्षताऽनेन किं कृतम्॥ २३॥

सीता—(हसन्ती पुष्पकं प्रति।) विमाणराअ, गअणमग्गचङ्कमण कोदूहलुल्लसिअमाणसाम्हि। ता उण्णमेहि दाव। [विमानराज, गगनमार्गचङ्क्रमणकौतूहलोल्लसितमानसास्मि। तदुन्नम तावत्।]

राम —(सकौतुकस्मितम्।) देवि [4]रत्नगर्भागर्भरत्नशलाके, पश्य पश्य।

ज्येष्ठो युवा च पुत्रः। जलनिधिगर्भवसतिः समुद्रगर्भस्थः। स्थावरीभूतः जडमतां वनितो जातः। पक्षेषु सत्स्वपि स्थावरः सम्वृत्त इत्याशयः।

क्रौञ्चमिति। क्रौञ्चं तन्नामप्रसिद्धं पुत्रम् हिमालयं नाम पितरञ्च विमुच्य विहाय जलधौ सागरे पक्षौ स्वीयौ रक्षताऽनेन मैनाकेन किं कृतम्, पक्षच्छेदरूपापद्युपस्थितायां पुत्रस्य पितुश्च रक्षां विहाय स्वमात्ररक्षां कुर्वतोऽस्य मैनाकस्य किं गौरवम्, स्वाश्रितरक्षापूर्विका मरणायां एव धीरजनादरणीयतया स्वमात्ररक्षामात्र कापुरुषकार्यमनेनाचरितमिति भावः॥ २३॥

गगनेति गगनमार्गे आकाशपथे चङ्क्रमणं तिर्यग्भ्रमणं तत्र कौतुकम् उत्कण्ठा, तेन उल्लसितमानसा पूर्णहृदया। उन्नम उपरि भव। रत्नगर्भा पृथिवी तस्या गर्भस्य रत्नशलाकामणिद्युतिस्तद्रूपे, पृथ्वीपुत्रीतिविवक्षा।

वह स्थावर हो गये, यह आप जानते हैं?

राम—(हँसकर) हाँ जानकी हाँ,

इस मैनाकने पुत्र क्रौञ्च तथा पिता हिमालयको छोड़कर अपनी रक्षा यदि कर ही ली तो क्या किया? उचित तो यह था कि अपनी रक्षा भी करते साथ ही पुत्र तथा पिताकी रक्षा भी करते॥ २३॥

सीता—(हँसती हुई, पुष्पकके प्रति) विमानराज, आकाशमार्गसे चलनेकी उत्कण्ठा हो रही है, थोड़ा ऊपर उठिये।

राम—(उत्सुकताके साथ हँसकर) हे पृथ्वीकी पुत्रि सीते, देखो—जैसे जैसे यह

[1] विहस्य इति क्वचिन्नास्ति। [2] विलुप्य'। [3] वन'।
[4] 'रत्नगर्भागर्भरत्नशलाके' इति क्वचिन्नास्ति।

यथा यथा परं व्योम विमानमधिरोहति ।
तथा तथाऽपसर्पन्ति परतः परितो दिशः ॥ २४ ॥

किं च—

आसन्नतपनाश्यानत्वचः पुष्पकपीडिताः ।
गगनार्णवयादांसि [1]स्तिम्यन्ति स्तनयित्नवः ॥ २५ ॥

[2]अपि च—

अमी ते गम्भीरस्तनितरवरौद्रा नयनयो-
रनायुष्यं पुष्यन्त्यवतमसमुच्चैर्जलमुचः ।

यथा यथेति । यथा यथा विमानम् पुष्पकाख्यमिदं व्योमयानम् परं व्योम उपरितनमाकाशदेशम् अधिरोहति गच्छति उपरि सर्पति, तथा तथा तत्क्रमेण दिशः परितोऽपसर्पन्ति चतुर्दिशं पलायमाना भवन्ति विस्तारं लभन्त इत्यर्थः ॥२४॥

आसन्नेति । आसन्नेन समीपवर्त्तिना तपनेन सूर्येण तत्तेजसा आश्याना शुष्कश्यामीकृतास्त्वच इव त्वचः उपरितनभागा येषां ते तथोक्ताः पुष्पकपीडिताः अनेन वायुयानेन खण्डिताः गगनार्णवयादांसि समुद्रोपमे सागरे जलचरजन्तुवत्प्रतीयमानाः स्तनयित्नवो मेघाः स्तिम्यन्ति आर्द्रीभूताः शब्दायन्ते । यद्यपि दैवादिकः ष्टिमधातुरार्द्रीभावमात्रार्थकस्तथाप्यत्रार्द्रीभावपूर्वकः शब्दे प्रयोगः प्रसङ्गोपपादनार्थो बोध्य इति रुचिपतिः । जीवानन्दस्तु अन्तर्भावितण्यर्थत्वमाश्रित्य आर्द्रीकुर्वन्तीत्यर्थमाह ॥ २५ ॥

अमी त इति । गम्भीरं धीरं स्तनितम् गर्जितम् एव रवस्तेन रौद्रा भीषणा उच्चैः महान्तश्च अमी मेघाः तव नयनयोः अनायुष्यम् अनायुःप्रयोजकम् दर्शनव्याघातकरम् अवतमसम् अल्पमन्धकारम् पुष्यन्ति जनयन्ति, मेघास्तव दृक्शक्तिप्रतिबन्धकरं तमः सृजन्तीत्यर्थः, इन्दोश्चन्द्रस्य उपरि ऊर्ध्वं परम् अधश्च

विमान ऊपर आकाशमें उठता जा रहा है, वैसे वैसे दिशायें दूर भागती चली आ रही हैं ॥ २४ ॥

और, समीपस्थित सूर्यकी किरणोंसे जिनकी त्वचा सूख गई है, जिन्हें हमारा यह पुष्पक विमान पीडित कर रहा है जो आकाशरूप सागरके जलजन्तु-सदृश प्रतीत होते हैं, ऐसे मेघ कुछ गीला सा स्वर निकाल रहे हैं ॥ २५ ॥

और, जिन मेघोंके ऊपर पड़नेवाली चन्द्रिकासे आकाशमें आभा तथा अन्धकारमय

१ 'तिम्यन्ति'। २ 'अपि च' इति क्वचिन्नास्ति ।

विसर्पद्भिर्येषामुपरि परमिन्दो परिमलै
रसम्बाधज्योत्स्नातिमिरचयचित्र वियदभूत् ॥ २६ ॥

सुग्रीव —(अधोऽवलोक्य सकौतुक राम प्रति ।) देव, [1]दूरादवागव-लोकय तावत् ।

निह्नुतोन्नतनतप्रविभक्ति स्वस्ववर्णविनिविष्टपदार्था ।
अम्बुराशिपरिवेषवती भूश्चित्रकुट्टिममिव प्रतिभाति ॥ २७ ॥

अपि च देव,

विसर्पद्भि प्रसारिभि येषा मेघाना परिमलै विमर्द असम्बाधा प्रसारशालिनी ज्योत्स्ना दीप्ति तिमरचयश्च तन्मय चित्र वियदभूत्, येषा मेघाना चन्द्रस्योपरि नीचैश्च प्रचारेण वियति कचिच्चन्द्रप्रभाकृत धावल्य कचिच्च तम कृत मालिन्य तदुभयसम्पर्ककृत चित्र व विजृम्भत इत्यर्थ । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २६ ॥

निह्नुतेति । निह्नुता गोपिता उन्नतनतयो उच्चनीचयो प्रविभक्तिर्विभागो यत्र तादृशी अविभाव्यमाननिम्नोन्नतविभागा सर्वत्र समेव प्रतीयमानेत्यर्थ, स्वस्ववर्णेषु नीलपीतश्वेतादिरूपेण विनिविष्टा अवस्थिता पदार्था यत्र तादृशी दूरतया वर्णभेदमात्र प्रतीयते न पदार्थाना जाति, श्वेत पीत इत्येतावन्मात्र व्यवच्छिद्यते न घटपटत्वादिर् यत्र तथोक्तेति भाव । अम्बुराशिपरिवेषवती समुद्र-वेष्टिता भू पृथिवी चित्रकुट्टिममिव विचित्रवर्णन्यास कुट्टिम भूमिकर्म इव प्रतिभाति । दूराद् दृश्यमाना भुवि उन्नतनतविभागो न ज्ञायते पदार्थाश्च वर्णमात्रेण ज्ञायन्ते न पृथग् जात्या, तदित्थमिय समुद्रपरिवेष्टिता धरा विचित्र कुट्टिममिव प्रतीयत इत्युपमा ॥ २७ ॥

चित्र उपस्थित हो रहा है जैस ये मेघ अम्बार गर्जनसे भाषणता धारण-करके आलोक-शक्तिको कम करनेवाले अन्धकारकी सृष्टि करते हैं ॥ २६ ॥

सुग्रीव—(नीचे देखकर, कुतूहलसे रामके प्रति) देव, दूरसे तनिक नीचेका ओर देखें

पृथ्वीपर ऊंच नीच स्थलका विभाग समाप्त हो रहा है, सभी पदार्थ केवल अपने वर्णमें रह गये हैं आकारभेद लुप्त हो रहा है, इस प्रकार यह समुद्रवेष्टिता पृथ्वी चित्रमय पक्की भूमि-सी दीख रही है ॥ २७ ॥

और, देव

---

१ 'दूरादर्वागवलोकय', 'दूरादवलोकय' ।

अयमनेन महोदधिभोगिना वलयितो वसुधाफणमण्डलः ।
जगदनर्घमवाप्य भवादृशं किमपि रत्नमहङ्कुरुतेतराम् ॥ २८ ॥

सीता—(पुरो दर्शयन्ती ।) को एसो कप्पाणलज्जालाकलावकढिज्जमाणजलणिहिलवणत्थवकणिम्मलअब्भलिहसिहरमहस्समहुरो महीहरो पलोइज्जदि । [क एष कल्पानलज्वालाकलापक्वथ्यमानजलनिधिलवणस्तबकनिर्मलाभ्रलिहशिखरसहस्रमधुरो महीधरः प्रलोक्यते ।]

विभीषणः—देवि,

पुरः प्रालेयशैलोऽयं यस्मिन्मकरकेतवे ।

अयमनेनेति । अयम् वसुधाफणमण्डलः पृथ्वीरूपः फणसमुदयः महोदधिभोगिना समुद्ररूपसर्पेण वलयितः वेष्टितः जगदनर्घम् संसारेऽमूल्यम् भवादृशं किमपि रत्नम् अवाप्य अहङ्कुरुतेतराम् नितरां गर्वायते। यथा कोऽपि सर्पफणः रत्नेन गर्वमुद्वहति तथैव वसुधारूपोऽयं समुद्ररूपसर्पेण वलयितः फणमण्डलोऽमूल्यं त्वादृशं रत्नमासाद्य गर्वं धारयतीत्यर्थः । 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षितं द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ २८ ॥

कल्पानलेति । कल्पानलस्य प्रलयाग्नेः ज्वालाकलापेन शिखासमुदायेन क्वथ्यमानस्य समधिकं ताप्यमानस्य जलनिधेः समुद्रस्य लवणस्तवकः लवणपुञ्जः तद्वत् निर्मलेन अभ्रलिहेन व्योमचुम्बिना शिखरसहस्रेण शिखरसमुदयेन मधुरः मनोहरः । महीधरः पर्वतः । प्रलोक्यते दृश्यते, कोऽयं पर्वतो दृश्यते य प्रलयाग्निक्वथितसागरोत्पन्नलवणराशिरिव धवलैः शिखरगणैः प्रतीयत इत्यर्थः ।

पुर इति । पुरः अग्रेऽयं प्रालेयशैलः हिमालयो नाम पर्वतो वर्तते यस्मिन् हिमालये मकरकेतवे कामदेवाय मृतसञ्जीवनी पुनःप्राणदायिनी ओषधिः कामस्य पुनर्जन्मकारिणी दुर्गा पार्वती अजायत जाता, सोऽयं पर्वतो हिमालयो यत्र पार्वती जाता यया हरकोपानलदग्धोऽपि कामः महादेवद्वारा पुनर्जीवितः, मही

यह समुद्ररूप नागराज द्वारा वलयित वसुधारूप फणमण्डल संसारमें अनुपम अमूल्य आप सरीखे रत्नको प्राप्त करके अनिर्वचनीय अहङ्कार प्रकाशित कर रहा है ॥ २८ ॥

सीता—(आगे दिखलाकर) यह कौन सा पर्वत दीख रहा है जो प्रलयानलकी ज्वालावलीसे क्वथित होनेवाले सागरके जलसे प्रस्तुत लवणकी तरह स्वच्छ तथा ऊंचे शृङ्गोंसे आकाशको छूता हुआ मालूम पड़ता है ।

विभीषण—देवि, यह वही हिमालय पर्वत है जिसपर कन्दर्पको पुनरुज्जीवित करने

मृतसञ्जीवनी दुर्गा महौषधिरजायत ॥ २९ ॥

सीता—(सकौतुकम् ।) अवि इध ज्जेव चन्दसेहरणअणाणले आहुदीभूदो भअवं मम्महो । [अपि इहैव चन्द्रशेखरनयनानले आहुतीभूतो भगवान्मन्मथः ।]

विभीषण—आं देवि, आम् । इयमुत्तरेण देवदारुवनलेखा विषमशरदुरन्तसाक्षिणी ।

पुरा पुरा भेत्तुरिह त्रिनेत्रीश्टङ्गाटके तुल्यरुषि स्थितेऽपि ।
धगद्धगित्यज्ज्वलदेकमन्ये तद्धूमपीडामपि नासहेताम् ॥ ३० ॥

षधिरपि मृतसञ्जीवनी भवति, नयनानलदग्धः कामो महादेवेन गौर्यां परिणीतायां देहीकृत इति बोध्यम् ॥ २९ ॥

चन्द्रशेखरनयनानले महादेवनेत्रवह्नौ । आहुतीभूत हवनीयद्रव्यमभूत् ।

उत्तरेण उत्तरस्या दिशि । देवदारुवनलेखा देवदारुवृक्षश्रेणी । विषमशरदुरन्तसाक्षिणी कामदेवदहनस्य साक्षिभूता प्रत्यक्षदर्शिका ।

पुरा पुरामिति । इह अस्मिन् देवदारुकानने पुरा भेत्तुः त्रिपुरारेः त्रिनेत्रीश्टङ्गाटके नेत्रत्रयरूपचत्वरिकण्टके वह्निस्थापनप्रज्वालनाद्युचितपात्रभेदे तुल्यरुषि समानकोपावलम्बिनि स्थितेऽपि एकम् नयनम् धग्धग्धग् इति एतदानुपूर्वीकशब्दपूर्वकम् अज्वलत् जज्वाल, अन्ये ज्वलतो नयनात् भिन्ने नयने तस्य ज्वलतोऽग्नेः धूमपीडाम् धूमसम्पर्कजं कष्टं न असहेताम् न सोढुमक्षमेताम् । महादेवस्य त्रिषु नेत्रेषु एकं कोपकलुषमपि जातं परमपरे पूर्ववदेव ध्यानमग्ने अतिष्ठतामित्यर्थः ॥३०॥

वाली मृतसञ्जीवनी महौषधिके रूपमें पार्वतीने जन्म लिया ॥ २९ ॥

सीता—(कुतूहलके साथ) यहीं ही महादेवके नेत्राग्निमें कामदेव आहुति बन गया था ?

विभीषण—हाँ देवि, हाँ, यही उत्तरकी ओर दीखनेवाली देवदारुवनपरम्परा उस भीषण घटनाकी साक्षिणी है ।

यहाँ पूर्वकालमें महादेवकी तीनों आँखें एक रूपमें कुपित हो गई थीं, परन्तु उनमें एक ही आँख धक् धक् धक् करके जलने लगी, और दो आँखें उस आगके धूमकी व्यथाको भी नहीं सह सकीं ॥ ३० ॥

१ 'जानकि'।　　२ 'धगद्धगित्यज्ज्वलदेक'।

राम :—किमुच्यते ।

नीललोहितललाटलाञ्छने लोचने जयति कोपपावकः ।
रक्षितस्य जगदन्तहेतवे यस्य सज्वलनमात्मभूरभूत् ॥ ३१ ॥

सीता—(रामं प्रति ।) अज्जउत्त, तधा णिरणुक्कोसो कध उण पडिणिवुत्तो महादेवो देवीए । [आर्यपुत्र, तथा निरनुक्रोशः कथं पुनः प्रतिनिवृत्तो महादेवो देव्यै ।]

राम :—
स्मरपरिभवनिःसहायदीर्घैरथ सुभगङ्करणैरियं तपोभिः ।
तदकृत यदसौ निजेऽपि देहे जयति जगत्पतिरात्मना द्वितीयः ॥३२॥

नीलेति । नीललोहितस्य हरस्य ललाटलाञ्छने भालभूषणभूते लोचने कोपपावकः क्रोधाग्निर्जयति, जगदन्तहेतवे त्रिभुवनसंहाराय रक्षितस्य यस्य कोपाग्नेः आत्मभूः कामदेवः सज्वलनम् सन्धुक्षणकाष्ठम् अभूत् यथा वह्निना पश्चात् कार्यं करिष्यन् केनापि काष्ठेन न रक्षति तथैव जगत्संहाराय रक्षितस्य कोपाग्नेः कामदेव एव सन्धुक्षणकाष्ठतामभजतेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

निरनुक्रोशः निर्दयः । प्रतिनिवृत्तः कोपान्निवृत्तः (यत्पार्वतीं सत्यग्रहीत्)

स्मरपरिभवेति । स्मरस्य कामदेवस्य परिभवेन दहनाप्मनाऽपमानेन असहायैः सहायकरहितैः दीर्घैर्महद्भिः सुभगङ्करणैरसुभगा अपि सुभगाः कर्तुं समर्थैः तपोभिः तद् एतादृशं कठिनं कर्म अकृत कृतवती यत् यस्मात् जगत्पतिः निजेऽपि देहे स्ववपुष्यपि आत्मना द्वितीयः सद्वितीयः अर्धनारीश्वरः जयति । यदा पार्वती तपः प्रारेभे तदा तस्याः कामोऽपि सहाय आसीदित्यसौ अकठोरतया अवर्तत, यदा पुनः कामो दग्धस्तदाऽसहायतया सा तपोमात्रमवलम्बनमालोक्य दीर्घं तपश्चक्रे, तेन

राम—क्या कहा जाय, महादेवके ललाटपर वर्तमान नेत्रकी कोपाग्निकी जय हो, जिसे प्रलयकालके लिये सुरक्षित रखनेके लिये ही महादेवने उसमें कामदेवरूप इन्धन डाल दिया था ॥ ३१ ॥

सीता—(रामके प्रति) उस प्रकार निर्दय होकर भी फिर महादेव पार्वतीको मिल कैसे गये ?

राम—कन्दर्पके जला दिये जानेपर असहाय होकर पार्वतीने अपना तप बढ़ा दिया, और कुछ ऐसा कार्य किया जिससे उसकी दरता बढ़ गई और बाध्य होकर महादेवको उसे अपना अर्धाङ्गिनी बनाना ही पड़ा ॥ ३२ ॥

विभीषण —([1]सपरिहासम् ।)

चिरमनया तपसित्वा कपालविषविषधरैकचित्तस्य ।

चक्रे हरस्य मूर्तिः फलमर्धं फलदमर्धं च ॥ ३३ ॥

सीता—(विहस्य तं प्रति सकौतुकम् ।) कहिंस्सिं उण सणिवेसे भअवदीए सव्वमङ्गलाए पाणिग्गहणमङ्गलं आसी ।

विभीषण —इदं पुरस्तादोषधिप्रस्थं नाम नगराजनगरम् । अत्र हि—

सम्प्रदातरि महौषधीमये भूधरे सुखमुवाह पार्वतीम् ।

[2]मूढकङ्कणफणीन्द्रनिर्भया तारकेश्वरकिशोरशेखरः ॥ ३४ ॥

तत्तपसा शिवस्तथा प्रीतो यथा पार्वतीमर्धाङ्गभाजमकरोत् इत्यहो धन्यं तत्तप इत्यर्थः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ३२ ॥

चिरमनयेति । अनया पार्वत्या चिरं सुदीर्घकालपर्यन्तं तपसित्वा तपः कृत्वा कपाले नरशिरःकङ्काले विषे विषधरे च एकम् अनन्यभावानुरक्तं चित्तं यस्य तादृशस्य कपालधारणविषपानविषधराल्ङ्करणमात्रानुरागिणः हरस्य मूर्त्तिः शरीरम् अर्धं फलम् लभ्यम् अर्धं च फलदं फलप्रदं चक्रे । तपस्याप्रसन्नेन शिवेन पार्वती स्ववपुषोऽर्धे निवेशिता, तथा च तपस्याफलमर्धं शरीरमजनि, अर्धं चावशिष्यमाणं शिवांशभूतं वपुः फलदातृरूपं स्थितम्, तदित्थमर्धस्य फलात्मकत्वमर्धस्य फलदातृत्वमकल्पयदित्याशयः ॥ ३३ ॥

सम्प्रदातरीति । महत्य ओषधयः लताविशेषास्तन्मये तद्बहुले महौषधिगणपूर्णे भूधरे हिमालये पर्वते सम्प्रदातरि दानकर्त्तरि सति तारकेश्वरश्चन्द्रः स एव किशोरो बालः स शेखरः शिरोभूषणं यस्य तादृशो बालचन्द्रभूषणः शिवः मूढः ओषधिसान्निध्यवशाद् भीततया किमपि चेष्टितुमशक्तो यः कङ्कणफणीन्द्रः शिवकर-

विभीषण—(परिहासके साथ) कपाल तथा विषधरके साथ रमनेवाले शिवको भी चिरकालतक तपस्या करके पार्वतीने इस प्रकार अपनाया कि उन्हें अपना आधा अङ्ग ही तपस्याके फलके रूपमें पार्वतीको देना पड़ा, आधा अङ्गसे ही वह तप फलदायक रहे ॥३३॥

सीता—(मुस्कुराकर-विभीषणके प्रति) वह कौन सा स्थान है जहाँ पार्वतीका विवाह सम्पन्न हुआ था ।

विभीषण—यह आगेवाला ओषधिप्रस्थ नामक हिमालयका नगर है, यहीं पर महौषधियोंसे भरे हुए हिमालय कन्यादान कर रहे थे, इसीसे महादेवके साँप डरकर छिप गये, पार्वती निर्भय बैठी रहीं, अतः महादेव पार्वतीका पाणिग्रहण कर सके ॥ ३४ ॥

१ 'सहासम्' । २ 'गूढ', 'मुग्ध' ।

राम—आ देवि, इहैव

> पितरि निजतुहिनसंपत्कल्पितहेमन्तविभ्रमे गौरी।
> निर्मदभुजङ्गभूषणममीषणं प्रियकरं भेजे ॥ ३५ ॥

सीता—(सस्मितम्।) अज्जउत्त, अवि एदस्सिं जेव्व मअणतणुदहणए इअणिरप्पणो फुडमविस्ससन्तीए गोरीए चन्दचूडो सघट्टिदो णिअसरीरेण। [आर्यपुत्र अप्येतस्मिन्नेव मदनतनुदहनव्यतिकरनिरात्मीय स्फुटमविश्वसन्त्या गौर्या चन्द्रचूड संघटितो निजशरीरेण।]

राम—(विहस्य।) आ देवि,

वलयीभूतसर्पस्ततो निर्भयाम् अभयभीताम् पार्वतीम् सुगम् अक्लेशम् उवाह पाणौ गृहीतवान्। महादेवेन पार्वत्या पाणौ गृह्यमाणाया शिवकरस्थे सर्पे सव्यापारे कदाचित् पार्वती निभियात्ततश्च सत्पाणिग्रहणम् सुखसाध्य न स्यात्, पर महौषधिमये हिमालये दातरि सन्निहितमहौषधिनिवहप्रभावात् निश्चेष्टकल्पे वलय सर्पे पार्वत्या भयोदयस्याभावेन शिवस्य सुख पर्यणैषीदित्यर्थ। रथोद्धतावृत्तम्, 'स्याद्राविह रथोद्धता लगौ' इति तल्लक्षणम् ॥ ३४ ॥

पितरीति। निजतुहिनसम्पदा स्वप्रालेयसमृद्धया कल्पित कृत हेमन्तविभ्रम हेमन्तर्तुविलासस्तद्भ्रमो वा येन तादृशे पितरि स्थिते सति गौरी पार्वती निर्मद शीत्याधिक्येनोपशमितनिपगर्वो यो भुजङ्ग सर्प [illegible] भूषण कङ्कणो यत्र तादृश [illegible] इ। पितृसम्बन्धिहेमन्तसम्पादक [illegible] ति अभयङ्कर प्रियतमस्य हस्त [illegible]

राम—हाँ देवि सीते, यहाँपर—

पार्वतीके पिता हिमालयने अपने बर्फके प्रभावसे हेमन्तका समय ला दिया, अत महादेवके सांपोंका विष उतर गया, फलत पार्वती निर्भयभावसे अपने प्रियतमका हाथ पकड़ सकीं ॥ ३५ ॥

सीता—(मुस्कुराकर) आर्यपुत्र, क्या इसी जगह कदर्पकी देह जलाकर महादेवने जो निर्ममता प्रकटकी थी उसीपर विश्वासरहित होकर गौराने महादेवको अपने शरीरसे जोड़ लिया।

राम—(मुस्कुराकर) हाँ देवि,

एतस्यां हि तुषारभूधरशिरःसीम्नि प्रियार्धेन च
स्वेनार्धेन च तादृशे पशुपतौ वृत्तेऽर्धनारीश्वरे।
शेषेणार्धयुगेन सप्रहसनं गौरीसखीभिस्सदा
चक्रे दक्षिणवामयोर्विनिमयादन्योऽर्धनारीश्वरः ॥ ३६ ॥

अपि च—

'सम्भोगानतिरिच्यमानविभवो यद्विप्रलम्भो रसः

एतस्यामिति। एतस्याम् अत्र तुषारभूधरस्य हिमालयपर्वतस्य शिखरसीम्नि शृङ्गप्रदेशे (अत्रैव हिमालयशृङ्गे) प्रियार्धेन गौरीदेहार्धभागेन स्वेन अर्धेन स्वीयदेहार्धभागेन च तादृशे स्वतपोरक्षार्थं काममग्निज्वालायां होमं कृतवति अपि पशुपतौ अर्धनारीश्वरे अर्धाङ्गरतपार्वतीस्वरूपे वृत्ते जाते सति तदा तत्र समये सप्रहसनं सोपहासम् शेषेण अवशिष्टेन अर्धयुगेन पार्वत्या शिवस्य चार्धार्धभागाभ्याम् दक्षिणवामयोर्विनिमयात् व्यत्यासं कृत्वा अन्यो द्वितीयोऽर्धनारीश्वरश्चक्रे। सोऽयं शिवो, यः पूर्वमात्मनस्तपसि स्त्रियः सन्निधानमपि विघ्नममन्यत, सम्प्रति प्रियार्धघटितनिजदेहार्धधरः सञ्जात इति सोपहासा गौरीसख्यः शिवयोरवशिष्यमाणदेहार्धद्वयेनापरमर्धनारीश्वरं व्यधात्, परं पूर्वतनेऽर्धनारीश्वरे पार्वती वामार्धे शिवश्च दक्षिणार्धे स्थितः, पश्चात्सखीभिः कृते चार्धनारीश्वरे गौर्या दक्षिणार्धरूपता तदंशस्यैव शिष्यमाणत्वात्, शिवस्य वामार्धभागता, तस्यापि तद्वामात्रशिष्टत्वादिति बोध्यम् ॥ ३६ ॥

सम्भोगेति। यत् यस्य दिव्यमिथुनस्य विप्रलम्भो रसः शृङ्गारप्रभेदभूतविप्रलम्भाख्यो रसः सम्भोगानतिरिच्यमानविभवः सम्भोगापेक्षयानतिरिक्तरूपः अर्धनारीश्वरस्य यस्य वियोगासम्भवेन विप्रलम्भोऽपि सम्भोगातिरिक्ततया वक्तुम-

---

इसी हिमालय पर्वतकी सीमामें अपना आधा शरीर और पार्वतीके आधे शरीरको मिलाकर जब महादेव अर्धनारीश्वर बन गये तब पार्वतीकी सखियोंने शेष आधे आधे शरीरोंको मिलाकर एक दूसरा अर्धनारीश्वररूप प्रस्तुतकर दिया था, परन्तु परिहासार्थ सखियों द्वारा प्रस्तुत उस अर्धनारीश्वर शरीरमें पार्वतीका दक्षिण भाग तथा शिवका वाम भाग था ॥ ३६ ॥

और—जिस अर्धनारीश्वरको विप्रलम्भ रस भी सम्भोग स्वरूप ही हुआ करता है अर्थात् जिसके लिये शृङ्गार रसका दूसरा विप्रलम्भात्मक भेद असम्भव है, परस्पर मिलित

---

१ संयोगात्'।

स्तद्दिव्यं मिथुनं परस्परपरिस्यूतं नमस्कुर्महे ।
एकस्या प्रतिबिम्बसंभृतविपर्यासे मुहुर्दर्पणे
सव्याङ्कस्थितिकौतुकं शमयति स्वामी स यत्रापर ॥३७॥

विभीषण —देव,

स्वच्छन्दैकस्तनश्रीरुभयमतमिलन्मौलिचन्द्रः फणीन्द्र
प्राचीनावीतवाही सुखयतु भगवानर्धनारीश्वरो वः ।

शमयस्तत् परस्परपरिस्यूतम् अन्योन्यमिलितं तत् दिव्यम् विलक्षणं मिथुनम् स्त्रीपुद्वन्द्वम् नमस्कुर्महे प्रणता स्म, एकस्या गौर्याः प्रतिबिम्बसम्भृतविपर्यासे प्रतिबिम्बे स्वस्य वामभागेऽवस्थितिं दृष्ट्वा कथमयं मां वामभागे गौणं स्थापयतीति प्रतिबिम्बदर्शनकृतबुद्धिविपर्यये जाते सति मुहुः वारंवारं दर्पणे सव्याङ्कस्थिति कौतुकम् वामाङ्कस्थितिजन्मौत्सुक्यम् अपरः स स्वामी शमयति निवर्त्तयति, यदा पार्वती स्वं वामभागावस्थानं दृष्ट्वा कुप्यति तदा सम्मुखस्थे दर्पणे पश्य तत्र त्वं च दृश्यसे ? इत्येव बोधयित्वा तस्या औत्सुक्यं शमयति शिव इत्यर्थः । दर्पणे वामभागस्थं वस्तु दक्षिणभागे दृश्यत इति पार्वत्यपि तत्रात्मानं दक्षिणभागस्थां प्रतीत्यौत्सुक्यं जहातीति बोध्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३७ ॥

स्वच्छ देति । स्वच्छन्दा स्वतन्त्रा द्वितीयस्तनकृतस्थानसङ्कीर्णतारहिता एक स्तनश्री एककुचशोभा यत्र तादृश, उभयमत उभयसाधारण मिलन् मौलि चन्द्र यस्य तथोक्त फणीन्द्रप्राचीनावीतवाही दक्षिणस्कन्धे तिर्यग्वर्त्तमान यज्ञसूत्र दधान भगवान् अर्धनारीश्वर व युष्मान् सुखयतु आनन्दयतु । यस्य अर्धे देहार्धे विश्वस्य जगतो दाहे व्यसन यस्य तादृश विसृमर ज्योतिर्यस्य तादृश च,

हम दि य स्त्री पुरुषको नमस्कार करता हू। जब पार्वती अपनेको दर्पणमें विपरीत दिशा (दक्षिण भाग) में अवस्थित समझने लगती हैं तब उन्हें महादेव यह कहकर वस्तु स्थितिसे अवगत कराते हैं कि तुम ठीकही हो, दर्पणमें उल्टा ही दिखाई देता है ॥ ३७ ॥

विभीषण—देव,

स्वच्छन्द रूपमें एक स्तन है, दोनों भागमें मस्तक पर चन्द्रमा विद्यमान है, दायें कन्धे पर सर्पराजरूप यज्ञोपवीत लटक रहा है, ऐसे अर्धनारीश्वर आपको आनन्दित करें जिनके अर्धाङ्गमें संसारको जलानेवाली ज्योतिसे युक्त नयन, और आधेमें विश्वसंहार

१ 'उभयदल-'।

यस्यार्धं विश्वदाहव्यसनविसृमर-ज्योतिरर्धं कृपोद्य
　　द्बाष्पं चान्योन्यवेगप्रहतिसिमसिमाकारि चक्षुस्तृतीयम् ॥३८॥

अपि च—

　　स्वेदार्द्रवामकुचमण्डलपत्रभङ्ग
　　　　मशोषिदक्षिणकराङ्गुलिभस्मरेणु ।
　　स्त्रीपुंनपुंसकपदव्यतिलङ्घिनी वः
　　　　शम्भोस्तनुः सुखयतु प्रकृतिश्चतुर्थी ॥ ३९ ॥

अर्धं अपरदेहार्धं कृपोद्बाष्पं विश्वदाहदर्शनजनितकृपाप्रसूताश्रु च, नयनम्, अत एव अन्योन्यवेगप्रहतिभिः परस्परवेगसमाहतिभिः परस्परवेगसमासक्तिकृतसिमसिमाकारि तृतीयं चक्षुरस्तीति शेषः । अर्धनारीश्वरो वः सुखयतु यस्यैक एव स्तनः उभयोः साधारणश्चन्द्रः शिरसि, दक्षिणस्कन्धे निर्यल्लम्बमानं यज्ञोपवीतं च विद्यते, किञ्च यस्यैकत्र नयने विश्वदहनव्यासक्तं प्रसृमरं च ज्योतिः, अपरत्र नयने च विश्वदाहदर्शनोदितकरुणाजन्यं बाष्पम्, आभ्यामग्निबाष्पाभ्यां परस्परव्याहतशक्तिभ्यां तृतीयं नयनं सिमसिमशब्दयुतं चास्तीत्यर्थः । सिमसिमेति शब्दानुकरणम्, अग्नौ जलसंयोगे परस्परशक्तिव्याघातजन्मा तादृशः शब्दो जायते, तदिह तृतीयनेत्रस्य सिमसिमाकारितोक्ता ॥ ३८ ॥

स्वेदार्द्रेति । स्वेदार्द्रः सात्त्विकभावोदितस्वेदपूर्णः यो वामकुचमण्डलपत्रभङ्गः वामस्तनस्थितपत्रावलीविरचना तस्य समोषी तदार्द्रताहरः दक्षिणकराङ्गुलिभस्मरेणुः दक्षिणकराङ्गुलिस्थविभूतिधूलिर्यत्र तादृशी ।

वामार्धे पार्वती दक्षिणार्धे शिव इत्यर्धनारीश्वरस्य मूर्तिस्तत्र शिवे पार्वतीकुचे पत्रावलीं रचयति सति वामभागस्थकुचमण्डले सात्त्विकभावरूपो यः स्वेद उदयते तस्य शिवकरस्थाङ्गुलिलग्नभस्मरेणुना शोषणं क्रियत इत्यर्थकमिदं विशेषणम् ।

स्त्रीपुंनपुंसकपदव्यतिलङ्घिनी तत्तल्लिङ्गत्रयव्यतिरिक्ता अत एव चतुर्थी प्रकृतिः शम्भोस्तनुर्वः सुखयतु, सा हि तनुर्न स्त्रीरूपा पुरुषलिङ्गधारणात्, न

देखनेसे उत्पन्न दयाके आंसू, एवं इन दोनोंके परस्पर मिलनसे तृतीय नेत्रमें सिमसिमाहट उत्पन्न हुआ करती है ॥ ३८ ॥

और—अर्धभागस्थ सात्त्विकभावोत्थित वामकुचमण्डल पर वर्तमान पत्रावलीको जिसके दक्षिणभागस्थ अङ्गुलिमें लग्न भस्म सुखाता है, ऐसे महादेवकी वह देह जो स्त्रीपुंनपुंसकसे विलक्षण चतुर्थ लिङ्गी है, आपको आनन्दित करे ॥ ३९ ॥

१ 'विसृमरज्योतिः'।　　२ 'पत्रभङ्गा-'।　　३ 'ङ्घिनीना'।

([1]अन्यतश्च दर्शयन् ।)

आधत्ते दनुसूनुसूदनभुजाकेयूरवज्राङ्कुर-
व्यूहोल्लेखपदावलीवलिमयैरङ्कैर्मुदं मन्दर ।
आधारीकृतकूर्मपृष्ठकषणप्रक्षीणमूलोऽधुना
जानीमः परतः पयोधिमथनादुच्चैस्तरोऽयं गिरिः ॥४०॥

राम —(निर्वर्ण्य सस्मितम् ।)

तत्तादृक्फणिराजरज्जुकषणं संरूढपक्षच्छिदा

पुरुषा स्त्रीचिह्नकुचादिसत्त्वात्, नापि नपुंसकरूपा उद्भूतश्मश्रुत्वस्य अकथितत्वात् तद्वि थमिय चतुर्थी प्रकृतिरिति बोध्यम् ॥ ३९ ॥

आधत्त इति । मन्दर गिरिविशेष दनुसूनुदानवस्य सूदनो निहन्ता विष्णुस्तस्य भुजासु चतुर्षु बाहुषु ये केयूरा अङ्गदा तेषां वज्राङ्कुरव्यूहै हीरकाङ्कुरनिचयै उल्लेखेन घर्षणेन या पदावली रेखासमूह स एव वलय उदरस्थरेखाविशेषा स्तन्मयैरङ्कैः मुदम् दर्शकजननयनानन्दम् आधत्ते जनयति, समुद्रमन्थनसमये मन्थानभूतोऽयं मन्दराचलो विष्णुना बाहुभिर्धृत इति तस्य विष्णुबाहुस्थितकेयूर खचितहीरकै सङ्घर्षणं जातं येन तत्र रेखा जाता यास्तदुदरस्थरेखा इव प्रतीयमाना भवन्ति, एतादृशोऽयं मन्दराचलो नयनानन्दं वितनोतीत्यर्थः । अयं गिरिर्मन्दर आधारीकृत समुद्रमथनकाले आधारतां नीतं यत्कूर्मपृष्ठं तेन कषणात् घर्षणात् प्रक्षीणं मूलं यस्य तथाभूत, अतश्च पयोधिमथनात् समुद्रमथनात् पूर्वम् उच्चैस्तर अतिमहान् आसीदिति अधुना जानीम । अयमाशयः–विष्णुना समुद्रमथनसमये कूर्मपृष्ठं पात्रीकृत तत्र मन्थानभूतस्य मन्दरस्य मूलं घृष्टं सत् क्षयं गतम्, अतः सम्प्रति यावत्परिमाणः सन् मन्दरो यत्परिमाण सम्प्रति विलोक्यते, समुद्रमथनात्पूर्वं ततो महानासीदिति । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ४० ॥

तत्तादृगिति । अयं मन्थाचल मन्दर तत्तादृक् तथाविधम् फणिराजरज्जुकषण

(दूसरी ओर दिखाकर) दानवोंके संहार करनेवाले भगवान् विष्णुके भुजमें वर्तमान केयूरमें खचित हीरेकी रगड़से चिह्नित यह मन्दराचल आँखोंको आनन्दित कर रहा है, इसके नीचे जो कूर्मराज हैं उनकी पीठमें घिसते रहनेसे इसका जड़ घिस गई है, मैं समझता हूँ, समुद्र मन्थनसे पूर्वकालमें यह मन्दराचल बहुत ऊँचा पहाड़ रहा होगा ॥४०॥

राम —(देखकर तथा मुस्कुराकर) उस तरहके सर्परूपरज्जुके घषणको जिससे पक्षच्छेदवाली जगहमें मर्मान्तिक पीड़ा होती होगी, इस मन्दराचलने कैसे सहन किया ?

१ 'अन्यतश्च'।

धातारं तुदमप्यहो कथमयं मन्थाचलः सोढवान् ।
एतेनैव दुरात्मना जलनिधेरुत्थाप्य पापामिमां
लक्ष्मीमीश्वरदुर्गतव्यवहृतिर्व्यस्ता जगन्निर्मितम् ॥ ४१ ॥

सीता—(सोद्वेगम् ।) इमिणा ज्जेव्व मत्थुसेसीकिददुद्धसाअरेण चन्दमुद्धरिअ पउसिदभत्तणो इत्थिआजणस्स उवरि चारहली विढत्ता । [अनेनैव मस्तुशेषीकृतदुग्धसागरेण चन्द्रमुद्धृत्य प्रोषितभर्तृकस्य स्त्रीजनस्योपरि चारहली विस्तीर्णा ।]

(सर्वे हसन्ति ।)

वासुकिनागरूपरज्जुकृत घर्षणम् सरुड विरूढो य पक्षच्छिदाघात पक्षच्छेदनमण तत्र अरुन्तुदम् अतिव्यथकम् अपि कथं सोढवान् सोढुमशक्नोत्। पक्षे विरूढेऽपि तत्स्थाने घर्षणासहिष्णु तिष्ठति, पक्षच्छेदव्रणस्थाने वासुकिरज्जुकृतघर्षणकष्ट नितान्तव्यथाकरमपि न जाने केन बलेनायं मन्दरोऽसहतेति भाव । एतेनैव दुरात्मना दुष्टचित्तेन मन्दरेण जलनिधे समुद्रात् पापा पापरूपेण दुर्वृत्ताम् लक्ष्मीम् उद्धृत्य बहिरानीय जगत् विश्वम् ईश्वरो धनी दुर्गतो दरिद्र इति व्यवहृत्या व्यपदेशेन व्यस्त द्विधा निर्मितम् , यद्ययं दुष्टहृदयो मैनाक समुद्रात्पापा पापाचारां लक्ष्मीं नोद्धरेत् तदा जगतीश्वरदरिद्रव्यवहारकृत कष्ट न केनापि लभ्य स्यादित्याशय ॥ ४१ ॥

मस्तुशेषीकृतदुग्धसागरेण क्षीरसमुद्रं मथितवता, मस्तु तक्रविशेष । 'मण्ड दधिभव मस्तु' इत्यमर । प्रोषितभर्तृकस्य विरहिण । चारहली पौरुषम् । देश्य शब्दोऽयम् । अयमेव मन्दराचल प्रयासमात्राय क्षीरसागर मथित्वा च ततश्चन्द्रमुद्धृत्य विरहिस्त्रीजनेषु स्वपौरुष चन्द्रद्वारा तत्कष्टजननसामर्थ्यरूप प्रकटीकृतमित्यर्थ ।

इसी पापी मन्दराचलने इस पापा लक्ष्मीको सागरसे निकालकर दुनियामें धनी निर्धनका व्यवहार जारी किया जिससे यह विश्व त्रस्त है ॥ ४१ ॥

सीता—(उद्वेगके साथ) इसी मन्दरने क्षीरसागरको तक्र बनाकर चन्द्रमा निकाला और उसके द्वारा विरहिणी स्त्रियोंपर अपना पराक्रम प्रकट किया ।

(सभी हसते हैं)

---

१ 'सावेगं सस्मितम्' ।

विभीषण —(तदेव रामसूक्तं भावयन्।) अहह !

प्रक्षेप्तुमुदधौ लक्ष्मीं भूयोऽपि वलते मनः ।
किं तु प्रक्षिप्त एवायं पुनरायाति चन्द्रमाः ॥ ४२ ॥

(विमृश्य चाकाशे।)

कस्मैचित्कपटाय कैटभरिपूर् पीठदीर्घालयां
देवि त्वामभिवाद्य कुप्यसि न चेत्तत्किंचिदाचक्ष्महे ।
यत्ते मन्दिरमम्बुजन्म किमिदं विद्यागृहं यच्च ते
नीचान्नीचतरोपसर्पणमपामेतत्किमाचार्यकम् ॥ ४३ ॥

प्रक्षेप्तुमिति । लक्ष्मीरेव जगतीश्वरदरिद्रव्यवहारप्रवर्तकतमा कष्टबीजमिति विभाव्य मनः भूयोऽपि लक्ष्मीमुदधौ सागरे प्रक्षेप्तुम् पातयितु वलते चेष्टते, परं तु क्षिप्तापि सा पुनरागच्छेत् यतः—प्रक्षिप्तः कालेन समुद्रे पातितः एवायं चन्द्रमाः पुनरायाति बहिरुत्तथैव क्षिप्तापि पुनर्बहिरागच्छेदिति परिश्रमवैयर्थ्यं सम्भाव्यैव लक्ष्मीः सागरे न क्षिप्यत इत्याशयः ॥ ४२ ॥

कस्मैचिदिति । हे देवि लक्ष्मि, चेत् यदि न कुप्यसि क्रुद्धा भवसि तत् तदा कस्मैचित् कपटाय केनापि च्छलेन (किमपि वञ्चनकर्तुम्) कैटभरिपोर्नारायणस्य उरःपीठम् विशालपीवरम् वक्ष एव दीर्घालयश्चिरकालिकावासो यस्यास्तादृशीं त्वाम् अभिवाद्य नमस्कृत्य किञ्चिदाचक्ष्महे कथयामः पृच्छामः, यत् ते अम्बुजन्म कमलम् मन्दिरम् गृहम्, किमिदं विद्यागृहम् शिक्षणशाला ? यच्च ते नीचान्नीचतरोपसर्पणम् नीचातिनीचपात्रोपसरणम् एतत् अपाम् जलानाम् आचार्यकम् अध्यापनपाटवम् ? हे लक्ष्मि, किमपि वञ्चनं मनसि निधाय हरेर्वक्षसि चिराद् वसन्तीं भवन्तीमिदं प्रष्टुमिच्छामि यत्तव कमलं गृहं तदिदं किन्तव विद्यागृहं,

विभीषण—(रामकी उसी उक्तिको याद करता हुआ) अहा !

इच्छा तो होती है कि इस लक्ष्मीको फिर उसी सागरमें फेंक दूँ, पर तु ऐसा इसलिये नहीं कर रहा हूँ कि व्यर्थ होगा, फिर यहीं चली आवेगी, च द्रमा तो सागरमें फेंक देनेपर फिर भी आ ही जाता है ॥ ४२ ॥

(कुछ सोचकर आकाशकी ओर) किसी बड़े कपटको लक्ष्य बनाकर भगवान् विष्णुकी छातीमें रहनेवाली लक्ष्मी देवि, यदि आप बिगड़े नहीं तो आपको नमस्कार करके पूछूँगा कि आप जो कमलवासिनी बनी हुई हैं सो कमल आपका विद्यागृह है क्या ? और आप जो नीचे से नीचे उतरती जाती हैं सो इस कलामें आपके आचार्य जल तो नहीं हैं ॥ ४३ ॥

लक्ष्मण —(सहासम् ।) हन्त, सुरासुर[१]मल्लभटीतूर्यतालनर्तकी सकलराजकुलखलीकारसज्जूला [२]साहसिकजनसहस्रशस्त्रान्धकारखेलनखद्योती मधुमथनजीमूतविलासविद्युल्लता किमेवमुपालभ्यते । इयं हि

गुणवद्भिः सह सङ्गममुच्चैः पदमाप्तुमुत्सुका लक्ष्मीः ।
वीरकरवालवसतिर्ध्रुवमसिधाराव्रतं चरति ॥ ४४ ॥

यच्च त्वया नीचानीचं उपसर्प्यते तदद्भिः शिक्षितासि किम्? यथा कमलानि बहिर्मनोहराण्यन्तः कण्टकाकीर्णनालानि च तथैव त्वमप्यापातरम्या पर्यन्तवैरस्यावहा चासीति, किञ्च यथाऽऽपो नीचाभिमुख्यस्तथैव त्वमपि नीचाभिमुखी तदिदं किं त्वया अद्भ्यः शिक्षितम् इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

सुरासुरेति । सुरासुरमल्लानां देवदानववीराणां भटीतूर्यम् रणवाद्यभेदस्तत्तालेन नर्तकी नर्तनशीला । सकलानां राजकुलानां नृपसमुदायानां खलीकारे वञ्चने खर्जूला कण्डूतिधारिणी तदासक्ता सकलराजन्यवञ्चिकेत्यर्थः । साहसिका जना वीरजना तेषां सहस्रस्य शस्त्रान्धकारेषु अनवरतशरवर्षणकृतान्धकारेषु खेलने क्रीडने खद्योती ज्योतिरिङ्गणपक्षिणी, यथा खद्योती तमसि खेलति तथेयमपि लक्ष्मी वीरजनशरवर्षणान्धकारे खेलतीति बोध्यम् । मधुमथनो विष्णुरेव जीमूतो मेघस्तेन सह विलासे क्रीडाकर्मणि विद्युल्लता चपला । उपालभ्यते—निन्द्यते आक्रुश्यते ।

गुणवद्भिरिति । वीरकरवालवसतिः साहसिकजनखड्गनिवासिनी लक्ष्मीः ध्रुवं निश्चयेन गुणवद्भिः गुणिजनैः सह सङ्गमम् एव उच्चैः पदम् उन्नतं स्थानम् आप्तुम् उत्सुका लब्धुमुत्कण्ठिता (सती) असिधाराव्रतं करवालधारायामवस्थितिरूपं नियमं चरति पालयति । अन्योऽप्युन्नतपदप्राप्तये यः कश्चिद्व्रतं पालयत्येवमियमपि लक्ष्मीर्गुणवज्जनसङ्गमरूपमुच्चैः पदं प्राप्तुमेव साहसिकजनखड्गधारानिवासात्मकं व्रतं पालयतीत्यर्थः । हेतूत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ४४ ॥

लक्ष्मण—(हँसकर) अहा ! देव दानव युद्धमें बजनेवाले वाद्योंके तालपर नाचनेवाली, सकलराजगणको परिभवमें डालनेके लिये व्यग्र रहनेवाली, साहसी जनोंके शस्त्रान्धकारमें जुगनूकी तरह प्रकाश होनेवाली तथा मधुसूदनरूप मेघके साथ विलास रसिका चपला इस लक्ष्मीको आप क्यों कोस रहे हैं ? यह तो—

गुणवानोंके साथ निवासरूप उन्नत पदको प्राप्त करनेके लिये व्यग्र यह लक्ष्मी वीरजनोंके खड्गोंमें रहकर असिधारा व्रत करती रहती है । ४४ ॥

१ 'मल्लरमसी'।　२ 'साहसिकसहस्र-'।

सीता—(साभ्यसूयमिव ।) णिअदेव्वदुव्विलासविआरालसो लोओ लच्छीदेवीए दुज्जसवअणाइं गाअदि । (पुरो दर्शयन्ती ।) को एसो दीसदि दिअसकूडीकिदजोण्हाविच्छड्डपडिरूवो गिरी । [निजदैवदुर्विलासविचारालसो लोको लक्ष्मीदेव्या दुर्यशोवचनानि गायति । क एष दृश्यते दिवसकूटीकृतज्योत्स्नाविच्छर्दप्रतिरूपो गिरिः ।]

विभीषण—देवि,

सोऽयं कैलासशैलः स्फटिकमणिभुवामंशुजालैर्ज्वलद्भि-
श्छाया पीतापि यत्र प्रतिकृतिभिरुपस्थाप्यते पादपानाम् ।
यत्रोपान्तोपसर्पत्तपनकरधृतस्यापि पद्मस्य मुद्रा
मुद्रामानो दिशन्ति त्रिपुरहरशिरश्चन्द्रलेखामयूखाः ॥ ४५ ॥

राम—हन्त, शतधा [1]दृश्यमानोऽपि न चक्षुरकौतुकं करोति ।

निजदैवेति । निजदैवदुर्विलासस्य स्वभाग्यदोषस्य विचारे विवेके अलसोऽक्षमः दुर्यशोवचनानि—अकीर्त्तिकथाः । दिवसकूटीकृता दिनसमूहता प्रापिता । ज्योत्स्ना चन्द्रिका तस्या विच्छर्दं विस्तारः तत्प्रतिरूपः तत्समानः । राशीकृतदिवससमूहकान्तिविस्तारवद्भासुर इत्यर्थः ।

सोऽयमिति । सोऽयं कैलासशैलः कैलासपर्वतः (दृश्यते) यत्र कैलासे स्फटिकमणिभुवाम् स्फटिकशिलासम्भूतानाम् पादपानाम् वृक्षाणां ज्वलद्भिः अतिदीप्तैः अंशुजालैः मयूखनिवहैः पीता निगीर्णाऽपि छाया वृक्षच्छाया प्रतिकृतिभिः प्रतिबिम्बैः उपस्थाप्यते प्रकटीक्रियते । अत्र कैलासे स्फटिकमणिशिलासु स्थितानां वृक्षाणां छाया प्रभानिलीनतया नावभासते केवलं तस्याः प्रतिबिम्बमात्रमालोक्यमानं तत्सद्भावं प्रत्याययतीत्यर्थः । यत्र कैलासे उपान्ते प्रान्तदेशे उपसर्पतः सञ्च

सीता—(असूयाके साथ) अपने भाग्यके दोषसे आलसी बना हुआ आदमी लक्ष्मीको गालियाँ दिया करते हैं । (आगे दिखलाती हुई) दिनमें इकट्ठी हुई सूर्य किरणोंकी तरह चमकनेवाला यह कौन सा पर्वत दीख रहा है ?

विभीषण—देवि, यह वही कैलास पर्वत है जहाँ पर स्फटिकमय भूमिमें पैदा होनेवाले वृक्षोंकी छाया केवल प्रतिबिम्बमें ही देखी जाती है, और जहाँ समीपमें घूमनेवाले सूर्यके हाथमें रखे गये कमलकी भी महादेवके सिरपर रहनेवाले चन्द्रमाकी किरणें सङ्कुचित कर देती हैं ॥ ४५ ॥

---

१ 'दृश्यमानेन चक्षुः' 'दृश्यमानो न चक्षुः' ।

गिरिः कैलासोऽयं दशवदनकेयूरविलस-
न्मणिश्रेणीपत्त्राङ्कुरमकरमुद्राङ्कितशिलः ।
अमुष्मिन्नारुह्य स्फटिकमयसर्वाङ्गविमले
निरीक्षन्ते यक्षाः फणिपतिपुरस्यापि चरितम् ॥ ४६ ॥

अपि च—

दशमुखभुजदण्ड[1]मण्डलीनां [2]दृढपरिपीडनपीतमेखलोऽयम् ।

रतः तपनस्य सूर्यस्य करैर्हस्तैस्तस्यापि सूर्यहस्तस्थितस्यापि पद्मस्य कमलस्य उद्दामानः अतिस्वच्छाः त्रिपुरहरशिरश्चन्द्रलेखाः शङ्करशिरोवर्त्तिशशाङ्कलेखाः मुद्रां दिशन्ति सङ्कोचं जनयन्ति । सूर्योऽप्यत्र समीपेन चरति, तत्करस्थमपि कमलमत्र लीलाभिर्हरशिरश्चन्द्रलेखाभिः सङ्कोचमञ्चतीत्यर्थः ॥ स्रग्धरावृत्तम् ॥४५॥

अकौतुकम् उत्कण्ठारहितम्, अत्र पर्वते शतशो दृष्टेऽपि दृशांनोत्कण्ठा न निवर्त्तत इत्यहो रामणीयकमस्येत्यर्थः ।

गिरिरिति । अयं कैलासो नाम गिरिः दशवदनस्य रावणस्य केयूरेषु अङ्गदेषु विलसन्तीनां स्फुरन्तीनाम् मणिश्रेणीनां हीरकपङ्क्तीनां पत्राङ्कुरमकरमुद्राभिः उट्टङ्कितमकराकृतिभिः अङ्किता शिला यस्य तादृशः, अस्य कैलासस्य रावणेनोत्तोलनं कृतमिति तद्बाहुकेयूरसमूहस्थितहारकोट्टङ्कितमकरमुद्राभिरस्य कैलासस्य शिला अङ्किता समजनिषतेत्यर्थः, स्फटिकमयसर्वाङ्गविमले स्फटिकमयतया सर्वतः स्वच्छे अमुष्मिन् कैलासे आरुह्य आरोहणं कृत्वा यक्षाः देवयोनिविशेषाः फणिपतिपुरस्य नागलोकस्यापि चरितम् कार्यकलापम् ईक्षन्ते चक्षुषा पश्यन्तीति पर्वतस्यास्य सर्वाङ्गधवलतयाऽत्र स्थिता अधोभुवनस्यापि वृत्तं पश्यन्ति सर्वाङ्गधवलस्यास्य दृक्शक्तिप्रतिबन्धकत्वविरहादिति भावः ॥ ४६ ॥

दशमुखेति दशमुखस्य रावणस्य भुजदण्डमण्डलीनां दण्डोच्छ्रितविशालभुजसमुदायानां दृढपरिपीडनेन गाढग्रहणेन पीता कृशी कृता अनिघर्षिता मेखला मध्यभागो यस्य तथोक्तोऽयं कैलासः स्फटिकगिरिः गिरिशस्य जलगृहकवितर्दिका-

राम—अहा ! इसे सौ बार देखनेके बाद भी आँखोंकी उत्कण्ठा शान्त नहीं होती है ।

यह वही कैलास पर्वत है जो रावणके केयूरमें वर्तमान मणिगणके पत्राङ्कुरमें बने मकराकृति चिह्नोंसे अङ्कित है, तथा सभी अवयवोंमें श्वेतवर्ण जिस कैलास पर चढ़कर यक्षलोग नागलोकका चरित भी देखा करते हैं ॥ ४६ ॥

१ 'मण्डलीभिः' । २ 'निबिडनिपीडन' ।

जलगृहकवितर्दिकासुखानि स्फटिकगिरिर्गिरिशस्य निर्मिमीते ॥ ४७ ॥

विभीषण —(सीतां प्रति ।) देवि, दृश्यन्ताममी

कैलासाद्रितटीषु धूर्जटिजटालङ्कारचन्द्राङ्कुर-
ज्योत्स्नाकन्दलिताभिरिन्दुदृषदामद्भिर्नदीमातृकाः ।
गौरीहस्तगुणप्रवृद्धवपुषः पुष्यन्ति धात्रेयक-
भ्रातृस्नेहसहोढषण्मुखशिशुक्रीडासुखाः शाखिनः ॥४८॥

सुखानि सलिलगृहवेदिकासुखानि निर्मिमीते करोति, पुनः रावणे भुजदण्डैः कैलासमुत्तोलयति सति तद्भुजदण्डमण्डलीभिर्मेखलासु दृढं निपीडिततया उपरि प्रवहमाननिर्झरजलप्लावनात् सततजलधारतया कैलासोऽयं जलगृहवेदिकासुखं हरस्य सम्पादयतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

कैलासाद्रितटीष्विति । कैलासाद्रितटीषु कैलासपर्वततटेषु स्थिताः शाखिनो वृक्षाः धूर्जटेः शिवस्य जटानाम् अलङ्कारः भूषणभूतो यश्चन्द्राङ्कुरश्चन्द्रलेखा तस्य ज्योत्स्नाभिः कौमुदीभिः कन्दलिताभिः समेधिताभिः इन्दुदृषदाम् चन्द्रकान्तमणीनाम् अद्भिः जलराशिभिः नदीमातृकाः प्लाविताः पोषिताश्च, तथा गौर्या हस्तगुणेन हस्तलालनपाटनेन प्रवृद्धं वृद्धिं गतं वपुः शरीरं येषां तथोक्ताः, तथा धात्री वृक्षाणाम् उपमाता गौरी तस्याः अपत्यम् धात्रेयकः स चासौ भ्राता चेति धात्रेयकभ्राता स्कन्दस्तस्य स्नेहेन सहोढः सहप्राप्तः षण्मुखशिशुना कार्तिकेयेन क्रीडासुखं विनोदो येषाम् तथाभूताश्च पुष्यन्ति विकसन्ति । कैलासपर्वततटीषु स्थिता वृक्षा महादेवशिरोवर्तिचन्द्रकलास्रुतचन्द्रकान्तमणिजलैः सिक्ततया प्रवृद्धाः गौर्या पोषिततया पुष्टवपुषः धात्रीभूतोमातनयकार्तिकेयेन सह क्रीडमानाश्च सन्तो विकसन्तीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४८ ॥

रावण जब अपने भुजदण्डोंसे कैलासकी मेखलाको ओरोंसे पीडित कर देता था तब इसके भीतरसे पानी ऊपर निकलकर प्रवाहित होने लगता था, उस समय यह कैलास महादेवको स्नानागारका सुख प्रदान किया करता था ॥ ४७ ॥

विभीषण—(सीताके प्रति) देवि, इधर देखें—

कैलास पर्वतकी तलहटीमें महादेवके सिरको भूषित करनेवाले चन्द्रमाकी कलासे निगत चन्द्रिका द्वारा स्पृष्ट चन्द्रमणियोंके जलस्रावसे नदीमातृक बननेवाले, तथा जिन्हें पार्वतीने अपने हाथोंसे पाला पोसा है और जो साथ-साथ खेलनेवाले कार्तिकेय रूप अपने भाइके साथ बालक्रीडाका सुख भोग चुके हैं—ऐसे यह वृक्ष फूल रहे हैं ॥ ४८ ॥

अपि चास्य नित्यमधित्यकावासी परमेश्वरः ।

सहस्राक्षैरङ्गैर्नमसितरि नीलोत्पलमयी-
मिवात्मानं मालामुपनयति पत्यौ मखभुजाम् ।
जिघृक्षौ च क्रीडारभसिनि कुमारे सह गणै-
र्हसन्वो भद्राणि द्रढयतु मृडानीपरिवृढः ॥ ४९ ॥

किं च ।

यन्नाट्यभ्रमिघूर्णमानवसुधाचक्राधिरूढे भृशं
मेरौ पार्श्वनिविष्ट[1]वासरनिशाचक्रे परिभ्राम्यति ।
तैजस्यस्तडितो भवन्तु शतशो दृष्टा हि जाता कथ

सहस्राक्षैरिति । मखभुजां देवानां पत्यौ स्वामिनीन्द्रे सहस्राक्षैः नेत्रसहस्रयुतैः अङ्गैः शरीरावयवैर्नमसितरि प्रणामं कुर्वति अतश्च स्वम् आत्मानं नीलोत्पलमयीं मालाम् नीलकमलस्रजमिव उपनयति उपहरति सति, क्रीडारभसिनि खेलनप्रिये कुमारे कार्त्तिकेये च, जिघृक्षौ नीलोत्पलस्रजमिव प्रतीयमानामिन्द्रतनुं ग्रहीतुकामे गणैः प्रमथवर्गैः सह हसन् मृडानीपरिवृढः शिवः वो युष्माकं भद्राणि शुभानि द्रढयतु अव्याहतानि करोतु । सहस्रनयनयुतमिन्द्रस्याङ्गं नीलकमलमालयस्वे प्रतीतमिति भ्रान्तिमान् स्फुटोऽलङ्कारः । चक्षुषामुत्पलमालयाश्च तदङ्गानामुत्पलमालारूपता । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४९ ॥

यन्नाट्येति । यस्य नाट्ये नर्त्तने भ्रमिर्भ्रमणं ततो घूर्णमानं भ्रमत् यत् वसुधाचक्रम् भूमण्डलमेव चक्रम् तत्राधिरूढे मेरौ पार्श्वयोर्निविष्टं वासरनिशाचक्रं यस्य तादृशे (तस्मिन्मेरौ) परिभ्राम्यति सति शतशः बहवः तैजस्यो भास्वररूपास्तामस्य-

---

और इस कैलासकी अधित्यकामें महादेव नित्य वास किया करते हैं—

सहस्र नेत्रोंसे अलङ्कृत अपने अङ्गोंसे जब इन्द्र महादेवको प्रणाम करते हैं तब ऐसा लगने लगता है मानो वह नील कमलकी माला महादेवको उपहृत कर रहे हों, और उस नीलकमलमालाके समान प्रतीत होनेवाले इन्द्रके आनत शरीरको खेलनेमें रसिक कुमार उठाकर ले लेना चाहते हैं तब जिन्हें हँसी लगने लगती है ऐसे महादेव आपका कल्याण करें ॥ ४९ ॥

और—जिस महादेवके नृत्यमें घूमने लगने पर सारा संसार घूमने लगता है फलतः सुमेरु पर्वत भी घूमने लग जाता है, जिसपर दोनों पार्श्वोंमें चन्द्रमा तथा सूर्य वर्त्तमान

---

१ 'पार्श्वनिवेशि-', 'पार्श्वनिवासि-'।

ताभस्योऽपि स च पुनातु जगतामन्त्येष्टियज्वा विभु ॥५०॥

लक्ष्मण —

जयति परिमुषितलक्ष्मा भयादनुपसर्पतेव हरिणेन ।
इ[illegible] केसरिकरजाङ्कुरकुटिला हरमौलिविधुलेखा ॥ ५१ ॥

सीता—(सपरिहासम् ।) एदस्स दक्खसूअणरकरोडिमुण्डमालामण्डणस्स मसाणवासिणो भूसणता जेव्व रोहिणीवल्लहस्स कलङ्को, किं

मलिनवर्णाश्च तडितो विद्युत भवन्तु जायन्ताम्, ता कथं दृष्टा जाता, स जगताम् अन्त्येष्टि यज्वा दाहक विभुर्भगवान् व पुनातु। यस्य शिवस्य नृत्य भ्रमणेन वसुध भ्रमतीति तत्र स्थितो मेरुरपि भ्रमति, मेरोर्द्वयोर्भागयोर्दिवसनिशयोरवस्थितिरिति तयोरपि भ्रमण भवति, भ्रमतोश्च दिवसनिशयोर्विपर्यये लोकास्सं वहते यस्मिांस्तै जस्यस्तामस्यश्च विद्युत, (दिनानि तैजस्यो निशाश्च तामस्यो विद्युत) तदित्थ यदीय नृत्य निश्चविस्मयकर स संसारदाहक शिवो व पुनात्वित्यर्थं । अन्त्येष्टिर्दाह इति प्रसिद्धम् ॥ ५० ॥

जयतीति । इह अस्मिन् कैलासतटे हरमौलिविधुलेखा शिवशिरश्चन्द्रकला केसरिण सिंहस्य करजाङ्कुरो नखाङ्कुरस्तद्वत् कुटिला वक्रा, (अस्तीति शेष तद्भयादेव) भयात् सिंहनखाभचन्द्रलेखादर्शनेन सिंहसम्भावभ्रमजन्यभयात् अनुपसर्पता समीपमनागच्छता हरिणेन परिमुषितलक्ष्मा अकलङ्का जयति। अत्र कैलासे चन्द्रलेखा अकलङ्का, यत सा सिंहनखकुटिला, तत्र सिंहनखभ्रान्त्या हरिणा न समीपमुपसर्पन्ति, समीपमागता हरिणा एव तु शशिन कलङ्कतया मतास्तदभावेऽकलङ्का एव विधुलेखेत्यर्थ ॥ ५१ ॥

रहते हैं। उनके घूमने लगनेसे सुमेरुके एक भागमें प्रकाशमय तथा एक भागमें अन्धकार मय बिजलियाँ नाचने लगती हैं, ऐसे संसारके प्रलयरूप यज्ञको सम्पन्न करनेवाले महादेव आपको पवित्र करें ॥ ५० ॥

लक्ष्मण—महादेवके सिरपर सिंहके नखकी तरह कुटिल चन्द्रकलाको देखकर भयभीत हरिण उस चन्द्रकलाके पास नहीं आता है, इस प्रकार वह हरिण रूप कलङ्कसे मुक्त चन्द्रकला बहुत सुन्दर दिखाई पड़ती है ॥ ५१ ॥

सीता—(परिहासके साथ) इस महादेवका भूषण बनना ही रोहिणीवल्लभ चन्द्रमाके लिये कलङ्ककी बात है जो महादेव साँप तथा नरकपालको भी अपना भूषण बनाते हैं, फिर चन्द्रमामें हरिणरूप कलङ्कका होना न होना एक सा है।

तपस्विना कुरङ्गेण । [एतस्य दन्दशूकनरकरोटिमुण्डमालामण्डनस्य श्मशानवासिनो भूषणत्वेव रोहिणीवल्लभस्य कलङ्कः, किं तपस्विना कुरङ्गेण ।]

विभीषणः—(विहस्य ।) शङ्के भगवानपि न मृगाङ्कमलङ्कारकाम कलयति । 'तथा हि ।

सहचरपिशाचपरिषत्प्रसत्तये कामचारतो रजनीम् ।
कारयितुमिव कपाली शिरसि निशाकरमयं वहति ॥५२॥

(सर्वे हसन्ति ।)

रामः—(सबहुमानम् ।)

श्रीकण्ठस्य कपर्दबन्धनपरिश्रान्तोरगग्रामणी

दन्दशूकाः सर्पा नरकरोटयः कपालास्थीनि मुण्डमाला च भूषणानि यस्य तादृशस्य । चन्द्रमसोऽयमेव कलङ्को यदसौ शिवस्य तस्य भूषणं यो हि सर्पैर्नरमुण्डमालाभिश्च युक्तः, कुरङ्गस्तस्य कलङ्क इति कथयित्वाऽलमित्यर्थः ।

अलङ्कारकामः भूषणेच्छुः, शिवेन शशी नालङ्कारार्थं रचित अपि तु कार्यान्तरार्थं तत्कार्यमग्रेतनश्लोकेनाह ।

सहचरेति । अयं कपाली शिवः सहचराणां नित्यसन्निहितानाम् पिशाचानां [भूतानां परिषदः समूहस्य प्रसत्तये प्रसन्नतायै कामचारतः स्वेच्छया रजनीं रात्रिं कारयितुम् विधापयितुम् इव शिरसि निशाकरं वहति, यदा तदा पिशाचेच्छानुसारं रात्रिं विधातुमेव शिवः शिरसा चन्द्रं वहति, तस्य गोपनप्रकाशनाभ्यां रात्रेरभावभावयोः सुकरत्वं मनसिकृत्यैवायं शिवस्य चन्द्रधारणप्रयास इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

श्रीकण्ठस्येति । श्रीकण्ठस्य शिवस्य कपर्दो जटाजूटः तस्य बन्धनेन संयमनेन परिश्रान्तः श्रमखिन्नो यः उरगग्रामणीः सर्पराजो वासुकिः तेन सन्दष्टा कवलि-

---

विभीषण—(हँसकर) मैं समझता हूँ कि महादेव भी अलङ्कारकी इच्छासे चन्द्रमाको नहीं धारण करते हैं वह तो—

चन्द्रमा को इसलिये मस्तकपर धारण करते हैं कि अपनी इच्छाके अनुसार रात्रिका निर्माण करके अपने साथ रहनेवाले पिशाचोंको प्रसन्न करें ॥ ५२ ॥

(सभी हँसते हैं)

राम—(आदरके साथ) महादेवके द्वारा जटाजूट बाँधनेके समय परिश्रान्त होकर

---

१ 'तथा हि' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'शिरोनिशाकरं' ।

सदृशा मुकुटावतंसकलिका वन्दे कलामैन्दवीम् ।
या बिम्बप्रतिपूरणाय परितो निष्पीड्य संदंशिका
यन्त्रेणेव ललाटलोचनशिखिज्वालाभिरावर्त्यते ॥ ५३ ॥

(पुष्पकं प्रति ।) विमानराज, [1]मनागुन्नम्यताम् । [2]आलोकयतु मैथिली सुमेरुशिखराणि ।

विभीषण —(सीतां प्रति ।) देवि पश्य पश्य ।
मेरोर्मेदुरयन्ति समदमध सम्पातिभिर्ज्योतिषां
माटोपैर्विटपोपरिस्थिततरुच्छायाभृतोऽधित्यकाः ।

ताम् मुकुटावतंसकलिकाम् शिरोभूषणे कलिकामिव भासमानाम् ऐन्दवीं चान्द्रमसीं कलां वन्दे, या कला बिम्बप्रतिपूरणाय सम्पूर्णमण्डलतां प्रापयितुम् परित उभयोः पार्श्वयोः निष्पीड्य दृढं धृत्वा संदंशिकायन्त्रेण 'सड़सी' इति प्रसिद्धेनोष्णपदार्थसंनिधिप्रापिणा यन्त्रेण इव ललाटलोचनशिखिज्वालाभिः भालस्थनयनाग्निशिखाभिः आवर्त्यते द्रवीक्रियते। यथा सुवर्णादि न्यूनमिन्नाद्यपूर्तये संदंशकं वह्नावानीयते यत द्रुते तस्मिन्पूयते निम्नांशस्तथैवायं चन्द्रः कपर्दसंयमनपरिश्रान्तवासुकिभक्षिताशपूर्तये हरभालनयनाग्निशिखाभिरावर्त्यते यत द्रुते तत्र पूर्तिः स्यादिति भावः । 'कपर्दोऽस्य जटाजूटः', 'ग्रामणीर्नापिते प्रभौ' इत्युभयत्रामरः, उत्प्रेक्षालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५३ ॥

मेरोरिति । अधः सम्पातिभिः अधः सञ्चारिभिः ज्योतिषां सूर्यादीनां तेजसा नक्षत्राणां वा माटोपैः तेजःसमूहैः विटपोपरिस्थिततरुच्छायाभृतः शाखोपरिवर्त-

जब भूषणनाग महादेवकी चन्द्रकलाको चूसकर निष्कलङ्क बना देते हैं तब उनके बिम्बको पूर्ण करनेके लिए सँड़सेसे पकड़कर उसे महादेवके तृतीय नयनपर उलटाया जाता है जिससे उनका चूसा गया तेज फिरसे उनमें आ जाय, ऐसे चन्द्रबिम्बको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५३ ॥

(पुष्पकके प्रति) विमानराज, थोड़ा और ऊपर उठें, मैथिली सुमेरु शिखरोंको भी देख लें ।

विभीषण—(सीताके प्रति) देवि, देखिये देखिये—

नीचेकी ओर पड़नेवाली प्रभाके विस्तारसे वृक्षोंकी शाखाओंपर जिनकी छाया पड़ा करती है ऐसी मेरुकी अधित्यकायें आनन्द प्रदान करती हैं, जब जब प्रतिमासमें देवों

१ 'उत्क्षिप्यताम्', 'उत्ताम्यताम्' । २ 'अवलोकयतु' ।

निर्धौतासु च मासि मासि विबुधैरिन्दोः कलासु क्रमा-
दुद्दामप्लवमानलाञ्छनमृगच्छिन्नाग्रदर्भाङ्कुराः ॥ ५४ ॥

लक्ष्मण—(सीतां प्रति ।)

एतासु पर्वतनितम्बतटीषु पश्य
मध्यंदिनेऽपि हरिचन्दनवाटिकेयम् ।
पक्षस्थितद्युमणिबिम्बतयातिदीर्घ-
च्छायावितानमधुरा मुदमादधाति ॥ ५५ ॥

मानवृक्षच्छायाश्रय, मासि मासि विबुधैर्देवैः इन्दोः कलासु क्रमात् पीतासु भक्षितासु उद्दामम् उच्छृङ्खलम् प्लवमानेन कूर्दता लाञ्छनमृगेण शशिकलङ्कतया मतेन हरिणेन छिन्नाग्रा दर्भाङ्कुरा कुशप्ररोहा यासु तथोक्ताश्चाधित्यका मेरोः सम्मदम् आमोदं मेदुरयन्ति वर्धयन्ति । अयमर्थः—यदा ज्योतिरूर्ध्वं तदाऽधश्छाया यदा चाधोज्योतिस्तदोपरिच्छायेति नियमेनात्र मेरोरुच्चतया शैलप्रस्थितवृक्षाणामधोज्योतिषा सञ्चारादूर्ध्वमेव तरूणां छायेति 'विटपोपरिस्थिततरुच्छायाभृत' इत्युक्तम् । चन्द्रे पूर्णे कलङ्करूपस्य मृगस्य तत्र प्रतिबद्धगतिकतया दर्भाङ्कुरा अक्षता, यदा चायं चन्द्रः प्रतिमासममरैः पीयते तदा लाञ्छनमृगोऽयमुद्दामं भ्रमन् अधित्यकास्थितान् दर्भाङ्कुरान् चर्वयतीति चाधित्यकाविशेषणान्तरम् । अन्यत् सुगमम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५४ ॥

एतास्विति । एतासु पर्वतनितम्बतटीषु सुमेरुकटकप्रदेशेषु इयं हरिचन्दनवाटिका देवदारुवनश्रेणी मध्यंदिने मध्याह्नेऽपि पक्षस्थितद्युमणिबिम्बतया पार्श्वे सूर्यमण्डलसद्भावेन अतिदीर्घच्छायावितानमधुरा लम्बायमानच्छायाविस्तारमनोज्ञा मुदम् आदधाति कुरुते । अन्यत्र प्रातःसायंकालयोर्वृक्षच्छाया दीर्घा, अत्र तु रवेः पार्श्वस्थतया मध्याह्नेऽपि दीर्घाच्छायेति हर्षकारणम् । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः ॥ ५५ ॥

द्वारा चन्द्रमाकी सारी अमृतकला पी ली जाती है तब तब स्वच्छन्दभावसे विचरण करनेवाले मृगगण यहाँके दर्भाङ्कुरोंको चर जाया करते हैं ॥ ५४ ॥

लक्ष्मण—(सीताके प्रति) आप देखिये—इस पर्वतके नितम्ब देशमें वर्त्तमान यह हरिचन्दनवृक्षों की पङ्क्ति पार्श्वदेशमें अवस्थित सूर्यबिम्बसे सम्पृक्त होते रहनेके कारण मध्यदिनमें भी लम्बी छाया फैलाती है जो बड़ी अच्छी लगती है ॥ ५५ ॥

अपि च ।

भूमेः स्वर्णतया फलोत्तरतरुस्मेरस्य मेरोस्तटी
सीमन्तोऽयमनूरुसारथिरथप्रस्थानघण्टापथः ।
अस्मिन्नुद्ध्रियते कथंचन हयैरुद्दामचण्डातप-
ज्वालाजालविलीनकाञ्चनशिलाजम्बालमग्नः प्रधिः ॥५६॥

(निरूप्य च सहर्षस्मितम् ।) कथमुपर्युपरि [1]पुष्करावर्तकानभ्रमुवल्लभः
(विमृश्य ।)

अद्यायं विबुधेन्द्रबान्धववधूसंभुक्तसंतानक-
स्रग्दाम्नीममरावतीं विहरते निर्वैरमैरावणः ।

भूमेरिति । भूमेः स्वर्णतया काञ्चनमयतया फलोत्तरैः फलपूर्णैः तरुभिः स्मेरस्य विकसितस्य आह्लादितस्येत्यर्थः । सुमेरोः अयं तटीसीमन्तः तटरेखा अनूरुसारथेः सूर्यस्य रथप्रस्थाने स्यन्दनसञ्चारे घण्टापथः राजमार्गः, सुमेरुतटवर्त्मना सूर्यरथसञ्चारो भवतीति तत्तटस्य सूर्यरथप्रस्थानघण्टापथत्वमुक्तम् । अस्मिन् घण्टापथे मेरौ वा उद्दामचण्डातपानाम् उत्कटप्रचण्डसूर्यकिरणानाम् ज्वालाजालेन विलीना द्रवीभूता या काञ्चनशिला सैव जम्बालः कर्दमः तत्र मग्नः प्रधिः रथनेमिः हयैः सूर्याश्वैः कथञ्चन महता प्रयासेन उद्ध्रियते । काञ्चनशिलासु द्रुतासु कर्दमभावं गतासु मग्ना रथनेमिः सूर्याश्वैर्महता प्रयासेनोपरि नीयत इत्यर्थः । 'घण्टापथो राजमार्गः', 'नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्युभयत्रामरः ॥ ५६ ॥

अद्यायमिति । अद्य सम्प्रति अयम् ऐरावणः सुरगजः विबुधेन्द्रस्य देवराजस्य बान्धवा देवास्तेषां वधूभिः सुराङ्गनाभिः संभुक्तम् यथोपयोगं निषेवितं संतानकस्रजाम् देवतरुपुष्पमालानां दाम समूहो यस्याः तादृशीम् अमरावतीम् स्वर्ग

और—स्वर्णमय भूमि होनेके कारण फलसमृद्ध वृक्षोंसे हँसता हुआ यह सुमेरुका मध्यभाग ऐसा लगता है मानो यह सूर्यके रथके चलनेका राजमार्ग हो, इस सुमेरुरूप राजमार्गमें प्रचण्ड सूर्यकरसे सोनेके पिघल जानेसे जब रथ स्वर्णपङ्कमें मग्न हो जाता है तब उसमेंसे सूर्यके घोड़े बड़ुत श्रमसे रथको बाहर लाते हैं ॥ ५५ ॥

(देखकर हर्षसे हँसते हुए) क्या पुष्करावर्तकके भी ऊपर ऐरावन आगया है ।

इन्द्रके बान्धवजनोंकी स्त्रियाँ जिन देवतरुओंके पुष्पोंकी मालायें पहना करती हैं, उन संतानकतरुओंसे युक्त अमरावतीमें आज ऐरावत बिना रोकटोकके भ्रमण कर

---

१ पुष्करावर्तकानाम्'।

यं दोर्मात्रपरिच्छदो युधि मुदोत्क्षिप्य प्रतीच्छन्मुहु-
स्तेने दशभिर्निजैरपि मुखैः साराविणं रावणः ॥ ५७ ॥

सुग्रीवः—सत्यमगोचरे गिरां दशकण्ठक्रीडितानि ।

एकैके निवसन्ति ते भुजभृतः कस्मै [1]निगृह्णीमहे
वीरक्षेत्रमियं पुनर्वसुमती पौलस्त्यमाबिभ्रती ।

नगरीम् निर्वैरं निर्विरोधं विहरते भ्रमति । दोर्मात्रपरिच्छदो बाहुमात्रसहायो रावणः युधि युद्धे यम् ऐरावणं मुदा अनायासम् उत्क्षिप्य उपरि क्षिप्त्वा मुहुः पुनः पुनः प्रतीच्छन् गृह्णन् दशभिर्निजैर्मुखैरपि साराविणं सम्भूय शब्दं सिंहनादं वितेने कृतवान् । यमैरावणं त्रिनेत्रमाहात्म्यात् गृहीत्वा वियति विक्षिप्य ततः पतन्तं च तं गृहीत्वा पुनस्तथैव विक्षिप्य च रावणो दशभिर्निजैर्मुखैर्भीमरवमकृत, सोऽयं देवगजः सम्प्रति हते रावणेऽमरावतीं भ्रमति, यत्र देवाङ्गनाः सन्तानकतरुपुष्पमाल्यैः स्वतनूः प्रसाधयन्ति इत्यादयः । स्रग्दाम इत्युभयोस्तुल्यार्थं तया दामपदमत्र समूहार्थकमाश्रेयम् । विहरते क्रीडायामकर्मकतया भ्रमणार्थं तया प्रयोगो बोध्यः, 'साराविणमि'त्यत्र 'अभिविधौ भाव इनुण्', 'अणिनुण' इत्यण् । 'संरावो बहुभिः कृतः' इत्यमरः । 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालये' इति मेदिनी, 'सन्तानः कल्पवृक्षश्च' इत्यमरः ॥ ५७ ॥

अगोचरे गिराम्—वाचाम् अविषये । वक्तुं न शक्यानीत्यर्थः ।

एकैक इति । एकैके प्रसिद्धास्ते भुजभृतो वीराः निवसन्ति पृथिव्यां सन्ति कस्मै कं वीरमुद्दिश्य निगृह्णीमहे कुत्सां कुर्मः, कोऽपि न निन्दामर्हतीति, पुनः किन्तु इयं वसुमती पृथ्वी पौलस्त्यम् रावणम् आबिभ्रती धारयन्ती एव वीरक्षेत्रम् वीरभूमिः, सन्तु नाम बहवो वीरास्तेषु कोपि न निन्दापात्रम्, परमस्या

रहा है इसी देवगजको लड़ाईके मैदानमें रावण ऊपर फेंककर लोकता था और जोरोंसे दशमुखोंसे भयङ्कर शब्द किया करता था ॥ ५७ ॥

सुग्रीव—रावणकी वीर क्रीडाओंका वर्णन नहीं हो सकता है।

एकसे एक वीर पृथ्वी पर रहते हैं किसके किसके विषयमें क्या कहा जाय, परन्तु रावणको धारण करनेसे ही यह पृथ्वी वीरक्षेत्र कही जाती है। बालीने युद्धके लिये ललकारनेवाले रावणकी जो दुर्दशा की थी, उसको हम देखते हैं इसलिये कि दो बातें हैं

---

[1] 'निगृह्णीमहे', 'निगृह्णामहे'।

वाली त्वाह्वयमानमेनमपि यश्चक्रे कृते चक्षुषी
पश्याम श्रवसी कृते च शृणुमस्तद्वक्तुमल्पे वयम् ॥५८॥

राम —(सबहुमानम् ।)

स किं वाच्यो वाली भुजकुलिशमूलेन [1]दशतो
दशग्रीव यस्य प्रतिजलधि संध्याविधिरभूत् ।
कथं वा निर्वाच्यः स च दशमुखो यस्य दमने
मनागासीद्वालिव्ययचरितमेवोपकरणम् ॥ ५९ ॥

भुवो नीरप्रसूप्रतिष्ठामृद रावण भवति भाव, वाली तु एनम् रावणमपि आह्वन मानम् बलगर्वेण स्पर्धमानम् यत् यादृक्पराभवगत दशानिक्षिप्त चक्रे तत् चक्षुषी नयने द्वे कृते विधात्रा रचिते इति पश्याम, श्रवसी द्वे श्रोत्रे विधात्रा कृते इति शृणुम, तत् रावणस्य वालिना कृतमवस्थान्तरम् वक्तु वाचाऽभिधातुम् वयम् अल्पे असमर्थाः । श्रवणे चक्षुषी च द्वे स्त इति दृष्ट श्रुतञ्च, परेनैव मुखेन तु रावणपरिभवो वालिपराक्रमश्च वक्तु न शक्यते, बहुभिरेव मुखै वक्तु शक्य इति भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५८ ॥

स किंवाच्य इति । स वाली किंवाच्य कथ वर्णनीय, यस्य वालिनो भुजकुलिश मूलेन वज्रोपमबाहुमूलेन दशग्रीव रावण दशत पीडयत प्रतिजलधि समुद्रे समुद्रे सन्ध्याविधि सन्ध्यावन्दनकर्म अभूत् । तस्य वालिनो वर्णन कथ कियता यो रावण कक्षादेशे निक्षिप्य सर्वेषु सागरेषु सन्ध्यावन्दनकृत्य कृतवानिति भाव । स दशमुखो वा कथ निर्वाच्यो वर्णनीयो यस्य दशमुखस्य दमने रामकर्तृके निग्रहे मनाक् सूचमभावेन वालिव्ययचरितम् वालिविनाशनम् एव उपकरणम् सामग्री आसीत् । रावणवधार्थमेव मया वाली हत, अन्यथा वालिसहायस्य तस्य वधोऽशक्यसम्पादन स्यादिति भाव । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ५९ ॥

और इसीलिये सुनते हैं कि दो कान हैं, उसका वर्णन नहीं कर सकते हैं क्योंकि और अधिक है ही नहीं ॥ ५८ ॥

राम—(आदरके साथ) उस बालीके बारेमें क्या कहा जाय जिसने अपने कक्षमें रावणको दबाकर सप्त समुद्रमें सन्ध्यावन्दन सम्पन्न किया, रावणका हा वर्णन कैसे किया जाय जिसके दमनमें वालिवध ही सेन्यक उपकरण हुआ । बालीका बध इसीलिये किया गया कि रावण मारा जासके ॥ ५९ ॥

[1] 'दधतो' ।

सीता—(रामं प्रति ।) अज्जउत्त, किं उण एदं दलिदकप्पूरस-लाआमलक्खगोरअं गअणङ्गणे दीसइ । [आर्यपुत्र, किं पुनरेतद्दलितकर्पूर-शलाकाखण्डगौरं गगनाङ्गणे दृश्यते ।]

विभीषणः—(सीतां प्रति ।) देवि, चन्द्रलोकोपकण्ठमधिरूढो विमानराजः । दृश्यतां च[1] भगवानयम् ।

यः प्राक्प्रत्यगवागुदक्षु ककुभां नामानि संबिभ्रतं
ज्योत्स्नाजालझलज्झलाभिरभितो लुम्पन्तमन्धं तमः ।
प्राचीनादचलादितस्त्रिजगतामालोकबीजाद्बहि-
र्निर्यान्तं हरिणाङ्कमङ्कुरमिव द्रष्टुं जनो जीवति ॥ ६० ॥

दलितेति । दलितं भग्नं यत् कर्पूरशलाकाखण्डम् तद्वत् गौरं स्वच्छम् चन्द्रलोकोपकण्ठम् चन्द्रलोकस्य समीपदेशम् ॥

य प्रागिति । यम् प्राची पूर्वा, प्रतीची पश्चिमा, अवाची दक्षिणा, उदीची उत्तरा एव दिशः, तासि प्राक्प्रत्यगवागुदक्षु ककुभां नामानि संबिभ्रतम् निरूपयन्तम् (यश्चन्द्रः स्वोदयादिना प्राच्यादिनामानि निरूपयति, तदुदयादिसम्बन्धमूरीकृत्वा प्राच्यादिव्यवहारस्य, प्राच्यादिशब्दैर्दिशामभिधानं प्रयोजयतीत्यर्थः, तम्) ज्योत्स्नाजालझलज्झलाभिः कौमुदीनिवहप्रभाभिः अन्धं तमो गाढान्धकारं लुम्पन्तं विनाशयन्तम् इतः अस्मात् प्राचीनात् पूर्वदिगवस्थितात् अचलात् सुमेरुपर्वतात् जगताम् आलोकबीजात् प्रकाशदायकात् निर्यान्तं प्रकटीभवन्तम् अङ्कुरमिव प्ररोहमिव बालं हरिणाङ्कम् चन्द्रं द्रष्टुम् जनो जीवति । प्राग्वादिदिगभिधानानि स्वोदयादिना निरूपयतो निजकौमुदीनिवहेनान्धं तमो लुम्पतो बालचन्द्रस्याङ्कुर-

सीता—(रामके प्रति) आर्यपुत्र, यह आकाशमें चूर्ण किये गये कपूर खण्डकी तरह स्वच्छ क्या दीख रहा है ?

विभीषण—(सीताके प्रति) देवि, चन्द्रलोकके समीपमें हमारा विमान पहुँच गया है, देखो यह भगवान् चन्द्रमा—

जो चन्द्रमा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दिशाओंका नामकरण करता है, और जो ज्योत्स्नाकी झलमलाहटसे अन्धकारको लुप्त करता है। जो प्राची दिशामें वर्तमान तथा संसारको आलोक प्रदान करनेवाले उदयाचलसे निकल रहा है, इसी चन्द्रमाको देखनेके लिये यह विश्व जीता है ॥ ६० ॥

१ 'च' इति क्वचिन्नास्ति ।

[1]अपि च—

स श्रीकण्ठकिरीटकुट्टिमपरिष्कारप्रदीपाङ्कुरो
देवः कैरवबन्धुरन्धतमसप्राग्भारकुक्षिम्भरिः ।
संस्कर्ता निजकान्तिमौक्तिकमणिश्रेणीभिरेणीदृशां
गीर्वाणाधिपतेः सुधारसवतीपौरोगवः प्रोद्गात् ॥ ६१ ॥

अपि च—

प्राणायामोपदेष्टा सरसिरुहवने यौवनोन्मादलीला-

स्येव जगदालोकबीजादस्मादेव प्राचीदिगवस्थितात्सुमेरोरङ्कुरो भवति, य चन्द्र दृष्ट्वैव लोको जीवनं धारयति, अयमेव जगत्प्रातानुभूतस्य चन्द्रस्योदयस्थानं सुमेरुरित्यर्थः । 'स्यादारफालः स्फलत्फला', 'आलोको दर्शनोद्योतौ' इत्युभयत्रापि त्वमरः । अन्योऽप्यङ्कुरो बीजान्निर्गच्छति अयमपि अङ्कुरोपमो बालचन्द्रो जगदालोकबीजात्सुमेरोर्निर्गच्छतीति रूपकध्वनिः । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥६०॥

स श्रीकण्ठेति । श्रीकण्ठस्य शिवस्य किरीटम् भालदेश एव कुट्टिमं गृहाभ्यन्तर भागः तस्य परिष्कारे प्रकाशने प्रदीपाङ्कुरः रत्नप्रदीपः, यथा दीपेन गृहकुट्टिमं प्रकाश्यते तथा शिवकिरीटस्य चन्द्रः प्रकाशक इति रूपकार्थः । कैरवबन्धुः कैरव फुल्लविकासकरः, अन्धतमसप्राग्भारेण अन्धकारराशिना कुक्षिम्भरः स्वोदरपूरकः सकलतमोविध्वंसीत्यर्थः, निजकान्तय एव मौक्तिकमणयः तेषां श्रेणीभिः समुदायैः एणीदृशां वनितानां संस्कर्ता प्रसाधकः कान्तिवर्धकः, गीर्वाणाधिपतेः इन्द्रस्य सुधारसवत्या अमृतपाकागारस्य पौरोगवो महानसाध्यक्षः स देवश्चन्द्रः प्रोद्गात् उदयं गत इत्यर्थः । 'रसवती पाकस्थानं महानसम्', 'पौरोगवस्तदध्यक्षः' इत्युभयत्रामरः । मालारूपकमलङ्कारः ॥ ६१ ॥

प्राणायामेति । सरसिरुहवने कमलकुले प्राणायामोपदेष्टा प्राणायामोपदेशकः निमीलनकरः, यौवनोन्मादे या लीला विलासा तदर्थी या गोष्ठी तत्र पीठमर्द

महादेवके भालदेशरूप सहनको चमकानेमें दीपका कार्य करनेवाला, कैरवोंका मित्र, अन्धकार समुदायका संहारक, अपनी किरणरूप मुक्तामणियोंसे सुन्दरियोंको सुसज्जित करनेवाला, तथा इन्द्रकी अमृत पाकशालाका प्रधानपाचक चन्द्रमा निकल आया ॥ ६१ ॥

यह चन्द्रमा कमलवनको मौनमुद्राका उपदेश देता है, यौवनकी मत्तलीलाका

१ 'अपि च' इति क्वचि नास्ति ।

गोष्ठीनां पीठमर्दस्त्रिभुवनवनितानेत्रयोः प्रातराशः ।
कामायुष्टोमयज्वा शमितकुमुदिनीमौनमुद्रानुरागः
शृङ्गाराद्वैतवादी विजयति भगवानेष पीयूषभानुः ॥ ६२ ॥

लक्ष्मणः—(विलोक्य सकौतुकम् ।)
कर्णोत्तंसयवाङ्कुरं करतले कृत्वा हसित्वा मिथः
सहूतः पुरुहूतपौरयुवतीवर्गेण कौतूहलात् ।
¹ग्रासार्तिक्षुभितोऽयमङ्कहरिणः कुर्वीत किं किं कलाः

प्रवर्तकः महायभेदः, त्रिभुवनवनितानां लोकत्रयस्थितानां रमणीनां नेत्रयोः प्रातराशः प्रातर्भोजनम् सादरदर्शनविषयः, कन्दर्पाय आयुष्टोमः आयुर्वर्द्धको यागः, तेन यज्वा याज्ञिकः कामजीवनशक्तिवर्द्धकः, शमितः समाप्तिं नीतः कुमुदिन्याः मौनमुद्रानुरागः मौनावस्थाप्रीतिर्येन तादृशः कुमुदिनीमौनमुद्राभञ्जकस्तद्विकासकः, शृङ्गाराद्वैतम् शृङ्गार एवैको रसो नान्य इति वादी कथनपरः शृङ्गारसाम्राज्यसमर्थक एष भगवान् पीयूषभानुः सुधाकरः विजयते स्वं वैभवं विस्तारयति । 'निमीलितदृङ्मौनी प्राणायामं समाचरेत्' इत्युक्तदिशा कमलनिमीलकस्य चन्द्रस्य सरसिरुहप्राणायामोपदेशकत्वमुक्तम् । 'पीठमर्दो विटश्चैव विदूषक इति त्रयः । शृङ्गारे नर्मसचिवा नायकस्यानुनायकाः' इति भरतोक्तदिशा कामगोष्ठीविधौ चन्द्रमसः पीठमर्दत्वं तत्सहायकतोक्तम् । प्रातराशोक्तिः सादरावलोकनाय । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ६२ ॥

कर्णोत्तंसेति । पुरुहूतस्य इन्द्रस्य पौरयुवतीवर्गेण सुराङ्गनागणेन कौतूहलात् कुतुकात् कर्णोत्तंसं स्वकर्णभूषणीकृतो यवाङ्कुरः तम् करतले कृत्वा स्वहस्ते निधाय मिथः परस्परं हसित्वा सहूतः आकारितः ग्रासार्त्या बुभुक्षापीडया क्षुभितः चलितः अयम् अङ्कहरिणश्चन्द्रक्रोडवर्ती कलङ्कमृगः अनन्तम् बहुधा घटनाया

जिसमें प्रदान किया जाता है ऐसी गोष्ठियोंका यह पीठमर्द प्रवर्तक है, समारकी युवतियोंका आंखोंको आहार देनवाला है, कामकी आयु बढ़ानेवाला याग करनेवाला, कुमुदिनियोंका मौन मुद्राका भंग करनेवाला तथा शृङ्गाराद्वैतवादका समर्थक यह सुधाकर अपना प्रताप प्रकट कर रहा है ॥ ६२ ॥

लक्ष्मण—(देखकर कौतुकम) कानमें पहने गये यवाङ्कुरोंको हाथोंमें लेकर परस्पर मुस्कुराकर यदि कौतूहलवश इन्द्रपुरकी युवतियाँ चन्द्रमाके अङ्कवाले हरिणको बुलावें,

१ 'आशार्ति-'।

कन्थामिन्दुमयीमजस्रघट्टनोद्घाटश्लथावस्थिताम् ॥ ६३ ॥

सुग्रीव —

रोमन्थप्रचलोष्ठसम्पुटसुखासीनश्चिरं कौतुकाद्
दृष्ट्वा सिद्धवधूभिरङ्कहरिणस्तालैरथोत्त्रासित ।
मा भाङ्क्षीद्नुमासनवघटनानि सन्धिबन्धं वपु
शीतांशो क्षुभितस्तु शल्यवदयं दु खाय वर्तिष्यते ॥ ६४ ॥

अवयवयोजनाया उद्घाटेन सञ्चालनेन श्लथावस्थिताम् श्लथीकृतावस्थाम् इन्दुमयीं चान्द्रीं कलाकन्थाम् किं किं कुर्वीत। कां कां दशामानयेत्। यदि ववाङ्गना स्वकर्णावतंसयवाङ्कुरं करतले निधाय चन्द्रकलङ्कमृगम् आह्वयेत्तदा बुभुक्षितस्य मृगस्य सत्वरोपसर्पणप्रयासैश्चालिता चन्द्रकला कन्था अवयवयोजनाया शैथिल्येन दुर्गतामवस्थामधिगच्छेदिति, अद्यापि कन्था केनचिदर्थं चालिता सती विशीर्णं दवयवा भवतीति चन्द्रकलाया कन्थाया क्षुधितमृगसञ्चालनया विशीर्णावयवस्व कृत दौ स्थ्य जायेतेत्यर्थ ॥ ६३ ॥

रोमन्थेति। चिरं दीर्घकालं रोमन्थेन भक्षितस्याकृष्य पुनश्चर्वणेन प्रचल चञ्चल यद् ओष्ठपुटम् यथा तथा सुखासीन रोमन्थ वर्तयन् सुखासीन अथ सिद्धवधूभि देवयोनिविशेषाङ्गनाभि कौतुकाद् दृष्ट्वा तालै करतलशब्दैरुत्त्रासित भीषित अयम् अङ्कहरिणो लाञ्छनमृग अनुमासं प्रतिमासं नव्यघटनया मासे मासे नयो पूर्विश्लेषि नवनिर्माणेन नि सन्धिबन्धम् अदृष्टभुग्नम् शीतांशोर्वपु मा भाङ्क्षीत् काम भग्न न कुर्यात्, किन्तु क्षुभित सन् चञ्चलतां गतोऽसावङ्कमृग शल्यवत् हृदये निहित शल्यास्त्रमिव दु खाय वर्तिष्यते भविष्यति, रोमन्थ परायणोऽयं हरिण कियत कालात्कथ सुखमास्ते न चलत्यपीति कौतुकाद् यदि

तो भूखा हुआ यह अङ्कहरिण बारबार शरीर सञ्चालन करके इस चन्द्रमारूप कन्थाकी कैसी दशा करदे, नहीं कहा जा सकता है ॥ ६३ ॥

सुग्रीव—रोमन्थ (चबाये गये खादको पुन चबाना) कालमें ओठ चलाना तथा आरामसे बैठा हुआ हरिण यदि सिद्ध युवतियों द्वारा ताली पीटकर भयभीत कर दिया जायगा, तब यह चञ्चल हो उठेगा, उसके चलप्रचल हो जानेसे प्रतिमास नवीनरूपमें सङ्घटित होनेवाला यह चन्द्रमाका शरीर टूट भले ही न जाय परन्तु उस स्थितिमें वह हरिण चन्द्रमाके हृदयमें शल्यकी तरह कष्टप्रद होगा ॥ ६४ ॥

---

१ 'घटनादुच्छ्लथावस्थिताम्'। २ 'बद्धूनासित', 'अथोल्लासित'।

अपि च ।

एतस्य कलामेकाममृतमयूखस्य पार्वतीरमणः ।
वर्णावलिमिव वहति प्रतिमासं घट्यमानस्य ॥ ६५ ॥

राम —(सादरं प्रणम्य ।)
त्वं गीर्वाणगणाय नित्यममृतश्राद्धं भवद्दीधिति
र्धात्रीकर्म च वीरुधां विदधती धत्ते जगज्जीवितम् ।
सोम त्वामनिधाय मूर्धनि भवेत्कः कालकूटं गिल
न्कण्ठे तच्छलकालपाशवलयालीढोऽपि मृत्युञ्जयः ॥ ६६ ॥

सिद्धवधूभिरयं शशिनोऽङ्कमृगः करतालिकाभिर्भीषितः स्यात्तदा चलेत् चलिते च तस्मिन् प्रतिमासनूतननिर्माणतयाऽदृढबन्धे शशिनः शरीरं काममं भग्नं न भवत्, परं क्षुभितेन तेन मृगेणान्दोलितमया हृदयशल्यमवश्यमुत्पद्येत शशिन इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

एतस्येति । पार्वतीरमणः शम्भुः प्रतिमासं घट्यमानस्य नवीनरूपेण निर्मीयमाणस्य अमृतमयूखस्य चन्द्रस्य एकां कलां वर्णावलिम् इव—यावतो वारानयं घटितस्तावद्वर्णपङ्क्तिमिव वहति शिरसा धारयति । आर्यावृत्तम् ॥ ६५ ॥

त्वमिति । हे सोम चन्द्र, त्वम् गीर्वाणगणाय देववृन्दाय नित्यं सततम् अमृतश्राद्धम् अमृतरूपं श्रद्धादत्तं हव्यम्, (देवाश्चन्द्र पिबन्तीति चन्द्रस्य अमृतहव्यत्वमुक्तम्) भवतश्चन्द्रस्य दीधितिः मयूखः वीरुधां लतौषधीनां धात्रीकर्म उपमातृकार्यं पोषणादि विदधती जगज्जीवितम् संसारस्य प्राणान् धत्ते धारयति परिपालयतीत्यर्थः । त्वाम् मूर्धनि शिरसि अनिधाय अधृत्वा कालकूटं हालाहलं गिलन् भक्षयन् तच्छलेन भक्षितहालाहलव्याजेन कालपाशवलयालीढः यमराजबन्धनरज्जुगृहीतः अपि कः मृत्युञ्जयो मृत्युविजयी स्यात् ? हे चन्द्र, त्वं देवानां

प्रतिमास नवीन रूपमें सङ्घटित होनेवाले इस चन्द्रमाकी एक कलाको भगवान् शिव अपने मस्तकपर वर्णावलिकी तरह धारण किया करते हैं ॥ ६५ ॥

राम—(सादर प्रणाम करके) हे चन्द्रदेव आप देवोंके लिये प्रत्यह अमृत श्राद्ध हैं, और आपकी किरणें लता-वृक्षादिकोंका लालन पालन करके जगत्‌के जीवनकी रक्षा करती हैं, आपको अगर सिर पर नहीं धारण करते तो कौन शक्ति थी जिसके बलसे महादेव कालकूट निगल कर भी उसीके बहाने कालपाशसे वेष्टित होकर भी मृत्युञ्जय बने रह जाते ॥ ६६ ॥

(सीता प्रति ।)

नेत्राणा मधुपर्कसत्त्रमुदधे सर्वाङ्गमेदस्कर
श्रृङ्गारस्य रसायन मखभुजा पीयूषगञ्जापति ।
देव किं स्तुमहे महेश्वरशिरोनेपथ्यरत्नाङ्कुर
क्षीरोदार्णवशुक्तिमौक्तिकमयं दाक्षायणीनायक ॥ ६७ ॥

सीता—(हसन्ती) अज्जउत्त, समाणकुलसीलरूवजोव्वणाण नि सरत्तीण सीसे दिण्णो धण्णाए दस्सगोत्तधवलाए रोहिणीए चलणो। जेण रोहिणीरमणो उजेव्व भअव चन्दो सुणीअदि । [आर्यपुत्र, समानकुल

सुधारूप हव्य विषमे तद्भक्षणात्तेषा प्रीतेरुदयात्, तव दीधितिरोषधिपोषिणीति द्वारा त्व जगज्जीवितपालकोऽसि, कालकूटपायी शिव कालकूटव्याजेन यमपाशबद्ध गले भूत्वापि यत्र मृतस्तत् तव मूर्धस्थाया कलाया विजृम्भितम्, यदि विधु शिरसि नाभविष्यत्तदा कालकूटपायी शिव कथ मृत्यु व्यनष्यदिति भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ६६ ॥

नेत्राणामिति । नेत्राणा लोकलोचनाना मधुपर्कसत्रम् दधिघृतमधुप्रस्तुतसर्वहृद्यवस्तुयज्ञ, (य जीवय लोचनानि मधुपर्कतसिमनुभवन्ति तादृश) उदधे सागरस्य सर्वाङ्गमेदस्कर सर्वावयववृद्धिकर (सागर शशिन उदये वर्द्धत इति स तथोक्त) शृङ्गारस्य रसायन पुष्टिकर, मखभुजा देवाना पीयूषगञ्जापति सुधामधुशालाऽध्यक्ष (देवाश्च चन्द्रगतामृत पिबन्तीति चन्द्रस्य पीयूषगञ्जापतित्वमुक्तम्) महेश्वरशिरस हरमूर्ध्न नेपथ्ये भूषणे रत्नाङ्कुर हारकाण्डरूप, क्षीरोदार्णव क्षीरसागर एव शुक्तिस्तस्या मौक्तिकम् मुक्ताफलम्, अयम् देवो दाक्षायणीनामश्विन्यादिताराणा नायक पति, अस्तीति शेष, तस्य चन्द्रस्य किं स्तुमहे स्तुति कथ कुर्म ? अशक्या स्तुतिरस्येत्यर्थ । 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने वनेऽपि च', 'गञ्जा तु मदिरागृहम्', 'दाक्षायण्योऽश्विनीत्यादितारा' इति सर्वत्रामर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ६७ ॥

समानकुलशीलरूपयौवनानाम्—कुलगौरवे शीलबले रूपसम्पदि यौवन

(माताके प्रति) लोकलोचनोंके लिये मधुपर्कं सत्रस्वरूप, समुद्रको सर्वाङ्गमें वृद्धि प्रदान करनेवाला, शृङ्गारका पोषक एव देवोंके लिये मदिरालयाध्यक्ष स्वरूप यह चन्द्रमा महादेवके मस्तक पर अलङ्कारका काय करता है क्योंकि यह क्षारसमुद्ररूप शुक्तिमें उत्पन्न मौक्तिक है इसकी कितनी स्तुति की जाय ॥ ६७ ॥

सीता—(हसती हुई) आयपुत्र, समान कुल शील-रूप यौवन-सम्पन्न अपनी

शीलरूपयौवनानामपि सपत्नीनां शीर्षे दत्तो धन्यया दक्षगोत्रधवल्या रोहिण्या चरणः । येन रोहिणीरमण एव भगवांश्चन्द्रः श्रूयते ।]

राम—(विहस्य ।) आ जानकि,

प्रियोपभोगतुल्येऽपि ताराणां सप्तविंशते ।
धत्ते किमपि [1]सौभाग्यमञ्जरीमिह रोहिणी ॥ ६८ ॥

(स्पर्शं च रूपयन् ।)

दलितकुमुदकोषोदञ्चदूष्मोपचार-
क्षणशमितचकोरीचन्द्रिकापानजाड्या ।

शोभाया च समानाम् । शीर्षे शिरसि । दक्षगोत्रधवल्या दक्षगोत्रप्रकाशिकया । अन्यासु बह्वीषु स्त्रीषु सतीष्वपि यदयं चन्द्रो रोहिणीरमणशब्देन व्यवह्रियते तदिदं तस्याः सौभाग्यमितरसपत्नीदुर्लभं सत्—तस्या विजयं व्यञ्जयति ॥

प्रियोपभोगेति । इह जगति रोहिणी नाम चन्द्रस्त्रीषु तारास्वन्यतमा सप्तविंशतेः ताराणाम् सप्तविंशतिसंख्यानामश्विन्यादीनाम् प्रियोपभोगतुल्येऽपि प्रियसम्भोगरूपसुखसाम्ये सत्यपि रोहिणी किमपि इतरसपत्नीविलक्षणं सौभाग्यमञ्जरीम् सौभाग्यपरमावधिं धत्ते, रोहिणी सोख्ये समाऽपि सौभाग्येऽतिरिच्यते सपत्नीभ्य इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

दलितेति । दलितात् विकसितात् कुमुदकोषात् कैरवमध्यभागात् उदञ्चताम् उद्गच्छताम् ऊष्मणाम् उपचारेण सेवया क्षणात् शीघ्रं शमितं शान्तिं नीतं चकोरीणाम् पक्षिभेदस्त्रीणाम् चन्द्रिकापानजाड्यं याभिस्तास्तथोक्ताः, (रात्रिं यावच्चन्द्रिकारूपातिशीतवस्तुपानात् जडीभूतानां चकोरीणां जाड्यं प्रातः कुमुदकोषनिर्गतोष्मसेवनेन निवर्त्तते, प्रातर्जायमाने चकोर्यो जडतां विहाय चेतयन्ते, मन्ये कुमुद-

सपत्नियोंके सिरपर रोहिणीने पैर रख दिया क्योंकि समदर्शी चन्द्रमाकी बड़ी प्राप्ति है क्योंकि चन्द्र सम्प्रति 'रोहिणीरमण' नामसे पुकारा जाता है।

राम—(हँसकर) हाँ जानकी,

प्रियोपभोग-सुख सभीके लिये तुल्य ही है परन्तु सत्ताइस तारोंमें रोहिणीका कुछ ऐसा सौभाग्य ही है कि लोग चन्द्रमाको रोहिणीरमण कहते हैं ॥ ६८ ॥

(स्पर्शका अनुभव करते हुए) विकसित होनेवाले कुमुद कोषसे निकलनेवाली गर्मीके सेवनसे तत्काल शमित कर दिया है चकोरियोंके चन्द्रिकापान-जनित जाड्यको जिसने, ऐसी,

[1] 'सौभाग्यं सौरम्यमिह'।

अभिसृमरमृगाक्षीमूकदूत्यं स्वदन्ते
शशिमणिमकरन्दोत्कन्दलाश्चन्द्रभासः ॥ ६९ ॥

अपि च—

[1]ते सर्वज्ञीभवदभिसृतानेत्रसिद्धाञ्जनैर्वा
नीरन्ध्रैर्वा त्रिभुवनदृशामन्धपट्टैस्तमोभिः ।
व्याप्तं पृथ्वीवलयमखिलं क्षालयन्नुच्छलद्भि-
र्ज्योत्स्नाजालैरयमुदयते शर्वरीसार्वभौमः ॥ ७० ॥

अपि च [2]जगतामनुग्रहाय
उदयति कलयन्द्रे कण्ठनालैरलीना

कोपोष्मोपचारेणेव तासां जाड्यं शमितमिति भावः) अभिसृमरा अभिसारिका या मृगाक्ष्यो रमण्यस्तासां मूकदूत्यो बिनैव शब्दं दूतीकर्मस्वरूपं कुर्वाणाः शशिमणीनां चन्द्रकान्तानां मकरन्देन अमृतरसस्रावेण उत्कन्दला सञ्जातमरोहा इव चन्द्रभासः चन्द्रकिरणाः स्वदन्ते प्रीतिं जनयन्तीत्यर्थः । मालिनीवृत्तम् ॥ ६९ ॥

त इत्यादि । अयं शर्वरीनाथः निशापतिश्चन्द्रः सर्वज्ञीभवन्तीनाम् अखिलकामकलाविज्ञानात् सर्वज्ञताभिमानशालिनीनाम्, अतिचतुराणामित्यर्थः, नेत्रसिद्धाञ्जनैः सिद्धाञ्जनमौषधविशेषो येन तमस्यपि दृश्यते, तादृशैः, कृष्णाभिसारिकास्तमस्येव कान्तानभिसरन्तीति तमसस्तन्नेत्रसिद्धाञ्जनरूपत्वमुक्तम् । नीरन्ध्रैः सान्द्रैः त्रिभुवनदृशाम् नेत्राणाम् अन्धपट्टैः अन्धत्वसम्पादकाच्छादनरूपैर्वा तैः तमोभिः व्याप्तम् अखिलं समस्तं पृथ्वीवलयम् भूमण्डलम् उच्छलद्भिः विकासं गच्छद्भिः ज्योत्स्नाजालैः प्रभाभरैः क्षालयन् धावयन् श्वैत्यं नयन् उदयते उदयं गच्छति । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ७० ॥

उदयतीति । मदमुखराणाम् मदेन वाचालानां चकोरीणां तोषे सन्तोषणे

अभिसार करनेवाली युवतियोंकी मूकदूतियाँ, एवं चन्द्रकान्तमणिके मकरन्दसे पल्लवित होनेवाली यह चन्द्रकिरणें बड़ी अच्छी लग रही हैं ॥ ६९ ॥

अतिशय चतुर अभिसारिकाओंकी आँखोंके लिये सिद्धाञ्जन स्वरूप तथा त्रिलोकको अन्धा बनानेवाले घने अन्धकारसे व्याप्त धरामण्डलको अपनी उछलती हुई किरणोंसे धोकर स्वच्छ बना देनेवाला यह रात्रिका नाथ चन्द्र उग रहा है ॥ ७० ॥

यह चन्द्रमा संसारकी भलाईके लिये उग रहा है, यह चन्द्रमा कुमुदकी कलियोंपर

---

1. अयं श्लोकः क्वचिन्निमश्लोकादनन्तरं वर्तते ।
2. 'जगतामनुग्रहाय' इति क्वचिन्नास्ति ।

कुमुदमुकुलकेषु व्यञ्जयन्नङ्गहारान् ।
मदमुखरचकोरीतोषकर्मान्तिकोऽयं
तुहिनरुचिरधामा दक्षिणं लोकचक्षुः ॥ ७१ ॥

[1]इदं चास्य—

प्राचीनाचलचुम्बिचन्द्रमणिभिर्निर्व्यूढपाद्यं निजै-
र्निर्यातैरुडुभिर्निजेन वपुषा दत्तार्घलाजाञ्जलि ।
अन्तः प्रौढकलङ्कतुच्छमभितः सान्द्रं परिस्तीर्यते
निर्यादङ्कुरभग्ननैशिकतमःसन्दोहमिन्दोर्महः ॥ ७२ ॥

कर्मान्तिकः कर्मा यस्य चकोरीसन्तोषकर इत्यर्थः । दक्षिणं प्रीतिप्रदं लोकानां चक्षुः, तुहिनैः रुचिरं धाम यस्य स तुहिनरुचिरधामा चन्द्रः कलमन्द्रैः मधुरगभीरैः अलीनां कण्ठतारैः भ्रमराणां सङ्गीतक्रियाभिः कुमुदमुकुलकेषु कुमुदकोरकेषु अङ्गहारान् अङ्गविक्षेपान् गीतध्वनिश्रवणानन्दजनितानन्दकम्पजनकशिरश्चालनानि व्यञ्जयन् आविर्भावयन् उदयति । भ्रमराणां मधुरगभीरैः स्वरैः कुमुदमुकुलानि चलानि कुर्वन्, मदमुखरचकोरीसन्तोषकरः शीतकरश्चन्द्र उदयत इत्याशयः । 'अङ्गहारोऽङ्गविक्षेप' इत्यमरः । मालिनीवृत्तम् ॥ ७१ ॥

प्राचीनेति प्राचीनाचलः पूर्वदिगवस्थितमुदयाद्रिं चुम्बन्ति सम्पृशन्ति ये तैश्चन्द्रकान्तमणिभिः निर्जैर्नियातैः स्वदेहच्युतजलरूपमारभातैः निर्व्यूढपाद्यम् सम्पादितपादोदकक्रियम्, उडुभिः नक्षत्रैः स्ववपुषा स्वप्रकाशेन दत्तः अर्घरूपो लाजाञ्जलिर्यस्मै तथोक्तम्, अन्तः प्रौढकलङ्कतुच्छम् अभ्यन्तरस्थितोत्कटकलङ्कहीनम् अङ्कुरभग्ननैशिकतमःसन्दोहम् अङ्कुरावस्थाविनाशितरात्रितमःपटलम् सह तेन सान्द्रम् सत् इन्दोश्चन्द्रस्य बिम्बात् मण्डलात् अभितः समन्ततः

भ्रमरोंके मधुर गम्भीर कण्ठनालोंसे अङ्गविक्षेप व्यक्त कर रहा है, मतवाली होकर मुखरित होनेवाली चकोरियोंको सन्तुष्ट कर रहा है और लोगोंकी आँखोंको दर्शनशक्तिसम्पन्न बनानेवाला है ॥ ७१ ॥

यह चन्द्रमाका तेज,

उदयाचल पर वर्तमान चन्द्रकान्तमणि द्वारा दिये पाद्य तथा अपने सारस्वरूप तारों द्वारा अपने शरीरोंसे समर्पित अर्घलाजाञ्जलि प्राप्त करनेवाला, अन्तःकलङ्कशून्य, एवं समूल अन्धकारका नाशक समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो रहा है ॥ ७२ ॥

१ 'इदं चास्य' इत्यारभ्य 'मन्कुद्दामगौरं जगत्' इत्यन्तः पाठः केषुचित् पुस्तकेषु 'सेतुप्रकम-७-८४' इत्यादिश्लोकादग्रे वनमानादनन्तरं वर्तते ।

[1]एवं च—

मृगराजकरजभङ्गुरकिंशुककलिकावतंसिकाः सुदृशः ।
भयसङ्कुचदङ्कहरिणबहलोज्ज्वलमिन्दुमीक्षन्ते ॥ ७३ ॥

विभीषण —

इन्दोरेककलाया रुद्रेणोद्धृत्य मूर्धनि धृतायाः ।
स्थानमिव तुच्छमेतत्कलङ्करूपेण परिणमते ॥ ७४ ॥

परिस्तीर्यते प्रसरति। यस्मै महसे उदयाचलवर्तिचन्द्रकान्तमणयः स्वाङ्गस्रुतजलरूपं पाद्यमर्पयन्ति, उडूनि स्ववपुःपाण्डुलाजाञ्जलिमुपहरन्ति, यदन्तः कलङ्कहीनम्, येन रात्रितमोऽङ्कुरा जन्यायामेव विनाश्यन्ते, तदिदं महश्चन्द्रबिम्बात्सर्वतः प्रसरतीत्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। ताराणां शुभ्रत्वेन लाजत्वव्यपदेशः ॥ ७२ ॥

मृगराजेति। सुदृशो रमण्यः मृगराजस्य सिंहस्य करजः इव नखः इव भङ्गुरा कुटिला या किंशुककलिका पलाशकोरकः अवतंसः कर्णभूषणं यासां तथाभूताः कर्णयोः सिंहनखकुटिलं पलाशकोरकं भूषणं विधाय भयेन पलाशकोरके सिंहनखभ्रमजन्येन सङ्कुचत् अङ्कहरिणं। लाञ्छनमृगः ततो बहलोज्ज्वलं समधिकप्रकाशं हरिणे आयताङ्गे स्वल्पः प्रकाशः तदङ्गैश्चन्द्रायामाधिकप्रकाशनिह्नवात्, सङ्कुचिताङ्गे तु लाञ्छनमृगे स्वल्पस्यैव चन्द्रायामस्यावृत्या बहुप्रकाशं चन्द्रमसं ईक्षन्ते पश्यन्ति। आर्यावृत्तम् ॥ ७३ ॥

इन्दोरिति। रुद्रेण हरेण उद्धृत्य आहृत्य मूर्धनि स्वमस्तके धृतायाः स्थापितायाः इन्दोश्चन्द्रमसः एककलायाः एकस्याः कलायाः एतत् तुच्छं रिक्तं स्थानं कलङ्करूपेण परिणमते पर्यवस्यति। महादेवेन या चान्द्री कलाऽऽहृत्य स्वशिरसि धृता रिक्तं तत्कलास्थानमेव लोकाः कलङ्कं ब्रुवन्ति इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

मृगराजके नखकी तरह कुटिल किंशुक कलिकाको भूषण बनानेवाली युवतियाँ भयभीत होकर सङ्कुचित अङ्गवाले अङ्क मृगसे युक्त अत एव अधिकदीपित चन्द्रमाको देख रही हैं ॥ ७३ ॥

विभीषण—चन्द्रमाकी एक कलाको उठाकर महादेवने अपने सिर पर रख लिया, उसीका रिक्त स्थान कलङ्कके रूपमें प्रतीत होता है ॥ ७४ ॥

---

१ 'एव च'।

(विहस्य रामं प्रति ।)

रोदसीकूपमण्डूक कियदेष प्रकाशते ।
चन्द्रमा यद्य देव त्वत्कीर्ते प्रतिगर्जति ॥ ७५ ॥

सीता—(सस्मितम् ।) जाणामि अज्जउत्तस्स कित्तिकन्तीहिं पडिस्पद्ध कदुअ पराजिदेण सपदि भअवदा हरिणङ्केण कलङ्कसघदी विढत्ता । [जानाम्यार्यपुत्रस्य कीर्तिकान्तिभिः प्रतिस्पर्धां कृत्वा पराजितेन सम्प्रति भगवता हरिणाङ्केन कलङ्कसहतिरर्जिता ।]

(सर्वे हसन्ति । रामः स्मयते ।)

सीता—(रामं प्रति ।)

सारम्भं सिरिवच्छलञ्छणभुआपज्जत्थमन्थाअल
क्खोभोच्छलिददुद्धसिन्धुलहरीगब्भच्छईसच्छअम् ।

रोदसीति । रोदसी द्यावाभूमी एव कूपस्तस्य मण्डूकः भेकः आकाशपृथ्व्यन्तरालमात्रचर एष चन्द्रमा कियत्प्रकाशते किंपरिमाणप्रकाशो विद्यते यत् येनायं, हे देव राम, त्वत्कीर्तेः त्वद्यशसः प्रतिगर्जति सादृश्यमभिमन्यते इत्यर्थः । कूपमण्डूको यथा कूपमात्रचरस्तथैवायं चन्द्रः पृथ्वीं दिवं च केवलं प्रकाशयति समस्तब्रह्माण्डप्रकाशस्य तव यशसः स्पर्धते इत्यहो चन्द्रस्य बालिशत्वमिति भावः ॥ ७५ ॥

हरिणाङ्कमहति कलङ्कसमूहः । भवत्कीर्तिकृतपराभवापमान एव कलङ्कश्चन्द्रस्येत्यर्थः ।

सारम्भमिति । सारम्भं प्रथममेव श्रीवत्सलाञ्छनस्य विष्णोर्भुजाभिः पर्यस्तसञ्चालितो यो मन्थाचलः मन्दरपर्वतः तत्क्षोभेण तत्कृतालोडनेन उच्छलितस्य आलोडितस्य दुग्धसिन्धोः क्षीरसागरस्य लहरीणां तरङ्गाणां गर्भस्य मध्यभागस्य

(हँसकर रामके प्रति) पृथ्वी तथा आकाशरूपी कूपका मण्डूक यह चन्द्रमा कितना प्रकाशित होता है जिससे यह आपकी कीर्तिसे बराबरी करनेका साहस करता है ॥ ७५ ॥

सीता—(मुस्कुराकर) मैं समझती हूँ, आपकी कीर्तिके साथ प्रतिस्पर्धा करके पराजित होने पर ही चन्द्रमाने यह कलङ्क अर्जित कर लिया है ।

(सभी हँसते हैं राम मुस्कुराते हैं)

सीता—(रामके प्रति) समुद्रमथन के प्रारम्भकालमें भगवान् विष्णुके भुजदण्डोंसे सञ्चालित मन्दराचलरूप मन्थान दण्डसे मथित क्षीर समुद्रके गर्भकी छविके समान स्वच्छ,

को गायेदि ण दे रहूणँ पहुणो अन्धारपक्खन्तरा
सन्तुट्टन्तमिअङ्कमण्डलमलक्खुद्दामगोरं जसम् ॥ ७६ ॥
[सारम्भ श्रीवत्सलाञ्छनभुजापर्यस्तमन्थाचल
क्षोभोच्छलितदुग्धसिन्धुलहरीगर्भच्छविसदृशम् ।
को गायति न ते रघूणा प्रभोरन्धकारपक्षान्तरा
सन्त्रुट्यन्मृगाङ्कमण्डलखण्डोद्दामगौर यश ॥]

राम —(सहर्षस्मितम् ।) अयि प्रिये प्रियवादिनि,
चन्द्रलोकादपि पर पदमारोपयन्ति माम् ।
अमूरमृतबिन्दूनामनुप्रासास्तवोक्तय ॥ ७७ ॥

विभीषण —(सानुरागम् ।)
अधोर्वीतलमूलघर्षणवशादुन्मृष्टचूडामणि
श्रेणिश्रीपरिपीनपीवरतम पूरं पुरे भोगिनाम् ।

ध्वनिभि सदृशम् नितान्तधवलम्, अन्धकारपक्षस्य अन्तरा मध्ये सन्त्रुट्यत् दृश्यमाणम् यत् मृगाङ्कमण्डलम् चन्द्रबिम्ब तस्य खण्डवद् उद्दामगौरम् अति भासुरम् रघूणा प्रभोस्ते तव यश को न गायति ? सर्वोऽपि गायति तव यशो यदादावेव विष्णुकरनिहितमन्दराचलकृतान्दोलनसञ्जातिलसागरलहरीगर्भगौरम् कृष्णपक्षमध्यवर्तिचन्द्रखण्डवदतिस्वच्छमिति भाव ॥ मालोपमालङ्कार ॥ ७६ ॥

चन्द्रलोकादिति । हे प्रिये, अमृतबिन्दूनाम् अनुप्रासा अनुरूपा अमू तवोक्तय वचनानि माम् चन्द्रलोकादपि पर पदम् आरोपयन्ति प्रापयन्ति । त्वदीया प्रशसोक्तिपरम्परा श्रुत्वाऽहमात्मान चन्द्रलोकादप्युपरिवर्तमान प्रत्येमि, इति भाव ॥७७॥

अधोर्वीतलेति । अद्य सम्प्रति उर्वीतलस्य पृथ्वीतलस्य मूलेन आद्यधोभागेन घर्षणवशात् सततमृष्टत्वात् उन्मृष्टाना धवलीकृताना चूडामणिश्रेणीना भोगराज समूहाना श्रिया कान्त्या परिपीतो नि शेषविनाशित तम पूरोऽन्धकारराशिर्यत्र

शुक्ल पक्षके अतिरिक्त पक्षके मध्यमें वर्त्तमान चन्द्रमण्डल खण्डकी तरह चमकदार, रघुवश श्रेष्ठ आपकी कीर्त्तिको कौन नहीं गाता है ॥ ७६ ॥

राम—(हर्षसे मुस्कुराते हुए) अये प्रियवादिनि प्रियतमे,

अमृतकी बूंदोंसे परिपूर्ण तुम्हारी यह मधुरोक्तियाँ मुझे चन्द्रलोकसे भी ऊपरके स्थानमें पहुँचा रही हैं ॥ ७७ ॥

विभीषण—(प्रेमसे) आज पृथ्वीके मूल भाग द्वारा घर्षण होनेसे सर्प चूडामणियोंके मृष्ट हो जानेके कारण अति प्रकाशशाली मणियों द्वारा आलोकित पाताल लोकमें नागराज

कर्णाभावनिरस्तकुण्डलरवव्यासङ्गमाधुन्वता
मूर्ध्ने पन्नगपुंगवेन सुभग त्वत्कीर्तिराकर्ण्यते ॥ ७८ ॥

(विहस्य[1] ।)

भोगीन्द्र प्रमदोत्तरङ्गमुरगीसङ्गीतगोष्ठीषु ते
कीर्तिं देव शृणोतु निशानिशतीः यच्चक्षुषा वर्तते ।

तादृशे भोगिनां सर्पाणां पुरे नागलोके पन्नगपुङ्गवेन नागराजेन वासुकिना चक्षुःश्रवस्तया कर्णाभावेन निरस्तं अपगतं कुण्डलभरव्यासङ्गं कुण्डलसमुदयसम्पर्को यत्र तथा मूर्ध्नं स्वफणामण्डलानि आधुन्वता सुभग माधु त्वत्कीर्तिस्तव यश आकर्ण्यते श्रूयते । पाताले स्थितस्य वासुकेः फणामणयो भूमूलघर्षणेन मृष्टतया समेधितदीप्तयः सन्तो निश्शेषं तत्रस्थं तमो नाशयन्ति, सदैवमुज्ज्वलालोके तत्र पाताले पन्नगराजस्तव यशोगीतमाकर्णयति स्वशिरांसि चानन्दातिरेकेण धुनोति, शिरःकम्पने तदा कियान् विघ्नोऽप्यभविष्यत् यदि तस्य कर्णा अभविष्यन्, प्रतिमुखं द्वौ कर्णाविति सहस्रमुखस्य द्विसहस्री कर्णानामभविष्यत्तनश्च तावतां कुण्डलानां धारणे भाराधिक्याच्छिरःकम्पनं दुष्करमेव स्यात्परं तु चक्षुःश्रवस्तया कुण्डलकथैव नास्तीति सानन्दमयं वासुकिः शिरांसि कम्पयंस्त्वद्यशः शृणोतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७८ ॥

भोगीन्द्र इति । हे देव, भोगीन्द्रः सर्पराजो वासुकिः उरगीसङ्गीतगोष्ठीषु भुजगाङ्गनाकृतसङ्गीतसमारोहे उत्तरङ्गम् उद्गतकौतुकं यथा स्यात्तथा ते तव रम्यां कीर्तिं शृणोतु यद् यतः तस्य वासुकेः चक्षुषा विंशतिशती सहस्रद्वयं वर्तते तस्य सहस्रमुखतया द्विसहस्री नयनानां विद्यत इत्यसौ चक्षुःश्रवस्तया प्राप्तद्विसहस्रश्रवणसाधनेन्द्रियः सानन्दं भुजङ्गीभिर्गीयमानं तव यशः श्रोतुमर्हतीत्यर्थः । [illegible] किन्तु सहस्राक्ष इन्द्रः कर्णद्वयादुःस्थः द्वाभ्यामेव कर्णाभ्यां विद्यमानाभ्यां दुरवस्थ

वासुकि कान नहीं होनेके कारण कुण्डलके बन्धनसे मुक्त होकर मस्तकोंको हिला-हिलाकर आपके चरित-गीतका श्रवण करते हैं ॥ ७८ ॥

आनन्द विभोर होकर नागाङ्गनायें जब आपकी कीर्तिका गान प्रारम्भ करती हैं तब नागराज इसलिये उसे खूब सुन पाते हैं कि उनको दो हजार आँखें हैं उन्हींसे उनको सुनना भी है। परन्तु प्रसन्न होकर देवाङ्गनायें यदि आपकी कीर्ति गाने लगेंगी तो सौ

[1] 'विहस्य च'।

रक्ताभिः सुरसुन्दरीभिरभितो गीतां तु कर्णद्वयी-
दुःस्थः श्रोष्यति नाम किं स हि सहस्राक्षो न चक्षुः[1]श्रवाः ॥७९॥

राम —([2]विलक्षस्मितेन विभीषणसूक्तमनुगृह्य चन्द्रं सीतामुखं च [3]क्षणमालोक्य [4]स्वगतम् ।)

आरब्धे [5]दयितामुखप्रतिसमे निर्मातुमस्मिन्नपि
व्यक्तं जन्मसमानकालमिलितामंशुच्छटां वर्षति ।

अतो रक्ताभिः सानुरागाभिः सुरसुन्दरीभिर्देवाङ्गनाभिः अभितो गीतां तव कीर्तिं किं नाम कथं नाम श्रोष्यति श्रोतुं पारयिष्यति हि यतः यस्मात् सहस्राक्षः चक्षुःश्रवा न । इन्द्रस्य सन्ति सहस्रमक्षीणि परं हा तस्य श्रवणशक्तिहीनतया सुरसुन्दरीगीयमानभवत्कीर्तिश्रवणे वासुकेरिव सुविधा न सम्भाव्येति तात्पर्यम् । पूर्वोक्ताविपरीतं वृत्तम् ॥ ७९ ॥

आरब्धे इति । अस्मिन् रोहिणीपरिवृढे रोहिणीनाथे चन्द्रे दयितानां रमणीनाम् मुखानां प्रतिसमे अनुरूपे समाने निर्मातुम् आरब्धे सति (विधातरि स्त्रीमुखसमानच्छविं चन्द्रमुपक्रममाणे सति) अस्मिन्नपि चन्द्रे जन्मसमानकालमिलिताम् जन्मकालसङ्गताम् स्वल्पामंशुच्छटां वर्षति सति जायमानस्यैव चन्द्रस्य बालकिरणे

इन्द्र बेचारा कैसे सुन सकेगा उसे हजार आँखें हैं भी फिर भी वह आँखों से सुन नहीं जो पाता है ॥ ७९ ॥

राम—(लज्जायुक्त हँसीके साथ विभीषणकी उक्तिको स्वीकार करके चन्द्रमा तथा सीताके मुखकी ओर देखकर स्वगत)

ब्रह्माने मेरी प्रियाके मुखके समान चन्द्रको बनाना प्रारम्भ किया था, जब बाल चन्द्रमा बना, तभी उसको जो थोड़ी सी कान्ति मिली उसीसे उसने अपना प्रकाश फैलाना

---

१ क्वचित् अस्माच्छ्लोकादग्रे 'अपि च, अथ स्वर्गिवधूगणे गुणमयं त्वत्कीर्तिमत्युज्ज्वलामुच्चैर्गायति निष्कलङ्किमदशामापत्स्यते चन्द्रमाः । सीताकर्णनमोदमुक्तयव समासाभिलाषोऽधुना स्वामिन्नङ्कमृग कियन्त्यपि दिनान्येनस्य वर्तिष्यते ॥ अपि च 'गायन्ते यदि पत्नीभिरभितस्त्वत्कीर्तयस्तद्वय तुष्टा एव परन्तु चेतसि चमत्कारोऽयमारो हति । तासां तादृशभावभङ्गवल्नासस्थानसन्दर्शिनि व्यालेन्द्रे रसघूर्णमूर्धनि महीचक्रं पुनर्भ्राम्यति ॥' इति श्लोकद्वयमधिकमस्ति ।

२ 'सविलक्षस्मितम्' । ३ 'क्षणम्' इति क्वचिन्नास्ति ।

४ 'स्वगतम्' इति क्वचिन्नास्ति । ५ 'दयितानन-' ।

आत्मद्रोहिणि रोहिणीपरिवृढे पर्यङ्कपङ्केरुह
सङ्कोचादतिदुःस्थितस्य न [1]विधेस्तच्छिल्पमुन्मीलितम् ॥८०॥

(सीतां प्रति ।)

अनेन रम्भोरु [2]भवन्मुखेन तुषारभानोस्तुलया धृतस्य ।
ऊनस्य नूनं परिपूरणाय ताराः स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डाः ॥ ८१ ॥

प्रसरति सतीत्यर्थः । पर्यङ्कपङ्केरुहे विधातृधामास्पदभूतकमलस्य सङ्कोचात् निमीलनात् अतिदुःस्थितस्य अत्यन्तदुरवस्थां गतस्य विधेः ब्रह्मणः आत्मद्रोहिणि आत्मसङ्कोचकतया शत्रुभूते चन्द्रे तत् प्रारभ्यमाणं शिल्पम् । न उन्मीलति न समृद्ध्यति । अयमाशयः—यदैव ब्रह्मा वनितावदनसमानम् इन्दुं निर्मातुमारभत, तदा उत्पद्यमान एव बालचन्द्रः स्वबालप्रभया ब्रह्मण आवासकमलं समकोचयत्, ततश्चाश्रयकमले सङ्कुचति सति दुरवस्थो ब्रह्मा चन्द्रनिर्माणे स्वकौशलं पल्लवयितुं न प्राभूत्, आत्मद्रोहिणि चन्द्रे तस्य वीतस्नेहत्वात् नहि स्नेहहीनं कृत्यं फलति, अत एव चन्द्रो न रमणीतुलामृच्छति यद्ययं चन्द्रो ब्रह्मावासकमलं न समकोचयिष्यत्तदा ब्रह्मा स्वस्थः सम्मनोऽनघं कदाचिदिन्दुं रमणीवदनसमं निर्मातुमपारयिष्यदपीति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८० ॥

अनेनेति । रम्भे कदलीस्तम्भौ इव ऊरू यस्यास्तत्सम्बोधने हे रम्भोरु सीते, भवन्मुखेन भवत्या वदनेन सह तुलया धृतस्य तुलायामारोपितस्य तुषारभानोः शीतकरस्य ऊनस्य हीनपरिमाणस्य हीनरुचेश्च परिपूरणाय समताप्रापणाय नूनं प्रतिमानखण्डाः सजातीयवस्तुशकलोपमाः ताराः स्फुरन्ति । यथा सुवर्णादौ तोल्यमाने न्यूनतायाः पूर्त्तये पृथक्प्रतिमानखण्डाः सुरचिताः स्थाप्यन्ते तथैव तव मुखेन सह तोल्यमानस्य चन्द्रस्य पूर्त्तये प्रतिमानखण्डभूतास्ताराः विधात्रा स्थापिता इत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ ८१ ॥

प्रारम्भ कर दिया ब्रह्माका आवासभूत कमल मुद्रित हो गया, फलतः अपना हानि करनेवाले उस चन्द्रमाको ब्रह्मा नहीं बना सके, ब्रह्माका वह शिल्प सफल नहीं हो सका । ८० ॥

(सीताके प्रति) हे सीते ब्रह्माने चन्द्रमाके साथ तुम्हारे मुखकी तुलना करनेके लिये दोनोंको अलग अलग पल्डे पर चढा दिया और यदि चन्द्रमामें कमी आयेगी तब उसे पूर्ण करनेके लिये तत्समान वस्तुके कुछ खण्डके रूपमें यह तारे रख छोडे ॥ ८१ ॥

---

१ 'तच्चित्रमुन्मीलितम्' 'तच्छिल्पमुन्मीलति' । २ 'तवाननेन' ।

किं [1]चान्यदपि—

गोत्रे साक्षादजनि भगवानेष यत्पद्मयोनिः
शय्योत्थाय यदखिलमहः प्रीणयन्ति द्विरेफान्।
एकाग्रा यद्दधति भगवत्युष्णभानौ च भक्तिं
तत्प्रापुस्ते सुतनु वदनौपम्यमम्भोरुहाणि ॥ ८२ ॥

सीता—(स्मेरावनतमुखी ।) अज्जउत्त, कधं उण सपुण्णमण्डलमीरिसं चन्दमनरमभिअ कलामेत्तं भअवदा भूदणाहेण चूडामणीकिदं आसी।
[आर्यपुत्र, कथं पुनः सपूर्णमण्डलमीदृशं चन्द्रमवमत्य कलामात्रं भगवता भूतनाथेन चूडामणीकृतमासीत् ।]

राम—([2]सप्रहासम् ।) प्रिये जानकि, त्रयाणामपि [3]जगतामुप-

गोत्र इति । यत् यत्र पद्मं योनिः उत्पत्तिस्थानं यस्य तादृशः ब्रह्मा गोत्रे पद्मरूपे स्वकुले साक्षात् स्वयम् अजनि, यत् शय्योत्थाय शय्याया उत्थाय विकसितमानम् अखिलम् अहः समग्रं दिनं यावत् पद्मानि द्विरेफान् भ्रमरान् प्रीणयन्ति मकरन्दैस्तर्पयन्ति, यत् भगवति उष्णभानौ एकाग्राम् अनन्यभावां भक्तिं दधति अनुरागं धारयन्ति, तत् अम्भोरुहाणि पद्मानि हे सुतनु सुन्दरि सीते, ते तव वदनौपम्यं मुखसादृश्यं प्रापुः प्राप्नुवन्ति । ब्रह्मा कमलानां सगोत्र इति तद्वया भ्रमरप्रीणनरूपपरोपकृत्या सूर्यभक्त्या च पद्मानि त्वन्मुखसादृश्यमलभन्तेत्यर्थः ॥ ८२ ॥

चूडामणीकृतम् शिरोभूषणं विहितम्, पूर्णचन्द्रलाभे सम्भवति कलामात्रधारणस्य । बुद्धिदारिद्र्यसूचकतया प्रश्नः ।

उपजीव्य जीवनाधायक । शिवनिर्माल्यं लोको न सेवते सकले चन्द्रे शिवेन

और भी—

इन कमलोंके वंशमें ब्रह्माने साक्षात् जन्म ग्रहण किया, शय्यासे उठकर यह कमल प्रतिदिन दिन भर भ्रमरोंको तृप्त करते हैं, एकाग्र दृष्टिसे भगवान् सूर्यकी ओर देखनेका व्रत धारण करते हैं, इसीलिये, सुन्दरि, यह कमल तुम्हारे मुखकी समता प्राप्त कर सके हैं ॥ ८२ ॥

सीता—(मुस्कुराहटके साथ मुँह नीचे करके) आर्यपुत्र, भगवान् शङ्करने पूर्णचन्द्र-मण्डलको छोड़कर इस कलामात्र चन्द्रमाको क्यों शिरोभूषण बना लिया ?

राम—(हँसकर) प्रिये जानकि, वह चन्द्रमा तीनों लोकोंका आधार है। यदि पूरे

१ 'चैतदपि'। २ 'सप्रहासम्' इति क्वचिन्नास्ति। ३ 'लोकानाम्'।

जीव्योऽयममृतदीधिति । यदि पुन समभ्रमेण मौलिना पिनाकपाणि रधारयिष्यत्, [1]अङ्ग शिवनिर्माल्य'मनुपभोग्य एवायमभविष्यत् ।

(सर्वे हसन्ति ।)

राम —किं च भवत्यापि [3]मासप्रमितो दृश्यत एवाय

पीयूषाश्रयण जगत्त्रयदृशामालातलेखालवो
विश्वोन्माथहुताशनस्य ककुभामुद्घाटनी कुञ्चिका ।
वीरेषु प्रथमा च पुष्पधनुषो रेखा मृगाक्षीमुख
श्रीणा च प्रतिराजबीजमधिकानन्दी नवश्चन्द्रमा ॥८३॥

शिरोभूषणीकृते तस्मिन्निर्माल्यबुद्ध्या लोको न तमुपजीवेदित्येतदर्थमेव कलामात्र मीश्वरेण भूषणीकृतमित्युत्तराशय ।

मासप्रमित मास प्रमित प्रतिपच्चन्द्रो मास परिच्छेत्तुमारब्धवान् इत्यर्थ । आदिकर्मणि निष्ठा ।

पीयूषेति । नव प्रत्यग्रोदित चन्द्रमा जगत्त्रयदृशाम् लोकत्रयीनयनानाम् पीयूषाश्रयणम् अमृतस्थाली, विश्वेषा जनाना सर्वेषाम् उन्माथे सन्तापने हुता शन वह्निरूपो य काम तस्य आलातलेखालव अङ्गारराजिकण, कामाग्नेरल्प कस्य लेश इव, ककुभा दिशाम् उद्घाटिनी प्रकाशयित्री कुञ्चिका दिग्विभागकारीत्यर्थ । वीरेषु वीरगणमध्ये पुष्पधनुष कन्दर्पस्य प्रथमा रेखा जगति के के वीरा इति गणनायां काम एव प्रथमो वीर इति सूचनार्थं कल्पितो बिन्दुरित्यर्थ । मृगाक्षीणा सुन्दरीणाम् या मुखश्रियस्तासा प्रतिराज प्रतिपक्षिभूतो राजा, तस्य बीजम्,

इस चन्द्रमाको महादेव अपने सिर पर रख लेते तब तो निर्माल्य बनकर यह चन्द्रमा अनुपभोग्य हो जाता ।

(सभी हसते हैं)

राम—और मासका प्रारम्भ करनेवाले इस चन्द्रमाको तुम भी देख ही रही हो ।

तीनों लोकोंके नयनोंके लिये अमृत स्थाली, स्वरूप, समस्त विश्वके विरही जनोंको सतानेवाले काम नामक अग्निकी चिनगारी के समान, दिशाओं को खोलने वाली तालीके सदृश, कन्दर्पके वीरभटोंमें प्रथम गणनीय, एव मृगाक्षीके मुखके साथ स्पर्धा करनेवाला यह नवीन चन्द्रमा देखा जाता है ॥ ८३ ॥

१ 'अङ्ग' इति क्वचिन्नास्ति । २ अनुपयुक्त'। ३ 'मास प्रमितो', 'मास प्रति'।

सीता—(अनुमोदमाना ।) अज्जउत्त, परिपुण्णा गुणिणो जहिं कहिं पि सोहन्ति । खीणा उण सीसमारुहन्ति त्ति हरजडाचन्दो ज्जेव्व पढम णिदसणम् । [आर्यपुत्र, परिपूर्णा गुणिनो यस्मिन्कस्मिन्नपि शोभन्ते । क्षीणा पुन शीर्षमारोहन्तीति हरजटाचन्द्र एव प्रथम निदर्शनम् ।]

राम —(विहस्य) देवि [1]महाकुलक्षत्रियप्रभवे, एवमेतत् ।

[2]सेतूपक्रमसंभ्र[3]माहृतगिरिप्रक्षेपवेगोच्छल
च्छिशेषाम्बुपरिस्फुटोदरदरीगम्भीरिमा सागर ।
चक्रे गोष्पदवद्विलङ्घितवतोऽप्यन्तर्भयं मारुते
पूर्णत्वादतिरिच्यते हि महतस्तुच्छस्य दुर्लङ्घ्यता ॥८४॥

अथा प्ररोहावस्था, अत एवाधिकानन्दी अधिकप्रीतिदो दृश्यत इति पूर्वतनगद्या- शेनान्वय । मालारूपकमलङ्कार ॥ ८३ ॥

परिपूर्णा कलापूर्णा । यस्मिन् कस्मिन् यत्र कुत्र । यथा पूर्णश्चन्द्रो यत्र तत्रैव राजते क्षीण पुनर्बालचन्द्रो मृडशिर आरूढस्तेन प्रमीयते । परिपूर्णो गुणी यत्र तत्र स्वगुण प्रकाशयति, क्षीणगुणस्तु लोकानतिक्रमितु सदैव सचेष्टस्तिष्ठतीत्याशय । महाकुलक्षत्रियप्रभवे क्षत्रियाणां महति कुले प्रसूते ।

सेतूपक्रमेति सेतो समुद्रे रचितस्य बन्धस्य उपक्रमे प्रारम्भे सम्भ्रमेण वेगेन आहृतानाम् आनीय निक्षिप्ताना गिरीणां पर्वताना प्रक्षेपवेगेन उच्छलन्ति उपरि गच्छन्ति निरशेषाणि समग्राणि अम्बूनि जलानि तैर्हेतुभि परिस्फुट सुव्यक्त उदरमेव दरी गुहा तस्या गम्भीरिमा गम्भीरत्व यस्य तथोक्त सागर गोष्पदवत् गोपदपरिमितजलाधारवत् विलङ्घितवत तीर्णवतो मारुते हनूमत अपि अन्तर्भयं चक्रे, हि यत महतो गम्भीरस्य तुच्छस्य रिक्तता गतस्य दुर्लङ्घ्यता पूर्णत्वात्

सीता—(अनुमोदन करती हुई) आर्यपुत्र, पूर्णगुणी जहाँ कहीं भी भले दीखते हैं, क्षीण होनेवाले ही सिरपर चढ जाते हैं, इसमें चन्द्रमा ही प्रथम दृष्टान्त है ।

राम—(हसकर) देवि महाकुलप्रसूते, तुम ठीक कहती हो ।

सेतुबन्धनके उपक्रममें जल्दी जल्दी लाकर डाले गये पर्वतोंके प्रक्षेपसे उछलने वाले पानीके ऊपर उठ जानेसे साफ दृश्य हो रहा है, गम्भीर उदरदेश जिसका ऐसा यह सागर हनूमानको भी भयभीत कर देता था, जिस हनुमान्ने इस सागरको गोष्पदकी तरह पार कर लिया था—इससे सिद्ध होता है कि पूर्णकी अपेक्षया रिक्त अधिक दुर्लङ्घ्य होता है ॥ ८४ ॥

१ 'महाक्षत्रिय–', 'महाक्षत्रियकुल–' । २ 'सेतुप्रक्रम' । ३ कौतुक ।

(नेपथ्ये ।)

[1]देव, त्वर्यतां त्वर्यताम् । सन्निधत्ते [2]खलु भगवद्वसिष्ठगृहीतो मङ्गलाभिषेकमुहूर्तः ।

राम —(आकर्ण्य ।) [3]कथमयोध्याया प्रत्यावृत्तो मारुतिरस्मास्त्वरयति ।

सीता—(सहर्षम् ।) अज्जउत्त, कथं अज्झणाणन्दणो तुवरावेदि । ता भअवं पुप्फअ, अवणम । मेइणीसण्णिहिदगमणमग्गेण गच्छम्ह । [आर्यपुत्र, कथमञ्जनानन्दनस्त्वरयति । तद्भगवन् पुष्पक, अवनम । मेदिनीसन्निहितगमनमार्गेण गच्छाम ।]

पूर्तिदशायां अतिरिच्यते विशिष्यते । अयमाशय –हनूमान्यदा प्रथममब्धिं लङ्घितवांस्तदा पूर्णस्य सागरस्य गोष्पदवल्लङ्घने तस्य मनसि भयं नोदितं परं यदा सेतुबन्धनसमये क्षिप्यमाणगिरिवेगोच्छलज्जलभरतया सागरो दरगुहाव्यक्ततयाऽजायत तदा रिक्तस्य तस्य लङ्घने मारुतेरपि मनसि भयं पदमाधत्त, तेन पूर्णस्य महतो यावती दुर्लङ्घ्यता ततोऽधिका भवति दुर्लङ्घ्यता तस्यैव रिक्तस्येति ॥ ८४ ॥

त्वर्यताम् शीघ्रता क्रियताम् । सन्निधत्ते समीपमुपसर्पति । भगवद्वसिष्ठगृहीतः भगवता वसिष्ठेन निर्णीतः । मङ्गलाभिषेकमुहूर्तः शुभराज्याभिषेकसमयः । प्रत्यावृत्तः आगतः ।

अवनम अवनतो भव, नीचैः सञ्चर । मेदिनीसन्निहितगगनमार्गेण पृथ्वी

(नेपथ्य में)

देव, शीघ्रता करें, भगवान् वसिष्ठ द्वारा निर्धारित किया गया अभिषेक मुहूर्त समीप आता जा रहा है ।

राम—(सुनकर) क्यों, अयोध्यासे आये हुए हनूमान् हमको शीघ्रता करनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं ?

सीता—(सहर्ष) आर्यपुत्र, क्या अञ्जनानन्दन शीघ्रता करनेको कह रहे हैं ?

---

१ 'देव, त्वर्यताम् । सन्निधत्ते भगवान्वसिष्ठः सगृहीतमङ्गल–' ।

२ 'खलु' इति क्वचिन्नास्ति ।   ३ 'अयोध्यातः' ।

(अधोऽवलोक्य रामं प्रति ।) अज्जउत्त किं उण एद तरुणजीमूदसामले महीवलए महुमहणवच्छत्थले कोत्थुमकिरणत्थवअ विअ जलन्त लक्खीअदि । [आर्यपुत्र किं पुनरेतत्तरुणजीमूतश्यामले महीवलये मधुमथन वक्षःस्थले कौस्तुभकिरणस्तवक इव ज्वलल्लक्ष्यते ।]

राम —(दृष्ट्वा विभीषणं प्रति ।)

तर्कुटङ्कोल्लिखितार्कमण्डलप्रोच्छलत्कणकदम्बभासुरम् ।

शिल्पशालमिव विश्वकर्मणः किं विभाति मृगतृष्णिकामयम् ॥८५॥

विभीषण —देव, स एष

ज्येष्ठामूलीययात्रासरभसक्रमोष्टकान्तारवर्त्मा

समीपस्थाकाशवर्त्मना । तरुणजीमूतश्यामले नवमेघकृष्णवर्णे । मधुमथनवक्षःस्थले भगवतो विष्णोरुरसि । कौस्तुभकिरणस्तवक कौस्तुभाख्यमणिप्रभागुच्छ, ज्वलत् प्रकाशमानम् ।

तर्क्विति । तर्कुटङ्क यन्त्रविशेष शाणाभिध तेन उल्लिखितम् उद्घृष्टम् यद् अर्कमण्डलम् सूर्यमण्डलम् तस्मात् प्रोच्छलता निर्गच्छता कणकदम्बेन कणसमूहेन भासुरम् दीप्तशर्मम् विश्वकर्मणः शिल्पशालम् शिल्पगृहमिव मृगतृष्णिकामयम् मरीचिकामयम् एतत् किं विभाति शोभते, यथा कस्यापि शिल्पिन शिल्पगृहम् घृष्यमाणलौहाद्विनिर्गच्छत्कणगणेन भासुर दृश्यते, तथा विश्वकर्मणि पुरा सूर्यं चक्र आरोप्य लिखति सति तर्कुटङ्कघृष्यमाणस्य अर्कमण्डलस्योच्छलद्भि कणगणैरिव दीप्यमानमिद विश्वकर्मण शिल्पगृहमिव किमिद दृश्यत इति भाव । मरुषु मरीचिकासचाकचिक्यापहृतलोचनेषु यन्त्रगृहचालितटङ्कघृष्टसूर्यकणभासुरत्वेन यन्त्रशाला त्वसशयोऽत्र भ्रान्तिप्रसूततया सदेहालङ्कारमुद्भावयति । रथोद्धतावृत्तम् ॥ ८५ ॥

ज्येष्ठामूलीयेति । ज्येष्ठामूलीयो ज्येष्ठमास तत्र यात्रायां प्रयाण सरभसा सहर्षा

अच्छा हे भगवन् पुष्पक, नीचे उतरिये । पृथ्वी निकटवर्ती गगनमार्गसे चलें ।

(नीचे देखकर रामसे)

आर्यपुत्र, भगवान् विष्णुके हृदयपर कौस्तुभमणिकी तरह नवमेघ श्यामल पृथ्वी मण्डलपर जलता हुआ सा यह क्या दिखाई दे रहा है ॥

राम—(देखकर विभीषणके प्रति) शानपर चढाकर खरादे गये सूर्यमण्डलसे यह मृगतृष्णामय क्या है ? ॥ ८५ ॥

विभीषण—देव, यह वही मरभूमि है, जिस मरभूमिके मार्गमें ज्येष्ठमासमें चलन।

दूरेऽपि ज्योतिरक्ष्णोरपलपति मरुजोज्ज्वलज्जाङ्गलश्री ।
विश्वद्रीचीभिरस्मिन्निविडमुडुपतेः कान्तिभिः प्रस्नुवाना
फेनायन्ते निजोष्मक्वथनपरिणमद्बुद्बुदं चन्द्रकान्ताः ॥८६॥

(सर्वे विमानावनतिं नाटयन्ति ।)

राम —(विलोक्य सीतां प्रति ।) देवि, दक्षिणेन

सिंहलद्वीपमम्भोधिसम्भूतमिदमुत्पलम् ।
माणिक्याचलकिञ्जल्करमणीयमुदीक्ष्यते ॥ ८७ ॥

या करभीः उष्ट्रस्त्री तया काम्यं स्पृहणीयं कान्तारवर्त्म वनमार्गो यस्मिंस्तादृश (ग्रीष्मे उष्ट्रजातिप्रियभोज्यकण्टकिवृक्षाः सपत्रा जायन्ते इति उष्ट्रीणां कान्तारयात्राया रम्यत्वो भवति, तादृशं च कान्तारं मरावेव भवति, कण्टकिवृक्षाणां मरुषु प्रसिद्धिरपीति बोध्यम्) जाज्वलन्ती अतिदीप्यमाना जाङ्गलश्रीः निर्जलभूमिशोभा यत्र तादृशश्चायं मरुः दूरे विप्रकर्षे सत्यपि अक्ष्णोः नयनयोः ज्योतिस्तेज अपलपति हरति दृक्शक्तिं लुम्पतीत्यर्थः । अस्मिन् मरौ चन्द्रकान्ता नाम मणिभेदा विष्वद्रीचीभिः सर्वतोव्यापिनीभिः उडुपतेः चन्द्रस्य कान्तिभिः प्रभाभरैः प्रस्नुवाना द्रवीभवन्तः निजैः मरुदेशप्रभवरूष्मभिः यत् क्वथनम् पाकः तेन परिणमद्बुद्बुदं निर्गच्छद्बुद्बुदं यथा स्यात्तथा फेनायन्ते फेनमुद्वमन्ति । करभीणां ज्येष्ठमासीययात्रोपयुक्तवनमार्गपूर्णः प्रभाभासुरतया जाङ्गलभूमीनां दृक्शक्तिं लुम्पन्, चन्द्रकिरणप्रस्नुताः ग्रीष्मोष्मक्वथिताः अत एव बुद्बुदोपमफेनवहाश्च चन्द्रकान्ता यत्र सन्ति तादृशश्चायं मरुरेव दृश्यत इत्यर्थः । 'ज्येष्ठामूलीयमिच्छन्ति मासमाषाढपूर्वजम्' इति हारावली । 'जङ्गलो निर्जलो देशः' इति धरणिश्च । स्रग्धरावृत्तम् ॥८६॥

सिंहलेति । दक्षिणेन सिंहलद्वीपम् सिंहलद्वीपस्य दक्षिणे भागे अम्भोधिसम्भूतम् सागरसमुत्पन्नम् इदम् उत्पलम् एव रोहणगिरिः कमलवत् प्रतीयते, यत् कमलम् माणिक्याचलैः मणिमयपर्वतैः किञ्जल्कैः केशरैः रमणीयं सुन्दरम् उदी

ऊटकी स्त्रियोंको बहुत अच्छा लगता है, यहाँ जलते हुए निर्जल भूमिदशकी चमक दूरमें रहकर भी आँखको चकाचौंधमें डाल देता है, और फैलती हुई चन्द्रकिरणोंसे पसीजने-वाले चन्द्रकान्त अपनी ही गर्मीसे पानीके सन्तप्त हो जानेसे बुलबुले निकाल रहे हैं ॥८६॥

(सभी विमानके उतरनेका अनुभव करते हैं)

राम—(सीताकी ओर देखकर) देवि, दक्षिणकी ओर यह सिंहलद्वीप ऐसा लगता है मानों समुद्रमें उत्पन्न कमल हो, जिसके किंजल्क यह माणिक्याचल हों ॥ ८७ ॥

सीता—जहिं कासकुसुमसकासो अगत्थहसो चरइ। [यत्र काशकुसुमसकाशोऽगस्त्यहंसश्चरति।]

राम —(स्मित्वा।) आ मैथिलि, आम्। [1]इहैव रोहणगिरेरुपत्यकाया द्वितीयमायतनं मुनेर्लोपामुद्रावल्लभस्य। स तत्रभवान्

बृहत्पात्रप्राप्त्या विततजलमम्भोधिमुदरे
[2]दधावीषद्ग्राह्यं किल कलशजन्मा कुलपतिः।
यमाराध्यन्विन्ध्याचलशिखरशोथैकभिषजं
विवस्वानाश्वीनं [3]गगनमविरोधात्कलयति ॥ ८८ ॥

पद्यते, सिंहलद्वीपस्य दक्षिणे भागे समुद्रोदित पद्मविधाय रोहणो नाम गिरिस्तस्य च केशरैरिवैत माणिक्यघटै शोभा समेधमाना दृश्यत इत्याशय ॥ ८७ ॥

काशकुसुमसङ्काश काशपुष्पवदतिधवल वार्धक्ये श्वेतकेशतयेत्यमुक्तम्। रोहणगिरेरुपत्यकायाम् रोहणाख्यपर्वतासन्नभूमौ। लोपामुद्रावल्लभस्य अगस्त्यस्य, लोपामुद्राऽगस्त्यकी प्रसिद्धा। तत्रभवान् पूजनीय।

बृहत्पात्रेति। कलशजन्मा कुम्भयोनि कुलपति महामुनि ईषद् ग्राह्य गण्डूष मात्रेण ग्रहणीयम् अम्भोधिम् समुद्रम् उदरे स्वकुक्षिदेशे बृहत्पात्रप्राप्त्या विशालाश्रयलाभेन विततजलम् विस्तृतपानीय दधौ धृतवान यस्यागस्त्यस्य गण्डूषमात्रेण पीत सागरस्तस्योदर विस्तृतमवकाश प्राप्य विततजलमास्तेत्यर्थ। यन्न विन्ध्याचलशिखराणाम् शोथेऽङ्गवृद्धौ उन्नमने एकभिषजम् एकमात्रवैद्यम् उपशमित विन्ध्यपर्वताङ्गवृद्धिम् विन्ध्यपर्वतस्योन्नमनमपनयन्तम् अगस्त्यम् आराध्यन् सेवमान विवस्वान् सूर्य आश्वीनम् अश्वैरेकाहगम्यम् गगनम् अविरोधात् विना

सीता—वही सिंहलद्वीप है जहाँपर कासपुष्पकी तरह स्वच्छ अगस्त्य हंस विचरते हैं।

राम—(मुस्कुराकर) हाँ मैथिलि हाँ, इसी रोहणगिरिकी उपत्यकामें लोपामुद्रा वल्लभ अगस्त्यमुनिका द्वितीय निवास है, वह भगवान्—

घटोद्भव अगस्त्यमुनि समुद्रको आयासरहित भावसे पी गये और वह सारा सागरका जल उनके विस्तृत उदरमें फैलकर सावकाश समा गया, उन्हीं अगस्त्यमुनिकी आराधना करके जो विन्ध्य पर्वतके शोथ वृद्धिके एक मात्र वैद्य हैं—भगवान् सूर्य एक दिनमें ही अपने अश्वों द्वारा आकाशको पार कर जाते हैं ॥ ८८ ॥

१ 'इह हि'। २ 'गाध'। ३ 'अभिरोहन्'।

अपि च—

निपीते येनाब्धौ स्तिमितगुरुभि पक्षपटलै

प्रयत्नादुड्डीय प्रतिपदमपव्यस्तपतिता ।

[1]विशन्त कौलीर कुहरमशरण्या शिखरिण

क्षणं दृष्टास्तस्य स्तुतिषु न गिरां साहसरस ॥८९॥

अपि च [2]यत्र शृङ्गारसार्वभौमस्य रत्नसिंहासने सिंहलद्वीपनाम्नि प्रदोषारम्भेषु

विग्नम् कलयति पर्यटति । य सागर पीत्वा स्वोदरे सावकाश स्थापयामास, यश्च विन्ध्याचले शिखरैरुन्नमति सति तदीयामुन्नतिं प्रणामद्वारा प्रतिबद्ध्य सूर्यायेकेनाह्ना वियत्पर्यटनावसर ददाविति भाव । कल्पते कामधेनुरिति तस्याऽगमनार्थता ॥ ८८ ॥

निपीत इति । यन अगस्त्यमुनिना अब्धौ सागरे निपीते निरवशेष पीते सति स्तिमिता आर्द्रा अत एव गुरवो भारवन्तश्च ये पक्षपटला पक्षतिसमुदया तै प्रयत्नात् प्रयासमाधाय महता प्रयासेनेत्यर्थ । उड्डीय प्रतिपदम् अपव्यस्त विपर्यस्त यथा स्यात्तथा पतिता अत एव अशरण्या रक्षारहिता शिखरिण समुद्रे स्वपक्षरक्षाय निलीय वर्तमाना मैनाकाद्य पर्वता कौलीर कर्कटारव्यजन्तु सम्बन्धि कुहर गर्तविल विशन्तो दृष्टा जनैरिति शेष । तस्यागस्त्यस्य स्तुतिषु गिरा वाचा साहसरस हठप्रवृत्तिर्न तादृशतत्स्तुतिसाहस न कर्तुं शक्ता अत्याश्चर्यत्वात्तादृशकार्यस्येत्याशय । येनागस्त्येन समुद्रे पीयमाने आश्रयापगमेन पर्वता क्लिन्नै पक्षैरुड्डीय पतन्त पतिताश्च पुन स्वरक्षार्थं कौलीरकुहर प्रविशन्तो लोकैर्दृष्टास्तस्य मुनेस्तुतौ कथ वाच साहस कुर्वन्त्विति तात्पर्यम् ॥ ८९ ॥

शृङ्गारसार्वभौमस्य शृङ्गाररससम्राज , रत्नसिंहासने रत्ननिर्मितसिंहासनसमे, प्रदोषारम्भेषु निशामुखेषु ।

और—अगस्त्यमुनिने जब समुद्र पी लिया तब भीग जानेके कारण भारी पङ्खोंसे किसी तरह उड-उडकर गिरते-पडते समुद्रस्थित पर्वतगण अपने शरणीभूत समुद्रके समाप्त हो जानेके कारण घबडाकर केंकडोंके बिलोंमें पैठते हुए देखे गये, उस महाप्रभाव अगस्त्यमुनिकी स्तुतिमें वाणी कैसे साहस करे ? ॥ ८९ ॥

और यह सिंहलद्वीप तो शृङ्गाररसका सार्वभौम ठहरा, यहाँ इस रसका रत्नसिंहासन है, यहाँपर प्रदोषारम्भमें—

---

१ 'मज्जन्त'। २ 'यत्र' इति क्वचिन्नास्ति।

उदेष्यत्पीयूषद्युतिरुचिकणार्द्रा शशिमणि
स्थलीना पन्थानो यमचरणलाक्षालिपिभृत ।
चकोरैरुड्डीनैर्झटिति कृतशङ्का प्रतिपदं
पराञ्च सञ्चारानविनयवतीना वितृणते ॥ ९० ॥

(अन्यतो दर्शयन् ।) इयमितो मौक्तिकीयानामपामाधारस्ताम्रपर्णी ।

[1]शुक्तिकागर्भसम्बन्धस्तम्भितास्तोयबिन्दव ।
[2]भ्रमन्ति सुभ्रुवामङ्कादङ्कमस्या प्रसूतय ॥ ९१ ॥

उदेष्यदिति । उदेष्यत उदय प्राप्स्यत पीयूषद्युतेरमृतकरस्य चन्द्रमस रुचि कणै मयूखलेशै आर्द्रा सजात (अत एव सिक्तार्द्रा) घना सान्द्रा या चर णयो कामिनीचरणयोर्लाक्षा अलक्तकरागस्तस्या लिपिम् लेखम् बिभ्रतीति तथोक्ता शशिमणिस्थलीनां चन्द्रकान्तरचितभूमीना पन्थानो मार्गा उड्डीनै चकोरै झटिति प्रतिपद प्रतिचरणक्षेप कृतशङ्का समेधितजनागमभया मन्त अविनय वतीना दु शीलानामभिसरन्तीना स्त्रीणाम् पराञ्च प्रतीपान् सञ्चारान् वितृणते प्रकटयन्ति । अयमर्थ —चन्द्रोदय सन्निहिते सति चन्द्रकरस्पर्शार्द्रा चन्द्रकान्त मार्गा स्त्रीचरणालक्तकश्लेषपूर्णा भवन्ति, यदा च तत्रैव सञ्चरन्तीनामभिसारिकाणा मनासि चकोरेषूड्डीनेषु जनागमभयेन भीतानि जायन्ते तदा ता द्रुतपदन्यास परा वर्तन्ते येन प्रतीपाश्चरणन्यासास्तन्मार्गे वर्त्मनि दृश्यन्त इति । शिखरिणीवृत्तम् ॥९०॥

शुक्तिकागर्भेति । शुक्तिकाना मुक्तास्फोटाना गर्भेषु मध्यभागेषु सबन्ध । शुक्तिपाककालपर्यन्त स्थिरस्थितेन स्तम्भिता पिण्डीभूतास्तोयबिन्दव शुक्तिगर्भ सम्बन्धपिण्डितास्तोयबिन्दव इव अस्या मौक्तिकीयजलवाहिन्यास्ताम्रपर्णीनद्या प्रसूतय उत्पाद्या मुक्ता सुभ्रुवाम् सुन्दरीणामङ्कादङ्क भ्रमन्ति सञ्चरन्ति । यथा

उदित होनेवाले चन्द्रमाकी किरणोंसे आर्द्र चन्द्रकान्त मणिसे बने मार्ग स्त्रियोंके चरणालक्तक द्वारा लिखे गये लेखोंसे युक्त होकर उड़नेवाले चकोरोंसे स्त्रियोंके हृदयमें भयका सञ्चार करके अभिसारिकाओंको उल्टे पाँव लौटनेको बाधित करते हैं ॥ ९० ॥

(दूसरी तरफ दिखलाते हुए) मुक्ता पैदा करनेवाले पानीका आधार इधर ताम्रपर्णी नदी है ।

शुक्तिका गर्भभागसे सम्बन्ध होनेके कारण जमे हुए जल स्वरूप ताम्रपर्णीमें पैदा होने वाले मौक्तिक सुन्दरियोंकी गोदोंमें घूमा करते हैं ॥ ९१ ॥

---

१ 'सभूत-' । २ 'भजन्ति' ।

अपि च—

युवतिकुचभोगकर्मभिरुद्भूतैः शुक्तिसंपुटवृतानि ।
दधतीह [1]ताम्रपर्ण्याः स्थिरकरकाभावमम्भांसि ॥ ९२ ॥

सीता—अज्जउत्त, जेट्ठेति दक्खिण्णमत्तएण भअवदो साअरस्स भाईरहीपक्खपादो । पेम्मसव्वस्सणीसन्दो उण सहजसव्वङ्गमोत्तिआहरणरमणीआए तम्बपण्णीए लक्खीअदि । [आर्यपुत्र, ज्येष्ठेति दाक्षिण्यमात्रकेण भगवतः सागरस्य भागीरथीपक्षपातः । प्रेमसर्वस्वनिःस्यन्दः पुनः सहजसर्वाङ्गमौक्तिकाभरणरमणीयायास्ताम्रपर्ण्या लक्ष्यते ।]

कस्याश्चन भाग्यवत्या प्रसूतिमपरा ललना स्वाङ्केषु निदधति तथैव ताम्रपर्णीप्रसूतं मुक्तागणं सुभ्रुवोऽङ्कादङ्कं परिक्रामयन्ति स्म स्वमङ्गं ताभिर्मुक्ताभिरलङ्कुर्वन्तीत्याशयः ॥ ९१ ॥

युवतिकुचेति । इह अत्र प्रदेशे ताम्रपर्ण्याः अम्भांसि जलानि उद्भूतैः पूर्वजन्मकृतैः युवतिकुचभोगकर्मभिः यैः कर्मभिर्युवतिकुचाग्रस्थितिरूपो भोगः प्राप्यते तादृशैः पूर्वाचरितसुचरितैः शुक्तिसंपुटवृतानि सन्ति शुक्तिपुटगतानि भूत्वा स्थिरं करकाभावम् अद्रवशीलवर्षोपलस्वरूपत्वम् दधति धारयन्ति । पूर्वजन्मसुकृतवशात्ताम्रपर्णीजलानि शुक्तिपुटगतानि भूत्वा स्थिरकरकारूपेण परिणमन्ते या मुक्ताभूता युवतिकुचभोगमनुभवन्तीत्यर्थः, 'वर्षोपलस्तु करका' इत्यमरः ॥ ९२ ॥

ज्येष्ठा पूर्वपरिणीता इति बुद्ध्या दाक्षिण्यमात्रकेण केवलेन समदर्शित्वसूचकव्यापारमात्रेण, भगवत्या भागीरथ्याः पक्षपातः अनुग्रहः केवलं स्वसमदर्शित्वं प्रकटयितुमेव सागरो भागीरथ्याः स्नेहं प्रकाशयतीत्यर्थः, प्रेमसर्वस्वनिःस्यन्दः पूर्णप्रेमप्रवाहः । सर्वाङ्गमौक्तिकाभरणरमणीयायाः—सर्वेष्वङ्गेषु मुक्ताभरणं वहन्त्याः । ताम्रपर्णी एव सागरस्याधिका प्रिया यतोऽसौ भूषितसर्वाङ्गशालिनी, प्रियानुरागफलस्य भूषणस्य तथैव लाभादित्यर्थः ।

ताम्रपर्णीका जल युवतिगणके कुचस्थलमें वास प्रदान करनेवाले अपने पूर्व पुण्योंके प्रभावसे शुक्ति सम्पुटमें रहकर स्थिर करकाका रूप धारण कर लेते हैं ॥ ९२ ॥

सीता—आर्यपुत्र, समुद्र गङ्गाके कारण ही गङ्गाको बड़ी स्त्री समझकर पक्षपात करता है, नहीं तो समुद्रका सारा प्रेम ताम्रपर्णीपर ही प्रतीत हो रहा है क्योंकि उसका सम्पूर्ण शरीर मौक्तिकाभरणोंसे लदा हुआ है ।

---

१ 'ताम्रपर्णीम्' ।

राम —(विहस्यान्यतो दर्शयन् ।)

रमयति मलयाचलोऽयमस्मादुपनमता पवनेन मानिनीनाम् ।
दयितविनयकूटसाक्षिणीभि स खलु सखीभिरदुष्कर प्रबोध ॥९३॥

लक्ष्मण —([1]अग्रे दर्शयन् ।)

स्वपाणिप्राग्भारप्रबलविततोत्तानसलिल-
स्वयंदृष्टक्रीडत्तिमिनिवहलग्नामिव घृणाम् ।
दधानस्यापीतोज्झितजलनिधेरेतदपरं
पुरो लोपामुद्रासहचरमुनेराश्रमपदम् ॥ ९४ ॥

रमयतीति । अय मलयाचल मलयाख्य पर्वत रमयति अस्मानानन्दयति । अस्मात् मलयाचलात् उपनमता प्रवर्त्तमानेन पवनेन वायुना करणभूतेन दयित 'विनयकूटसाक्षिणीभि प्रियकृतविनयप्रयत्नदर्शिकाभि सखीभि' मानिनीनाम् स प्रबोध' मानापनय खलु अदुष्कर सुकर । अय मलयाचलो न प्रीणयति यतश्चलितेन वायुना सहकृता सख्यो दयितकृतप्रार्थनाभिरपि मानमत्यजन्त्यो मानधरयस्त्वरितमनुनीयन्त इत्याशय । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ९३ ॥

स्वपाणीति । स्वपाणिप्राग्भारे निजकरविस्तारे प्रबलविततम् अतिविस्तृत यत् उत्तानसलिलमगभीर समुद्रजलम् तत्र जले स्वय दृष्टा आत्मनाऽवलोकिता ये क्रीडन्त तिमिनिवहा महामत्स्यसमूहास्तेषु लग्नां जातां घृणा दया दधानस्य धारयत इव आपीतोज्झितजलनिधे विनैव पान कृत्वा त्यक्तसागरस्य लोपामुद्रा सहचरमुने अगस्त्यस्य पुर अग्रे वर्त्तमानम् एतत् अपरमाश्रमपदम् विद्यत इति शेष । अगस्त्यो यदा विस्तृते निजपाणितले सागर पिपासया धृतवांस्तदा सागर

राम—(हसकर दूसरी ओर दिखलाते हुए) यह है मलयाचल, यह मुझे आनन्द दे रहा है । इसपरसे बहने वाली वायुसे सखियाँ मानिनियोंके मानको सरलतासे दूर कर सकती हैं, जिन मानवती स्त्रियोंने प्रियतमों द्वारा किये गये बहुविनयको भी ठुकरा दिया वह स्त्रियाँ भी मलयानिलके बहनेपर सखियोंद्वारा सरलतासे मना दी जाती हैं ॥९३॥

लक्ष्मण—(आगेकी ओर दिखलाकर)

अगस्त्यने पीनेके लिए समुद्रको हाथमें लिया, उनके विस्तृत हाथमें फैलकर समुद्रका जल छिछला हो गया, उस पानीमें जब अगस्त्य मुनिने खेलते हुए महामत्स्योंको देखा तब उनको बड़ी दया आई, उसी दयासे द्रुत होकर उन्होंने समुद्रका जल पीकर तुरन्त निकाल दिया, उस लोपामुद्राके सहचर अगस्त्यमुनिका यह दूसरा आश्रमपद है ॥ ९४ ॥

१ अन्यत '।

अपि चास्मिन्—

चतुरब्धिपानचेष्टादृष्टपिपासे मुनावुदयमाने ।
पाययितुमिवात्मानं [1]विशुध्य सज्जीभवन्त्यापः ॥ ९५ ॥

सुग्रीवः—(सस्मितम् ।)

ध्रुवमिह चतुरम्भोनिधिरचितापोशानकर्मणि मुनीन्द्रे ।
भक्ष्यंमन्यानि किमपि चकम्पिरे सप्तभुवनानि ॥ ९६ ॥

जलमतिविस्तृतमभवत् तत्र मुनिना क्रोडन्तरितमिनिवहाः प्रत्यक्षीकृतास्तेषु दयामाधायेव मुनिस्तत्सागरजलमापीतमेवोज्झितवान्, तस्य लोपामुद्रापतेरगस्त्यस्यापरमिदमाश्रमपदं पुरो दृश्यत इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ९४ ॥

चतुरब्धीति । चतुर्णाम् अब्धीनाम् सागराणां पानचेष्टया पानप्रयासेन दृष्टा पिपासा यस्य तादृशे मुनावगस्त्ये उदयमाने उद्गच्छति सति आपो जलानि आत्मानं पाययितुमिव विशुध्य निर्मलीभूय सज्जीभवन्ति । अयमगस्त्य उदयति स हि चतुरोऽपि सागरान् पीत्वाऽपि न गतपिपासः सञ्जातस्तदसौ अस्मानपि पीत्वा गतपिपासो जायतामिति धियेव जलानि स्वं शोधयित्वा सज्जिता भवन्तीति । अगस्त्योदये जलशुद्धिः स्वाभाविकी सैवात्रागस्त्यपिपासानिवर्तनेच्छाजनितत्वेनोत्प्रेक्ष्यते । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ९५ ॥

ध्रुवमिहेति । इह अस्मिन् मुनीन्द्रे मुनिश्रेष्ठेऽगस्त्ये चतुर्भिः अम्भोनिधिभिः रचितं कृतम् अपोशानकर्म भोजनपूर्वकालसम्पाद्यामृतोपस्तरणकर्म येन तादृशे सति भक्ष्यंमन्यानि आत्मानं भक्ष्यं मन्यमानानि सप्तभुवनानि भूर्भुवः स्वरादीनि किमपि अनिर्वाच्यरूपेण चकम्पिरे यदा मुनिरगस्त्यश्चतुरोऽपि सागरान् पीत्वाऽपोशानकर्म निर्वर्तितवांस्तदाऽऽत्मानमपि भक्ष्यं मन्यमानानि सप्तापि भुवनानि—

इस अगस्त्यमुनिको देखकर तथा चारों सागरोंको पी जानेवाली इनकी पिपासाका अन्दाज करके संसारका पानी स्वच्छ होकर तैयार हो जाते हैं कि मुनिवर मुझे भी पीकर तृप्त कर सकें ॥ ९५ ॥

भोजनके पूर्व किये जानेवाले आचमनके रूपमें अगस्त्यने जब चारों सागरोंका पान कर लिया तब सप्तभुवनको मालूम हुआ कि कहीं हम ही न इनके भक्ष्य हों, ऐसा समझकर सप्तभुवन काँप उठे ॥ ९६ ॥

---

1 'विशुद्धसज्जी-', 'विशुद्धिसज्जी-'।

(सर्वतोऽवलोक्य सहर्षाद्भुतम् ।) अहो चिरेणाद्य चतुर्दशलोकैकदण्डधरे धर्मासनाधिकारिणि रामदेवे दण्डकारण्यगृहमेधिना तपोधनानामृद्धय ।

राम —(सलज्जस्मितं विमानवेगनाटितकेनाधोऽवलोक्य ।) कथं हिरण्यहरिणविहारकान्तारस्थलीनामुपरि प्रतिष्ठामहे ।

सुग्रीव —(सोपहासम् ।) इयं सा मारीचशरीरोपहाररक्षितात्मनो दशकण्ठस्य कपटभिक्षुवेषवि[1]डम्बनाडम्बरैकमर्मज्ञा पञ्चवटी । (सादरं च ।)

अपोशानकर्मानन्तरं भोजनस्य प्राप्तावसरतया कदाचिदस्मानेवाय मुनिर्भुञ्जीतेति चिन्तयाऽकम्पन्तेत्यर्थः ॥ ९६ ॥

चतुर्दशलोकैकदण्डधरे चतुर्दशभुवनशासके । धर्मासनम्-राज्यम् । दण्डकारण्यगृहमेधिनाम् दण्डकारण्यवासिनां गृहिणाम् सदाराणां तपस्विनाम् । ऋद्धय -अभ्युदयाः ॥

हिरण्यहरि । हिरण्यहरिणः काञ्चनमृगः तस्य विहाराय विचरणाय याः कान्तारस्थल्यो वनभूमयः तासामुपरि ऊर्ध्वदेशे प्रतिष्ठामहे चलामः । यत्र सम्प्रति वयं सञ्चरामस्तदधः एव हिरण्यहरिणविहारवनस्थली अस्तीति भावः ।

मारीचशरीरोपहाररक्षितात्मनः मारीचशरीरं दत्त्वा सुरक्षितस्वदेहस्य, यदि रावणो मारीचं मायामृगं विधाय नाघातयिष्यत्तदा सीताहरणकाले रामस्याश्रमस्थितया स्वयममरिष्यदिति रावणेन मारीचशरीरमुपहृत्यात्मा रक्षित इत्युक्तम् ॥ कपटभिक्षुवेषो मायाकल्पितपरिव्राजकरूपम्, तेन या विडम्बना वञ्चना तस्याडम्बरस्य विस्तारस्य मर्मज्ञा साक्षिणी ।

(चारों ओर देखकर हर्ष तथा आश्चर्यके साथ) अहा, बहुत दिनोंके बाद चतुर्दश भुवनशासक भगवान् रामके धर्मासनाधिकारी होनेपर दण्डकारण्यके तपस्वी गृहस्थ उत्सव मना रहे हैं ।

राम—(लज्जासे मुसकुराते हुए विमानके वेगके साथ नीचेकी ओर देखकर) क्यों, सुवर्ण-मृग मारीचके सचारवाले वनोंके ऊपर चल रहे हैं ।

सुग्रीव—(उपहासके स्वरमें) यही है वह पञ्चवटी जिसने मारीचकी देहको बलिदान करके अपनी जान बचानेवाले तथा कपटभिक्षु वेषके आडम्बरमें लगे रावणके व्यापारको आँखों देखा है ।

---

१ 'विडम्बनैक-' ।

विश्वामित्रमखद्विषे च वपुषा चित्रेण पत्युर्मुखा-
दृष्याकृष्टविदेहराजतनयानेत्रारविन्दाय च ।
मारीचाय नमो नमः किमपरं यस्मै कुले रक्षसां
द्वौ वारौ विभुनापि दाशरथिना चक्रे ततज्यं धनुः ॥९७॥

(माता लज्जते ।)

राम —(प्रस्रवणाचलं दर्शयन्सीतामपवार्य ।) देवि,
नक्तं रत्नमयूखपाटलमिलत्काकोलकोलाहल-
त्रस्यत्कौशिकभुक्तकन्दरतमाः सोऽयं गिरिः स्मर्यते ।

विश्वामित्रेति । विश्वामित्रमखद्विषे कौशिकयज्ञविनाशिने, चित्रेण आश्चर्यकरेण स्वर्णमयेन वपुषा देहेन पत्युर्मुखात् रामाननादपि आकृष्टमुत्कर्षेणाकृष्य नीतं विदेहराजतनयायाः सीतायाः नेत्रारविन्दं नयनकमलं येन तथोक्ताय च यस्मै मारीचाय रक्षसां कुले रक्षोदलमध्ये विभुना परमेश्वरावतारेणापि दाशरथिना रामेण द्वौ वारौ द्विधा धनुः ततज्यं धृतप्रत्यञ्चाकं चक्रे कृतम्, तस्मै मारीचाय नमो नमः । अयमाशयः—यस्मै मारीचाय सर्वानपि राक्षसान् सकृदेव चापमारोप्य मारितवतापि रामेण द्विधा धनुरारोपितम्, एकदा विश्वामित्रमखद्वेषकारिणि, अपरत्र च चित्रं वपुरादाय सीतानयनमपि राममुखादाकृष्टवति तदित्थं द्विधा रामबाणविषयतां गताय मारीचाय नमो नम इत्याशयः ॥ ९७ ॥

नक्तमिति । नक्तं रात्रौ रत्नमयूखपाटलाः मणिगणप्रभाभिः श्वेतरक्तवर्णतां गताः मिलन्तः दूरादागत्य सङ्गता ये काकोलाः द्रोणकाकाः तेषां कोलाहलेन कलरवेण त्रस्यन्तः भयं प्राप्नुवन्तो ये कौशिकाः घूकास्तैर्भुक्तम् अनुभूतम् कन्दरतमः गुहास्थितं तिमिरं यत्र तथोक्तः सोऽयं गिरिः प्रस्रवणः स्मर्यते ध्यानविषयीक्रियते,

(आदरके साथ) उस मारीचको नमस्कार है जिसके ऊपर भगवान् रामचन्द्रने दो-दो बार अपने बाण चलाये। पहली बार तब बाण चलाया था जब विश्वामित्रके यज्ञमें उपद्रव कर रहा था, और दूसरी बार तब जब वह चित्र शरीर बनाकर पञ्चवटीके वनोंमें घूम रहा था और उसके रूप पर आकृष्ट होकर सीताजीने उसकी ओर देखनेके लिये रामके मुखपरसे अपनी आँखें आकृष्ट कर ली थीं ॥ ९७ ॥

(सीता लज्जित होती है)

राम—(प्रस्रवणगिरिकी ओर दिखलाते हुए सीताके पास-कानमें) देवि,
यह वही पर्वत याद आरहा है, जिस पर्वतमें रात्रिके समय रत्न किरणोंकी लालिमामें मिलित द्रोणकाकों द्वारा किये जानेवाले कोलाहलोंसे डरे हुए कौशिक पक्षिगण कन्दराके

स स्थूलकरणो मदश्रुपयसामासीदवर्षन्नपि।
यद्धाराचलितैर्न शाखिभिरपि त्वत्पालितैर्मां तथा
दृष्ट्वा कन्दलितं न केकिभिरपि प्रारम्भि सङ्गीतकम्॥ १००॥

सीता—([1]मन्युगद्गदकण्ठग्रन्थिलस्वरा पुष्पकं प्रति।) विमाणराअ, सीदम्हि। ण दलदि उज्जेव वज्जमअं मे हिअअम्। तथा वि तुवरेहि। एसा अन्तरीअदु दण्डआरण्णविच्छोली। [विमानराज, सीतास्मि। न दलत्येव वज्रमयं मे हृदयम्। तथापि त्वरस्व। एषा अन्तरीयतां दण्डकारण्यपङ्क्तिः।]

राम—(विमानवेगमाटितकेन सीतां प्रति।) [2]देवि, इदमग्रे महारा

अवर्षन् वृष्टिमकुर्वन्नपि कादम्बिनीडम्बरं मेघमालाविस्तारं मदश्रुपयसा मदीयनेत्रजलानाम् स्थूलकरणं वृद्धिकरं आसीत्, अत्र त्वद्वियोगार्त्तेन मया मेघमण्डलं दृष्ट्वा रोदितुमुपक्रान्तमासीदित्यर्थः। मां तथा रुदन्तं दृष्ट्वा यस्य कादम्बिनीडम्बरस्य धाराभिः जलसम्पातैः चलितैः सिक्तैः त्वत्पालितैः त्वया पूर्वं पोषितैः शाखिभिः वृक्षैरपि न कन्दलितं न पल्लवितं धारासिक्तैः त्वत्पालितैः केकिभिर्मयूरैरपि सङ्गीतकम् न प्रारम्भि नारब्धम्, मेघमागतं दृष्ट्वा त्वद्वियोगेन मां रुदन्तं वीक्ष्य त्वत्पालिता वृक्षा मयूराश्च दुःखिनो जाता येन सिक्ता अपि वृक्षा न नवपल्लवप्रकाशनं वा सिक्ता अपि मयूरा नर्त्तितुमारभन्तेत्यर्थः। 'कादम्बिनी मेघमाला' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ १००॥

मन्युना प्राक्तनकष्टस्मरणदुःखेन गद्गदे जडे कण्ठे ग्रन्थिलः यद्धः स्वरः यस्याः तथाभूता सीतेत्यर्थः। अन्तरीयतां तिरोहिता भवतु। महाराष्ट्रमण्डलैकमण्डनम् देशभेदस्य महाराष्ट्रस्य मुख्यमलङ्करणम्।

फिर भी हमारी आखोंमें पानीकी बाढ सी आगर थी, धारा वृष्टि होनेपर भी मुझे उस दुःखकी स्थितिमें देखकर वृक्षोंने नवपल्लव नहीं प्रकट किये थे और मयूरोंने सगान भी छोड़ दिया था॥ १००॥

सीता—(दुःखसे भरे गलेसे पुष्पकके प्रति) विमानराज, मैं सीता हूँ, मेरा वज्रमय हृदय फटेगा नहीं, फिर भी शीघ्रता करो जिससे यह दण्डका वनकी भूमि छिप जाय।

राम—(विमानके वेगका अनुमान करके सीताके प्रति) महाराष्ट्र देशका अलङ्कार

१ मन्यूत्पीडगद्गद-'। २ 'देवि' इति क्वचिन्नास्ति।

भूमण्डलैकमण्डनं कुण्डिनं नाम नगरम् । इह हि

अनन्यक्षुण्णश्रीर्मलयवनजन्माऽयमनिलो
निपीय स्वेदाम्बु स्मरमकरसंभुक्तविभवम् ।
विदर्भीणां भूरिप्रियतमपरीरम्भरभस
प्रसङ्गादङ्गानि द्विगुणपुलकस्रञ्जि तनुते ॥ १०१ ॥

किं च—

[1]बिभ्रतीं कैशिकीं वृत्तिं सौरभोद्गारिणीं गिरः ।
दूराध्वजानोऽपि कवयो यस्य रीतिमुपासते ॥ १०२ ॥

अनन्येति । न अन्येन क्षुण्णा जिता प्राप्ता वा श्रीः शोभा यस्य तादृशः अनन्यक्षुण्णश्रीः अनितरसाधारणशोभः मलयवनजन्मा मलयाचलकाननप्रभवोऽयम् अनिलो वायुः दक्षिणानिलः स्मरमकरसंभुक्तविभवम् कामवाहनभूतमकराकृतिस्तनविरचितपत्रावलीपीनम् स्वेदाम्बु श्रमघर्मजलम् निपीय शोषयित्वा वैदर्भीणाम् भूरिप्रियतमपरीरम्भरभसप्रसङ्गात् बहुलीभूतप्रियतमालिङ्गनजनितहर्षवशात् अङ्गानि तासामेव वैदर्भीणां शरीरावयवान् द्विगुणपुलकस्रञ्जि द्विगुणीभूतरोमाञ्चानि तनुते विधत्ते । मलयोद्भितोऽनन्यसाधारणशोभाशाली वायुर्वैदर्भीणामङ्गेषु संगतस्तनदीयमकराकृतिपत्रावलीपीतशेषमपि स्वेदाम्बु शोषयित्वा प्रियालिङ्गनानन्दजातपुलकस्रजां द्वैगुण्यं विधत्ते इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १०१ ॥

बिभ्रतीमिति । दूराध्वानः सुदूरमार्गवर्तिनो भिन्नदेशीया अपि कवयः कैशिकीं वृत्तिं दधानां सौरभोद्गारिणीम् सुरभिख्यातिमतीम् यस्य विदर्भदेशस्य गिरो वाण्या रीतिं वैदर्भी नाम उपासते सेवन्ते । भिन्नदेशीया अपि कवयो यद्देशोद्भवां वैदर्भी रीतिं सेवन्ते, या वैदर्भी सौरभोद्गारशालिनीं कैशिकीं वृत्तिं धारयतीत्यर्थः । 'अस्पृष्टा

यह कुण्डिन नगर भूलोकका और दिखलाई दे रहा है ॥ यहीं पर—

मलयानिल सबसे पहले अनुपभुक्त सौरभके साथ यहीं आता है, कामदेवके चिह्न स्वरूप स्तनविरचित मकरने जिसके वैभवका उपभोग किया है उस स्वेद जलको सुखा देता है यहाँकी स्त्रियोंको प्रियतमालिङ्गनमें उत्साह वृद्धिके लिये उनके अङ्गोंमें दुगुने रोमाञ्च भी उत्पन्न कर देता है ॥ १०१ ॥

जिस विदर्भ देशकी रीति वैदर्भीको दूरदेशवर्ती कविगण भी अपनाते हैं क्योंकि वैदर्भी रीतिमें वाणीके परिमलको बनानेवाली कैशिकी वृत्ति वर्त्तमान रहती है ॥ १०२ ॥

१ 'बिभ्रत'।

विभीषण—(दक्षिणतो दर्शयन् ।) देव, प्रणम्यतामयमन्ध्रविषयलक्ष्म्या [1]सप्तगोदावरहारकलापैकनायको भगवान्भीमेश्वर । अयं हि

तत्कालारभटीविजृम्भणपरित्रासादिव [2]भ्रश्यता
वामार्धेन तदेकशेषचरणं विभ्रद्वपुर्भैरवम् ।
तुल्यं चास्थिभुजगभूषणमसौ भोगीन्द्रकङ्कालकै-
र्बिभ्राणः परमेश्वरो विजयते कल्पान्तकर्मान्तिकः ॥१०३॥

दोषमात्राभि समग्रगुणगुम्फिता । विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते । वृत्तिलक्षणं यथोक्तम्—'या विकासेऽथ सङ्कोचे विक्षेपे विस्तरे गिराम् । चेतसो वर्तयित्री स्यात्सा वृत्तिः सापि षड्विधा । कैशिक्यारभटी चैव तथा मध्यमकैशिकी । मध्यमारभटी चैव भारती सात्वती परा' । सुकुमारार्थसन्दर्भा कैशिकी तासु कथ्यते ॥१०२॥

तत्कालारभटीति । तत्काले नृत्यारम्भसमये या आरभटी प्रारम्भिकी क्रिया वृत्तिर्वा तया विजृम्भणम् कायवृद्धिस्ततो यः परित्रासो भयं तस्मादिव भ्रश्यता स्खलता वामार्धेन वनितारूपार्धभागेन एकशेषः एकमात्रावशिष्टश्चरणः पादो यत्र तादृशम् भैरवं भीषणं वपुः शरीरं दधत् धारयन्, भोगीन्द्रस्य वासुकेः कङ्कालकैः अस्थिभिः तुल्यम् समम् अस्थिभुजङ्गमयं भूषणं बिभ्राणः दधानः असौ कल्पान्तकर्मान्तिकः कल्पप्रलये कर्मकर्ता निखिलसंहर्ता परमेश्वरः शिवो विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते । नृत्यप्रारम्भिकक्रियायां कायवृद्धौ क्रियमाणायां वर्द्धमानं शिवस्य कायमालोक्यार्धनारीश्वरस्य तस्य देहार्धरूपभीतगौरीभागोऽधोभ्रष्टस्ततश्चैकपादावशिष्टं तस्य वपुर्भैरवमभूत्, किञ्च वासुकिनागो भूषणीकृतो भीत्या प्राणानमुञ्चत्ततश्च तत्कङ्कालैरेवास्थिभुजङ्गभूषणं ध्रियते स्म, एतादृशोऽसौ संहारकरो भगवान् शिवो जयतीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

विभीषण—(दक्षिणकी ओर दिखाते हुए) आन्ध्र देशकी लक्ष्मीरूप नायिकाके गलेमें सप्त गोदावर रूप जो हार है उसका सुमेरु यह भीमेश्वर महादेव हैं इन्हें प्रणाम कर लें।

यह नृत्यारम्भकालमें शरीरकी वृद्धि देखने ही डरकर जब वामार्ध गौरीका भाग अलग जा बैठता है तब एक ही चरणवाले भयङ्कर शरीर धारण कर लेते हैं, कङ्काल तथा सर्पका भूषण ज्यों का त्यों रह जाता है क्योंकि भूषणमें आये हुए सर्प ही मरकर कङ्काल बन जाते हैं और आकारमें सर्प भी रहते ही है। इस प्रकार प्रलयकारी भीमेश्वर की जय हो ॥ १०३ ॥

१ 'सप्तगोदावरी'। २ 'भ्राम्यता'।

राम —(कृताञ्जलिः ।)

नृत्यारम्भपरित्रसद्गिरिसुतारि[1]क्तार्धसम्पूर्तये
निर्व्यूढभ्रमिविभ्रमाय जगतामीशाय तुभ्यं नमः ।
यश्चूडाभुजगेश्वरप्रभृतिभिस्तादृग्भ्रमन्तीर्दिशः
पश्यद्भिर्भ्रमघूर्णमाननयनैः शान्तोऽपि न श्रद्दधे ॥ १०४ ॥

अपि च—

क्रीडानटस्य प्रलयान्धकारैः कण्ठे निपीते तव नीलकण्ठ ।
पृथक्कबन्धं पृथगुत्तमाङ्गं नृत्यद्भयादैक्षत कालरात्रिः ॥ १०५ ॥

नृत्यारम्भेति । नृत्यारम्भे नृत्यस्योपक्रमे परित्रसन्ती भीता या गिरिसुता पार्वती तया हीनस्य परित्यक्तस्य अर्धस्य स्वदेहार्धस्य सम्पूर्तये पूरणाय निर्व्यूढः समार्पितः भ्रमिविभ्रमो भ्रमणविलासो येन तथोक्ताय गौर्या भयात्त्यक्तेऽर्धभागे तद्विषयानुरागप्रकर्षेण तद्विरहासहिष्णुतया सद्य एव तत्सङ्गमाधिगमाय त्यक्तनृत्योपक्रमाय जगतामीशाय तुभ्यं शिवाय नमः । यो भवान् चूडाभुजगेश्वरप्रभृतिभिः शिरोभूषणवासुकिप्रभृतिभिः तादृक्पूर्ववदेव दिशो भ्रमन्तीः पश्यद्भिः भ्रमघूर्णमाननयनैः भ्रान्तनयनैः शान्तोऽपि निवृत्तनृत्योऽपि न श्रद्दधे निवृत्तो नृत्यादयमिति न विश्वस्य ज्ञातः । भवति नृत्यान्निवृत्तेऽपि वासुकिप्रभृतिभिर्दिशो घूर्णमाना विलोकयद्भिः भ्रमपतितदृष्टिभिस्तथा चेन्न भवान् प्रतीतः, सम्प्रत्यपि शिरो नृत्यत्ये वेति तेषां भ्रमो न निवृत्त इत्याशयः ॥ १०४ ॥

क्रीडानटस्येति । हे नीलकण्ठ, प्रलयान्धकारैः कल्पान्तकालिकमहान्धकारैः क्रीडानटस्य स्वेच्छागृहीतनटवेषस्य तव कण्ठे निपीते आच्छादिते सति कालरात्रिः भैरवी कबन्धं शिरोहीनं वपुः पृथक्, उत्तमाङ्गं शिरश्च पृथक् नृत्यत् भयात् सभयम् ऐक्षत । कण्ठे पिहिते योजकादर्शने द्वयोरपि कबन्धशिरोभागयोः पृथक् पृथक् नृत्यद्रूपतां विलोक्य भैरवी भीतिमभजतेति तात्पर्यम् ॥ १०५ ॥

राम—(हाथ जोड़कर) जिन महादेवने नृत्यारम्भमें डरती हुई पार्वतीसे खाली अपने अर्धाङ्गको पूर्ण करनेके लिए नृत्य ही छोड़ दिया, और जिनके नृत्यसे निवृत्त हो जानेपर भी—मस्तकपर वर्तमान सर्पराजको दिशाओंको घूमती देखकर डरा सा देखकर लोगोंको विश्वास नहीं होता है कि शिवने नाचना छोड़ दिया है, उनको नमस्कार है ॥

क्रीडार्थ नृत्य करनेवाले शिवजीका कण्ठदेश जब प्रलयान्धकारमें विलीन हो जाता है तब महाभैरवीको मालूम पड़ता है सिर अलग नाच रहा है और धड़ अलग नाच रहा है ॥

१ 'त्यक्तार्ध–' ।

(सर्वे नमन्ति ।)

राम—(अन्यतो दर्शयन् ।) देवि, द्रविडमण्डल¹मौलिमण्डनमाणिक्यमणिस्तबकमिदं काञ्चीनामधेयमायतनं मीनकेतनस्य । (सीतामपवार्य ।) इह हि

स्वेदजलपिच्छिलाभिस्तनुभिर्यूनां च शिथिलमाश्लेषम् ।
विपुलपुलकशलाकापटलं झटिति प्रतिकरोति ॥ १०६ ॥

अपि च—

अभिमुखपतयालुभिर्ललाटश्रमसलिलैरवधूतपत्रलेख ।

द्रविडेति । द्रविडमण्डलस्य द्रविडदेशस्य मौलिमण्डनं शिरोऽलङ्करणं यत् माणिक्यमणिस्तबकम् तादृशम् । आयतनं स्थानम् । मीनकेतनस्य कामदेवस्य ।

स्वेदजलेति । यूनां तरुणानां स्त्रीपुमानां स्वेदजलैः घर्माम्भोभिः पिच्छिलाभिः तनुभिः शिथिलम् गाढतामनाप्नुवन्तम् आश्लेषम् आलिङ्गनम् विपुलं घनं पुलकशलाकापटलं रोमाञ्चरूपशलाकासमुदयः झटिति प्रतिकरोति विघटमानं घटयति समाधत्ते । काञ्चीनामधेये नगरे स्थितानां यूनां स्वेदोदयेनालिङ्गनं गाढं न सम्भवति पिच्छिलत्वाद्वपुषां परजाते रोमाञ्चकण्टकेन पिच्छिलस्य वपुषो गाढालिङ्गनाक्षमत्व विनिवर्त्य गाढालिङ्गनं विधाप्यत इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

अभिमुखेति । अभिमुखपतयालुभिः मुखमार्गपातिभिः ललाटश्रमसलिलैः भालस्वेदजलैः अवधूता प्रोञ्छिता पत्रलेखा पत्रावलीरचना यस्मात् तथाभूत अत एव मृदितः विशुद्धनिष्कलङ्कः यो हिमद्युतिश्चन्द्रस्तद्वद् निर्मलः स्वच्छः कपोलः वधूनां पुरुषायितं विपरीतरतिं कथयति प्रकटीकरोति । ललाटस्वेदपातेन पत्रावली

(सभी प्रणाम करते हैं)

राम—(दूसरी ओर दिखलाते हुए) देवि द्रविडदेशके मस्तकको अलङ्कृत करनेमें मौक्तिक स्तबककी तरह दीखनेवाला यह, काञ्चीनगर कामदेवका निवास स्थान है। (सीताके प्रति दूसरोंसे छिपाकर)

यहाँपर पसीनेसे भीगे शरीरों द्वारा जब युवाओंके आलिङ्गनमें बाधा पडने लगती है तब उनका रोमाञ्च उनकी मदद करता है अर्थात् रोमाञ्चके द्वारा पिच्छिलता कुछ कम बाधक हो पाती है [illegible] है आलिङ्गनमें दृढता लानेका अवसर मिल जाता है ॥ १०६ ॥

सामने, गिरनेवा[illegible] ललाटपरकी जलबिन्दुओंसे जिनका पत्रावलिलेख धुल गया है

¹ मौलिमाणिक्य[illegible]निकम्' ।

कथयति पुरुषायितं वधूनां मृदितहिमद्युतिनिर्मलः कपोलः ॥ १०७ ॥

सुग्रीवः—(वामतो दर्शयन् ।) इयमितः शृङ्गारदेवतागर्भगृहमवन्तिविषयसीमन्तमौक्तिकमुज्जयिनी नाम राजधानी । इह हि

कमितुरभिसृत्वरीणां गौराङ्गीणामिहेन्दुगौरीषु ।
उड्डयमानानामिव रजनिषु परमीक्ष्यते छाया ॥ १०८ ॥

अपि च—

अधस्तात्सौधानामिह हि चरतामिन्दुकिरणा

मोञ्छितासु निर्मलचन्द्रवत् प्रतीयमानस्ताम्रा काञ्चीपुरयुवतीनां कपोलः तासां पुरुषायितं कथयतीत्यर्थः, पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ १०७ ॥

शृङ्गारेति । शृङ्गारस्य देवता कामदेवः तस्या गर्भगृहम् अन्तःपुरम् अवन्तिर्देशभेदः तस्य सीमन्तमौक्तिकम् केशरेखाऽलङ्कारमणिः ॥

कमितुरिति । इह उज्जयिन्याम् इन्दुगौरीषु चन्द्रकिरणोज्ज्वलासु रजनिषु रात्रिषु कमितुः कामिनः (समीपम्) अभिसृत्वरीणाम् अभिसारिकाणाम् गौराङ्गीणाम् नायिकानाम् उड्डयमानानां पक्षिणाम् छाया परं केवलं दृश्यते न शरीरम् इति भावः । गौराङ्गीषु श्वेताभिसारिकासु चन्द्रज्योत्स्नामिलितासु सतीषु तासां छायामात्रं दृश्यते न शरीरमिति तात्पर्यम् ॥ १०८ ॥

अधस्तादिति । इह उज्जयिन्याम् घनं वारंवारमुद्रन् विघटमानो यश्चञ्चुपुटस्तत्र निहितनेत्रा दत्तदृष्टयः युवतयः सौधानां हर्म्याणां अधस्तात् अधोभागे इन्दुकिरणान् चन्द्रकरान् चरताम् पिबताम् ज्योत्स्ना एव रसः पानीयं तस्य चुलुकः स्वल्पचर्मपुटस्तस्य कौतूहलम् कुर्वन्तीति ज्योत्स्नारसचुलुककौतूहलकृताम्

वैसा कपोल बता देता है कि यहाँकी युवतियोंने विपरीतरतिका अभ्यास किया है ॥ १०७॥

सुग्रीव—(बायीं ओर दिखलाते हुए) शृङ्गार देवताका अन्तःगृह अवन्तिदेशका सीमन्तमौक्तिक उज्जयिनी नामकी राजधानी यह इधर दीख रही है। यहाँ पर—

यहाँ अपने प्रियतमोंके पास चन्द्रधवल-रात्रियोंमें अभिसार करनेवाली स्त्रियोंकी छायामात्र ऐसी दीख पड़ती है मानों यह उड़नेवाली औरतोंकी छायायें हों ॥ १०८ ॥

सौधके ऊपर खड़ी स्त्रियाँ नीचेके चकोरोंका चन्द्रिकापान देख रही हैं वे देखती हैं कि चकोरोंकी चोंच खुली हैं वे धड़ाधड़ चन्द्रिकापान कर रहे हैं, उन स्त्रियोंकी आँखें

---

१ 'हिमद्युतिदुमना'। २ 'इह हि' इति क्वचिन्नास्ति ।

न्धनोद्ग्रथ[1]ञ्चञ्चूपुटनिहितनेत्रा युवतयः ।
चकोराणां ज्योत्स्नारसकुतुपकौतूहलकृता-
मुदीक्षन्ते नश्यत्तिमिरविशदाभोगमुदरम् ॥ १०९ ॥

अपि च—

इह युवतिवदनकान्तिभिराप्यायिततुन्दपरिमृजः शेते ।
भुक्तापभुक्तहिमरुचिमरीचिरन्तःपुरचकोरः ॥ ११० ॥

चन्द्रज्योत्स्नारूपपानीयादानकुतुपक्रीडामिवाभ्यस्यताम् चकोराणाम् पक्षिभेदानाम् नश्यति तिमिरे विशदः प्रकाशित आभोगोऽभ्यन्तरविस्तारो यस्य तादृशम् उदरम् उदीक्षन्ते ऊर्ध्वदेशात् पश्यन्ति । सौधाग्रस्था युवतयोऽधोभागे चन्द्रकिरणान् पिबत्सु चकोरेषु वारंवारं विघटमानेषु भूरि वा विघटमानेषु चकोराणां चञ्चुपुटेषु नेत्राणि निक्षिप्य ज्योत्स्नारूपपानीयादानं कुतुपैरिव कुर्वतां तेषां चकोराणां ज्योत्स्नानश्यत्तिमिरतया प्रकाशमानमुदराभोगं वीक्षन्ते । यथा क्वचन गृहे स्थितं वस्तु गवाक्षे दृष्टिं निक्षिप्य दृश्यते तथैवान्या युवतयश्चकोराणां चन्द्रिकापानाय विघटितेषु चञ्चूपुटेषु निक्षिप्तदृष्टयो ज्योत्स्नारसादानकुतुपक्रीडामिवाचरतां चकोराणामुज्ज्वलीभवन्तमुदराभोगं पश्यन्तीति भावः । 'कुतूः कृत्तेः स्नेहपात्रं सैवाल्पा कुतुपः पुमान्' इत्यमरः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १०९ ॥

इहेति । इह अस्मिन्नयित्याम् अन्तःपुरचकोरः भुक्ता अपभुक्ताश्च त्यक्ताश्च हिमरुचेश्चन्द्रस्य मरीचयः किरणा येन तथाभूतः सन्नपि युवतिवदनकान्तिभिः आप्यायितं पूर्णं पुष्टम् तुन्दं स्वोदरं परिमार्ष्टि परामृशति यस्तथाभूतः सन् शेते । अन्योऽपि भुक्तोज्झिताहारः पूर्णोदरश्च यदि सौरभ्यात्पुनरशनानि तदा तुन्दपरिमृजोऽलसो भूत्वा क्वचिच्छेते, अयमन्तःपुरचकोरोऽपि यथारुचि चान्द्रीं रुचो निपीय पानाशक्त्या परित्यज्य च पुनर्दृश्यमानेषु युवतिमुखेषु तत्कान्तीरप्याप्यासैरास्वाद्यास्मत्तुन्दः पुष्टः परिमृजन्नलसोऽन्तःपुरे शेत इत्यर्थः ॥ ११० ॥

हुली हुई चोंचकी राहसे पेट तक पहुँच जाती हैं और यह भी देखती हैं कि पीनचन्द्र किरणों से चकोरोंके उदरदेशमें वर्तमान तम भी मिटते आ रहे हैं ॥ १०९ ॥

यहाँपर चकोरोंको युवतियोंके वदनोंकी कान्तियाँ पर्याप्त मात्रामें पीनेको मिल जाती हैं जिससे उनकी बुभुक्षा शान्त हो जाती है और वे अलस हो जाते हैं, बादमें चन्द्रमाकी किरणोंको वह चकोर कुछ खाते कुछ इधर उधर बिखेर देते हैं और वहाँ सो जाते हैं ॥

[1] 'चञ्चूपथ–' ।

विभीषण—इहैवायमलकाया शाखानगरगौरवभाजि त्रिपुरदह-नाधिष्ठानप्रतिष्ठो भगवान्महाकालनाथः । अयं हि

उद्दामभ्रमिवेगविस्तृतजटावल्लीप्रणालीपत-
त्स्वर्गङ्गाजलदण्डिकावलयितं निर्माय तत्पञ्जरम् ।
सम्भ्राम्य[1] द्भुजदण्डपक्षपटलद्वन्द्वेन हंसायित-
स्त्रैलोक्यव्ययनाटिकानयनटः स्वामी जगत्त्रायताम् ॥१११॥

राम—(प्राञ्जलिः ।)

नमस्तुभ्यं देवासुरमुकुटमाणिक्यकिरण

अलकायाः कुबेरपुर्याः । शाखानगरस्य उपनगरस्य गौरवं भजते तादृश्याम् अलकासमायाम् । इह उज्जयिन्याम् । त्रिपुरदहनस्य शिवस्य अधिष्ठानेन निवासेन प्रतिष्ठा ख्यातिर्यस्य तथोक्तः महाकालनाथः तदाख्यशिवलिङ्गभेदः ।

उद्दामेति । उद्दामा महाभीषणा या भ्रमिः नर्त्तनभ्रमणं तद्वेगेन विस्तृता दीर्घीभूता जटावल्ली एव प्रणाली जलनिर्गममार्गः तस्याः तद्वर्त्मना पतन्ती या स्वर्गङ्गा तस्या जलान्येव दण्डिकाः शलाकाः ताभिः वलयितं वेष्टितम् यत् पञ्जरं तत् निर्माय कृत्वा सम्भ्राम्यन् भुजदण्डावेव पक्षपटलद्वन्द्वम् तेन हंसायितः हंससाम्यं गतः त्रैलोक्यस्य व्ययः संसारनाश एव नाटिका तस्या नयेऽभिनये नटः स्वामी शिवः जगत् त्रायताम् रक्षतु । अयमर्थः—यदा वेगेन भ्रमणे प्रवृत्ते जटासु विस्तृतासु तद्वर्त्मना गङ्गापयस्सु सहस्रधारीभूय पतत्सु तज्जलधाराशलाभिरिव निर्मिते पञ्जरे स्थितः भ्राम्यतोर्भुजयोर्दण्डोपमयोः पक्षयोरिव प्रतीयमानयोर्हंससाम्यं गतस्त्रिलोकीसंहारनाटकसूत्रधारः शिवो जगत् त्रायतामिति । रूपकालङ्कारः ॥ १११ ॥

नमस्तुभ्यमिति । देवासुराणां देवानामसुराणां च मुकुटेषु किरीटेषु यानि माणि-

---

विभीषण—इसी उज्जयिनीमें जो अलकाके शाखानगरका गौरव धारण करता है—कामदेवको जलानेकी प्रतिष्ठा धारण करनेवाले यह महाकालनाथ रहते हैं ।

प्रचण्ड भ्रमण वेगसे फैला जटारूप प्रणाली होकर गिरते हुए आकाशगङ्गाके जलरूप काठियोंसे पञ्जर सा बनाकर भ्रमण करनेवाले बाहुदण्डरूप पक्षोंसे हंसके समान प्रतीत होनेवाले तथा त्रिलोकके संहाररूप नाटिकाके अभिनयमें नट बननेवाले स्वामी महादेव जगत्‌का त्राण करें ॥ १११ ॥

राम—(हाथ जोड़कर) देव तथा असुरगणके मुकुटमें खचित माणिक्योंका किरण-

---

१ 'भुजदण्ड'।

प्रणालीसम्भेदस्नपितचरणाय स्मरजिते।
महाकल्पे स्वाहाकृतभुवनचक्रेऽपि नयने
निरोद्धुं भूयस्तत्प्रसरमिव कामं हुतवते ॥ ११२ ॥

किं च—

वेगाद्गतेऽपि तव त्रिनेत्र युग्मेतरस्मान्नयनात्कृशानौ।
कामे तु सम्मोहनशस्त्रहस्ते स्वाहामनुध्याय चिरं जडोऽभूत् ॥११३॥

कयानि रत्नानि तेषां किरणा एव प्रणालीसम्भेदाः जलनिर्गममार्गनिर्गतजलानि तैः स्नपितौ धावितौ चरणौ यस्य तथाभूताय प्रणिपतद्देवदानवमुकुटमणिद्युतिजलस्नपितपादद्वन्द्वायेत्यर्थः । महाकल्पे महाप्रलयकाले स्वाहाकृतं स्वहुताशे हुतं भुवनचक्रं जगन्मण्डलं यत्र तादृशेऽपि नयने निजतृतीयनेत्रे भूयः पुनः तत्प्रसरं स्वतृतीयनेत्रसञ्चारं निरोद्धुम् वारयितुमिव कामं हुतवते होमविषयं कृतवते स्मरजिते शिवाय नमः । देवदानवप्रणुतो यः शिवो जगन्मण्डलं संहृतवतो निजतृतीयनयनस्य प्रचारमवरोद्धुमिव कामं भस्मीकृतवान्, यद्ययं कामो नात्र हूयते तदा कुपितेनानेन तृतीयनेत्रेण पुनर्जगद्भस्मीक्रियेतेति तत्प्रतारणायैव कामं भस्मीकृतवते शिवाय नम इत्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ११२ ॥

वेगादिति । हे देव त्रिनेत्र शिव, तव युग्मेतरस्मात् तृतीयात् नयनात् कृशानुः अग्निः वेगात् जवात् कामसमीपं गतः किन्तु सम्मोहनशस्त्रहस्ते हस्तधृतसम्मोहननामकास्त्रे कामे स्वाहां नाम निजपत्नीम् अनुध्याय स्मृत्वा चिरं बहुकालपर्यन्तं जडः अक्रियोऽभूत् । प्रहरन् कामं दग्धुं त्वया तृतीयनयनात् प्रेरितोऽग्निः वेगेन कामस्य समीपं गतस्तत्र च कामस्य हस्ते सम्मोहनं नामास्त्रमालोक्य स वह्निः स्वपत्नीस्मरणं कर्तुं बाधितो भूत्वा चिरं किङ्कर्तव्यविमूढ आसीदित्याशयः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ११३ ॥

रूप नालोंसे निर्गत प्रभारूप जलसे जिनके चरण स्नपित हुआ करते हैं, और महाकल्पमें भुवनमण्डलको जलानेवाले दृष्टिके प्रसरको रोकनेके लिए ही जिन्होंने कन्दर्पको दग्ध कर दिया है ऐसे कामारिको नमस्कार ॥ ११२ ॥

हे त्रिनेत्र, आपके तृतीयनेत्रसे अनल तो बड़े वेगसे चला, कामके समीप पहुँचा, परन्तु वहाँ जब उसने कन्दर्पको सम्मोहनास्त्र लिये खड़ा देखा तब वह तृतीय नेत्रानल अपनी प्यारी स्वाहानामक स्त्रीको याद करने लगा इसीलिए ठिठका खड़ा रहा ॥ ११३ ॥

१ स्वाहाहुतं'।

(सर्वे नमन्ति ।)

सीता—(विहस्य ।) 'अहो तत्थभवदो ससहरसेहरस्स क्वलिद-चउद्दसभुवणस्स वि ण पलाइदा अस्सिदुबुभुक्खा जेण भअवं मअणो वि विआलिअग्गासीकिदो । [अहो तत्रभवतः शशधरशेखरस्य क्वलितचतुर्दशभुवनस्यापि न पलायिता अशितुबुभुक्षा येन भगवान्मदनोऽपि विकालिकग्रासीकृतः ।]

(सर्वे हसन्ति ।)

राम—(सविमर्शम् ।) अस्य हि भगवतः

बाणीभूतपुराणपूरुष[१]धृतिप्रत्याशया धाविते
विभ्राति स्फुरदाशुशुक्षणिकणक्लान्ते [२]शकुन्तेश्वरे ।

शशधरशेखरस्य चन्द्रशेखरस्य । क्वलितचतुर्दशभुवनस्य चतुर्दशापि भुवनानि सहृतवतः । न पलायिता न निवृत्ता । अशितुबुभुक्षा दृष्टक्षुधा । विकालग्रासीकृतः सायाह्नादिपरकालभोजनतां नीतः, यथा कृतभोजनेनापि साम्रदोपभोजनेच्छुना जनेन विकाले किञ्चिदल्पं भुज्यते तथैव चतुर्दशभुवनान्यप्यशित्वाऽशितुक्षुधायाम-निवृत्तायां शिवः कामदाहरूपं विकालाशनमिव कृतवानित्यर्थः ।

बाणीभूतेति । पुरा त्रिपुरदाहावसरे भगवान् विष्णुः शिवस्य बाणो जातः तद् बाणीभूतस्य शरस्वरूपं गृहीतवतः पुराणपुरुषस्य नारायणस्य धृतौ धारणे पृष्ठेन वहने या प्रत्याशा उत्कटेच्छा तया धाविते प्रस्थिते (किन्तु) स्फुरद्भिः प्रबलैः आशुशुक्षणेः अग्नेः कणैः क्लान्ते पीडिते शकुन्तेश्वरे पक्षिराजे गरुडे विभ्राति पलाय

(सभी प्रणाम करते हैं)

सीता—(हँसकर) महादेवजी आँखोंने चतुर्दश भुवनको ग्रास बना लिया फिर भी उनकी बुभुक्षा शान्त नहीं हुई जिससे कि उन्होंने कामदेवको जलपानके रूपमें ग्रास बना लिया ।

(सभी हँसते हैं)

राम—(विचार करके) इस महादेवका—

त्रिपुरासुरके दाहकालमें विष्णु जब उनके बाण बन गये थे तब अपने स्वामी विष्णुको अपनी पीठपर ढोनेकी लालसासे गरुड बाण बने हुए विष्णुके पास गये, परन्तु शिवजीके तृतीय नेत्र स्थित वह्निकी ज्वालामें झुलसकर भाग खड़े हुए, जब वह गरुड समीप आने

---

१ 'गति–'।　　२ 'पतङ्गेश्वरे'।

नम्रोन्नम्रभुजंगपुंगवगुणव्याकृष्टबाणासन-
क्षिप्तास्त्रस्य पुरद्रुहो विजयते संधानसीमाश्रमः ॥११४॥

(अन्यतो दर्शयन् ।) इयं च [1]कलचुरिकुलनरेन्द्रसाधारणाग्रमहिषी माहिष्मती नाम चेदिमण्डलमुण्डमाला नगरी । इह हि

आश्लेषचुम्बनरतोत्सवकौतुकादि

माने सति नम्रः गरुडोपसर्पणजन्यभयान्नतः उन्नम्रः तदपसरणादुन्नतश्च यो भुजंगपुंगवः सर्पराजः स एव मौर्वी प्रत्यञ्चा तेन व्याकृष्टं चलं यत् शरासनम् धनुस्तेन क्षिप्तम् अस्त्रम् येन तथाभूतस्य पुरद्रुहः शङ्करस्य संधाने शरयोजने सीमाश्रयत्ता तत्र श्रमः विजयते । त्रिपुरारेः शिवस्य त्रिपुरदाहोपक्रमे भगवान् विष्णुः शरस्वरूपतां गतो वासुकिश्च प्रत्यञ्चारूपत्वं गतः, विष्णोर्वाहनगरुडस्तथाभूतमपि विष्णुं वोढुमुत्कण्ठमानस्तत्समीपमागन्तुमुपचक्रमे समीपमुपसरन्नेवासौ तृतीयनयनज्वालयाऽवलीढसर्वाङ्गवयवस्सन् पुनः पदं पलायितः, समीपमागच्छतस्तस्माद् भयेन वासुकिर्नमति स्म, तस्मिन्नपयाति चोन्नमति स्म, तदेव तस्य वासुकेः प्रत्यञ्चारूपस्य नमनोन्नमनयोर्जायमानयोः शरः क्षिप्तो जातस्तदा च पुनः शरोऽयोज्यत पुनः क्षिप्ते शरेऽन्यः शरो योजित इति शरयोजनायास एव विजयते कस्तया वर्णितो बोध्यः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११४ ॥

करचुरिकुलं कार्त्तवीर्यार्जुनवंशस्तत्र ये नरेन्द्राः राजानस्तेषां साधारणी एकमात्रा अग्रमहिषी ज्येष्ठा भार्या । चेदिमण्डलस्य चेदिराज्यस्य मुण्डमाला मस्तकालङ्करणभूता ।

आश्लेषेति । आश्लेषः आलिङ्गनम् चुम्बनम् रतोत्सवः सुरतमसक्तिश्च एते

थे तब प्रत्यञ्चा बने हुए नागराज नम्र हो जाते थे, और जब वह तापासहिष्णु होकर दूर चले जाते थे तब नागराज शुद्ध व नत हो जाते थे, इसलिए प्रत्यञ्चाके चलायमान होते रहनेसे बाण बहुत तेजीसे छूटने लगे, अतः महादेवको तीव्रताके साथ बाण संधान करना पड़ा, महादेवका वह श्रम विजय लाभ करे ॥ ११४ ॥

(दूसरी ओर दिखलाते हुए) करचुरी कुलके नृपतियोंकी साधारण पटरानी तथा चेदिमण्डलकी शिरोभूषण स्वरूप यह है माहिष्मती नगरी । यहाँपर आलिङ्गन, चुम्बन, रतोत्सव आदि धनका पण बना करते हैं और उस धन का मध्यस्थ बनता है कामदेव ।

---

१ 'करचुलि-'।

क्रीडादुरोदरपणप्रतिभूरनङ्गः ।
[1]भोगस्तु यद्यपि जये च पराजये च
यूनोर्मनस्तदपि वाञ्छति जेतुमेव ॥ ११५ ॥

(विमानवेगं रूपयित्वा ।) देवि,[2]

देव्या भूमेर्मृगमदमषीमण्डनं सिद्धसिन्धोः
सध्रीचीयं जयति यमुना या तटैकाग्रवृत्तीन् ।
प्रेमोत्कर्षादिव पितृपतेर्भ्रातुराच्छिद्य हस्ता-
द्धस्ताग्राद्गमयति पितुर्मण्डलं [3]चण्डभानोः ॥ ११६ ॥

आद्यो यस्यास्तादृशो यो दुरोदरपणः द्यूतक्रीडाशुल्कम् तस्य प्रतिभूः प्रवर्तको मध्यवर्ती विश्रामदायकः अनङ्गः कामदेव एव। यद्यप्यत्र दुरोदरे जये पराजये च भोगः परस्पराश्लेषादिरूपः समान एव तथापि यूनोर्मनः जेतुमेव वाञ्छति। कामदेवेन मध्यस्थीभूय प्रवर्तिते आश्लेषादिपणे द्यूते जयपराजययोरन्तरं नास्ति भोगस्योभयसमानियतत्वात्तथापि युवानौ जेतुमिच्छतः प्रत्येकमिति भावः ॥११५॥

देव्या इति। भूमेर्धरायाः देव्याः मृगमदः कस्तूरी एव श्यामतया मषी तया मण्डनम् अलङ्करणभागम् पृथ्व्या भुवि कस्तूरीकृतलेखवत् प्रतीयमाना सिद्धसिन्धोर्गङ्गायाः सहचरी सध्रीची इयं यमुना जयति। या यमुना तटैकाग्रवृत्तान् एकाग्रमनसा तटवर्तिनो जनान् भ्रातुः स्वसोदरस्य पितृपतेर्यमराजस्य हस्तात् आच्छिद्य बलादपहृत्य प्रेमोत्कर्षात् स्नेहातिशयादिव अस्ताबाधं निर्विघ्नं पितुः चण्डभानोः सूर्यस्य मण्डलं नयति प्रापयति। इयं हि यमुना पृथ्व्या मृगमदलेख

यद्यपि हम यूनोंका जीत तथा हार दोनों स्थितियोंमें भोग समान है तथापि युवकोंको जीतनेकी ही इच्छा होती है ॥ ११५ ॥

(विमानके वेगका अनुभव करके) देवि,

देवी पृथ्वीके लिए कस्तूरी लेप भूषाकी तरह दीखने वाली, गङ्गाकी सहेली यह यमुना अपने तटपर रहनेवाले जनोंको प्रेमकी प्रचुरताके कारण अपने भाई यमराजके हाथोंसे बलपूर्वक छीनकर अपने पिताके मण्डल तक पहुँचा देती है जहाँ किसी प्रकारका कोई क्लेश नहीं होता है ॥ ११६ ॥

१ 'भोगस्तु यदपि जयेऽपजये च तुल्यो' 'भोग स यदपि जये विजयेऽपि तुल्यो'।
२ 'देवि' इति क्वचिन्नास्ति।　　३ 'भास्करस्य'।

लक्ष्मण —(दूरमङ्गुल्या दर्शयन् ।)

त्रिपुरहरकिरीटक्रीडितैः क्रीडयद्भि-[1]
भुवनममृतभानोर्बालमित्रैः पयोभिः ।
सगरसुतचितायाः पावनी तोयराशे-
रियमियमघमग्रे जाह्नवी निह्नुते नः ॥ ११७ ॥

राम —(सहर्षम् ।)

गौरीविभज्यमानार्धसंकीर्णहरमूर्धनि ।
अम्ब द्विगुणगम्भीरे भागीरथि नमोऽस्तु ते ॥ ११८ ॥

सभा प्रतीयमाना स्वतटागतान् जनान्यमपाशाद् मोचयित्वा सूर्यमण्डलं मोक्षमार्गं प्रापयतीत्यतिशयवतीयमिति भावः ॥ ११६ ॥

त्रिपुरहरेति । त्रिपुरहरकिरीटक्रीडितैः शिवशिरोदेशविहितवासैः भुवनं विश्वं क्रीडयद्भिः प्रसन्नतां प्रापयद्भिः अमृतभानोश्चन्द्रस्य बालमित्रैः बालसखैः पयोभिः पानीयैः सगरसुतचितायाः सगरसुतानां कपिलकर्तृकदाहस्थानभूतस्य तोयराशेः सागरस्य पावनी पवित्रताकारी अग्रे इयम् जाह्नवी नः अस्माकम् अघम् पापं निह्नुते अन्तर्दधाति । यानि पयांसि शिवशिरस्यक्रीडन्त यानि च जगत्प्रसन्नमकुर्वत, यानि चन्द्रपादैस्सह बालसखित्वमभूवत, तैरेव स्वपयोभिः सगराणां कपिलेन कृतस्य दाहस्य स्थानभूतं सागरं पुनन्ती इयं जह्नुतनया गङ्गाऽस्माकमघमेश्पद एव विनाशयतीत्यर्थो बोध्यः, आदरातिशयकृते सम्भ्रमे इयमियमिति द्विरुक्तिः ॥११७॥

गौरीति । अम्ब, मातः, भागीरथि गङ्गे, गौर्या विभज्यमानम् अर्धम् अर्धभागं तेन सङ्कीर्णे स्वल्पीभूते हरस्य मूर्धनि अर्धनारीश्वरस्य शिरोऽर्धभागे द्विगुणगम्भीरे द्विगुणीभूतगाम्भीर्ये, (अविस्तृते प्रदेशे नद्यः सङ्कीर्णा किन्तु गम्भीरा वहन्तीत्याशयेनेदं विशेषणम्) ते तुभ्यं नमः ॥ ११८ ॥

लक्ष्मण—(अङ्गुलिसे दूर तक दिखाते हुए) महादेवके सिरपर खेलनेवाले तथा चन्द्रमाके बालमित्र जलोंसे सगरपुत्रोंकी चितास्वरूप सागरको पवित्र करनेवाली यह गङ्गा हमारे पापोंको दूर करे ॥ ११७ ॥

राम—(सहर्ष) पार्वती द्वारा आधे अङ्गके विभाजित कर लिये जानेपर सङ्कीर्ण हो गये महादेवके मस्तकपर द्विगुण-गम्भीर होकर बहनेवाली भागीरथि, तुमको नमस्कार करता हूं ॥ ११८ ॥

---

१ 'प्रीणयद्भि'।

(माता प्रति ।) देवि, वन्दस्व ।

देवस्याम्बुजसम्भवस्य भवनादम्भोधिमागामुका[1]
सेयं मौलिविभूषणं भगवतो भर्गस्य भागीरथी ।
उद्यातानपहाय विग्रहमिह स्रोतःप्रतीपानपि
स्रोतस्तीव्रतरत्वरा गमयति द्राग्ब्रह्मलोकं जनान् ॥११९॥

सीता—(कृताञ्जलि ।) एसा णिअस्सोतसिङ्खलासंदाणिदतिहुअणा मन्दाइणि वन्दिज्जसि ।

(सर्वे नमन्ति ।)

लक्ष्मण —(अन्यतो दर्शयन् ।)

देवस्येति । अम्बुजसम्भवस्य कमलयोनेर्देवस्य ब्रह्मणः भवनात् गृहात् तारकमण्डलो अम्भोधिम् सागरम् आगामुका आगन्तुकामा भगवतो भर्गस्य शिवस्य मौलिविभूषणम् सेयं भागीरथी विद्यते इति शेषः । इह भागीरथ्यां विग्रहं कलेवरम् अपहाय त्यक्त्वा उद्यातान् ऊर्ध्वंगतान् स्रोतःप्रतीपान् प्रवाहप्रतिकूलगामिनः अपि जनान् स्रोतस्तीव्रतरत्वरा प्रवाहापेक्षयाऽप्यधिकेन वेगेन गमनशीला इयं भागीरथी द्राग् झटिति ब्रह्मलोकं गमयति । ब्रह्मकमण्डलो सागरं गच्छन्त्यस्याः भागीरथ्या ये जनाः शरीरं त्यक्त्वा म्रियमाणान् जनानिव भागीरथी प्रतिकूलप्रवाहाभिमुखं प्रवाहाभिमुख्येनापि तीव्रतरं धावित्वाऽतित्वरया ब्रह्मलोकं प्रापयतीत्यहो अस्या माहात्म्यमिति भावः ॥ ११९ ॥

(सीताके प्रति) देवि, गङ्गामाताको प्रणाम करो ।

कमलयोनि ब्रह्माके घरसे समुद्र तक आनेवाली तथा महादेवके मस्तकको अलङ्कृत करनेवाली यही हैं भगवती भागीरथी । इसके तटपर जो लोग शरीर त्याग करते हैं उन्हें यह प्रवाहके विरुद्ध दिशामें प्रवाहकी अपेक्षा तेजीसे चलकर शीघ्र ब्रह्मलोक पहुंचा देती हैं ॥ ११९ ॥

सीता—(हाथ जोड़कर) इस गङ्गाने अपने प्रवाहरूप कड़ियोंसे त्रिभुवनको बाँध रखा है, भागीरथि, आपको नमस्कार करती हूँ ।

(सभी प्रणाम करते हैं)

लक्ष्मण—(दूसरी ओर दिखलाते हुए)

---

१ 'आगामुकी' । ... ।

धनाधिनाथप्रणयानुरोधादभग्नकैलासनिकेतनस्य ।
देवस्य कल्पान्तकपालपाणेर्वाराणसी नाम पुरी पुरस्तात् ॥१२०॥

राम —(सहर्षमवलोक्य ।)
प्लवमानैरपारोऽयं जनैः संसारसागरः ।
द्वीपे वाराणसीनाम्नि विश्रान्तैरिह तीर्यते ॥ १२१ ॥

अपि चैना नित्यमध्यास्ते भगवान्,
कण्ठच्छायनिपीतपन्नगफणारत्नौघमात्रस्थितौ
हारे निर्भयपार्वतीभुजलताबन्धोल्लसत्कन्धरः ।

धनाधिनाथेति । पुरस्तात् अग्रतः धनाधिनाथस्य कुबेरस्य यः प्रणयः स्नेहस्तदनुरोधात् अभग्नम् अत्यक्तम् कैलासनिकेतनम् येन तथोक्तस्य कुबेरस्नेहानुरोधात् कैलासे निवसतः कल्पान्ते प्रलये कपालपाणेः कपालं करे धृत्वा भ्रमतः देवस्य शम्भोः वाराणसी नाम पुरी पुरस्तात् अग्रे दृश्यत इति शेषः ॥ उपजातिर्वृत्तम् ॥१२०॥

प्लवमानैरिति । अयं संसार एव सागरः प्लवमानैः सन्तरद्भिर्जनैः अपारः तरीतुमयोग्यः किन्तु इह वाराणसीनाम्नि द्वीपे विश्रान्तैः सद्भिः तीर्यते । अयमाशयः —यथा कश्चित्सागरः सकृदारम्भमात्रेण न तर्तुं शक्यः प्रवाहस्य निस्तृतत्वात्, किन्तु मध्ये मध्ये द्वीपेषु विश्रम्य तर्तुं शक्यते, तथैवायं संसारसागरोऽपि काशीनामके द्वीपे विश्रम्य तर्तुं शक्यत इति ॥ १२१ ॥

कण्ठच्छायेति । कण्ठस्य छाया प्रतिबिम्बम् कण्ठच्छायम् तेन निपीतं निदर्शनेन पीतं तिरोहितं पन्नगफणारत्नौघः सर्पफणामणिकान्तिचयः तन्मात्रेण अस्तकान्तिस्वरूपेण स्थिते हारे नागहारे निर्भयाया फणामणिनिह्नवेन वासुकेरसद्भावसुप्रेक्ष्य गतभीतेः पार्वत्या भुजलतया बन्धेन अशिथिलालिङ्गनेन उल्लसन्ती

धनाधिनाथ कुबेरके स्नेहानुरोधसे महादेवने कैलासरूप अपना पुराना वासस्थान नष्ट नहीं किया, परन्तु प्रलयकालमें कपालपाणि बननेवाले शिवजीका वासस्थानभूत वाराणसी ही है जो आगे दिखलाई पड़ रही है ॥ १२० ॥

राम—(हर्षसे देखकर) यह संसारसागर तैर करके पार करनेवालोंके लिए अपार है, इस वाराणसी नामक द्वीपमें विश्राम करनेपर संसारसागरका पार प्राप्त किया जा सकता है ॥ १२१ ॥

इस वाराणसीमें महादेव सदा रहा करते हैं ।

महादेवके गलेकी काली छायाके पड़नेसे सर्पफणामणि प्रच्छादित॰ हो जाती है, पार्वती

नत्पर्यङ्कविषमवामनतमैरेव स्वरै सामग
विभ्रद्ब्रह्मशिर शिवाय जगतामेणाङ्कचूडामणि ॥१२२॥

([1]अन्यतो दर्शयन्, सीतां प्रति ।) देवि, दृश्यतामित ।

नवोन्मीलन्मौर्वीकिणनिकरकार्कश्यसदय
प्रवृत्तस्त्वत्पाणौ किमपि निविडं पीडयति मे ।

शोभमाना कन्धरा यस्य स तथोक्त । पूर्वं पार्वतीहरकण्ठे स्थितात्सर्पाद्बिभ्यती न कण्ठग्रहेण नानन्दयति स्म, सम्प्रति कण्ठस्य नीलप्रभया अन्तर्हिते फणामणिदीप्तिचये सर्पस्यासम्भावनुप्रेक्षय पार्वती तस्य कण्ठ बाहुभ्यामाश्लिष्टवती येन तस्य कन्धरा उल्लासमभजदित्यर्थ । तत् प्रसिद्धमतिप्रिय वा सर्वाङ्गविरामेण सकलाङ्गविनाशेन वामनतरै नर्वता गत ह्रस्व एव स्वरै सामगम् सामवद्गायक ब्रह्मशिर ब्रह्मण कपाल बिभ्रत् धारयन् एणाङ्कचूडामणि मृगाङ्कशेखर शिव जगता शिवाय जायतामिति शेष ॥

शाश्वतरूपस्या शिवोऽनेनेपा ब्रह्मणा विनाश पश्यतीति तत्कपालधारितयाऽत्र वर्णित, तत्कपाल ब्रह्मान्तरसद्भावहितमिति मन्दस्वरेणैव साम गायतीत्युत्प्रेक्षा । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ १२२ ॥

नवो नान्दिति । यस्या पुर्यां मिथिलायाम् नवात्नू सद्य सञ्जायमान मौर्वीकिणनिकर प्रत्यञ्चाघर्षणोत्पन्नव्रणार्बुदसमूह, तत्कार्कश्यात् हेतो सदयप्रवृत्त त्वत्पाणि सदय ग्रहीतु प्रवर्तमान (अस्या कोमल करो मया नवोदितव्रणकिणकर्कशेन बलवद् गृह्यमाणो व्यथेतेति विभाव्य सदयमेव तव कर कलयितु व्यापृत) मे मम कर किमपि स्नेहातिरेकवशादनिर्वचनीयरूपेण निविड गाढ

का सर्पभय निवृत्त हो जाता है और वह निर्भय भावसे शिवका कण्ठालिङ्गन कर लेना है जिससे शिवकी ग्रीवा उल्लसित हो उठती है। प्रलयकालमें ब्रह्माका सारा शरीर समाप्त रहता है केवल कपाल रह जाता है अतएव वह कपाल मन्दस्वरसे ही सामगान करता है उसी कपालको महादेव धारण करते हैं, ऐसे चन्द्रचूड शिव विश्वका कल्याण करें ॥१२२॥

(दूसरी ओर दिखलाते हुए) (सीताके प्रति) देवि, इधर देखो,

हमारे हाथमें ताजे बने प्रत्यञ्चाघर्षणजन्य व्रणकिण थे, अत हम चाहते थे कि तुम्हारे कोमल हाथको कष्ट न पहुचे अत हमने कोमलरूपमें तुम्हारा हाथ पकडनेकी चेष्टा की थी

१. 'अन्यच्च' ।

कृतार्थोऽद्य यस्यां समजनि कर सैव पुरत-
पुरी पूर्वेषां ते नयनमियमालानयति न ॥ १२३ ॥

सीता—(सस्मितानुराग [1]साचीकृताक्षी राम पश्यन्ती पुरीं प्रति ।) अम्ब मिहिले, वन्दिज्जसि । गुरुअणे जि वन्दण मे णिण्णवेसि । [अम्ब मिथिले, वन्द्यसे । गुरुजनेऽपि वन्दन मे विज्ञापयिष्यसि ।]

राम —(सुग्रीवविभीषणौ प्रति ।) [2]वयस्यौ, इय सा जानकीं प्रजायमानाया भगवत्या भूमेररिष्टमन्दिर मिथिला ।

[3]सुग्रीवविभीषणौ—(सकौतुकस्मितम् ।) यत्र भगवत [4]पार्वतीजीवितेश्वरस्य [5]धनुर्धनुरन्तेवासिनावजगवभार्गवौ भञ्जतो भवत सहपांसुक्रीडादीर्घसखीव वीरलक्ष्मी ।

-त्त्पाणौ पीडयति सति (सदय प्रवृत्तस्य मम करस्य तव पाणिनैव गाढ ग्रहणे क्रियमाणे सति) कृतार्थं धन्य अजनि जात सैव ते तव पूर्वेषा पूर्वजानामिय पुरी न अस्माक नयनम् आलानयति बध्नाति आकर्षति ॥ १२३ ॥

प्रजायमानाया जनयन्त्या । अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र जनि । अरिष्टमन्दिरम् सूतिकागृहम् ।

पार्वतीजीवितेश्वरस्य हरस्य । धनुर्धनुर तेवासिनौ धनुश्चाप धनुरन्तेवासी चाप

परन्तु जब तुम्हारे हाथने दया हमारे सदयप्रवृत्त उस हाथको ओरोंसे थाम लिया तब हमारा हाथ तुम्हारे प्रेम प्रबधका पता पाकर धन्य हो उठा, यह सारी घटना जिस नगरीमें हुइ वही यह तुम्हारे पूर्वजोंकी मिथिला नगरी हमारी आँखोंको आकृष्ट कर रही है ॥ १२३ ॥

सीता—(मुस्कुराहट तथा प्रेमके साथ कुटिलदृष्टिसे रामकी ओर देखती हुइ पुरीके प्रति) अम्ब मिथिले, वन्दना करती हू, कृपया मेरे गुरुजनोंसे भी मेरी वन्दना निवेदित कर देना ।

राम—(सुग्रीव और विभीषणके प्रति) मित्रो, जानकीको उत्पन्न करनेवाली पृथ्वी का सूतिकागृहस्वरूप मिथिला यही है ।

सुग्रीव और विभीषण—(कुतूहलके साथ हँसकर) यहींपर शिवजीके धनुष तथा धनुर्वेद विद्याके शिष्य परशुरामका भङ्ग करके आपने साथ साथ धूलिक्रीडा करनेवाली वीरलक्ष्मी प्राप्त की थी ।

---

१ 'कृताक्षी' । २ 'वयस्यौ' इति क्वचिन्नास्ति । ३ 'तौ सकौतुकम्' । ४ 'पार्वतीदयितस्य' । ५ 'धेनुरन्तेवासिनौ' ।

राम —([1]सलज्जस्मितमन्यतो दर्शयन्सीतां प्रति ।) देवि, इयं पुनस्त-तोऽपि पुरस्ताच्चम्पा नाम गौडानां विनयमधुरशृङ्गारविभ्रमरमणीया [2]मक-रकेतनकुमारव्रतचर्यातपोवनमिव राजधानी । (अपवार्य च ।) इह हि

रोमाञ्चोच्छ्वसदङ्ग[3]सन्धिनिबिडैरालिङ्गनैर्यामिनीं
　　शेषीकृत्य विवृण्वते निजरहश्चातुर्यमेणीदृशः ।
यष्टिस्थे सपदि प्रदीपमुकुले दग्ध्वा दशां मल्लिका
　　तैले प्रज्वलति स्तृणोति वसतीर्यत्राभिदघ्नं तमः ॥ १७४ ॥

विद्याशिष्यश्च तौ अजगवभार्गवौ अजगवनामकं धनुः भार्गवः परशुरामश्च तौ । भञ्जत धनुर्भञ्जयत परशुरामं पराजयमानस्येति यथोपयोगमथ । सहपांसुक्रीडादीर्घसख्यौ बाल्यावस्थायामेव सङ्गता वीरता ।

विनयेति । विनयेन नम्रतया मधुरः मनोहरः शृङ्गारविभ्रमः कामकलाविलासस्तेन रमणीया । मकरकेतनस्य कामदेवस्य कुमारव्रतचर्या ब्रह्मचर्यतपस्या तदर्थं तपोवनम् इव, सततसन्निहितजागरूकत्वात्कामदेवस्य तथोक्तम् ।

रोमाञ्चोच्छ्वसदिति । एणीदृशो मृगनयनाः कामिन्यः रोमाञ्चेन उच्छ्वसता परिणाहमागच्छताङ्गसन्धिना समस्ताङ्गेन निबिडैः गाढैः आलिङ्गनैः यामिनीं रजनीं शेषीकृत्य किञ्चिन्मात्रावशिष्टां कृत्वा सपदि सम्प्रति प्रभातप्रायायां निशि यष्टिस्थे दीपाधारदण्डस्थिते प्रदीपमुकुले दीपाङ्कुरे दशां वर्तिं दग्ध्वा मल्लिकातैले मल्लिकादिसुगन्धिपुष्पनिर्मिततैले प्रज्वलति सति यत्र यदा अभिदघ्नं नाभिप्रमाणं तमः स्तृणोतु व्याप्नोतु तदा निजरहश्चातुर्यम् स्वीयं सुरतपाटवं विवृण्वते प्रकटयन्ति । अत्रत्याः स्त्रियः समस्तां निशां दृढालिङ्गनैर्यापयित्वा अल्पशेषायां निशि दीपस्थ

राम—(लज्जाकी हँसीके साथ दूसरी ओर दिखलाते हुए सीताके प्रति) देवि मिथिलासे भी पूर्व दिशामें वर्तमान यह गौडदेशकी राजधानी चम्पापुरी है जो नम्रता तथा शृङ्गार विलाससे रमणीय है और जो कामदेवके ब्रह्मचर्यका तपोवन माना जाता है ॥

(दूसरोंसे बचाकर सीतामात्रके प्रति)

इस चम्पापुरीमें रोमाञ्चसे उच्छ्वसित होनेवाले अङ्गोंसे प्रियतमोंको गाढ आलिङ्गन करके स्त्रियाँ रात्रिको स्वल्प शेष कर देती हैं, पीछे जब दीपदण्डपर स्थापित दीप बत्तीके निःशेष दग्ध हो जानेसे मल्लिका तैलको जलाने लगता है जिससे प्रकाश दीप मध्यमें चला जाता है और नीचे अन्धकार व्याप्त हो जाता है तब अपना रतिकौशल प्रकट करती हैं ॥ १७४ ॥

---

१ 'सस्मितम्' ।　२ 'मकरकेतु-' ।　३ 'अङ्गसङ्ग' ।

लक्ष्मण —(अग्रे दर्शयन्।) एते भगवत्यौ भूमिदेवानां मूलायतनमन्तर्वेदीं [1]पूर्वेण कृष्णागुरुमलयजमयमङ्गरागमिवान्योन्यस्य कुर्वाणे कलिन्दकन्यामन्दाकिन्यौ सगच्छेते।

हिमालयोत्सङ्गसदाधिवासतो जातेव पाण्डुः प्रतिभाति जाह्नवी।
निदाघभानोः पितुरङ्कलालनात्कृतेव [3]काली यमुना च दृश्यते ॥१२५॥

दशाया दग्धायां तत्तैले प्रज्वलति सति तद्दीपाधोदेशेऽन्धकारव्याप्तौ गृहस्थशयनीयतल्पस्यान्धकारावृततायां सुरते प्रवर्त्तन्त इत्यथ, यावत् दशा ज्वलति तावत्समस्तगृहे प्रकाश इति ता लज्जन्ते ता च लज्जा गाढाश्लेषेण गोपयन्ति, यदा च तैलं ज्वलति तदा दीपाधोभागे तमो व्याप्तेरानुभविकतया ता सुरतमारभन्त इत्यहो चातुर्यं तासामिति भावः ॥ १२४ ॥

भूमिदेवानाम् ब्राह्मणानाम्। मूलायतनम् आदिम वासस्थानम्। अन्तर्वेदीम् नामप्रदेशम्। पूर्वेण पूर्वस्यां दिशि। कृष्णागुरु कृष्णवर्णमगुरु, मलयज चन्दनम्। अङ्गरागम् अङ्गविलेपनम्। अन्योन्यस्य परस्परस्य। अयमाशय —प्रयागे यमुना गङ्गे सङ्गते, तत्रान्योन्यमिलिते इत्थं प्रतीयेते यथा ते परस्परम् अङ्गरागमिव कुर्वाते, तत्र यमुना गङ्गाया देहे कृष्णागुरुकृतमङ्गरागं लिम्पति गङ्गा च यमुनाया वपुषि चन्दनाङ्गरागं लिम्पति, अर्थात् यमुनापानीयसम्पर्केण गङ्गाऽऽदौ श्यामा प्रतीयते एवमेव गङ्गापानीयसम्पर्केण यमुनाऽपि शुक्ला प्रतीयते इति।

हिमालयेति। जाह्नवी गङ्गा हिमालयस्य उत्सङ्गे क्रोडे सदाधिवासतः सततावस्थानात् पाण्डुः शुभ्रा जाता (शीते स्थाने वसतः शुभ्रता प्रसिद्धा) इव प्रतिभाति प्रतीयते। यमुना च पितुः स्वजनकस्य निदाघभानोः सूर्यस्य अङ्कलालनात् क्रोडे लालनात् काली कृष्णवर्णा जाता प्रतिभासते इत्यन्वयः ॥ १२५ ॥

लक्ष्मण—(आगेकी ओर दिखलाते हुए) यह दोनों ब्राह्मणोंके आदिम वासस्थान अन्तर्वेदी नामक स्थानसे पूर्वभागमें एकदूसरेको काला अगुरु तथा चन्दनका अङ्गराग सा लगाती हुई यमुना और गङ्गा एक दूसरेसे मिल रही हैं॥

बराबर हिमालयकी गोदमें रहनेसे गङ्गा स्वच्छकान्ति हो गई मालूम पड़ती है, और अपने पिता सूर्यकी गोदमें दुलारी जानेके कारण यमुना काली हो गई हो ऐसा प्रतीत होता है॥ १२५॥

---

१ 'पूर्वत'। २ 'जडेव'। ३ 'कालीकृता वा'।

(विभाव्य च ।)

बलिद्विष पादनखांशुराजिभि स्मरारिमौलीन्दुमरीचिवीचिभि ।
हिमाद्रिनिस्यन्दरसै पदे पदे निवर्धते वैबुधसैन्धवी रुचि ॥ १२६ ॥

अपि च—

प्रयाग सर्वतीर्थेभ्यस्तीर्थमुच्चैस्तरामयम् ।
[1]संसाराब्धे पर पारमिहस्थैरवलोक्यते ॥ १२७ ॥

राम —(सादरम् ।) किमुच्यते ।

सत्यमेव प्रयागोऽयं मोक्षद्वारमुदीर्यते ।

बलिद्विष इति । बलिद्विष वामनावतारस्य विष्णो पादनखांशुभि पादनखर कान्तिभि , स्मरारे शिवस्य मौलीन्दो ललाटस्थितस्य चन्द्रस्य या मरीचि वीचय किरणप्रवाहास्तानि , हिमाद्रे हिमालयस्य निस्यन्दरसै प्रस्रुतजलै पदे पदे प्रतिस्थान वैबुधसैन्धवी गङ्गासम्बन्धिनी रुचि निवर्धते समेधते, प्रथम विष्णो पादप्रसूता, तत शिवमौलिवासिनी ततश्च हिमाद्रिसञ्चारिणीय गङ्गा विष्णुनख कान्तिभि शिवशिरोभूषणचन्द्रांशुभिर्हिमालयस्रुतजलप्रवाहैश्च प्रतिपदमात्मनो द्युतिमुपभावितयाशय ॥ १२६ ॥

प्रयाग इति । अयं प्रयाग सर्वतीर्थेभ्य सर्वेभ्य पुण्यक्षेत्रेभ्य उच्चैस्तराम् प्रधान तीर्थम् , इहस्थैरत्र प्रयागे स्थितै जनै संसाराब्धे भवसागरस्य परम्पारम् अन्यत्तटम् अवलोक्यते । उच्चै स्थाने स्थितस्य दूरदर्शनम् उचितमिति संसारपर पारदर्शकतयाऽस्य प्रयागस्योच्चैस्त्वमिति भाव ॥ १२७ ॥

सत्यमेवेति । अयंप्रयाग सत्यमेव यथार्थभावेनैव मोक्षस्य निर्वाणस्य द्वारम्

(विचार करके) भगवान् विष्णुके चरणनखकान्तियोंसे महादेवके शिरोभूषण चन्द्रमाकी किरणोंसे और हिमालयके निष्यन्द रससे पग पगपर गङ्गाकी कान्ति समृद्ध होती रहती है ॥ १२६ ॥

यह प्रयाग सभी तीर्थोंमें ऊँचा तीर्थ है, यहाँ रहनेवाले संसारसागरके उस पारको भी देख सकते हैं ॥ १२७ ॥

राम—(आदरके साथ) क्या कहा आप,

सचमुच प्रयागको लोग मोक्षद्वार कहते हैं जिसके दोनों भागोंमें बहनेवाली गङ्गा यमुना

---

१ 'संसारस्य'।

देव्यौ यस्याभितो गङ्गायमुने वहत श्रियम् ॥ १२८ ॥

(सीतां प्रति ।) देवि, प्रणम्यतामित ।

श्यामो नाम वट सोऽयमेतस्याद्भुतकर्मण ।
छायामप्यधि[1]वास्तव्यै पर ज्योतिर्निषेव्यते ॥ १२९ ॥

(सर्व [2]प्रणमन्ति ।)

राम —(विमानवेगनाटितकेन सर्वम् ।)

यूपाङ्कुरप्रकरदन्तुरतीरलेखा-
सख्यायमानमनुसन्ततिसततन्तु ।

कारण मागा या उदीर्यते दृश्यते, यस्य प्रयागस्य अभित उभयत गङ्गायमुने नाम नद्यौ श्रिय शोभा वहत पुष्यत ॥ १२८ ॥

श्याम इति । स प्रसिद्ध अय श्यामो नाम वट वटवृक्ष दृश्यते, एतस्य अद्भुतकर्मण आश्चर्यजनककर्मण वटस्य छायाम् अपि अधिवास्तव्यै अधिवसद्भि जनै पर ज्योति ब्रह्म निषेव्यते प्राप्यते। अन्येषा वटाना वृक्षाणा छायामधि वसद्भि तम निषेव्यतेऽस्य त्वाश्चर्यजनकव्यापारस्य वटस्य छायामपि श्रितवद्भि पर ज्योतिर्ब्रह्म प्राप्यत इत्यर्थ । छायाश्रयणे तेज प्राप्तिरिति विरोध , ब्रह्मपर कताया तु तत्परिहार ॥ १२९ ॥

यूपाङ्कुरेति । यूपा यज्ञीयपशुबन्धनदारुविशेषास्त एवाङ्कुरा प्ररोहा तेषा प्रक रेण समूहेन दन्तुरा उन्नतदन्ता नतोन्नता या तीरलेखा तटसीमान ताभि सख्यायमाना एकद्वित्र्यादिगणनाविषयीक्रियमाणा मनुसन्ततीनाम् मनुवंश्य राजानाम् सप्ततन्तव यज्ञा यत्र तादृशी स्वतीरसीमावर्त्तियूपगणनाद्वारा या मनु-

---

उसकी शोभा समृद्धिको बढाया करता है ॥ १२८ ॥

(सीताके प्रति) देवि, देखो, इधर प्रणाम करो—

यह वही आश्चर्यजनक श्याम वटवृक्ष है जिसकी छायामें भी रहनेवाले परम ज्योति ब्रह्मका साक्षात्कार कर पाते हैं ॥ १२९ ॥

(सभी प्रणाम करते हैं)

राम—(विमान वेगका अनुभव करके हर्षके साथ) यूपाङ्कुर समुदायकी गिनतीसे जहाँ मनुवंशी राजगणके यज्ञोंकी गिनती की जा सकती है। वह इक्ष्वाकु राजगणकी प्रधान

---

१ 'अध्यधि-'। २ 'नमति'।

इक्ष्वाकुराजमहिषीपदपट्टलक्ष्मी
देव्या भुवो भगवती सरयूरियं नः ॥ १३० ॥

इयं च भगवत्ययोध्या
[1]गगनगतानस्मदुदीक्षणकुतूहलोत्तानपृथुलनिःस्यन्दैः ।
उन्नालस्थलकुवलयवनमिव जनलोचनैः क्रियते ॥ १३१ ॥

(सर्वे [2]नमस्यन्ति ।)

सुग्रीवविभीषणौ—(निर्वर्ण्य ।)
वृन्दैरिव क्रतुसहस्रभुवां फलाना-
मालोक्य यूपनिकरैर्मधुरामयोध्याम् ।

वंश्यनृपाणां यागान् गणयतीव साक्षी, देव्या भुवः पृथिव्या इक्ष्वाकुराजानां तद्वंश्यनृपाणाम् महिषीपदाय प्रधानराज्ञीपदाभिषेकोचितः पट्टः पट्टवस्त्रं तस्य लक्ष्मीरिव लक्ष्मीर्यस्यास्तथोक्ता भुवो राजमहिषीपदाभिषेकोचितपट्टवसनसादृश्यं धारयन्ती इयं नः अस्माकं सरयूरस्तीति शेषः ॥ १३० ॥

गगनेति । गगनगतानाम् विमानवर्तिनाम् अस्माकम् उदीक्षणे ऊर्ध्वनिरीक्षणे यत् कुतूहलम् तेन उत्तानानि उन्नमितानि पृथुलानि विशालानि निःस्पन्दानि निश्चलानि च नयनानि तैः जनलोचनैः अयोध्यावासिलोकनयनैः उन्नालानाम् उद्गतनालानां स्थलकुवलयानां स्थलवर्त्तिनीलकमलानां वनमिव क्रियते उन्मुखानि लोकनयनानि उन्नालस्थलकमलानीव प्रतीयन्ते, सर्वे उत्सुका अस्मान् पश्यन्तीति भावः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः, आर्याभेदो वृत्तम् ॥ १३१ ॥

वृन्दैरिवेति । क्रतुसहस्रभुवाम् सहस्रसंख्यकयज्ञोत्पन्नानाम् फलानां स्वर्गादीनाम् वृन्दैरिव यूपनिकरैः यूपसमूहैः मधुराम् रमणीयदर्शनाम् अयोध्याम्

रानी अयोध्याके पट्टवस्त्रकी शोभा धारण करनेवाली भगवती सरयू दीख रही है ॥ १३० ॥

यह है अयोध्या,

आकाशमें वर्तमान हम लोगोंको देखनेके लिए उत्कण्ठावश विशालतया निःस्पन्दन जननयनोंसे यह अयोध्या उन्नाल स्थलकमल वन सी बना दी गई है ॥ १३१ ॥

(सभी प्रणाम करते हैं)

सुग्रीव विभीषण—(देखकर) हजारों यज्ञोंसे उत्पन्न फलोंकी वृन्दावलियोंकी तरह दीखनेवाले यूपोंसे रमणीय इस अयोध्याको देखकर तथा इस नगरीमें रहनेवाले नृपोंकी

---

१ 'गगनतलस्थ' ।   २ 'प्रणमन्ति' ।

राज्ञामिह [1]प्रवसता च विचिन्त्य सिद्धिं
देव शचीसहचरोऽपि न रोचते न ॥ १३२ ॥

राम —(तौ प्रति ।) वयस्यौ,

ईदृशा [2] प्रागजायन्त राजानो यदिहान्वये ।
तद्वसिष्ठचरोरैन्द्राबार्हस्पत्यस्य वैभवम् ॥ १३३ ॥

(पुरोऽवलोक्य [3]सहर्षोल्लासम् ।) कथं स एवाय भगवान् [4]प्रकल्पितास्मदभिषेकसम्भारो भरतशत्रुघ्नाभ्यां [5]सह वसिष्ठो मां प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति । (पुष्पकं प्रति ।) विमानराज, [6]समवतीर्यतामस्यां [7]ककुत्स्थकुलोपकारिकायाम् ।

आलोक्य, इह प्रवसता निवासं कुर्वताम् राज्ञां च सिद्धिम् विचिन्त्य न अस्मभ्यम् शचीसहचरः शचीपतिर्देव इन्द्रोऽपि न रोचते, अत्रत्यराजसिद्धितुलनायां शक्रस्यापि सिद्धिरस्माभिर्लघ्वीव प्रतीयत इत्याशय ॥ १३२ ॥

ईदृशा इति । इह अस्मिन् अन्वये वंशे यत् ईदृशा पूर्वोक्तगुणशालिनः राजान अजायन्त जनिमलभन्त तद् ऐन्द्राबार्हस्पत्यस्य इन्द्रो बृहस्पतिश्च देवते यस्य तथोक्तस्य वसिष्ठचरो वसिष्ठसम्पादितमन्त्रसंस्कृतपायसविशेषस्य वैभवम् प्रभाव अस्तीति शेष, वसिष्ठस्य पुरोहिततया तत्कारितयज्ञद्वारिका एतासामपूर्वजाना सिद्धिरासीदिति भाव ॥ १३३ ॥

कल्पितास्मदभिषेकसम्भार सज्जीकृतास्मदभिषेकोपकरण । प्रतीक्षमाण प्रतिपालयन् । ककुत्स्थकुलोपकारिकायाम् ककुत्स्थवंशस्य राजगृहे 'राजसद्मनमुपकारिकोपकार्या' इत्यमर ।

सिद्धियोंको विचारकर हमको इन्द्रपर भी अद्धाधिक्य नहीं रह जाता है ॥ १३२ ॥

राम—(उन दोनोंके प्रति) ऐसे माननीय राजागण जो इस वंशमें पहले उत्पन्न हो सके यह इन्द्र-बृहस्पति देवताओं उद्देश्य करके वसिष्ठ द्वारा सम्पादित यज्ञपाकका प्रभाव है ॥

(आगे देखकर हर्षसे उल्लसित होकर) क्यों, यहां वह भगवान् वसिष्ठ हमारे राज्याभिषेकका सारा प्रबन्ध करके भरत तथा शत्रुघ्नके साथ हमारी प्रतीक्षामें खडे हैं ॥ (पुष्पकके प्रति) विमानराज ककुत्स्थकुलकी राजधानी इस अयोध्यामें उतर जाइये ।

---

१ 'प्रभवताम्' । २ 'तादृशा' । ३ 'सहर्षम्' । ४ 'उपकल्पित-' । ५ 'सह वसिष्ठो' इति क्वचिन्नास्ति । ६ 'अवतार्यताम्' । ७ 'रघुकुल-' ।

(सर्वे विमानावतरणं नाटयन्ति ।)

(ततः प्रविशति पटाक्षेपेण वसिष्ठो भरतशत्रुघ्नौ च ।)

वसिष्ठः—

चक्रे लङ्केश्वरपरिभवच्छेदनिष्णातदोष्णा
यद्वत्सेन त्रिजगदभयं तन्न चित्रीयते नः ।
बालेनाजौ विगलितवतो वीर्यनिर्याসराशेः
यैः पिण्याकः स मुनिरमुना निर्मितो जामदग्न्यः ॥१२४॥

(राममवलोक्य सहर्षम् ।)

भल्लावलूनदशकन्धरकण्ठपीठ-
सीमासमाप्तभुजविक्रमकर्मकाण्ड ।

चक्र इति । लङ्केश्वरस्य रावणस्य परिभवे पराजये छेदे विनाशे च निष्णातदोष्णा समर्थभुजेन वत्सेन रामेण यत् त्रिजगत् लोकत्रयम् अभयं गतसकलभयम् चक्रे कृतम् तत् रामकर्तृकं रावणवधद्वारकं जगदभयम् न अस्मान् न चित्रीयते न विस्मापयति, यत् यस्मात् बालेन शिशुना रामेण अमुना आजौ युद्धे स प्रसिद्धो मुनिः परशुरामः विगलितवतः दूरपराहतस्य वीर्यनिर्यासराशेः वीर्यसारसमूहस्य पिण्याकः तिलकल्कः निर्मितः कृतः निःसारतां गमितः, यत् रामेण बाल्यावस्थायामेव परशुरामो निर्वीर्यः कृतस्तस्य रावणविजयद्वारा जगदभयजननं नाश्चर्यकरमित्यर्थः ॥ १२४ ॥

भल्लावलूनेति । भल्लेन अस्त्रविशेषेण अवलूनः छिन्नः दशकन्धरस्य रावणस्य कण्ठपीठम् तस्य सीमायाम् अवसाने समाप्तः शेषतां गतः भुजविक्रमकर्मकाण्ड-

---

(सभी विमानसे उतरते हैं)

एक ओरसे पर्दा हटाकर (वसिष्ठ और भरत शत्रुघ्नका प्रवेश)

वसिष्ठ—हे राम, आपने लङ्केश्वरको जीतनेमें निपुण अपने भुजोंद्वारा संसारको अभयदान दिया इसमें मुझे आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि आपने बाल्यावस्थामें ही परशुरामका वीर्यसार निकालकर उन्हें निस्सार मीठा बना दिया था। परशुरामको जीतनेवाला रावणको जीत ले तो क्या आश्चर्य ? ॥ १२४ ॥

(रामकी ओर देखकर हर्षसे) भल्लनामक अस्त्रसे खण्डित रावणके कण्ठ समुदायरूप सीमापर जिसके पराक्रमप्रकाशनरूप कर्मकाण्डका अन्त हो जाता है, वही रामचन्द्र

दिष्ट्या जगद्विजयमाङ्गलिकैर्यशोभिः
सोऽयं पुनर्नयनवर्त्मनि रामचन्द्रः ॥ १३५ ॥

राम —(ससम्भ्रममुपसृत्य वसिष्ठपादावुपगृह्य च ।)

रघुब्रह्मक्रियाचार्यं पुराणब्रह्मवादिनम् ।
ब्रह्मर्षिं ब्रह्मजन्मानमेष रामोऽभिवादये ॥ १३६ ॥

वसिष्ठ —(सादरमालिङ्ग्य ।) वत्स रामभद्र, का तुभ्यमाशीः ।

आदाय प्रतिपक्षकीर्तिनिवहान्ब्रह्माण्डमूषान्तरे
निर्विघ्नं धमता नितान्तमुदितैः स्वैरेव तेजोग्निभिः ।
तस्मादस्फुटपाकशोधितमिव प्राप्तं गुणोत्कर्षिणा

बाहुपराक्रमप्रदर्शनक्रमकलापो यस्य तथोक्तः भल्लनामकेनास्त्रेण रावणशिरसश्छेदनं कृत्वा निर्जेतव्याभावात् समापितभुजवीर्यप्रकाशनात्मकक्रियाकलापः जगद्विजयमाङ्गलिकैः विश्वविजयमङ्गलमयैर्यशोभिः (उपलक्षितः) सोऽयं रामचन्द्रः दिष्ट्या भाग्यवशात् पुनः नयनवर्त्मनि वर्तते इति शेषः ॥ १३५ ॥

रघुब्रह्मेति । रघूणां रघुवंश्यानाम् ब्रह्मक्रियायाः वैदिककर्मानुष्ठाने आचार्यम् गुरुम्, पुराणब्रह्मवादिनम् प्राचीनं वेदविदं ज्ञानिनं च ब्रह्मजन्मानम् ब्रह्मपुत्रम् ब्रह्मर्षिम् वसिष्ठम् एष अहं रामोऽभिवादये प्रणमामि ॥ १३६ ॥

आदायेति । ब्रह्माण्डमेव मूषा आवर्तनघटिका तस्याः अभ्यन्तरे मध्ये प्रतिपक्षाणां शत्रूणाम् कीर्तिनिवहान् यशोराशीन् आदाय निधाय नितान्तम् अत्यर्थम् उदितैः स्फुटीभूतैः स्वैरेव तेजोभिः प्रतापैः अग्निभिः निर्विघ्नं विघ्नाश्यन्ताभावेन धमता फूत्कुर्वता भवता रामेण गुणोत्कर्षशालिना स्वगुणविस्तारकेण भवता तत् तादृक् पुटपाकशोधितमिव मृत्तिकामयावरणपाकपरिशोधितमिव पिण्डस्थम् एकत्रीभूतम्

संसारके मङ्गलको बढानेवाली कीर्तियोंसे युक्त होकर सौभाग्यवश हमारी आँखोंके सामने हैं ॥ १३५ ॥

राम—(तेजीसे आकर और वसिष्ठके चरण छूकर)

रघुवंशके ब्रह्मचर्योपदेशक, पुराने ब्रह्मज्ञानी महर्षि तथा ब्रह्माके पुत्र वसिष्ठको मैं रामचन्द्र प्रणाम करता हूँ ॥ १३६ ॥

वसिष्ठ—(रामको आदरके साथ गले लगाकर) वत्स रामभद्र, आपको क्या आशीर्वाद दिया जाय ?

दुश्मनोंकी कीर्त्तियोंको ब्रह्माण्डरूप मूषायन्त्रमें भरकर अपने प्रतापरूप अग्निसे उसे

पिण्डस्थ च महत्तरं च भवता निःक्षारतारं यशः ॥१३७॥

'अपि च—

त्रिजगदङ्गनलङ्घनजाङ्घिकैस्तव यशोभिरतीव पवित्रिता ।
प्रथमपार्थिवपुङ्गव कीर्तयो विबुधसिन्धुजलैरिव सिन्धवः ॥१३८॥

तथापीदमस्तु[2] ।

जगदालोकधौरेयौ सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुत्रौ गोत्रस्य गोप्तारौ जनय स्वभुजाविव ॥ १३९ ॥

(सीता मुनिं वन्दते ।)

महत्तरम् विशालं निःक्षारम् निर्दोषम् तारम् उज्ज्वलं च यशः प्राप्तम् । यथा कोऽपि वैद्यः सुवर्णादिमूषायां न्यस्य समिद्धेनाग्निना धमन् असति पात्रादिभङ्गविघ्ने गुणोत्कृष्ट पिण्डीभूत विशालगुण क्षारत्वशून्यम् तारं शुभ्रञ्च भस्म लभते तथैव भवान्यशोऽलब्धेति भावः । अभिधाश्रयव्यञ्जनया द्वितीयार्थप्रत्ययः ॥ १३७ ॥

त्रिजगदिति । त्रिजगत् त्रिभुवनम् एव अङ्गनम् अजिरम् तस्य लङ्घने अतिक्रमणे जाङ्घिकैः समर्थजङ्घाशालिभिर्द्रुतगामिभिः तव रामस्य यशोभिः अतीव पवित्रिताः प्रथमे पूर्वं ये पार्थिवपुङ्गवाः राजश्रेष्ठास्तेषां कीर्तयः विबुधसिन्धुजलैः गङ्गापयोभिः अतीव पवित्रिताः सिन्धवः सागरा इव दृश्यन्ते इति शेषः, यथा भागीरथीजलैः सागरस्थपयसः पवित्रता शोभां समेधते तथैव तव कीर्तिभिस्त्वत्पूर्वजानां राज्ञां कीर्तयः पावनीकृता इत्याशयः ॥ १३८ ॥

जगदिति । जगताम् आलोके उद्योतने धौरेयौ धुरन्धरौ सूर्याचन्द्रमसाविव स्वभुजाविव च गोत्रस्य कुलस्य गोप्तारौ रक्षितारौ पुत्रौ जनय लभस्व ॥ १३९ ॥

पकाकर आपने पिण्डीभूत तथा दोषशून्य विशाल यश प्राप्त कर लिया है जो पुटपाक शोधित है ॥ १३७ ॥

तीनों भुवनोंको लाँघनेमें समर्थ तुम्हारे यशसे तुम्हारे पूर्वजोंकी कीर्तियाँ और अधिक पवित्र हो गई हैं जैसे गङ्गाधाराके गिरनेसे सागरका जल और अधिक पवित्र हो जाता है ॥

फिर भी यह होवे—

संसारको आलोकित करनेका भार लेनेवाले सूर्य-चन्द्रमाके समान तथा वंशकी रक्षा करनेवाले और आपके भुजोंके समान दो पुत्र आपको प्राप्त हों ॥ १३९ ॥

(सीता मुनिके चरणों को छूती है)

१ किं च', 'एतदस्तु' ।

वसिष्ठ —वत्से जनकवंशसुवासिनि, युवयो साधारणीमेव 'रामस्य वयमाशिषमवोचाम ।

सीता—(सहर्षमात्मगतम् ।) अम्मो, णिस्सावत्तं मे अज्जउत्तस्स घरणित्तण हुविस्सदि । [अम्मो, निःसापत्न्य मे आर्यपुत्रस्य गृहिणीत्व भविष्यति ।]

लक्ष्मण —सगरगोत्रगुरो मैत्रावरुणे, सौमित्रिरभिवादयते ।

वसिष्ठ —वत्स लक्ष्मण, आशिषा विषयमतिक्रम्य वर्तसे ।

वीरमिन्द्रजित जित्वा दिष्ट्या वर्धयतो जगत् ।
अभये दक्षिणीयस्ते गीर्वाणग्रामणीरपि ॥ १४० ॥

युवयो साधारणीम् समानाम् , रामाय मया या पुत्रद्वयजननाशी प्रदत्ता सा त्व-साधारणी, तस्मि मया सैवाशी क्रियत इत्यर्थ ।

निःसापत्नम्—सपत्नीसम्भावनावर्जितम् , रामाय वसिष्ठेन पुत्रद्वयजननाशी प्रदत्ता, सा च म साधारणी, अतो रामेणान्यस्या स्त्रियां पुत्रौ न जननीयौ किन्तु मय्येवेति मया सपत्नीसम्भवकष्ट न लभ्यमिति तात्पर्यम् ।

सगरगोत्रगुरो सगरवंशकुलपूज्य आचार्य । मैत्रावरणे वसिष्ठे ।

आशिषा विषयम् आशीर्वादगर्म, आशीवाद शुभाशसनम् , यस्य किमपि लब्धव्य भवति तस्मै तद्विषयक आशीर्वाद प्रदीयते यस्तु सर्वमेव लब्धव्य लब्धवा वर्तत तस्मै किमाशीर्वादेनाशसनीयम् , तथा च त्वयापि सर्वशुभलाभस्य कृत-त्वात्तद्विषय किमपि नास्त्याशासनीयमित्याशय ।

वीरमिति । वीरम् इन्द्रजित नाम रावणसुत जित्वा समरे निहत्य दिष्ट्या भाग्य वशेन जगत् 'वर्धयत वृद्धि प्रापयतस्तव गीर्वाणग्रामणी देवानामीश' शक्रोऽपि

वसिष्ठ—मैने जो आशीर्वाद दिया है उसमें तुम्हारा भी समान भाग है ।

सीता—(हर्षके साथ स्वगत) अहा ! तब तो मैं आर्यपुत्रकी अकेली रानी रहूँगी ।

लक्ष्मण—सगरवशके गुरु मैत्रावरुणे, सौमित्रि लक्ष्मण प्रणाम करता है ।

वसिष्ठ—वत्स लक्ष्मण, आशीर्वादके पर हो तुम, क्योंकि—

वीर इन्द्रजित्को मारकर जगत्को वृद्धि प्रदान करनेवाले तुमने देवराज इन्द्रको भी अभयदान दिया है ॥ १४० ॥

---

१ 'रामचन्द्रस्य भगवत्वाश्च',

तथापि यूयं सर्वेऽपि द्वौ द्वौ जनयतात्मजौ ।
येनादिराजवंशोऽयमष्टशाखः प्ररोहति ॥ १४१ ॥

राम —(सहर्षं कृताञ्जलिः ।) भगवन् परमनुगृहीतमिक्ष्वाकुकुलम् ।

भरत —(रामं प्रति ।) आर्य, शून्यभवनप्रकोष्ठैकरक्षापदातिर्भरतः प्रणमति ।

राम —(सहर्षमालिङ्ग्य ।) वत्स भरत,

आत्मानमिन्दुकरमेदुरचन्द्रकान्त-
स्तम्भोज्ज्वलं वितर मे हृदि निर्वृणोमि ।
न भ्रातृसङ्गमसुखासिकया जहाति

अभये दक्षिणीय दक्षिणार्ह दत्ताभयदक्षिण । इन्द्रायापिस्वर्मेघनादं हत्वाऽभयदक्षिणा दत्तवानसीति तवाशासनीयं किमपि नास्तीत्यर्थः ॥ १४० ॥

तथापीति । तथापि जगदभयदानसम्पादनशक्तिमत्तयाऽऽशीर्विषयातिक्रमेऽपि यूयं सर्वे भ्रातरश्चत्वारः द्वौ द्वौ प्रत्येकं द्वौ आत्मजौ पुत्रौ जनयत उत्पादयत, यैः पुत्रैः अयम् आदिराजवंशः मनोः कुलम् अष्टशाखः अष्टधा भिन्नः सन् प्ररोहति वर्धेत ॥ १४१ ॥

शून्यभवनेति । शून्यं भवद्विरहितं यद् भवनं गृहम् तस्य प्रकोष्ठो बहिर्गृहम् तस्य एका केवला रक्षा तस्याः पदातिः पादचारी सैनिकः ।

आत्मानमिति । इन्दोश्चन्द्रस्य किरणैः करैः मेदुरः स्निग्धो यश्चन्द्रकान्तस्तम्भः चन्द्रकान्तमणिनिर्मितो दण्डः तद्वत् उज्ज्वलम् आत्मानम् स्वदेहम् मे मम वक्षसि हृदि वक्षसि वितर अर्पय, (तेन) निर्वृणोमि शान्तिं लभे सुखीभवामि । चपला चञ्चला अपि लक्ष्मीः भ्रातृसङ्गमे या सुखासिका सुखावस्थानं तया हेतुना सकौ

फिर भी तुम सभी दो दो पुत्र प्राप्त करो जिससे यह मनुका वंश आठ शाखाओंमें समृद्ध हो । १४१ ॥

राम—(सहर्ष हाथ जोडकर) आपने इक्ष्वाकु कुलपर बडी कृपा की ।

भरत—(रामके प्रति) आर्य, सूने भवनका रखवाला यह पादचारी सैनिक भरत आपको प्रणाम करता है ।

राम—(हर्षके साथ गले लगाकर) वत्स भरत,

चन्द्रकान्तमणिकी तरह सुन्दर स्तम्भोज्ज्वल अपना अङ्ग लाओ जिसे आलिङ्गित कर शान्ति प्राप्त करूं । भाइके आलिङ्गनमें बडा आनन्द है, इसीलिए चञ्चला होनेके भी

विष्णोः सकौस्तुभमुरःस्थपलापि लक्ष्मीः ॥ १४२ ॥

भरत—([1]सीतां प्रति ।) [2]देवि, प्रणमामि ।

सीता—वच्छ भरद उण्हकरकिरणणिउरम्बचुम्बिअकमलखण्ड विअ चिरं मे णअण आणन्देहि । [वत्स भरत, उष्णकरकिरणनिकुरम्बचुम्बितकमलखण्डमिव चिरं मे नयनमानन्दय ।]

(लक्ष्मणो भरतं वन्दते ।)

भरत —

वत्स लक्ष्मण सोत्कण्ठं चिरात्परिरभस्व माम् ।
श्रद्धालुर्भ्रातुरङ्गानि चन्दनेऽप्यरोचकी ॥ १४३ ॥

स्तुभम् कौस्तुभाख्यरत्नभूषितम् विष्णोः उरो वक्षःस्थलम् न जहाति न त्यजति । कौस्तुभस्य लक्ष्म्याश्चैकस्मात्समुद्रादुत्पन्नत्वेन लक्ष्म्या भ्राता कौस्तुभस्तत्सहवास सुखानुभवनैव चपलापि लक्ष्मीर्विष्णोरुरोदेशं न जहाति, अत एव चन्द्रकान्त मनोहरशीतल स्वमङ्ग मदुरःस्पर्शय येन भ्रातुरङ्गानां सम्पर्केण निर्वृतिं लभेयेति भावः ॥ १४२ ॥

उष्णकरस्य सूर्यस्य किरणनिकुरम्बेन करसमूहेन चुम्बितम् कमलखण्डम् कमलवनमिव । यथा सूर्यकरस्पृष्टं कमलकुलमानन्दति तथा त्वद्दर्शनेन मदीयं नयनमान द लभतां तथा वत्सः मत्समीपमुपेहीत्यर्थः ।

वत्सेति । हे वत्स लक्ष्मण, चिरात् बहो कालात् सोत्कण्ठम् तदालिङ्गनप्रतीक भावम् माम् भरतं परिरभस्व आलिङ्ग, भ्रातुरङ्गानि श्रद्धालु सादरमाश्रधान

लक्ष्मी कौस्तुभमणिरूप अपने भाईके साथ रह पानेके लोभसे भगवान्की छातीको कभी नहीं छोड़ती है ॥ १४२ ॥

भरत—(सीताके प्रति) देवि, प्रणाम करता हूँ ।

सीता—वत्स भरत, सूर्यकिरणसे विकसित कमलकी तरह चिरकाल तक हमारी आँखोंको आनन्दित करते रहो ।

(लक्ष्मण भरतको प्रणाम करते हैं)

भरत—वत्स लक्ष्मण, मैं बहुत दिनोंसे तुम्हारे आलिङ्गनके लिये उत्सुक हूँ, आओ मुझसे लिपट जाओ । भाईके अङ्गोंपर श्रद्धा रखनेवाला चन्दनमें अरुचि धारण करता है ॥ १४३ ॥

---

१ 'सीतां नमति' । २ 'सीते, भरतस्त्वा नमति' ।

([1]निर्भरं परिरभ्य ।) हन्त रघुवंशयशस्तडागयूपदण्डेन लक्ष्मणबाहुना परिक्षिप्यमाणश्चिरेण शीतलीकृतोऽस्मि ।

इन्दोः कलाकलापेन पङ्क्तिक्रमनिवेशिना ।
[2]सर्वं तु व्यापनोदाय सोदर्याणां भुजाः कृताः ॥ १४४ ॥

शत्रुघ्नः—(रामं प्रति ।) आर्य पादुकाभृत्यानुभृत्यः शत्रुघ्नः प्रणमति ।

रामः—(गाढमालिङ्ग्य ।) कथमावृत्त्या[3] लक्ष्मणमनुभवामि । (अपवार्य सीतायै दर्शयन् ।)

सप्रेमालिङ्गन् जनः चन्दनेषु अपि अरोचकी अनास्थो भवतीत्यर्थः, भ्रातुरालिङ्गने जायमानं सुखं चन्दनविलेपनसुखमप्यतिशय्य वर्तत इत्याशयः ॥ १४३ ॥

रघुवंशस्य यश एव तडागस्तत्र यूपदण्डेन तत्पवित्रतासूचकेन, रघुवंशस्य यशसि पवित्रतामुत्कर्षितवता । परिक्षिप्यमाणः आलिङ्ग्यमानः ।

इन्दोरिति । पङ्क्तिक्रमनिवेशिना श्रेणीक्रमपूर्वकं निधीयमानेन इन्दोश्चन्द्रस्य कलाकलापेन कलासमुदायेन कृताः रचिताः सोदर्याणां सोदराणां भ्रातॄणां भुजाः सर्वं दुःखापनोदाय सकलकष्टवारणाय भवन्तीति शेषः, चन्द्रकलाभिरिव यथास्थानं निवेशिताभिः निर्मीयमाणाः सोदरभुजाः सकलमपि कष्टमपनुदन्तीति तात्पर्यम् ॥ १४४ ॥

पादुकाभृत्यानुभृत्यः पादुकाया भृत्यो भरतो नाम तस्यानुभृत्यः सेवकस्यापि सेवकः शत्रुघ्नः ।

आवृत्त्या पुनरपि । शत्रुघ्नस्य लक्ष्मणानुजतया तत्समानरूपत्वेन लक्ष्मणरूपतया शत्रुघ्नदर्शनस्य आवृत्त्या लक्ष्मणदर्शनत्वमुक्तम् ॥

(गाढालिङ्गन करके)

अहा ! रघुवंशकीर्त्ति तडागके यूपस्वरूप लक्ष्मणबाहुसे आलिङ्गित होकर शीतल हो गया हूँ, ऐसा अवसर आज चिरकालपर प्राप्त हुआ है ।

चन्द्रमाकी कलाओंको सिलसिलेवारसे सजाकर सारे दुःखोंको दूर करनेके लिये ही भाइयोंके भुज बनाये गये हैं ॥ १४४ ॥

शत्रुघ्न—(रामके प्रति) आर्य, आपकी पादुकाके भृत्य भरतका भृत्य मैं शत्रुघ्न प्रणाम करता हूँ ।

राम—(जोरोंसे आलिङ्गन करके) क्यों मैं फिरसे लक्ष्मणका अनुभव कर रहा हूँ । (सीताको दिखाते हुए)

---

१ 'निर्भरं च' । २ 'दुःखप्रणोदाय' । ३ 'आवृत्त्या' ।

एनस्तदेव मुखमक्षतचन्द्रबिम्ब-
सधावदूकमवलोकय लक्ष्मणस्य ।
गीर्वाणवारणकरार्गलकर्कशौ मा
तावेव लक्ष्मणभुजौ नु परिष्वजाते ॥ १४५ ॥

(शत्रुघ्न सीतां प्रणमति ।)

सीता—तेल्लोक्कसल्लुद्धरणगोरविदेहिं चरिदेहिं लक्खणसरिसो होहि । वच्छ सत्तुहण, अज्जाजणो कहिं । [त्रैलोक्यशल्योद्धरणगौरवितैश्चरितैर्लक्ष्मणसदृशो भव । वत्स शत्रुघ्न, श्वश्रूजनः कुत्र ।]

शत्रुघ्न—कृतमङ्गलोपचारो मध्यमाम्बाभवने भवतीं प्रतीक्षते ।

(उपसृत्य लक्ष्मणं प्रणमति ।)

एनस्तदेवेति । अक्षतेन पूर्णमण्डलेन चन्द्रबिम्बेन सधावदूकम् मिलित तुल्यम् एनम् तदेव लक्ष्मणस्य मुखम् अवलोकय पश्य, (यादृशं लक्ष्मणस्य मुखं तादृशमेवास्य शत्रुघ्नस्यापि मुखमिति परार्थोऽर्थः) गीर्वाणा देवास्तेषां वारणस्य करिण ऐरावतस्य कर शुण्डादण्ड, अर्गल कपाटप्रसरणप्रतिबन्धको लौहमय काष्ठमयो वा दण्डश्च तद्वत्कर्कशौ कठिनौ तावेव लक्ष्मणभुजौ परिष्वजाते आलिङ्गतो मामिति शेष, लक्ष्मणस्य मुखमिवास्य शत्रुघ्नस्य मुखं तस्य भुजाविवास्य भुजावपीति तात्पर्यम् ॥ १४५ ॥

त्रैलोक्यशल्योद्धरणगौरवितैः भुवनत्रितयमनोदुःखापनयनगौरवशालिभि, भुवनत्रयशल्यं मेघनाद हतवान् लक्ष्मण इति प्रसिद्धं, चरितैर्लक्ष्मणसदृशो भव, यथा लक्ष्मणो लोकत्रयदुःखापनयनयशस्वी तथा त्वमपि लोकत्रयदुःखापनयनयशस्वी भूया इत्यर्थः ।

कृतमङ्गलोपचार विहितमाङ्गलिकानुष्ठान । मध्यमाम्बाभवने कैकेयी गृहे ।

सम्पूर्ण चन्द्रमण्डलसे मिलता हुआ लक्ष्मणका ही मुख सो यह देख रहा हो, ऐरावतके शुण्ड तथा अर्गलके समान कठोर लक्ष्मणके भुज ही तो मुझे आलिङ्गन कर रहे हैं ॥१४५॥

(शत्रुघ्न सीताको प्रणाम करता है)

सीता—त्रैलोक्यके दुःखोंको दूर करनेमें समर्थ चरित्रसे लक्ष्मणके समान हो। वत्स शत्रुघ्न ! श्वश्रूजन कहाँ हैं ?

शत्रुघ्न—मङ्गलोपचार करके मझली माताके भवनमें आपकी राह देख रही हैं ।

(समीप जाकर लक्ष्मणको प्रणाम करते हैं)

लक्ष्मण —(सहर्षमालिङ्ग्य) [1]वत्स, दिष्ट्या दीर्घायुषि त्वयि दीप्यमाने न[2] वयमेकाकिनमार्यभरत परित्यज्य गताः ।

राम —(मुनिं प्रति ।) भगवन्, एतौ लङ्काकिष्किन्धयोरधिपती विभीषणसुग्रीवौ भगवन्तं प्रणमतः ।

वसिष्ठ —विकर्तनपुलस्त्यकुलकीर्तितोरणमालावलम्बन[3]स्तम्भाविमौ चिरस्य भूयास्ताम् ।

राम —(भरतं प्रति ।) वत्स, वन्दस्व मह्यमानेतौ पौलस्त्यसानिनौ ।

(भरतशत्रुघ्नविभीषणसुग्रीवाः [4]मिथो यथोचितमाचरन्ति ।)

वसिष्ठ —(सहर्षम् ।) [5]दिष्ट्या चतुर्दशभिः परिवत्सरैः [6]पुनः समुदयमानं दशरथकुटुम्बमीक्षामहे । (सविमर्शस्मितम् ।)

विकर्तनकुलम् सूर्यवंशः, पुलस्त्यकुलं च तयोः कीर्तितोरणमालायाः यशःप्रशस्तिस्तम्भः, अवलम्बनस्तम्भौ आश्रयदण्डौ। सूर्यकुलस्य सुग्रीव इति बोध्यम्। पुलस्त्यकुलस्य विभीषण इति च ।

समुदयमानम्-वृद्धिमानम् ।

लक्ष्मण —(सहर्ष गले लगाकर) वत्स चिरजीवी तुम्हारे साथ रहनेके कारण हमको कभी हम जानकी चिन्ता नहीं सता सकी कि हम भरतको अकेले छोड़ आये हैं ।

राम —(वसिष्ठके प्रति) महाराज, ये लङ्का किष्किन्धाके स्वामी विभीषण तथा सुग्रीव आपको प्रणाम करते हैं ।

वसिष्ठ —सूर्यवंश तथा पुलस्त्यवंश कीर्तितोरणमालाके आधार बनकर आप दोनों चिरायु हों ।

राम —(भरतके प्रति) वत्स, पुलस्त्यवंशावतंस विभीषण तथा सूर्यकुलाधारक सुग्रीवको नमस्कार करो ।

(भरत शत्रुघ्न सुग्रीव विभीषण परस्परमें यथोचित आचार करते हैं)

वसिष्ठ —(सहर्ष) सौभाग्यवश चतुर्दश वर्षोंके बाद पुनः दशरथके परिवारको समृद्ध देख रहा हूं । (विचार करके हंसते हुए)

---

१ 'वत्स' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'न' इति क्वचिन्नास्ति ।
३ स्तम्भौ स्व स्व भाविनौ' । ४ 'मिथो' इति क्वचिन्नास्ति ।
५ 'दृष्ट्या' । ६ 'पुनः पुनः समुदयमानम्' ।

जेतारं दशकन्धरस्य जितवानेवार्जुनं भार्गव
स्तं रामो यदि काकपक्षकधरस्तत्पूरितेयं कथा ।
ऊर्ध्वं कल्पयतस्तु बालचरिताच्चप्रक्रियागौरवा
दस्येयं कविता तथापि जगतस्तोषाय वर्तिष्यते ॥१४६॥

(राम प्रति ।) वत्स, माङ्गलिकलग्नमतिक्रामति ।

तदिदं रघुसिंहाना सिंहासनमलङ्कुरु ।
राजन्वन्त प्रतम्वन्तु मुदमुत्तरकोशला ॥ १४७ ॥

जेतारमिति । भार्गव परशुराम दशकन्धरस्य रावणस्य जेतारम् अर्जुन कार्त्त वीर्यम् जितवानेव, (तत्र कोऽपि सन्देहावसरो नैवास्ति) काकपक्षकधर शिखण्डकधारी शिशु राम यदि त परशुराम जितवान् तद् तदा इय कथा रामस्य विजयवार्त्ता पूरिता समाप्तिं प्रकर्ष वा गता। परशुरामे जिते रावणादिजयस्य सिद्धवत्प्रतीयमानतया रामस्य जयवार्त्ता परशुरामजयेनैव पूर्णता गतेत्यर्थ । तथापि बालचरितात् तस्य रावणवधादे प्रक्रियाया प्रकरणस्य समुद्रलङ्घनादिना गौरवात् गुरुत्वात् ऊर्ध्वं कल्पयत पश्चात् रावणवधादिक रचयत अन्या अपरा इय कविता वर्णना जगत्तोषाय वर्तिष्यते स्थास्यति । बालचरितात्परमपि रामचरितमधीत्य तोष प्राप्स्यताम् लोकाना तृप्तय एव सकलोऽपि परशुरामजयोत्तरकालिको व्यापारकलाप । विजयस्तु परशुरामजयेनैव प्रख्यापित इत्यर्थ । 'बालाना तु शिखा प्रोक्ता काकपक्ष शिखण्डक ' इत्यमर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ १४६ ॥

तदिदमिति । तत् इद रघुसिंहानाम् इद सिंहासनम् राज्यासनम् अलङ्कुरु स्वोपवेशन भूषित कुरुष्व । उत्तरकोशला कोशलाख्यजनपदविभागस्य उत्तरविभागा राजन्वन्त सुराजसम्पन्ना सन्त मुद प्रतन्वन्तु स्वमानन्द विस्तारयन्तु ॥ १४७ ॥

रावणको पराजित करने वाला कार्त्तवीर्यार्जुन उसके भी पराजेता परशुरामको बाल्यावस्थामें ही जब रामने जीत लिया उसी समय यह कथा पूरी हो गई, बालचरितके बाद कल्पना करके प्रक्रिया गौरव द्वारा प्रस्तुत यह रावणविजयकी कविता संसारको सन्तोष प्रदानके लिये होगी ॥ १४६ ॥

(रामके प्रति) वत्स माङ्गलिक लग्न बीता जा रहा है ।

अब तुम रघुवंशियोंके इस सिंहासनको अलङ्कृत करो, तुम्हें सिंहासनासीन पाकर सुराजाके राज्यमें बसनेके कारण उत्तरकोसलके प्रजाजन आनन्द प्राप्त करें ॥ १४७ ॥

(रामस्तथा करोति । वसिष्ठ [1]ऐन्द्रेण महाभिषेकेण मन्त्रपूर्वकमभिषिञ्चति । अन्ये तूच्चावचमभिषेकं नाटयित्वा पश्चाच्चुम्बितभूमयः प्रणमन्ति । नेपथ्ये [2]मङ्गलगीतिनान्दीवाद्यानि च ।)

वसिष्ठः—(सहर्षम् ।) वत्स रामभद्र, सम्प्रति

उदयदुदयद्धर्मस्कन्धे धुरं त्वयि बिभ्रति
क्व नु परिभवौ दृष्टादृष्टौ प्रजाः परिचिन्वते ।
अपि खलु यथा जीवात्मानः प्रभोः परमात्मनो
दिशि दिशि दिशामष्टौ नाथास्तथैव विभीषिका ॥१४८॥

(रामो लज्जते ।)

उदयदिति । उदयन् उदयन् प्रतिपदं वर्धमानः धर्मस्कन्धः यस्य तादृशे त्वयि रामचन्द्रे धुरं राज्यभारं बिभ्रति धारयति सति प्रजाः प्रकृतयः दृष्टं परराजसमुत्थितं अदृष्टं अनावृष्ट्यादि समुत्थितश्च तौ परिभवौ क्लेशौ क्व नु जानते त्वयि राजनि प्रजानां दृष्टादृष्टकष्टयोर्नाम्नोऽपि ज्ञानमपि न सम्भवतीत्यर्थः । प्रभोः निग्रहानुग्रहसमर्थस्य परमात्मनः ईश्वरस्य जीवात्मानो यथा तथा दिशि दिशि प्रतिदिशम् अष्टौ नाथाः दिक्पालाः इन्द्रादयोऽपि तवैव विभीषिकाः भयप्रदर्शनानि । यथा परमात्मनः स्वांशभूता जीवाः केवलं मिथ्याप्रत्ययभिन्नाः तथैव इन्द्रादयोऽपि न त्वद्भिन्नाः ते तु त्वयैव प्रजानां भयमुत्पाद्य ताः सत्पथेन सञ्चारयितुं विभीषिकारूपतया स्थापिता इत्यर्थः । 'अदृष्टं वह्नितोयादि दृष्टं स्वपरचक्रजम्' इत्यमरः ॥१४८॥

[राम सिंहासनपर बैठते हैं । वसिष्ठ ऐन्द्र महाभिषेकद्वारा मन्त्रपूर्वक उनका अभिषेक करते हैं । और लोग भी यथारुचि अभिषेक करके पृथ्वीपर पड़कर प्रणाम करते हैं । नेपथ्यमें मङ्गलगान होता है तथा बाजे बजते हैं)

वसिष्ठ—(सहर्ष) वत्स रामभद्र, सम्प्रति,

अनुक्षण धर्मके उदयमें संलग्न तुमने जब राज्यभार ले लिया है तब प्रजाओंको परचक्रजातभय तथा अनावृष्ट्यादि जातभयकी क्या चिन्ता रहा । जिस प्रकार परमात्माके रूपान्तर जीवात्मा हैं उसी तरह सभी दिक्पाल तुम्हारे ही रूपान्तर हैं ॥ १४८ ॥

(राम लज्जित होते हैं)

---

१ 'ऐन्द्रेण महाभिषेकेण' इति क्वचिन्नास्ति ।
२ 'मङ्गलगीतिनान्दीमङ्गलवाद्यानि', मङ्गलगीतिनान्द्यादि' ।

विभीषण—(कृताञ्जलिर्जानुभ्यां प्रणिपत्य ।) देव,

> लङ्का च पुष्पकमिदं च विमानमार्या-
> द्यक्षेश्वरादपहृतं दशकन्धरेण ।
> एकां भवानदित मह्यमथेदमन्य-
> दाज्ञापय द्रुतमुपैतु पतिं निधीनाम् ॥ १४९ ॥

राम—(वसिष्ठेनानुज्ञातः पुष्पकं प्रति ।) विमानराज, प्रथमस्वामिनं प्रथमपौलस्त्यमुपतिष्ठस्व ।

वसिष्ठ—(सहर्षप्रसादम् ।)—रामभद्र, किं ते भूयः प्रियं [1]करोमि ।

राम—भगवन्, किमतः परमपि प्रियमस्ति, [2]भगवत्प्रसादात्

तातज्ञामधिमौलि मौक्तिकमणिं कृत्वा महापोत्रिणो

लङ्का चेति । दशकन्धरेण रावणेन आर्यात् पूजनीयात् ज्येष्ठभ्रातुः यक्षेश्वरात् कुबेरात् लङ्का नाम पुरी इदं पुष्पकं विमानं व्योमयानं च अपहृतम् बलाद्गृहीतम्, तयोर्लङ्कापुष्पकयोः एकां लङ्कां भवान् मह्यं रामाय अदित दत्तवान्, अन्यत् अवशिष्यमाणं चेदं पुष्पकम् द्रुतं शीघ्रं निधीनां पतिं वित्तेशं कुबेरम् उपैतु गच्छतु इति आज्ञापय, त्वदाज्ञया पुष्पकं कुबेरः पुनराप्नोतु इत्याशयः ॥ १४९ ॥

प्रथमस्वामिनम् आत्मनः प्रथमं पतिम् । प्रथमपौलस्त्यस्य पुलस्त्यस्य प्रथमं ज्येष्ठं पौत्रम् । रावणस्य पिता विश्रवास्तस्य द्वौ पुत्रौ तयोः कुबेरो ज्येष्ठो रावणश्च कनिष्ठ इत्यर्थः ।

तातज्ञामिति । तातस्य पितुराज्ञाम् अधिमौलि मस्तके मौक्तिकमणिं मुक्तामाल्य

विभीषण—(हाथ जोड़कर और घुटने टेककर) देव,

रावणने यक्षेश्वर कुबेरसे लङ्का तथा यह पुष्पक विमान छीन लिया था, उनमें लङ्का तो आपने मुझे दे दी है, आप आज्ञा दें कि दूसरा यह विमान कुबेरके पास चला जाय ॥

राम—(वसिष्ठकी आज्ञासे पुष्पकके प्रति) विमानराज, आप अपने प्रथम स्वामी पौलस्त्योंमें ज्येष्ठ कुबेरके पास जाय ।

वसिष्ठ—(हर्षके साथ) रामभद्र, अब आपका और क्या प्रिय करूं ।

राम—भगवन्, इससे अधिक प्रिय क्या होगा ! आपके अनुग्रहसे—

मैंने पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य करके भगवान वराहको दंष्ट्रा स्वरूप विन्ध्याचल ही

---

१ 'उपकरोमि'। २ 'भवत प्रसादात्'।

दष्टाविन्ध्यविलासपत्त्रशबरी दृष्टा भूषा मेदिनी ।
सेतुर्दक्षिणपश्चिमौ जलनिधी सीमन्तयन्नर्पित
³कल्पान्तं च कृतं च निश्वमदशग्रीवोपसर्गं जगत् ॥१५०॥

तथापीदमस्तु ।

समुन्मीलत्सूक्तस्तबकमकरन्दे श्रवणयो
रविश्रम्यद्धारा¹स्नपनमनुषिञ्चन्तु कवयः ।
न शब्दब्रह्मोत्थं परिमलमनाघ्राय च जनः
कवीनां गम्भीरे वचसि गुणदोषौ रचयतु ॥ १५१ ॥

धृत्वा सुधामाल्यमिव पितुरादेशं शिरसा निधाय, महापोत्रिण आदिवराहस्य दंष्ट्रा इव यो विन्ध्यः पर्वतः स एव विलासाय पत्रं कर्णभूषणं यस्यास्तादृशी या शबरी किराती सैव मेदिनी भूषा दृष्टा पितुराज्ञया कर्णनिहितपत्रा शबरीव विन्ध्यपर्वतरूपकर्णभूषणधरा इव मही परित्यक्तेति भावः । दक्षिणपश्चिमौ समुद्रौ सीमन्तयन् द्विधा कुर्वन् सेतुः अर्पितः सागरयोः दत्तः, निश्चं समस्तं च जगत् कल्पान्तं प्रलयकालपर्यन्तम् कृते अदशग्रीवोपसर्गम् रावणरूपबाधाविरहितं कृतम् ॥१५०॥

समुन्मीलदिति । कवयः समुन्मीलन् विकासं गच्छन् यः सूक्तस्तबकः सदुक्तिगुच्छः तस्य मकरन्दे पुष्परसे श्रवणयो लोकानां कर्णयो अविश्रम्यत् विश्रमविराममनाप्नुवत् धारास्नपनं धारास्नानम् उपषिञ्चन्तु वर्षयन्तु । कवयः सूक्तानि रचयन्तु, स्तबकोपमानां सूक्तानां मकरन्देश्च लोकानां कर्णौ अनवरतधारास्नानमिव लभन्तां तृप्ता भवन्त्वित्यर्थः । जनः लोकः शब्दब्रह्मोत्थं शब्दब्रह्मणो जायमानं परिमलं सुगन्धमनाघ्राय अनास्वाद्य शब्दशास्त्ररहस्यमज्ञात्वा गम्भीरे कवीनां

जिसका कर्णाभरण है ऐसी शबरीके रूपमें (अनुपभोग्य) पृथ्वीको छोड़ दिया, दक्षिण तथा पश्चिम सागरोंको ओड़नेवाला सेतु बँधवाया, और सृष्टिपर्यन्तके लिए जगत्को रावणके उपद्रवोंसे मुक्ति दी ॥ १५० ॥

फिर भी यह हो—

विकसित होनेवाले सूक्तिस्तबकोंके रससे कविगण अनवरत धारास्नान प्रदान करें और शब्दब्रह्मके रहस्यको बिना समझे लोग कवियोंके गंभीर वचनमें गुण दोषका निर्धारण न किया करें ॥ १५१ ॥

---

१ 'दशा तेऽपि'।   २ 'स्नपन—'।

अपि च—

देवस्यात्मभुवः कमण्डलुजलस्रोतांसि मन्दाकिनी
गङ्गाभोगवतीमयानि पुनते यावत्त्रिलोकीमिमाम्।
तावद्वीरयशोरसायनमधुस्यन्दे[1] कवीनामयं
जागर्तु श्रुतिशष्कुलीवलयितव्योमावगाही गुणः ॥ १५२ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति नायकानन्दो[2] नाम सप्तमोऽङ्कः।

इति महाकविश्रीमुरारिविरचितमनर्घराघवं नाम नाटकं समाप्तम्।

वचसि काव्ये गुणदोषौ न रचयतु दुष्टमिदं गुणवदिदं चेति स्वीयं विचारं न प्रकाशयतित्यर्थः ॥ १५१ ॥

देवस्येति। मन्दाकिनी वियद्गङ्गा गङ्गा मर्त्यलोकस्था, भोगवती पातालगङ्गा चेति तन्मयानि तत्स्वरूपाणि देवस्य आत्मभुवो ब्रह्मणः कमण्डलुजलस्रोतांसि कमण्डलुनिर्गतजलधाराः यावत् इमां त्रिलोकीं भुवनत्रयं पुनते पवित्रयन्ति, तावत् अयं वीराणां यश एव रसायनं पुष्टिकरमहौषधिविशेषः तस्य मधुस्यन्दे माधुरीप्रवाहे श्रुतिशष्कुल्या श्रोत्रविवरेण वलयितं वलितम् यत् व्योम आकाशम् तदवगाही कवीनां गुणः शब्दः जागर्तु तिष्ठति। यावद् मन्दाकिनी स्वर्गे वहति, गङ्गा भुवि वहति भोगवती च पाताले वहतीत्थं त्रिभुवनमेतानि ब्रह्मकमण्डलुपयःस्रोतांसि पवित्रीकुर्वन्ति, तावद् वीराणां यशोवर्णनच्छन्दः कवीनां रचनागुणः श्रवणाकाशं वत्ततां श्रूयतामित्यर्थः। अत्र शुभाशंसनरूपा प्रशस्तिः।

और भी—

ब्रह्माके कमण्डलुका जलप्रवाहरूप मन्दाकिनी, गङ्गा तथा भोगवती जब तक तीनों लोकको पवित्र करती रहे तब तक यह वीरकीत्तिगाथारूप कर्णामृत प्रवाह लोगोंको कानरूप आकाशका गुण बना रहे ॥ १५२ ॥

(सबका प्रस्थान)

सप्तम अङ्क समाप्त ॥

---

१ 'रस दी'। २ 'इति नायकपरमानन्दो नाम'।

यो जातो धरणीसुरान्वयसरोहंसात्प्रसर्पद्यशो
ज्योत्स्नाद्योतितदिङ्मुखान्मधुरिपुध्यानैकबद्धाशयात् ।
मिश्राख्यान् 'मधुसूदना' 'ज्जयमणौ' सीमन्तिनीनां मणौ
तस्य श्रीयुतरामचन्द्रसुधियो व्याख्याप्रसिध्यादियम् ॥ १ ॥
बाणक्षोणिधराब्धिसम्मित शरद्याशातिथौ माघगे
चन्द्रे पुष्यति चन्द्रसूनुदिवसे श्रीशारदानुग्रहात् ।
सम्राड्धर्मसमाजसंस्कृतमहाविद्यालये पूर्णता
मानीतेयमुमामहेश्वरपदाम्भोजेषु विश्राम्यतु ॥ २ ॥
'विद्वांसो वसुधातले परवच श्लाघासु वाचंयमा'
उक्त्वैतद्विमुखीभवामि नमनादालोचनावर्मन ।
ते हि स्वर्णपरीक्षणैकनिकषा निष्पक्षपाता दृशा
निश्चित्यात्मगुणोचितादरभुज कुर्युर्ममेमां कृतिम् ॥ ३ ॥
छिद्रान्वेषणमात्रसक्तधिषणानप्यत्र दोषान् बहून्
ग्रन्थे दर्शयतो न मत्सरितया निन्दामि किन्त्वर्थये ।
निर्दोषेण यथा प्रशस्तरचना निर्माय काचित्कृतिं
लोकेभ्य समुपाहरन्तु भविना भूयो यशोऽनेन च ॥ ४ ॥
मान्यान् यानहमाद्रिये नतशिरास्ते ते सहायश्च मे
येषामाग्रहतो विदन्नपि निजां शक्तिं प्रवृत्तोऽभवम् ।
व्याख्यानेऽत्र न तैरियं मम कृति कार्यान्यथात्वत्पद
सद्वानिन्दितकीर्त्तिशोभसुभगं भाग्यं कुतोऽस्मादृशाम् ॥ ५ ॥

इति मुजफ्फरपुरमण्डलान्तर्गत 'पकडी' ग्रामवासिना मुजफ्फरपुरस्थधर्मसमाज
संस्कृतमहाविद्यालये साहित्याध्यापकेन व्याकरणवेदान्तसाहित्याचार्याद्युपाधि
प्रसाधिना मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्र 'शर्मणा' विरचितायामनर्घ
राघवनाटकस्य प्रकाशाभिधाया व्याख्याया
सप्तमाङ्क 'प्रकाश'

विशेष-विवरण

(नोट्स)

अनर्घराघवप्रकाशपरिशिष्टम्

१—चकोरपारणपटुज्योतिष्मतो

नान्दी श्लोक होनेके लिए गङ्गा चन्द्र आदि शब्दका होना आवश्यक है, अतः इसी पदसे चन्द्रकी सूचना समझी जानी चाहिये—लिखा है —'अत्र यद्यपि 'गङ्गा नागपति सोम सुधानन्दो जयाशिष । एभिर्नामपदैः शस्तां नान्दी कविभि रङ्किता' इति भरतवचनादवश्योपादेयं गङ्गादिपदं न कण्ठतः श्रूयते, तथापि चकोर पारणपटुज्योति पदेन चन्द्रसङ्कीर्तनमेव। न च एभिर्नामपदैरित्यनेन तत्तत्पदे नैवोपादानं युक्तमिति वाच्यम् तस्योपलक्षणत्वात् 'जितमुडुपतिना' इत्यादि रत्नावली नान्द्यां तथैव दर्शनात्' ॥

२—उदरमजिशद्द्रुहिणम्

ब्रह्मा संसार बनाते हैं अतः उनको संसारका विशदज्ञान आवश्यक है, कर्त्ता को कैसा होना चाहिये इसके लिए उसके लक्षणपर ध्यान दें। 'उपादानगोचरा परोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं हि कर्त्तृत्वम्' अतः 'यथा पूर्वमकल्पयत्' इस श्रुतिके अनुसार करिष्यमाणसृष्टिका पूर्णज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रलयकालमें ब्रह्मा विष्णुके उदरमें पैठ जाते हैं। क्योंकि वहां सारा संसार एक ही जगह देखनेको मिल जाता है।

३—नान्द्यन्ते

रत्नकोषमें लिखा है —'प्रत्याहारगीतवाद्यादिङ्गाविशत्यङ्गेष्वन्तर्गता पूर्वरङ्गस्य प्रधानाङ्गभूता नान्दी' सा चेय द्वादशपदाष्टपदा वा कार्या, 'सूत्रधार पठेत्तत्र मध्यम स्वरमाश्रित । नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलङ्कृतम्' इत्युक्तेः। पद चात्र द्वि विधमभिप्रेतम्, सुप्तिङन्तरूप श्लोकपादात्मकञ्च। तदुक्त नाट्यलोचनकृता— 'सुप्तिङन्त पद चात्र श्लोकपादश्च वा पदम्' ततश्चात्र श्लोकपादाभिधपदग्रहणादष्ट पदा नान्दी बोध्या।

४—उपस्थानीया

उपपूर्वकस्थाधातुसे यहां कर्त्तामें अनीयर प्रत्यय हुआ है, 'भव्यगेयप्रवचनी-योपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा' पाणिनि सूत्र ३।४।६८।

५—सोदरोऽपि विमुञ्चति

रुचिपतिने इस शब्दके सम्बन्धमें लिखा है—ननु समानशब्दस्य-'विभाषोदरे' इति स भावे 'सोदराद्य' इति यप्रत्यये सोदर्य इति स्यात्। अतएव 'समानोदर्यसोदर्यसगर्भ्य सहजा समा' इत्यमरोऽपि। 'तत्कथ सोदर इति। उच्यते, समानमुदर यस्येति बहुव्रीहौ सोदर 'समानस्य' इति योगविभागाद् 'वोपसर्जनस्य' इति वा सभाव । अतएव 'सोदरोऽपि सहोदर' इति शब्दभेदे उक्तम्।

६—वान्तै

यद्यपि वान्तशब्दस जुगुप्सा व्यञ्जक अश्लीलत्व दोष प्रतीत होता है परन्तु—'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादिगौणवृत्तिव्यपाश्रयम्। अतिसुन्दरम्' इस उक्तिके अनुसार यहा उक्त पदक होनेसे दुष्ट नहीं होता है। जैसे सुबन्धुने लिखा है—'अविदित गुणमपि सत्कविभणिति कर्णेषु वमति मधुधाराम्'॥

७—अनर्घराघवम्

'अनर्घ पूज्यो राघवो रामो यत्र तादृशम्'। ऐसा विग्रह करना चाहिये। 'अमूल्ये दृश्यतेऽनर्घस्तथा पूज्ये सुदुर्लभे' इति कोष । इस तरहके नामकरणकी शैली संस्कृतसाहित्यमें प्रचलित है, जैसे प्रसन्नराघव, उदात्तराघव आदि।

८—मद्वर्ग्यारसपाठगीति इत्यादिश्लोक

तुलनाके लिये पढ़िये रत्नावली नाटिकाका श्लोक—'श्रीहर्षो निपुण कवि परिषदप्येषागुणग्राहिणी लोके हारि च वत्सराजचरित नाट्ये च दक्षावयम्। वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्ते पद किम्पुनर्मद्भाग्योपचयादयं समुदित सर्वोगुणानागण'।

९—वसिष्ठस्यानुशासनम्

(क) वसु तेजस्तदस्यास्तीति वसुमान्, वसुमान् शब्दसे अतिशय अर्थमें इष्ठन् प्रत्यय करनेपर 'विन्मतो' इत्यादि सूत्रसे मतुप् प्रत्यय तथा उकारका लोप, इस प्रकारकी सिद्धि धातुपारायणमें लिखित है। अतएव गदसिंहने दन्त्यसकार मध्यशब्दोंके परिगणनमें वसिष्ठशब्दको गिनाया है—'असृतालसानुवासनवसिष्ठरसविसोद्वविस्रब्धा ' आश्चर्यमञ्जरीकारने श्लेषके अनुरोधसे 'वशिष्ठ' इस तालव्य घटितरूपको स्वीकार किया है।

(ख) यहा पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि जैसे भवभूतिने उत्तररामचरितमें 'जामातृ यज्ञेन वय निरुद्धास्त्व बाल एवासि नव च राज्यम्। युक्त प्रजानामनुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत्परम धन व' इस तरह वसिष्ठके सन्देशका प्रतिपादन किया है जिससे नायकके अगले कार्यकलापका स्वरूप निर्धारित होता है, उसी तरह इस नाटकमें भी मुरारिने वसिष्ठके—'हुतमिष्ट च तप च धर्म

श्राय कुलस्य ते। गृहात्प्रतिनिवर्त्तन्ते पूर्णकामा यदर्थिन' इस प्रकारके सन्देशसे ही विश्वामित्रके आनेपर दशरथके कार्यकलापका नियन्त्रण किया गया है मालूम पड़ता है कि भवभूतिकी अनुकृति की गई है।

१०—विश्वामित्रस्य प्रावेशिकी ध्रुवा

यह एक प्रसिद्ध महर्षि थे, इनका जन्म राजकुलमें हुआ था, इनके पिताका नाम गाधि था, विश्वामित्र राजकुलमें जन्म लेकर भी कठोर तपस्यासे महर्षि बन गये थे। प्रावेशिकी का अर्थ है प्रवेशसूचिका और ध्रुवा का अर्थ है गीति। भरतने लिखा है—'ध्रुवा तु गीति भेदोऽय वृन्दसामानियध्यते'। सा च पञ्चधा—'प्रावेशिकी निष्क्रामणी परिक्रान्तप्यवस्थिति। उत्थापनी [illegible] पञ्चम्या ध्रुवा नाट्यार्थ सिद्धये। तत्र प्रावेशिकी ज्ञेया प्रवेशे गामयोगत।'

११—त्रिशङ्कोरुपभोगाय नद्यौरपि न भूरपि

त्रिशङ्कु एक सूर्यवंशी राजा थे, सशरीर स्वर्ग जानेकी इच्छासे इन्होंने अपने पुरोहित वसिष्ठको यज्ञ करानेके लिये कहा। वसिष्ठने अस्वीकार कर दिया। अनन्तर त्रिशङ्कु विश्वामित्रकी शरण गये। उन्होंने यज्ञ करवाया, परन्तु उस यज्ञमें देवगण नहीं आये। विश्वामित्रने दूसरा स्वर्ग बनाना चाहा। देवोंने बहुत कह सुनकर विश्वामित्रसे सन्धि कर ली, तदनुसार आजतक अधोमुख त्रिशङ्कु अन्तरिक्षमें लटक रहे हैं॥

१ —ब्राह्मणमुखकार

यहा ब्राह्मण शब्द जातिपरक है, 'ब्राह्मण इदम्' इस विग्रह द्वारा सामान्य सम्बन्धमात्रपरक नहीं है, अतएव 'ब्राह्मोऽजातौ' इस सूत्रके द्वारा टिलोप नहीं होता है, रुचिपतिने लिखा है—'ब्राह्मणमिति जातिपरम्, तेन ब्रह्मण इद ब्राह्मणमित्यप्राणिकृते ब्राह्मा जातौ इति टिलोपोर्न भवति। यद्यपि विशुद्धमाता पितृयोनिजत्व ब्राह्मणत्वमिति सर्वतान्त्रिक सिद्ध तथापि क्षत्रियाजातस्य परशुरामस्य योजनगन्धाजातस्य च व्यासस्येव विश्वामित्रस्यापि ब्राह्मण्यमचिन्त्यतपःप्रभावादेवेति'॥

१३—स्वस्ति भवते सपरिवाराय

परिवारेणसह वर्त्तत इति सपरिवारस्तस्मै सपरिवाराय। 'तेनसहेतितुल्ययोगे' इति समासे 'वोपसर्जनस्य' इति सहस्य स। ननु प्रकृत्याऽऽशिषि' इत्याशीर्विवक्षाया प्रकृतिभावप्राप्तया सहभाव एव स्यान्न सभाव इति चेदत्र केचित्–अत्राशीविवक्षाया अभावात् स्वस्तीत्यादिना प्रश्नस्यैव करणात् न प्रकृतिभाव प्रसक्ति। अन्येत्वाशीर्विवक्षैवात्र ननु प्रश्न तेन सहपरिवारायेत्येव पाठ साधीयान्,

दशरथकृताभिवादनानन्तर विश्वामित्रेणाशी प्रदानस्यैवौचित्य प्राप्तत्वात्। इति रुचिपति पद्धति ॥

१४—शौवापद

शुन इव पदमस्येति श्वापदो व्याघ्र, 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घ, तत 'तस्येदम्' इत्यणि 'द्वारादीनां च' इति ऐचि शौवापदमिति रूपम्।

१५—गृहाङ्गनमात्रकुटुम्बिन

अत्राङ्गनशब्दो णकारान्त इति केचित् पठन्ति, तदप्रामाणिकम्, न च पृषोदरादिपाठेन णत्वमिति वाच्यम्, पृषोदरादिपाठे प्रमाणाभावात्, तथापि भानुप्रासयमकादेरदर्शनात्। 'तवर्ग पञ्चमोपान्तमङ्गन केवल' मितु' इति शब्द भेदप्रामाण्येन नानात्वेनैव तस्य स्वीकार्यत्वात्। 'अङ्गन प्राङ्गणे याने कामिन्या मङ्गनामता' इति मेदिन्यादिकोषे नानावर्ग एव तत्पाठाच। (रुचिपति)

१६—यश स्तोमानुच्चैरुपचिनु

'यशस्तोमानुच्चैरुपचिनु चकोर प्रणयिनी रसज्ञा पाण्डित्यच्छिदुरशशिधाम भ्रमभरान्। अपि स्वस्तेजोभिस्तमसि शमिते रचतु दिशामसौ यात्रामेत्रों नभसि नितरामम्बरमणि' मुरारिके इस श्लोकको निम्नके साथ तुलना कीजिये —

'यश पूर दूर तनु सुतनुनेत्रोत्पलवना तमस्तन्द्राखण्डातपसहस्राणि शरदाम। इय धारता युष्मच्छ्रवणिनिरुचेश्वरशिर श्रितोत्सङ्गानन्दासुर नर भुजङ्गा त्रिजगती'॥ प्रसन्नराघव ४।४८

दोनों श्लोकों के छन्द, आशय, शैली सबकुछ एकसा है, जो अन्तर है वह प्रसङ्गको ठीक बनाये रखने की दृष्टिसे आवश्यक था। इससे सिद्ध है कि यह भावादि साम्य इच्छाकृत है॥

१७—त्रेताग्निराचामति

अमरकोपम लिखा है —'दक्षिणाग्निर्गार्हपत्याहवनीयौ त्रयोऽग्नय । अग्नि त्रयमिद त्रेता'। यद्यपि त्रेता शब्दसे ही अग्नित्रयका बोध होता है अत अग्नि पद की आवश्यकता नहीं थी, तथापि उसका उपादान स्फुटत्वार्थक है, जैसे करिकलभमें करिशब्दका। अथवा त्रेताशब्द युगादि परक भी है अत अग्निरूप त्रेता बोधनार्थ यहा अग्नि शब्द का भी प्रयोग किया गया है॥

१८—दिनकर कुलीना

'दिनकरस्य कुलम् तत्र भवा' इस विग्रहमें 'कुलात्ख' इस सूत्रसे खप्रत्यय खको ईन आदेश। रुचिपतिने लिखा है —'कुलात्ख' इति ख। न च ग्रहण वता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्तीति तदन्तत्वाभावात् कथ खप्रत्यय इति

वाच्यम् परिभाषाया ज्ञापकमूलत्वादनित्यत्वात् 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' इति न्यायात्। यद्वा दिनकरा इव कुलीना दिनकरकुलीना ॥

१९—मेध्यावत्सतरी विहस्यवटुभि

'बछिया मारी जाती है' इस उक्तिमें यद्यपि अब अनौचित्य प्रतीत होता है, परन्तु पूर्वकालमें गोमांसकी भक्षणीयता प्रचलित थी, मधुपर्क प्रकरणमें 'नामांसो मधुपर्कः स्यात्' ऐसा लिखा है। ब्राह्मणग्रन्थोंके देखने से भी गोमांसकी भक्ष्यता प्रतीत होती है, लिखा है 'धेनुं चेत्तद्ब्रह्मनाश्येवे'ति याज्ञवल्क्य। यह क्रम अनुचित था यह कहा जा सकता है परन्तु था अवश्य। भवभूतिके नाटकोंमें भी गोमारणकी बात आती है, इसलिये महावीर-चरित पृ० १०१ 'समन्यते वत्सतरी' ॥

२०—परिणमयति ज्योतिर्वृत्त्या यजूंषि

सूर्य यजुर्वेदको किरणोंके रूपमें परिणत कर रहे हैं, मध्याह्नकालमें सूर्यका किरणें यजुर्वेद मय होती हैं, अतः मध्याह्नकाल हो रहा है यह अर्थ हुआ। पुराणमें लिखा है—'ऋङ्मयः प्रातरादित्यो मध्याह्ने च यजुर्मयः। सायसाम मयश्चेति त्रयीमय उदाहृत'। इस ग्रन्थमें भी आगे लिखा है—एतत्त्रयीमयऽज्योतिरादित्याख्य निमज्जति' ॥

२१—वाचमेषामृषीणां हि शास्त्रमेवानुवर्त्तते

तुलनाके लिये भवभूतिके 'उत्तररामचरित' का पद्य देखिये—'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति'।१।१०

२२—'प्रत्यूहाय बभूवुरम्बुजभुवो देवस्य चाटूक्तय'

विश्वामित्र जब द्वितीय सृष्टि बनाने लगे थे तब ब्रह्मा आये, उनकी बड़ी स्तुति की, तब विश्वामित्रने द्वितीय सृष्टि करना बन्द कर दिया। उनका आना विश्वामित्रने विघ्न माना। तुलना के लिये देखिये माघ प्रथमसर्ग—'यतर्कपद्विग्न-मिवेष्टसाहसं प्रमादमिच्छा सदृश पिनाकिन' ॥

२३—किष्किन्धा

किष्किन्धा वालि और सुग्रीवकी राजधानी थी। मद्रास प्रान्तके बिलारी जिलेमें हम्पीग्रामके समीप तुङ्गभद्राके उत्तरी तट पर यह स्थान बताया जाता है ॥

२४—जातास्येव यथा पितु परंभरम्।

महर्षि ऋचीकके पुत्र जमदग्नि वैदिक ऋषि थे। राजा प्रसेनजित्की कन्या रेणुका उनकी स्त्री थी। एक समय सेनासहित कार्त्तवीर्य जमदग्निके आश्रममें

आये। जमदग्निने कपिलाके प्रभावसे ससैन्य कार्त्तवीर्यका यथोचित स्वागतसत्कार किया। उस गौके गुणोंसे आकृष्ट होकर कार्त्तवीर्यने ऋषिसे गौ मागी। जमदग्निने अस्वीकार कर दिया। इसपर बहुतसी सेना लेकर कार्त्तवीर्यने जमदग्निके आश्रमपर आक्रमण कर दिया। जमदग्निने यथाशक्ति प्रतिरोध किया, परन्तु अन्तमें वह मारे गये। जमदग्निकी मृत्युके समय उनके पुत्र परशुराम आश्रममें नहीं थे, लौटनेपर रेणुकाने जमदग्निकी मृत्युका समाचार कहा, इसीपर परशुरामने प्रतिज्ञाकी कि कार्त्तवीर्यके साथ इस पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियशून्य बना दूगा। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

२५—तदिह, विमर्दक्षम प्रदेशमवतराव

यह पङ्क्ति भवभूतिके उत्तररामचरितम वर्त्तमान निम्नोद्धृत पङ्क्तिसे मिलती है, तुलना कीजिये —

'तदितो विमर्दक्षमा भूमिमवतराव' (पञ्चमाङ्कान्त)

२६—आत्मनासौ तृतीय

यहां 'आत्मनश्च पूरणे' इस पाणिनि सूत्रसे तृतीयाका अलुक् होता है। भवभूतिके वीरचरितमें भी इस तरहका प्रयोग आया है —

'स एवायमात्मनातृतीय कुशिकनन्दनो नून भवन्तमेवाभ्युपैति' (प्रथम अङ्क)

२७—आतिपातिके कर्मणि राज्ञा नव शुद्धि

अतिपात । शस्त्रेणात्यय शस्त्रव कार्यमत्यग्रहण तत्र । विष्णुस्मृतौ 'न राज्ञा राजकर्मणि' इति दर्शनात्।

२८—तमदृष्टा काणीचकार चरमो रघुराजपुत्र

चरमशब्द कनिष्ठवाचक है तब यहां रामके अर्थमे चरम शब्दका प्रयोग कैसे हुआ है इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'चरमो ज्येष्ठकनिष्ठयो' इस विश्वप्रकाश कोषके अनुसार ज्येष्ठार्थक चरम शब्दका प्रयोग है। कुछ लोग चरा मा लक्ष्मी यस्य स चरम ऐसा विग्रह करके राम अर्थ निकालते हैं।

२९—जटायु

जटायु सूर्यसारथि अरुणके पुत्र थे। दशरथके साथ इनकी मैत्री थी। सीताहरणके समय जटायुने रावणको रोकनेकी चेष्टा की थी, उसी समय रावणके अस्त्रसे जटायुकी मृत्यु हुई। सीताकी खोजमें भटकते हुए रामलक्ष्मणने जटायुको देखा,

जटायुने सीताका समाचार रामसे कहकर अपने प्राण छोडे। रामने अपने पिताके मित्र उस जटायुकी अन्त्येष्टि क्रिया कर दी।

'दशरथद्दुरवाप प्रापनैवायमस्म'

३०—आचुचूपनि

'चूप् पाने' धातुका चूपति रूप होता है, अत आचूपति होना चाहिये, सन्नन्त कर देने पर आचुचूपिषति हो जायगा। मेरी समझमें आशु चूपति पाठ सङ्गत तथा शुद्ध है।

३१—दनुराजस्कालद्ट

रामायणमें लिखा है—

'क्रिया सा म'यम पुत्र दनु नाम्ना च दानवम्।
इन्द्रकोपादिद रूप प्राप्तवन्तमबहि माम्॥
अह हि तपसोग्रेण पितामहमतोषयम्।
दीर्घमायु समे प्रादात्ततोऽह पूर्णमानस॥
रणे शक्रमधर्षयम्।
तस्य बाहुप्रयुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा।
सक्थिनी मे शिरश्चैव शरीरे सन्निवेशितम्'॥

३२—वत्सेनैकपि

निकषाया अपत्य स्त्री नैकषेयी होना चाहिये, अण् कैसे हुआ? इस प्रश्नका उत्तर रुचिपतिने यह दिया है कि 'क्वचिदपवाद विषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते' इति स्त्रीभ्यो ढक बाधित्वाऽण्। क्वचित् 'नैकसि' ऐसा पाठ है।

३३—नात जातमवलम्बनम्

यह कथन भवभूतिकृत उत्तररामचरितके पञ्चमाङ्क प्रारम्भमें वर्त्तमान 'भो मैनिका जात जातमवलम्बनमस्माक्म' इस उक्तिसे अक्षरश मिलती है॥

३४—कर्णोत्तमयवाङ्कुरम्

तुलना कीजिये—'श्रवणपूरतमालदलाङ्कुर शशिकुरङ्गमुखे सखि निक्षिप।
किमपि तुन्दलित स्थगयत्यमु सविमुख न विधो पुनरीक्ष्यते॥
(नैषधीयचरित)

३५—अपोशानकर्मणि

'अपोऽशान' इसतरहकी शिक्षा ब्रह्मचारियोंको दी जाती है, तदनुसार वह भोजनके पूर्व 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' इस मन्त्रसे आचमन करते हैं इसीको अपोऽशानकर्म कहते हैं।

३६—सगरसुतचितायां पावनी

सगरके अश्वमेधमें छोड़े गये अश्वको चुराकर इन्द्रने कपिलमुनिके आश्रममें बाँध दिया। सगरके पुत्रोंने घोड़ेको मुनिके पास बन्धा देखकर मुनिका अपमान कर दिया, मुनिके शापसे सगरके सभी पुत्र जल गये। पश्चात् भगीरथने तपस्या करके गङ्गाप्रवाह से उनका उद्धार किया।

३७—लक्ष्मणभुजौ न परिष्वजाते

'परिष्वजाते' रूप अशुद्ध है, पाणिनिके अनुसार 'परिष्वजेते' रूप होगा।



नाटकीया विषयाः

स्वगतम्— 'अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्'।

प्रकाशम्— 'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्'

अपवार्य— 'तद्भवेदपवारितम्'।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्यप्रकाश्यते।
त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तराकथाम्'॥

जनान्तिकम्— 'अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्'।

नेपथ्यम्— नटानां वेषपरिग्रहस्थानम्'

नाटकम्— 'वीरशृङ्गारयोरेकः प्रधानं यत्र वर्ण्यते
प्रख्यातनायकोपेतं नाटकं तदुदाहृतम्।

अङ्क— 'प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः।
नानेकदिननिर्वर्त्यं कथया सम्प्रयोजितः।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः।
प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तोभावरसोद्भवैः।
अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः'॥

नान्दी— 'आशीर्वचनसंयुक्तास्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी।
पदयुक्ताद्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत॥

सूत्रधार— 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयते यस्तु सूत्रधारः स उच्यते'॥

प्रस्तावना— 'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा'॥

विष्कम्भक— 'वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः॥

प्रवेशक— 'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा'॥

नायक — 'त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता'॥

प्रस्तावनाभेदाः —

'उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा।
प्रवर्त्तकावलगिते पञ्चप्रस्तावनाभिदाः'।

अथ प्रयोगातिशयाख्या सा—

'यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत्'॥

बीजम्— 'अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजमित्यभिधीयते।

बिन्दु — 'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्'।

कार्यम्— 'अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।
समापनं तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति सम्मतम्'॥

सन्धि — 'अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति'।

पञ्चसन्धय — 'मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः।
इति पञ्चास्य भेदाः स्युः'

मुखम्— 'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम्।'

प्रतिमुखम्— 'फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्'।

गर्भ — 'फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः'॥

विमर्श — 'यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः'।

निर्वहणम्— 'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्'॥



अनर्घराघवगतानिच्छन्दांसि सलक्षणानि

१ अनुष्टुप्— 'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः' ॥
२ आर्या— 'यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या' ।
३ इन्द्रवज्रा— 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' ।
४ उपेन्द्रवज्रा— 'जतजास्ततो गौ' ।
५ उपजाति— 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' ।
६ शालिनी— 'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः' ।
७ वंशस्थविलम्— 'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ' ।
८ पुष्पिताग्रा— 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' ।
९ पृथ्वी— 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' ।
१० मन्दाक्रान्ता— 'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ न तौ ताद्गुरू चेत्' ।
११ मालिनी— 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः
१२ वसन्ततिलका—
'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ।
१३ शार्दूलविक्रीडितम्—
" '——— ——— ———' ।
१४ शिखरिणी—
१५ हरिणी—
१६ स्रग्धरा— 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' ।



अनर्घराघवगताः सूक्तयः

१—'यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति' ॥

२—'कष्टा वैधव्यथा कष्टो नियमुद्वहनक्रम ।
श्रवणानामलङ्कारः कपोलस्य तु कुण्डलम्' ॥

३—'उक्षा रथो भूषणमस्थिमाला भस्माङ्गरागो गजचर्म वासः ।
एकाल्यस्थेऽपि धनाधिनाथे सख्यौ दशेयं त्रिपुरान्तकस्य' ॥

४—'पतिते व्यसने दुर्वाद्दारुणे दारुणात्मनि ।
सवर्मयति वज्रेण धैर्यं हि महतां मनः' ॥

५—'यदस्ति वीर्यमस्यैव तत्कर्म कथयिष्यति' ॥

६—'क्रौञ्च विमुच्य पुत्रं च पितरं च हिमालयम् ।
प्रविश्य जलधिं पक्षौ रक्षताऽनेन किं कृतम्' ॥

शुभमस्तु



श्लोकानुक्रमणिका

